श्री चम्पत राय जैन ग्रन्थावली

ज्ञान की कुंजी

THE KEY OF KNOWLEDGE

चम्पत राय जैन

बैरिस्टर-एट-लॉ

हिन्दी अनुवाद

खण्ड एक · अध्याय १ से ७

द्वितीय संशोधित संस्करण (१९१९–२०) के आधार पर

अनुवादकीय निवेदन

यह अनुवाद चम्पत राय जैन कृत 'द की ऑफ़ नॉलेज' (द्वितीय संशोधित संस्करण, १९१९–२०) पर आधारित है। मूल ग्रन्थ को एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ मानकर अनूदित किया गया है — लेखक के तर्कों का न आधुनिकीकरण किया गया है, न उन्हें सुधारा या मृदु किया गया है।

जहाँ मूल पाठ में कोई ऐसा तथ्यात्मक अथवा वैज्ञानिक कथन आया है जिसे परवर्ती शोध ने खण्डित अथवा अधिक्रान्त कर दिया है, वहाँ उस वाक्य के तुरन्त पश्चात् एक पंक्ति की संक्षिप्त टिप्पणी वर्गाकार कोष्ठकों में जोड़ दी गई है। ऐसी टिप्पणियाँ केवल वहीं दी गई हैं जहाँ दावा वस्तुतः अप्रचलित सिद्ध हो चुका है; दार्शनिक अथवा धर्मशास्त्रीय विवाद के विषयों पर कोई टिप्पणी नहीं की गई। लेखक के अपने शब्दों में कहीं कोई परिवर्तन नहीं किया गया — टिप्पणी अनुवाद के साथ रहती है, उसके स्थान पर नहीं।

इस संस्करण में सम्पादकीय निर्णय के अनुसार टॉमसन जे० हडसन से उद्धृत सामग्री तथा परामनोविज्ञान-सम्बन्धी प्रकरण (माध्यम, सत्र, दूरानुभूति, 'वस्तुगत तथा आत्मगत मन' का मनोविज्ञान) सम्मिलित नहीं किए गए हैं। हटाए गए अंशों की पूरी सूची पृथक् रखी गई है।

जैन पारिभाषिक शब्द अपने प्रचलित हिन्दी-संस्कृत रूपों में रखे गए हैं। बाइबिल, गीता, उपनिषद् तथा क़ुरआन के उद्धरणों में यथासम्भव मान्य हिन्दी अनुवादों की शब्दावली अपनाई गई है, जिसे सम्बोधन के 'आप' रूप के अनुरूप ढाल लिया गया है। पाश्चात्य विद्वानों तथा ग्रन्थों के नाम प्रथम उल्लेख पर मूल रोमन लिपि सहित दिए गए हैं।

विषय-सूची

१ आदर्श — THE IDEAL .... मूल पृष्ठ १–१८

२ सृष्टि — CREATION .... मूल पृष्ठ १९–११३

३ ईश्वर — GOD .... मूल पृष्ठ ११३–१५३

४ पतन — THE FALL .... मूल पृष्ठ १५४–२०४

५ मुक्ति — REDEMPTION .... मूल पृष्ठ २०५–२४०

६ ईश्वर का राज्य — THE KINGDOM OF GOD .... मूल पृष्ठ २४१–३७२

७ योग — YOGA .... मूल पृष्ठ ३७३–४७६

- अनुवादकीय निवेदन तथा टिप्पणियाँ इस संस्करण के आरम्भ में सम्मिलित हैं।

१

आदर्श

THE IDEAL

“जिनके जीवन में कोई केन्द्रीय लक्ष्य नहीं होता, वे तुच्छ चिन्ताओं, भयों, संकटों और आत्म-दया के सहज शिकार बन जाते हैं।”

— जेम्स ऐलन (JAMES ALLEN)

“इसलिये चाहिये कि आप सिद्ध बनें, जैसा आपका स्वर्गीय पिता सिद्ध है।”

— ईसा मसीह

हमारी जाति के एक महान् गुरु ने कहा है :—

> **“माँगो, तो तुम्हें दिया जाएगा; ढूँढ़ो, तो तुम पाओगे; खटखटाओ, तो तुम्हारे लिये खोला जाएगा।”***

* मत्ती ७:७।

इस जीवन में प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है; शिशु उसे उन खिलौनों में खोजता है जो उसके सम्मुख रख दिये जाते हैं; विद्यार्थी पुस्तकों की ओर मुड़ता है; युवक धन कमाने और विवाह करने की ओर। तदुपरान्त सुख का केन्द्र परिवार की ओर खिसक जाता है। जो अवस्था में और आगे बढ़ चुके हैं, उनके चित्त को मान और प्रतिष्ठा की खोज घेर लेती है।

और फिर? किन्तु इस 'फिर' पर विचार कितने लोग करते हैं? भौतिकवादी के लिये, जीवन भर की भाग-दौड़ और कोलाहल के पश्चात्, वृद्धावस्था का आदर्श कब्र में मिलने वाले शान्त, चिरन्तन विश्राम में निहित है। काव्य की दृष्टि से यह कल्पना अनाकर्षक नहीं जान पड़ती; परन्तु जब हम यह पूछने बैठते हैं कि ऐसा 'शान्त' विश्राम किस प्रकार का आनन्द दे सकता है, तब इस विषय में उसके पास कोई उत्तर

नहीं होता। शान्ति — किन्तु किसके लिये? एक मृत शरीर के लिये! मानो कोई शव भी शान्ति का उपभोग कर सकता हो। सम्भव है, उस आदर्श शान्त विश्राम का भोक्ता आत्मा हो। किन्तु भौतिकवादी की विद्यमान वस्तुओं की शब्दावली में 'आत्मा' जैसा कोई शब्द है ही नहीं। यहाँ एक आदर्श की पूर्ति तो होती है, पर किन परिस्थितियों में? जो उसकी अभिलाषा करता था, जब वह आदर्श सिद्ध होता है तब वही नहीं रहता! कैसा शब्द-विरोध, और संजोने के लिये कैसा आदर्श!

सम्भवतः मानव-जाति का विशाल बहुमत इसी प्रकार सोचता है। किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इससे भिन्न सोचते हैं। इनका मत है कि भोक्ता शारीरिक मृत्यु के पश्चात् भी बना रहता है। परन्तु तब कब्र विश्राम का आश्रय नहीं रह जाती। कब्र में विश्राम भले हो, किन्तु कौन कह सकता है कि वह अनिवार्यतः शान्तिमय ही होगा? और यदि वह शान्तिमय न हुआ, तो वेदना और भी अधिक होगी; क्योंकि यहाँ पृथ्वी पर तो हमें एक-दूसरे की सहायता करने अथवा दुःख घटाने के कोई उपाय ढूँढ़ने का अवसर प्राप्त है, परन्तु कब्र के उस पार की सम्भावनाएँ पारस्परिक सहायता या व्यक्तिगत प्रयत्न द्वारा ऐसे शमन के विरुद्ध ही हैं।

तब धर्मशास्त्र आगे आकर बताता है कि कब्र के परे स्वर्ग का वह देश है जहाँ रोग, मृत्यु, पीड़ा और दुःख अज्ञात हैं, और जहाँ लोग अपने दिन बालपन की क्रीड़ा और उल्लास में, अथवा स्वर्गीय अप्सराओं — इस्लाम की हूरों — के विलासपूर्ण आलिंगन में बिताते हैं। किन्तु वही यह भी बताता है कि एक दूसरा प्रदेश भी है, जो सुख-लोक के ठीक विपरीत है, जहाँ दुष्ट जनों को जाकर घोर यातनाओं में अपना जीवन बिताना पड़ता है। कहा जाता है कि पहले का मार्ग नास्तिक से छिपा है, किन्तु सर्वशक्तिमान् ईश्वर के उपासक पर प्रकट कर दिया जाता है। जो स्वर्ग की प्राप्ति की आकांक्षा रखता है, उसे सद्गुण के मार्ग पर चलना होगा — आत्मा में दीन, निरुपद्रवी, नम्र, दानशील, अहिंसक इत्यादि होना होगा। 'धनवान् के लिये आनन्द के संकीर्ण मार्ग पर चलने की अपेक्षा ऊँट का सुई के नाके में से निकल जाना सहज है।' इसके पश्चात् मृत्यु के अनन्तर निर्वाण का उपदेश आता है। बुद्ध ने अपने श्रोताओं को निर्वाण में मुक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा करने का उपदेश दिया। किन्तु मनुष्य तो यहीं और अभी सुखी होना चाहता है। आदर्श की सिद्धि को भविष्य के किसी क्षण पर टाल देने में कोई आनन्द नहीं। वह तत्काल ही क्यों न प्राप्त हो सके?

आइए, कुछ दार्शनिक विचार करें। जब हम पर दुःख आ पड़ता है तब हम कहते हैं — ओह, मैंने ऐसा क्या किया था जो यह कष्ट भोगना पड़ रहा है? किन्तु जब सुख हमारे भाग्य में आता है, तब हम ऐसी कोई बात नहीं कहते। क्यों? कारण स्पष्ट है; हम सुख को अपना अधिकार मानते हैं, किन्तु दुःख को कुछ

पराया और अपने से बाहर की वस्तु। इसीलिये प्रत्येक प्राणी सबसे पहले, सबसे बढ़कर और अन्य सब वस्तुओं से ऊपर अपना सुख ही खोजता है।

किन्तु यह तथ्य कि उसकी खोज करनी पड़ती है, यह सूचित करता है कि सुख को ढूँढ़ना पड़ता है — अर्थात् वह हमें सहज सुलभ नहीं है। सुख के वास्तविक स्वरूप का प्रश्न फिलहाल एक ओर रखते हुए, यह भी स्पष्ट है कि वह उन खिलौनों, पुस्तकों, धन, परिवार, सन्तान, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि में से किसी एक में भी नहीं बस सकता, जिन्हें मनुष्य एक के बाद एक खोजता जाता है। यदि ऐसा न होता, तो बालक अपने खिलौनों से ही चिपका रहता, विद्यार्थी अपनी पुस्तकों से ही, और इसी प्रकार आगे भी। वस्तुतः इच्छा-शक्ति कामना का परिणाम है, और कामना अत्यन्त स्पष्ट रूप से किसी अभाव की ओर संकेत करती है, जो अपनी बारी में दुःख का सूचक है। मनुष्य किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिये इसलिये चलता है कि वह उसे चाहता है; वह उसे इसलिये चाहता है कि वह किसी विद्यमान कामना को तृप्त करेगी; और वह विद्यमान कामना को इसलिये तृप्त करता है कि तृप्ति से सुख उत्पन्न होता है।

अतः संसार में जितना भी प्रयास और संघर्ष चल रहा है, वह सब सुख की तृष्णा का ही परिणाम है; और इसी अतृप्त तृष्णा के कारण एक के बाद एक आदर्श गढ़ा जाता है, कुछ काल तक उससे चिपका जाता है, और फिर अन्ततः जब वह अपर्याप्त सिद्ध होता है, तब उसे त्यागकर किसी प्रतीत होते हुए श्रेष्ठतर आदर्श से बदल दिया जाता है। कुछ लोग इस मरीचिका की व्यर्थ खोज में एक-एक वस्तु आजमाते हुए अपना समूचा जीवन बिता देते हैं, और अन्ततः टूटे हुए हृदय के साथ कब्र में उतर जाते हैं। जब किसी व्यक्ति के लिये सुख के सब प्रचलित आदर्श चुक जाते हैं और जीवन में उसके पास कोई मूर्त लक्ष्य नहीं बचता, तब वह किसी टूटे जहाज़ की भाँति बहता फिरता है और लक्ष्यहीनता से ही मर जाता है।

अतः प्रश्न यह उठता है कि मानव-जाति के संजोने योग्य उचित आदर्श क्या है? क्या वह धन हो सकता है? नहीं; क्योंकि धन साधन है, साध्य नहीं, और परीक्षा में डालने पर वह सुख जुटाने में असफल सिद्ध होगा। तो क्या वह खिलौने, पुस्तकें, परिवार, सन्तान, यश आदि हो सकते हैं, जिन्होंने अतीत में आनन्द दिया है? निश्चय ही नहीं; क्योंकि वे भी उतने ही साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। तो क्या मनुष्य किसी उच्च पद की आकांक्षा करे? किन्तु यह भी चित्त को सन्तुष्ट नहीं करता; क्योंकि श्रेष्ठतम प्राणी भी सदा सुखी नहीं रहते। करोड़पति, कवि, दार्शनिक आदि की भी यही दशा है; किसी भी अर्थ में यह नहीं कहा जा सकता कि वे अमिश्रित सुख का उपभोग करते हैं। इसी प्रकार संसार के प्रत्येक अन्य व्यवसाय और पदार्थ के विषय में यह दिखाया जा सकता है कि वह स्वयं सुख नहीं हो सकता। तो क्या हम कब्र के पार के लोक की ओर मुड़कर देखें कि वह हमें कोई उपयुक्त आदर्श दे पाता है या नहीं?

दूध और मधु की धाराएँ, सुन्दर वृक्षों की छाया, मोहिनी और मनोहारिणी हूरों का विलासपूर्ण साहचर्य — ये केवल विषयी को ही लुभाते हैं; गम्भीर-चित्त के लिये इनमें कोई आकर्षण नहीं; और न ही ये, अलग-अलग या मिलकर, सुख का गठन कर सकते हैं। कुछ लोग समझते हैं कि सुख स्वर्ग में प्राप्य है, क्योंकि वहाँ ईश्वर की महिमा के दर्शन होते हैं। किन्तु स्वर्ग-लोक की यह अधिक शुद्ध कल्पना भी आत्मा के लिये प्रायः कोई सुख नहीं रखती, क्योंकि इसमें किसी अन्य की इच्छा और प्रसन्नता पर निर्भरता का भाव निहित है। कारण, ईश्वर अपने आनन्दप्रद दर्शन को रोककर उस सुख को नष्ट कर सकता है। इसके अतिरिक्त, किसी अन्य के दर्शन — भले ही वह अन्य स्वयं परमात्मा ही क्यों न हो — आत्मा को वास्तविक सुख नहीं दे सकते। हमें सुख अपनी ही महत्ता और शक्ति के भाव में मिलता है। 'मैं राजा हूँ', 'मैं शासक हूँ', 'मैं सुन्दर हूँ', 'मैं वीर हूँ' — ऐसे विचारों में आनन्द मिलता है; 'कोई और राजा है', 'कोई और शासक है', 'कोई और सुन्दर है', 'कोई और वीर है' — ऐसे विचारों में नहीं। जहाँ तक स्वतन्त्रता के तत्व का प्रश्न है — और स्वतन्त्रता के बिना यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि सच्चा सुख कैसे हो — यह पूर्णतया स्पष्ट है कि हमें आनन्द अपनी ही स्वतन्त्रता दे सकती है; जब हम स्वयं बन्धन में हों, तब किसी अन्य की स्वतन्त्रता हमारी वेदना को और गहरा ही करेगी, भले ही उसका दर्शन कुछ समय के लिये हमारे हृदय को कोमल बनाकर बन्दीपन का भार कुछ क्षण हल्का कर दे।

सुख बाहर से नहीं आता; वह हम पर ही निर्भर है। उसके स्वरूप के विषय में लॉर्ड एवबरी (Lord Avebury) कहते हैं :—

> **"धन हमें सुखी नहीं बना सकता, सफलता हमें सुखी नहीं बना सकती, मित्र हमें सुखी नहीं बना सकते, स्वास्थ्य और बल हमें सुखी नहीं बना सकते। ये सब सुख के सहायक अवश्य हैं, किन्तु इनमें से कोई भी उसे सुनिश्चित नहीं करेगा। प्रकृति जो कुछ कर सकती है, सब करे : वह हमें यश, स्वास्थ्य, धन और दीर्घ आयु दे सकती है, किन्तु वह हमें सुखी नहीं बना सकती। हममें से प्रत्येक को यह कार्य स्वयं ही करना होगा। हमारी भाषा इसे बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त करती है। यदि हमारा दिन सुखपूर्वक बीता हो तो हम क्या कहते हैं? हम कहते हैं कि हमने अपने आप का आनन्द लिया। हमारी मातृभाषा का यह प्रयोग अत्यन्त अर्थगर्भित प्रतीत होता है। हमारा सुख हम पर ही निर्भर है।"***

---

* 'ऑन पीस ऐंड हैपिनेस' (On Peace and Happiness), पृष्ठ १-२।

अब निर्वाण की धारणा पर विचार करना शेष है। स्पष्ट है कि यदि वह ऐसी अवस्था है जो परलोक के लिये सुरक्षित रखी गई है, तो इस पृथ्वी के जीवन में आत्मा के लिये कोई सुख नहीं हो सकता। अतः यदि यह मान लिया जाए कि निर्वाण मरणोत्तर लोक का विषय है, तो वह स्वयं में एक अपूर्ण धारणा है और उसका अर्थ केवल मृत्यु के पश्चात् का सुख होगा, इस जीवन में कोई नहीं। किन्तु जीवन्मुक्ति (इसी जीवन में मुक्ति) की धारणा उसकी आवश्यक पूरक है, और निर्वाण के साथ मिलकर वह मनुष्य के लिये प्राप्य सुख का पूर्ण रूप प्रस्तुत करती है।

निर्वाण की धारणा अपने भीतर क्या समेटे है, इसका अन्वेषण आगे किया जाएगा; यहाँ इस समय इतना कह देना पर्याप्त है कि पूर्ण स्वतन्त्रता, जो सुख का सार है, तब तक सम्भव नहीं जब तक इच्छा-स्वातन्त्र्य के समस्त अवरोध मार्ग से हटा न दिये जाएँ; और इसका अर्थ न इससे अधिक है न कम कि आकांक्षी आत्मा ईश्वरत्व को प्राप्त करे। ईश्वर ही एकमात्र सर्वशक्तिमान्, अद्वितीय, सर्वज्ञ, आनन्दमय और मुक्त है। अतः यदि मनुष्य पूर्ण सुख प्राप्त करना चाहता है, तो उसे ईश्वर बनना होगा।

मनुष्य के लिये ईश्वर बनने की आकांक्षा करना एक बड़ा दावा है, और बहुत-से लोग इसे ईश-निन्दा और उन्माद की पराकाष्ठा मानेंगे। इसकी प्राप्ति की सम्भाव्यता ही इस ग्रन्थ का विषय है; और ज्यों-ज्यों यह प्रतिपादन रूपरेखा में विकसित होकर निश्चितता और स्पष्टता प्राप्त करेगा, त्यों-त्यों यह भी प्रकट हो जाएगा कि इस प्रतीत होती हुई उच्च आकांक्षा में तनिक भी ईश-निन्दा नहीं है।

अतः हम यह मान सकते हैं कि मानव-जाति का उचित आदर्श ईश्वर है — नित्य जीवित, सर्वज्ञ, परम आनन्दमय, वेदान्त का सच्चिदानन्द (अर्थात् सत्, चित् या चैतन्य, और आनन्द)। अन्य सब आदर्श सुख की पूर्ण मात्रा जुटाने में असफल रहते हैं, और इसी कारण आत्मा के योग्य नहीं हैं।

धर्म का लक्ष्य, जैसा कि विषय के आगे बढ़ने पर बताया जाएगा, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कि मानव-जाति को ईश्वरत्व के परम पद तक उठाया जाए। उसका उद्भव सुख की उस खोज से हुआ है जिसे विचारशील प्राणियों ने सदा ही आवश्यक पाया है। जब कोई शरीर से रोगग्रस्त होता है, तब वह अपने रोग की चिकित्सा के लिये वैद्यों और शल्य-चिकित्सकों के पास जाता है; किन्तु चूँकि चिकित्सा-शास्त्र के जानकार ऐसे किसी खनिज, जड़ी-बूटी या अन्य औषधि को नहीं जानते जिससे मानसिक पीड़ा शान्त की जा सके, इसलिये आत्मा अपनी व्यथा में उस युग के ऋषियों को ढूँढ़ती है और उनके सम्मुख अपने कष्ट उँडेल देती है। ऋषियों द्वारा सुझाए गए उपाय सब कालों में ऐसे ही आचरणों के रहे हैं जो आत्मा को

सच्चिदानन्दत्व अर्थात् ईश्वरत्व की अवस्था में स्थापित करने में समर्थ हों; अतएव 'रिलीजन' (religion) — जो 'रे' (re, पुनः) और 'लिगो' (ligo, बाँधना) से बना है — उन उपायों की मान्य संहिता बन जाता है जो आत्मा को ईश्वर से बाँधते हैं, अर्थात् जो उसे अपने लिये ईश्वरत्व की अवस्था साक्षात् कराते हैं।

जब लोग ऊँचे या नीचे धर्म की बात करते हैं, तब वे प्रायः उन विशेषणों का अर्थ ही नहीं समझते जिनका वे प्रयोग करते हैं। ऊँचा धर्म वह है जो अपने अनुयायियों को सुख का उच्चतम रूप प्रदान करता है। अतः जो व्यवस्था मानव-जाति को ईश्वरत्व के परम पद तक उठाने की आकांक्षा नहीं रखती, उसे ऊँचा अथवा उच्चतम धर्म कहलाने का कोई अधिकार नहीं; और श्रेष्ठतम न होने के कारण, जब बुद्धिमान् जन उसके गुण-दोष की परीक्षा करेंगे, तब वह समय आने पर नष्ट हो ही जाएगी।

किन्तु ऋषियों ने धर्म का सत्य कहाँ से सीखा? आदिम मानवता के दिनों में न पुस्तकें थीं, न सारणियाँ, न कोई अन्य सामग्री उपलब्ध थी। तो उन्होंने उसे कहाँ से सीखा होगा, यदि उसी एकमात्र स्रोत से नहीं जिससे आज भी हम जो कुछ सीखते हैं, सब सीखते हैं? सर आइज़क न्यूटन (Sir Isaac Newton) ने गुरुत्वाकर्षण का नियम कहाँ से सीखा? गिरते हुए सेब से? निश्चय ही नहीं, अपितु मनन और विचार से। समस्त ज्ञान इन्हीं दो स्रोतों से आता है। प्रकृति सत्य की खुली पुस्तक है; जो उस पर मनन करेगा, वह रहस्य जान लेगा। ऋषियों ने संकेत ग्रहण किया और इस खुली पुस्तक के अध्ययन में लग गए। बुद्धि और तर्क की मशाल के सहारे उन्होंने उत्साह और अथक ऊर्जा के साथ अपनी खोज जारी रखी, और तब तक विश्राम नहीं किया जब तक सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने अपनी पूर्ण महिमा में स्वयं को उन पर प्रकट न कर दिया।

इस प्रकार अर्जित ज्ञान धीरे-धीरे दूसरों को दिया गया, जिन्होंने अपने गुरुओं जैसे बुद्धिमान् न होने के कारण उनके उपदेशों पर अपनी-अपनी व्याख्याएँ चढ़ा दीं। इसी से हमें वे असंख्य सम्प्रदाय और धार्मिक संगठन मिले जो संसार में विद्यमान हैं। मुख्य रूप से विचार के समस्त सम्प्रदाय दो बड़े वर्गों में आते हैं — एक वे जो जीवन-तत्व अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, और दूसरे वे जो उसमें विश्वास नहीं करते। यहाँ केवल प्रथम का ही उल्लेख अपेक्षित है, और वे पुनः तीन वर्गों में विभक्त हैं। सर्वप्रथम वे आते हैं जो ईश्वर को विश्व का सृष्टिकर्ता और पालक मानते हैं, किन्तु प्रकृति तथा मानव-आत्मा से पृथक् मानते हैं। इस व्यवस्था में उसे एक मनमौजी, स्वेच्छाचारी, निरंकुश सम्राट् के रूप में देखा जाता है, जो अनजाने में किये गए अनादर से भी सहज ही रुष्ट हो जाता है, जिसे प्रसन्न करना कठिन है, और जिससे सदा भयभीत रहना चाहिये। इस व्यवस्था द्वारा प्रस्तुत सुख का उच्चतम आदर्श स्वर्ग के जीवन में है — एक विशाल पैमाने का भोजनालय-गृह, जिसका प्रबन्ध प्रभु परमेश्वर करता है और जहाँ उसकी सन्तानें खाने-

पीने में, और कुछ के मत से व्यभिचार तक में, अपनी पाशविक वासनाओं को भरपूर तृप्त कर सकती हैं। यह तीनों में निम्नतम है। दूसरा वर्ग मानता है कि ईश्वर तो है, किन्तु विश्व उससे पृथक् नहीं हो सकता। उसका कहना है कि सृष्टि प्रक्षेपण के अर्थ में हुई, न कि उस अर्थ में जिसमें उसे पश्चिम में समझा जाता है, अर्थात् शून्य से किसी सत् वस्तु का निर्माण। इस सम्प्रदाय के अनुसार ईश्वर स्वयं ही सृष्टिकर्ता भी है और वह उपादान भी जिससे प्राणी और पदार्थ बने हैं। तदनुसार ईश्वर, प्रकृति और व्यष्टि-आत्मा — ये एक ही वस्तु के तीन पक्ष हैं। यहाँ आत्मा के आदर्श के रूप में व्यक्तित्व अर्थात् पृथक्ता का एक परम सत्ता या जीवन में विलय प्रस्तुत है। यह स्पष्टतः प्रथम वर्ग के मनुष्यों की श्रद्धा से कुछ श्रेष्ठ रूप है; किन्तु फिर भी अपूर्ण है। तीसरा वर्ग उन ज्योतिर्मय आत्माओं का है जिन्होंने सत्य को उसके उच्चतम रूप में ग्रहण करने का साहस किया। ये आत्मा को स्वयं अपना ईश्वर मानते हैं, और पूर्णता तथा आनन्द की पूर्णतम मात्रा प्राप्त करने में समर्थ मानते हैं। श्रद्धा का यह तीसरा रूप लगभग उतना ही प्राचीन है जितनी स्वयं मानवता, जैसा कि आगे प्रमाणित किया जाएगा, और वह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मनुष्यों के हृदयों पर शासन करता और उनके भाग्य को दिशा देता आया है।

यह विश्वास कि आत्मा स्वयं अपना ईश्वर है — यह दावा किया जाता है — न केवल सर्वाधिक प्राचीन है, अपितु एकमात्र ऐसा भी है जो हमें पूर्णता का ऐसा आदर्श देता है जो न तो किसी विवेकशील प्राणी के अयोग्य है और न आत्मा की उच्चतम आकांक्षा से असंगत। हमारे युग का प्रथम मनुष्य जिसने इस महान् आदर्श को अपने जीवन में साक्षात् किया और जिसने उसकी सिद्धि की विधि दूसरों को सिखाई, वही हमारी जाति का प्रथम महान् गुरु और शब्द के सच्चे अर्थ में धर्म का प्रवर्तक है। हमारे अन्वेषण की इस प्रारम्भिक अवस्था में यह कथन चाहे कितना ही असंगत क्यों न जान पड़े, यह निश्चित है कि धर्म अपनी आवश्यकता के साथ ही समकालीन है, और विवेकपूर्ण चिन्तन के साथ भी। यह सत्य है कि विवेकपूर्ण चिन्तन के स्वरूपों में कुछ प्रकार के विकासात्मक परिवर्तन हुए हैं, किन्तु यह भी सत्य है कि इन परिवर्तनों ने तथाकथित आदिम मानवता के ज्ञान में प्रायः कुछ भी नहीं जोड़ा; वे तो धर्म के समस्त विभागों में पूर्णतया शिक्षित थे और आत्म-साक्षात्कार के विज्ञान के दो महत्वपूर्ण अंगों — योग और भक्ति — के सच्चे सिद्धान्तों से परिचित करा दिये गए थे। वस्तुतः जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं, उस समय खोजने को कुछ शेष ही नहीं रह गया था, और आगामी पीढ़ियों का कार्य केवल इतना था कि वे उस दिव्य ज्ञान को समझें और पीड़ित मानवता में सरल, सुगम रीति से बाँटें। ज्यों-ज्यों समय बीता, लोग महान् ऋषियों द्वारा उनके सम्मुख रखे गए उस उच्च आदर्श से भटकते गए, और परिणामस्वरूप सुख से विमुख हो गए, जिसे वे संसार के भौतिक पदार्थों से व्यर्थ ही निचोड़ने का प्रयत्न करते रहे। समय-समय पर चेतावनी की वाणियाँ उठीं जो उन्हें अपने उदात्त और उन्नायक आदर्श पर दृढ़ रहने का उपदेश देती

रहीं। तीर्थंकर, त्राता, स्वामी और पैगम्बर तीव्र क्रम से प्रकट होते और संसार को उपदेश देते रहे; किन्तु उनका तत्वज्ञान लोगों के लिये निरर्थक रहा, क्योंकि इन्द्रिय-सुखों और धन की खोज से उन्हें इतना अवकाश ही नहीं था कि धर्म के उदात्त उपदेश को समझ सकें; और योग तथा भक्ति — जिनमें कठोर तप और आत्म-निग्रह अपेक्षित थे — उतनी ही मात्रा में जन-समुदाय के लिये अनाकर्षक हो चले।

मानव-जाति को वैद्य की घूँट जैसा कोई सस्ता, सरल नुस्खा चाहिये था, जिसे दिन में एक बार ले लेने से आध्यात्मिकता के विकार रुक जाएँ या मिट जाएँ; और विधि जितनी सरल होती, लोग उतनी ही शीघ्रता से उस पर टूट पड़ते। इसी प्रकार जिस किसी को धार्मिक विद्या की तनिक-सी भनक थी, वह अपने कुछ अनुयायी जुटाने में सफल हो गया; और यदि वह इसके साथ एक-दो चमत्कार भी दिखा सका, तो धर्म-प्रवर्तक के रूप में उसकी सफलता तत्काल असंदिग्ध हो गई। इस प्रकार धर्म में रुचि घटते-घटते मात्र उपहास बन गई, यहाँ तक कि अन्ततः लोग यह मानने लगे कि ईश्वर और पूर्णता के आदर्श की सारी चर्चा या तो कोरी कल्पना है, अथवा यदि सत्य भी है तो ऐसा समाचार है जिसका कोई बाज़ार-मूल्य नहीं, क्योंकि उसे पौंड-शिलिंग-पेंस में नहीं ढाला जा सकता। धन-देवता का जन्म हुआ, और जिस अनुपात में वह भक्ति का विषय बनता गया, उसी अनुपात में आराधना और पूजा का सच्चा विषय पीछे हटकर दृष्टि से ओझल हो गया। इस प्रकार जहाँ कभी ईश्वर का राज्य था, वहाँ शैतान और उसके साथी शासन करने लगे हैं।

जैसा प्राचीनों के साथ हुआ, वैसा ही आज हमारे साथ भी है; हम धन और इन्द्रिय-सुखों में विश्वास करते हैं, और जब ये हमें विरक्ति देते हैं तब अपने भाग्य पर रोते हैं। आत्मा सुख के लिये तरस रही है और स्वतन्त्रता के शुद्ध वातावरण की एक साँस के लिये हाँफ रही है, किन्तु हम अब भी स्वर्ण-वत्स नामक देवता और उसके सहयोगी प्रलोभकों की उन्मत्त उपासना से चिपके हैं। यह हमारा अपना दोष है। अभी बहुत देर नहीं हुई, किन्तु थोड़े ही समय में हो जाएगी, जब मृत्यु अपने शिकार को लेने द्वार खटखटाएगी। तब आप क्या करेंगे? ईश्वर के निकट पहुँचने के अवसर की जिस-जिस क्षण आप उपेक्षा करते हैं, जितनी बार आप कहते हैं कि इसमें कोई जल्दी नहीं, और हर उस अवसर पर जब आप सोचते हैं कि ईश्वरत्व की भक्ति के लिये आपके व्यापार के कार्यों को हानि नहीं उठानी चाहिये — उतनी ही बार आप अपने भाग्य पर मुहर लगाते हैं और अपने ही हाथों अपने ताबूत में एक और कील ठोकते हैं। भविष्य में जब कभी आपके भीतर ईश्वर-साक्षात्कार की प्रवृत्ति जागेगी, तब आपको अपने द्वारा ठोकी हुई एक-एक कील अपने ताबूत से निकालनी होगी। यदि समय धन है और उसे व्यापार में नष्ट नहीं किया जा सकता, तो धर्म में वह और भी अधिक मूल्यवान् है।

फिर, आपको अपने आदर्श के विषय में अस्पष्ट नहीं रहना चाहिये। आपको यह जानना चाहिये कि आप क्या चाहते हैं, और यह देखना चाहिये कि उसका स्पष्ट, सजीव चित्र आपके मन में हो, जिससे यदि कभी आपकी भेंट उस शुभ देवदूत से हो जाए जो सब कामनाएँ पूर्ण करता है, तो आप उसे ठीक-ठीक बता सकें कि आप क्या चाहते हैं। दूसरों ने इस विषय में जो सोचा या कहा है, उससे बिना स्वयं छान-बीन किये मत चलिये। यदि स्वर्ग के राज्य में प्रवेश-पत्र के लिये आपकी प्रार्थना के उत्तर में देवदूत यह कह दे कि वह समझा ही नहीं कि उस शब्द से आपका अभिप्राय क्या है, तो आप कहीं के न रहेंगे। जिस वस्तु की कामना है, उसकी स्पष्ट धारणा आपके पास होनी चाहिये, तभी आप उसे पाने की आशा कर सकते हैं। यह बात पदार्थ के क्षेत्र में भी उतनी ही सच है। कोई निर्माता शीघ्र ही विपत्ति में पड़ जाएगा यदि उसके पास उस वस्तु की कोई निश्चित धारणा न हो जिसे वह बनाना चाहता है।

मनुष्य को उच्चतम आदर्श की प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। यदि आप कोई हीन विकल्प स्वीकार कर लेते हैं, तो आप फिर अभावग्रस्त होंगे और समय-समय पर बार-बार माँगना पड़ेगा; किन्तु आप जीवन भर तो भीख नहीं माँगते रह सकते। अब आप अभाव से ऊपर उठना चाहते हैं; आप उस अवस्था की कामना करते हैं जिसमें कभी कोई अभाव, कष्ट या दुःख होगा ही नहीं। वह अवस्था केवल ईश्वर में है, किसी प्राणी में, अथवा निम्न कोटि के किसी देव या देवी में नहीं। इस प्रतीत होती हुई धृष्ट महत्वाकांक्षा से ईश्वर को क्रुद्ध कर देने का भय न कीजिये। जब आप वस्तुओं का स्वरूप समझ लेंगे, तब आप देखेंगे कि ईश्वरत्व ही विकास का लक्ष्य है।

एक प्रश्न प्रायः पूछा जाता है : मनुष्य धार्मिक बने ही क्यों? दूसरे शब्दों में, वह संसार में यथावत् जीता हुआ इसके सुखों का उपभोग क्यों न करता रहे, बजाय इसके कि उन्हें त्यागकर धार्मिक बने? यह निःसन्देह उचित प्रश्न है, और अपने दावे को बनाए रखने तथा अपनी स्थिति को टिकाए रखने के लिये धर्म को इसका उत्तर देना ही होगा।

धर्म आनन्द का विज्ञान है; वह वह विभाग है जो अमिश्रित सुख की प्राप्ति से सम्बन्ध रखता है। वह आनन्द के स्वरूप की ही जाँच से आरम्भ करता है, और घोषित करता है कि वह संसार के सुखों से भिन्न है। सांसारिक सुख इन्द्रियों की मात्र गुदगुदी है — स्वभावतः क्षणभंगुर, नश्वर, प्राप्ति में क्लेशपूर्ण, और अनुभव में दुःख तथा पीड़ा को जन्म देने वाला। इस प्रकार सुख और दुःख एक अर्थ में परस्पर विरोधी पद हैं; एक दूसरे की प्रतिक्रिया है, और दोनों में से कोई भी अकेला प्राप्त नहीं हो सकता। यदि क्रिया सुखद है, तो उसकी प्रतिक्रिया अवश्य दुःखद होगी, और इसके विपरीत भी। धर्म घोषित करता है कि जो सुख परिवर्तनशील है और जिसके पीछे दुःख आना ही है, वह मात्र खोटी नकल है, असली वस्तु नहीं। सच्चा

आनन्द इस संसार के सुखों से बहुत भिन्न है। वह वह अवस्था है जिसमें अखण्ड शान्ति, प्रशान्ति और हर्ष के अतिरिक्त और कुछ अनुभव नहीं होता — मानो जीवनदायिनी आनन्द-लहरियाँ एक के पीछे एक उठती जा रही हों — आनन्द का भोग नहीं, अपितु स्वयं आनन्द बन जाना, जो ईश्वर का शाश्वत स्वभाव है।

त्याग निःसन्देह छोड़ना ही है, किन्तु छोड़ना किसका? वह खोटी नकलों का, मिथ्या आदर्शों का, निकम्मे विकल्पों का त्याग है; और उनके स्थान पर असली वस्तु की, शाश्वत जीवन और आनन्द के जीवन-जल की, प्राप्ति है।

क्या किसी ने कभी यह आनन्द प्राप्त किया है? इन कथनों के सत्य होने का क्या प्रमाण है? — इस अवस्था में पाठक के मन में स्वभावतः ऐसे अनेक प्रश्न उठेंगे। किन्तु उसे तब तक प्रतीक्षा करनी होगी जब तक वह पुस्तक के अन्त तक न पहुँच जाए, जो उन सबका उत्तर यथासमय और यथास्थान देगी।

इस बीच हम इस बात पर बल दे सकते हैं कि सांसारिक सुख की खोज देर-सवेर ऊब और विरक्ति में ही समाप्त होती है; क्योंकि सुख का बोध मुख्यतः इन पर निर्भर है — (१) भोगने की क्षमता, जो आयु के साथ घटती जाती है, और (२) संवेदना की नवीनता, जो घनिष्ठता और पुनरावृत्ति से क्षीण हो जाती है। इस प्रकार जब भोगने की क्षमता और संवेदना की नवीनता दोनों ही चली जाती हैं, तब आत्मा — जिसकी सुख-तृष्णा तनिक भी नहीं घटी — इन्द्रिय-विषयों के साथ अपने को आनन्दित करने की खोई हुई शक्ति पर शोक में डूब जाती है। यह अवांछनीय अनुभव जीवन में देर-सवेर प्रत्येक के पास आता है; भाग्य का कोई भी दुलारा ऐसा नहीं जिसे इससे मुक्त कहा जा सके। जब यह ऊब अथवा सामान्य असन्तोष का भाव आत्मा पर अधिकार कर लेता है, तब धर्म के अतिरिक्त और कुछ भी उसकी रक्षा को नहीं आ सकता। किन्तु तब तक वह प्रायः धर्म के सच्चे सिद्धान्तों को समझने में असमर्थ हो चुकी होती है, और उस शारीरिक तथा नैतिक कठोरता के जीवन के लिये सर्वथा अनुपयुक्त हो चुकी होती है जो पूर्णता और आनन्द की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। इस प्रकार बहुत-से व्यक्ति जो जीवन के उत्तरार्ध में धर्म की ओर मुड़ते हैं, उसके अनुशीलन से प्रायः कोई लाभ नहीं उठा पाते।

उन्हें इसका कोई अनुमान नहीं कि दिव्यता के उदात्त पद तक उठने के लिये कितने प्रयत्न की आवश्यकता है, और वे इस मधुर भ्रम में सन्तुष्ट रहते हैं कि लक्ष्य उन पंखों पर उड़कर पाया जा सकता है जो प्रार्थना और स्तुति-गान से उग आएँगे। वस्तुतः आध्यात्मिक उन्नति के लिये जो अपेक्षित है, वह

आदर्श का बुद्धिपूर्वक अनुशीलन है — ऐसा अनुशीलन जो तत्परता में उपासना की एकाग्रता तक पहुँच जाए — न कि किसी मूर्ति पर अस्पष्ट या धर्मान्ध मोह। किन्तु जहाँ तक इसका प्रश्न है, यह स्पष्टतः वही बात है कि 'बुलाए हुए बहुत हैं, परन्तु चुने हुए थोड़े।'

मानव-जाति के विशाल बहुमत के लिये तो उपासना का विचार ही अबोध्य और आनन्दहीन है। वे अपने देवता की उपासना उस अस्पष्ट और अनिर्वचनीय भय के कारण करते हैं जिससे उनका मन किसी वास्तविक या आशंकित विपत्ति के सम्बन्ध में अंकित है। इसीलिये, जैसा कहावत कहती है, संकट टल जाने पर देवता सहज ही भुला दिया जाता है। किन्तु उपासना अथवा भक्ति अपने सच्चे रूप में वस्तुतः उपास्य का अनुकरण ही है। जब आप किसी सत्ता की उपासना करते हैं, तब आप उसके पदचिह्नों पर चलते हैं। यदि आप कुछ भी प्राप्त करना चाहते हैं, तो आपको अपने उपास्य का अनुकरण करना ही होगा। देवता की मात्र चापलूसी करना, अथवा उसे भोजन अर्पित करना — भले ही कितना ही उत्तम क्यों न हो — काम नहीं आएगा। ईश्वर को निश्चय ही किसी समय भोजन की आवश्यकता नहीं होती। यदि आपके घर की सारी चींटियाँ आपके सम्मुख साष्टांग लेट जाएँ, आपकी प्रशंसा आकाश तक पहुँचा दें, और किसी मरे हुए झींगुर या अन्य कीट का एक अंश आपको सामान्य या होम-बलि के रूप में अर्पित करें, तो इससे आपको कोई आनन्द न मिलेगा। इसी प्रकार हमारे यज्ञ और धन्यवाद-अर्पण भी परमेश्वर को कोई आनन्द नहीं दे सकते। और जहाँ तक प्रशंसा का प्रश्न है, कान को प्रिय तो निश्चय ही अपने समकक्षों की मुक्त सराहना लगती है, न कि हीनों की चापलूसी या दासोचित नमन। यदि कोई ईश्वर इस प्रकार अपने को प्रभावित होने दे कि कोई प्राणी स्तुति करे तो प्रसन्न हो जाए और न करे तो क्रुद्ध, तो उसे क्षण भर भी मन की शान्ति न मिलेगी। यह विचार ही अत्यन्त असंगत है। मूर्ति-पूजा को जिस कारण से अधोगामी कहा जाता है, वह कारण उससे बहुत भिन्न है जो लोग समझते हैं। भगवद्गीता (९.२५) कहती है :—

> **“देवताओं का व्रत रखने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, पितरों के भक्त पितरों को, भूतों के पूजक भूतों को; किन्तु मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं।”**

इस प्रकार किसी देव, भूत अथवा पितर की उपासना आपको केवल इतना ही समर्थ बना सकती है कि आप शक्ति और स्वभाव में उन्हीं जैसे हो जाएँ। इन सत्ताओं की उपासना से आप कामना या अभाव से ऊपर उठने की आकांक्षा नहीं कर सकते। किन्तु यदि आप नित्य-आनन्दमय ईश्वर की उपासना करें, तो

आनन्द की जिन ऊँचाइयों की आप आकांक्षा कर सकते हैं, उनकी कोई सीमा नहीं। सर्वशक्तिमान् ईश्वर पूर्ण है; उसे आदर्श बनाकर (उसकी उपासना करके) आप पूर्णता तक उठ सकते हैं। जैसा कि ईसा मसीह आग्रह करते हैं :—

> **"इसलिये चाहिये कि आप सिद्ध बनें, जैसा आपका स्वर्गीय पिता सिद्ध है।"**

जो अवस्था पूर्णतया सिद्ध न हो, उसे खोजने में कोई भलाई नहीं। किन्तु ऐसा होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि जो व्यक्ति इन सिद्धान्तों को दृष्टि में रखते हुए किसी मूर्त रूप पर चित्त एकाग्र करके भाव से देवता की बुद्धिपूर्वक उपासना करता है, वह पापी है या उसका कार्य अनावश्यक है। भगवद्गीता पुनः इसका कारण बताती है :—

> **"जिनका चित्त अव्यक्त में आसक्त है, उनका क्लेश अधिक होता है; क्योंकि देहधारियों के लिये अव्यक्त की गति दुःख से प्राप्त होती है।" — १२.५**

यदि आप इस विषय पर विचार करें और स्वयं इसकी छान-बीन करें, तो आप इस कथन का बल समझ जाएँगे, और तब भगवद्गीता (७.२०–२३) के इस अंश की भी सराहना करेंगे :—

> **"जिनका ज्ञान कामनाओं द्वारा हर लिया गया है, वे अपने-अपने स्वभाव के अनुसार भाँति-भाँति के बाह्य नियमों का आश्रय लेकर अन्य देवताओं की ओर जाते हैं।**

> **"जो-जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिस-जिस रूप की उपासना करना चाहता है, उस-उस की अचल श्रद्धा को मैं ही स्थिर करता हूँ।**

> **"वह उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता की उपासना करता है, और उससे अपनी कामनाएँ प्राप्त करता है, यद्यपि वे लाभ वस्तुतः मेरे ही विधान से मिलते हैं।**

> **"अल्पबुद्धि वालों को मिलने वाला फल सचमुच सीमित है। देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त होते हैं, किन्तु मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं।"**

यहाँ संक्षेप में प्रतिमाओं की सहायता से परम ईश्वरत्व की उपासना का समूचा तत्वज्ञान दे दिया गया है। चूँकि अदृश्य ईश्वरत्व पर चित्त को एकाग्र करना कठिन है, इसलिये लोग प्रारम्भ में अपने ध्यान में सहायता के लिये देवों की दृश्य, मूर्त प्रतिमाओं का उपयोग करते हैं। इस प्रकार भक्ति की सीढ़ी के बुद्धिपूर्वक

उपयोग से वे आकांक्षा की उच्चतम ऊँचाई तक चढ़ जाते हैं। जब शिखर पर पहुँच जाते हैं, तब सीढ़ी की आवश्यकता नहीं रह जाती और उसे फेंका जा सकता है।

अतः यदि आपको ईश्वरत्व की भाव से उपासना करना कठिन लगे, तो आप अपनी महत्वाकांक्षा के लक्ष्य की सिद्धि के लिये मूर्ति-पूजा को सोपान की भाँति प्रयोग कर सकते हैं — यह ध्यान रखते हुए कि आप अपने उच्च आदर्श को दृष्टि से ओझल न होने दें और केवल पत्थरों में ही सन्तोष की जड़ता में लोटते न रह जाएँ। ठीक से समझने पर मूर्ति-पूजा के मूल में सुदृढ़ तत्वज्ञान है; किन्तु उस दशा में 'मूर्ति' का अर्थ केवल 'आदर्श' है, और 'मूर्ति-पूजा' का 'आदर्श-पूजा'। अज्ञानपूर्ण जड़-पूजा का इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं।

२

सृष्टि

CREATION

“वह एक अजन्मा (आत्मा) अपने भोग के लिये उस एक अजन्मा (प्रकृति) के समीप जाता है, जो लाल, श्वेत और कृष्ण वर्ण की है, एक रूप वाली है, और बहुविध सन्तति उत्पन्न करती है।”

—श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४.५

जिस क्षण से विचारशील जगत् के लिये चेतना का उदय हुआ, उसी क्षण से मनुष्य ने विश्व के, सामान्यतः पदार्थों के, और विशेषतः स्वयं अपने चिन्तन को सदा ही सर्वग्राही रुचि का विषय पाया है। संसार की उत्पत्ति की समस्या सुदूर प्राचीन काल से लेकर वर्तमान क्षण तक सभी प्रकार के विचारकों का सबसे बड़ा विषय रही है; और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में लिखते हुए हेकल (Haeckel) उसे ‘समस्त वैश्विक समस्याओं में सबसे बड़ी, सबसे विशाल और सबसे कठिन’ मानते हैं। निःसन्देह कठिन इस समस्या के अनेक और नाना प्रकार के समाधान प्रस्तुत किये गए हैं; और बुद्धिजीवी मनुष्यों के लिये इस विषय पर परस्पर सहमत होना सदा सरल नहीं रहा। ईश्वरवादी धर्मशास्त्र का कहना है कि संसार का प्रथम कारण एक आध्यात्मिक सत्ता है, जो समस्त पदार्थों की तथा एक-एक व्यक्ति की सृष्टिकर्ता है। मुसलमानों का विश्वास है कि विश्व के ईश्वर ने ‘कुन्’ (=हो जा) शब्द उच्चारण करके उसकी रचना की, और सब वस्तुएँ मानो ‘शून्य’ से बन गईं। कुछ-कुछ ऐसी ही ईसाई सृष्टि-कथा है, जो ‘उत्पत्ति’ (Genesis) नामक पुस्तक में दिये गए विवरण पर आधारित है।

विज्ञान इन निष्कर्षों की यथार्थता को चुनौती देता है और ईश्वर के अस्तित्व से ही इनकार करता है। वह सब कुछ को प्राकृतिक कारणता में घटा देता है, और मानव-सदृश शिल्पी की धारणा के स्थान पर ‘प्रकृति के शाश्वत लौह-नियम’ रख देता है। हिन्दुओं ने भी जगत्-प्रक्रिया के विषय में सिद्धान्त गढ़ने का प्रयत्न किया और भिन्न-भिन्न प्रकार से उसकी व्याख्या की। वे मुख्यतः दो शिविरों में बँट जाते हैं,

जिन्हें यथार्थवादी और भाववादी कहा जा सकता है, क्योंकि एक यथार्थवाद (Realism) नामक विचार-धारा का अनुसरण करता है और दूसरा भाववाद (Idealism) का। प्रथम वर्ग में सांख्य की व्यवस्था आती है, जिसके प्रवर्तक कपिल थे। उसकी शिक्षा सद्युक्ति और विज्ञान के चार महान् सिद्धान्तों को समेटती है, अर्थात् — (१) कि शून्य से कुछ नहीं निकलता, अर्थात् 'कुछ' 'कुछ नहीं' से नहीं आ सकता; (२) कि कार्य कारण में ही निहित रहता है, अथवा दूसरे शब्दों में, कारण कार्य की सम्भाव्य, अव्यक्त अवस्था है; (३) कि कार्य के विघटन से पुनः वही अव्यक्त, कारणात्मक अवस्था अस्तित्व में आ जाती है; और (४) कि प्रकृति के नियमों में सर्वत्र एकरूपता है। जगत् की उत्पत्ति के विषय में सांख्य का मत है कि विश्व शाश्वत वैश्विक द्रव्य से, जिसे प्रकृति कहते हैं, अव्यक्त से व्यक्त अवस्था में विकास के अर्थ में निर्मित होता है। प्रो. पी. सी. राय (P. C. Ray) की कुशलतापूर्वक लिखी पुस्तक 'ऐन इंट्रोडक्शन टु हिन्दू केमिस्ट्री' से इस सम्प्रदाय की शिक्षा का निम्नलिखित विवरण अत्यन्त रोचक प्रतीत होगा :—

> **"व्यक्त जगत् का अनुसरण एक अव्यक्त आधार तक किया जाता है, जो प्रकृति है, और जिसकी कल्पना निराकार तथा अभेदित, असीम तथा सर्वव्यापी, अविनाशी तथा अक्षय, अनादि तथा अनन्त के रूप में की गई है। इस प्रकृति की इकाई मात्र एक अमूर्तन है : वस्तुतः वह एक अभेदित बहुविध सत्ता है, अनिर्धारित, अनन्त सूक्ष्मतम सत्-तत्वों का सातत्य। ये सत्-तत्व, जिन्हें गुण कहा जाता है, एक अन्य अमूर्तन द्वारा तीन शीर्षकों में वर्गीकृत किये जाते हैं — (१) सत्व, वह सार जो किसी परिघटना में स्वयं को प्रकट करता है और जो इसी अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति से लक्षित है; अर्थात् वह जो बुद्धि के प्रतिबिम्बन का माध्यम बनता है; (२) रजस्, ऊर्जा, वह जो किसी परिघटना में क्रियाशील है और कार्य करने अथवा प्रतिरोध पर विजय पाने की प्रवृत्ति से लक्षित है; और (३) तमस्, द्रव्यमान अथवा जड़ता, जो रजस् की कार्य करने की और सत्व की चेतन अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति का प्रतिरोध करता है। तब विश्व के अन्तिम घटक हैं — (१) सार अथवा बुद्धि-द्रव्य, (२) ऊर्जा, और (३) द्रव्यमान या जड़ता से लक्षित पदार्थ। इन गुणों की कल्पना सत्-तत्वों, द्रव्यात्मक सत्ताओं के रूप में की गई है — किन्तु स्वयंभू या स्वतन्त्र सत्ताओं के रूप में नहीं, अपितु प्रत्येक सत् अथवा द्रव्यात्मक अस्तित्व में परस्पराश्रित क्षणों के रूप में।"**

इस अर्थ में ऊर्जा भी द्रव्यात्मक है। ऊर्जा के सूक्ष्मतम अंशों में जड़त्व अथवा गुरुत्व नहीं होता, और फलतः वे भौतिक नहीं हैं; किन्तु उनमें परिमाण और विस्तार-क्षमता होती है। गुण निरन्तर संयुक्त होते, पृथक् होते और पुनः संयुक्त होते रहते हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु उनके विशिष्ट विन्यास और संयोग का परिणाम है। सार, ऊर्जा और द्रव्यमान की भिन्न-भिन्न मात्राएँ, भिन्न-भिन्न समूहों में, एक-दूसरे पर क्रिया करती हैं, और अपनी पारस्परिक अन्तःक्रिया तथा परस्पराश्रयता के द्वारा अनिश्चित अथवा गुणतः

अनिर्धारित से निश्चित अथवा गुणतः निर्धारित का विकास करती हैं। प्रकट उत्पाद में जो कुछ भी ऊर्जा है, वह रजस् के, और केवल रजस् के ही कारण है; पदार्थ, प्रतिरोध और स्थायित्व तमस् के कारण हैं, और समस्त चेतन अभिव्यक्ति सत्व के कारण। साम्य में विक्षोभ उत्पन्न होने के लिये जो विशेष गुण किसी परिघटना में प्रधान होता है, वह उस परिघटना में व्यक्त हो जाता है और शेष अव्यक्त हो जाते हैं; जैसे विश्रामस्थ पिण्ड में द्रव्यमान प्रकट रहता है, ऊर्जा अव्यक्त, और चेतन अभिव्यक्ति उससे भी अधिक गुप्त। इसी प्रकार प्रकृति का विकास निरन्तर चलता रहता है — लोकों का निर्माण करता और फिर उनका विनाश करता हुआ।

योग नामक विचार-धारा में भी ऐसे ही मत प्रचलित थे। इस सम्प्रदाय के अनुसार विश्व की सामग्री आकाश और प्राण (जीवन) से बनी है। स्वामी विवेकानन्द आकाश का कार्य इस प्रकार समझाते हैं :—

> **"सृष्टि के आरम्भ में केवल आकाश (ईथर) होता है। यह आकाश ही है जो वायु बनता है, जो द्रव बनता है, जो ठोस बनता है; यह आकाश ही है जो सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, तारे और धूमकेतु बनता है; यह आकाश ही है जो शरीर बनता है, पशु-शरीर, वनस्पतियाँ, प्रत्येक वह रूप जो हम देखते हैं, प्रत्येक वह वस्तु जिसका संवेदन हो सकता है, प्रत्येक वह वस्तु जो विद्यमान है। चक्र के अन्त में ठोस, द्रव और गैस — सब पुनः आकाश में विलीन हो जाते हैं, और अगली सृष्टि इसी प्रकार इसी आकाश से आगे बढ़ती है।"**

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, जिस 'ईथर' माध्यम से यहाँ आकाश की तुलना की गई है, उसका अस्तित्व माइकल्सन-मॉर्ली प्रयोग (१८८७) से खण्डित हुआ और सापेक्षता-सिद्धान्त के बाद वह त्याग दिया गया।

न्याय सम्प्रदाय के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु विश्व के दृश्य और स्पर्श्य भागों के उपादान कारण हैं, और स्वयं स्वयंभू तथा शाश्वत हैं। वैशेषिक परमाणु-सिद्धान्त में सूक्ष्मता से उतरते हैं। उनके सम्प्रदाय के प्रवर्तक, जिनका उपनाम कणाद (शब्दशः, अणु खाने वाला) है, परमाणुओं का स्वरूप और उनका संघटन इस प्रकार समझाते हैं : 'सूर्य-रश्मि में जो कण दिखाई देता है, वह सबसे छोटी प्रत्यक्षगम्य मात्रा है। द्रव्य और कार्य होने के कारण वह अवश्य ही अपने से छोटी वस्तु से बना होगा; और यह छोटी वस्तु भी द्रव्य और कार्य है, क्योंकि परिमाण वाले द्रव्य का घटक भाग कार्य ही होगा। यह पुनः अपने से छोटी वस्तु से बना होगा, और वह छोटी वस्तु परमाणु है। वह सरल और अरचित है, अन्यथा

शृंखला अनन्त हो जाती; और यदि उसका अनिश्चित रूप से अनुसरण किया जाए तो सरसों के दाने और पर्वत में, अथवा मच्छर और हाथी में, परिमाण का कोई भेद ही न रहता, क्योंकि प्रत्येक में समान रूप से अनन्त कण होते।' अतः अन्तिम परमाणु एक सरल इकाई है। तदुपरान्त कणाद यह दिखाते हैं कि प्रथम संयोग दो परमाणुओं से बनता है, और अगला तीन द्व्यणुकों से; क्योंकि एक से किसी भी प्रकार संयोग नहीं बन सकता, और यह दिखाने को कुछ नहीं कि उस प्रयोजन के लिये दो से अधिक अपेक्षित हैं। किन्तु नियमित परमाणु तीन द्व्यणुकों का संयोग है, अन्यथा परिमाण सम्भव न होता — जो केवल दो द्व्यणुकों के संयोग से न निकलता; इस दशा में परिमाण परमाणुओं की संख्या से बनता है, उनके आकार से नहीं। जो गुण कार्य में प्रकट होते हैं, उनके विषय में कणाद घोषित करते हैं कि वे वही हैं जो घटक भाग अथवा उपादान कारण में रहते हैं। वैशेषिकों के अनुसार विश्व परमाणुओं के उस संगम का परिणाम है जो किसी अदृष्ट विशिष्ट शक्ति द्वारा घटित होता है — वह सृजनात्मक इच्छा हो सकती है, या काल, या कोई अन्य समर्थ कारण।

इस प्रकार यथार्थवादी सम्प्रदाय के प्राचीन हिन्दू ऋषियों ने विश्व की सृष्टि की व्याख्या की। उन्होंने उसे शून्य से किसी वस्तु के निर्माण के अर्थ में सृष्टि नहीं माना, अपितु सूक्ष्म अथवा अपेक्षाकृत कम स्थूल से स्थूल का विकास माना। उस आदिम उपादान से, जिसमें सब प्रकार के आकारों और रूपों में परिणत होने का गुण है, उनके मत से विश्व कुछ निश्चित नियमों के अनुसार विकसित हुआ। इस प्रकार पदार्थ को विश्व के दो सर्वाधिक आवश्यक तत्वों में से एक स्वीकार किया गया; दूसरा है आत्म-तत्व, अर्थात् आत्माओं का सार, जिसकी पूर्णता ही विकास का लक्ष्य है।

अब हम देखें कि इस विषय में आधुनिक विज्ञान का क्या कहना है। कुछ हिन्दू यथार्थवादियों की भाँति वह भी विश्व को दो तत्वों में घटा देता है, किन्तु उन्हें पदार्थ और बल कहता है। पदार्थ के शीर्षक के अन्तर्गत समस्त द्रव्य आते हैं — चाहे वे नीहारिकीय हों, गैसीय, तरल अथवा ठोस; जबकि बल में ऊर्जा के विविध रूप सम्मिलित हैं, जैसे प्रकाश, ऊष्मा, विद्युत्, चुम्बकत्व, रासायनिक क्रिया आदि। अब यह माना जाता है कि अस्तित्व और जीवन की समस्त अभिव्यक्तियाँ इन्हीं दो तत्वों से विकास द्वारा उत्पन्न होती हैं। पदार्थ और बल दोनों ही अविनाशी हैं; अर्थात् प्रत्येक का कुल योग एक निश्चित मात्रा है, जिसमें न कुछ जोड़ा जा सकता है, न घटाया। प्रत्येक परमाणु में बद्ध वह बल — इस पद और 'ऊर्जा' में भेद माना जाता है, क्योंकि बल तो तौले जा सकने वाले पदार्थ के परमाणुओं में अन्तर्निहित है और उनसे पृथक् नहीं किया जा सकता, जबकि ऊर्जा एक परमाणु से दूसरे परमाणु में और एक पिण्ड से दूसरे पिण्ड में संक्रमण करती है, जिसका वाहन वह अतौल्य ईथरीय माध्यम है, जिसके विषय में यह मान लिया गया है कि वह पिण्डों के बीच तथा पिण्डों के कणों के बीच के अवकाश को भरता है — बन्धुता के रूप में

क्रिया करता हुआ परमाणुओं को अणुओं में जोड़ता है; संसक्ति के रूप में क्रिया करता हुआ अणुओं को पिण्डों में जोड़ता है; और गुरुत्वाकर्षण के रूप में क्रिया करता हुआ पिण्डों को उनके अपने-अपने गुरुत्व-केन्द्रों की ओर खींचता है।

> सम्पादकीय टिप्पणी
> यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, अवकाश को भरने वाले 'ईथरीय माध्यम' की कल्पना निराधार सिद्ध हुई और आधुनिक भौतिकी में ऐसा कोई माध्यम स्वीकृत नहीं है।

अकार्बनिक द्रव्य से कार्बनिक के विकास की व्याख्या भी इसी प्रकार की जाती है; क्योंकि जटिलतम अकार्बनिक वस्तु और जीव के निम्नतम रूप के बीच का भेद केवल उन्हें बनाने वाले पदार्थ के अणुओं के विन्यास में ही माना जाता है। अपने निम्नतम रूप में जीवित बीजाणु प्रत्यक्षतः निर्जीव प्रतीत होता है, और संरचना से इतना सर्वथा रहित कि उसे जीव कहने के लिये केवल शिष्टाचारवश ही सहमत हुआ जा सकता है। आधुनिक विज्ञान के प्रमुख अधिकारियों के अनुसार कार्बनिक जीवन का प्राचीनतम रूप जीवद्रव्य के मात्र नग्न कणों से आरम्भ हुआ, जो केन्द्रकहीन थे अथवा जिनमें कोई सुगम्य केन्द्रक नहीं था, और जिनसे तथाकथित एककोशीय जीव उत्पन्न हुए। उनके पश्चात् वे आए जिनके शरीर अधिक कोशिकाओं से बने थे — बहुकोशीय। इस प्रकार कार्बनिक जीवन की अभिव्यक्ति अधिकाधिक जटिल होती गई, यहाँ तक कि उसने मनुष्य में अपना चरम बिन्दु प्राप्त किया। मानसिक क्रियाओं के विकास का भी अत्यन्त विस्तार से अनुसरण किया गया है। यह अनुमान किया गया है कि स्नायु-तन्त्र भौतिक शरीर के साथ-साथ विकसित हुआ, जिससे जब जीव बहुकोशीय हुआ तब स्नायु-तन्त्र स्नायु-तन्तुओं और केन्द्रों के जाल की भाँति फैल गया। मनुष्य में यह जटिलता की अत्यन्त असाधारण अवस्था तक पहुँच गया है, जिससे उसकी विस्मयकारी मानसिक शक्तियों की व्याख्या होती है; यद्यपि इस निष्कर्ष से बचना असम्भव है कि निम्नतर प्राणियों में भी मस्तिष्क और स्नायु-तन्त्र के विकास के अनुपात में विचार और तर्क की शक्ति विद्यमान है। संक्षेप में, हमारे विश्व की यही व्याख्या आधुनिक विज्ञान देता है।

इस अवस्था में स्वयं बल के स्वरूप की जाँच कर लेना उचित है। प्रश्न यह है कि बल क्या है? इस विषय में मतों में बड़ी विविधता है, और विद्वान् जन आपस में बँटे हुए हैं — कुछ सोचते हैं कि वह अवश्य ही पदार्थ के स्वभाव का होगा, दूसरे इससे इनकार करते हैं। किन्तु चूँकि किसी भी वस्तु को द्रव्यत्व से सर्वथा रहित मानना असम्भव है, इसलिये बल को किसी न किसी प्रकार के द्रव्य में बद्ध मानना ही होगा। इस प्रकार समझने पर बल द्रव्य का एक पक्ष अथवा कार्य बन जाता है; क्योंकि अभौतिक सत्ता जैसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। प्रो. हेकल के अनुसार :—

> **“सचमुच आज इन गहन भ्रान्तियों के आगे और खण्डन की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अनुभव ने आज तक हमारे लिये न कोई एक अभौतिक द्रव्य खोजा है, न कोई एक ऐसा बल जो पदार्थ पर निर्भर न हो, न ऊर्जा का कोई एक ऐसा रूप जो भौतिक गति द्वारा — चाहे वह पिण्ड की हो, या ईथर की, या दोनों की — प्रयुक्त न होता हो। ऊर्जा के जो सर्वाधिक विस्तृत और सर्वाधिक पूर्ण रूप हम जानते हैं — उच्चतर प्राणियों का मानसिक जीवन, मनुष्य का विचार और तर्क — वे भी भौतिक प्रक्रियाओं पर, अर्थात् गुच्छिका-कोशिकाओं के स्नायुद्रव्य में होने वाले परिवर्तनों पर, निर्भर हैं; उन परिवर्तनों के बिना उनकी कल्पना ही नहीं की जा सकती। चेतना को भी अभौतिक सत्ता के रूप में नहीं सोचा जा सकता, क्योंकि वह हमारे स्वास्थ्य की दशा से, मिथ्या ज्ञान से, और चाय, कॉफी, कस्तूरी, कर्पूर आदि कुछ औषधियों से भी प्रभावित होती है।”**

रेडियम की खोज के पश्चात् पदार्थ और परमाणु सम्बन्धी पुरानी धारणाओं में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। अनेक प्रतिष्ठित भौतिकशास्त्री उसकी परिघटनाओं में उस वस्तु का वास्तविक विघटन देखते हैं जिसे कभी पदार्थ का अविनाशी परमाणु माना जाता था। विद्युदणु (विद्युत् की इकाइयाँ) किसी विद्युदग्र पर पदार्थ के परमाणुओं से पृथक् हो जाते हैं, और यह विश्वास किया जाता है कि ये विद्युदणु वस्तुतः परमाणु से ‘छीले गए टुकड़े’ हैं (‘द रिडल विंडिकेटेड’)।

इन परिस्थितियों में भार का प्रश्न उठता ही नहीं, क्योंकि वह मात्र तुलनात्मक पद है। वस्तुतः पदार्थ का हमारा अनुभव केवल प्रतिरोधक बल तक ही सीमित है। अतएव पदार्थ और बल के बीच स्थापित बन्धुता में आश्चर्य की कोई बात नहीं। अपनी व्यावहारिक आवश्यकताओं के लिये हम अपनी तुलनात्मक विधियों से इनमें से जिसे चाहें, तौल या माप सकते हैं।

जहाँ तक विकास के कारण या कारणों का प्रश्न है, वैज्ञानिक इससे इनकार करता है कि विश्व किसी के विचार या अभिकल्प का परिणाम है; वह धर्मशास्त्र के इस परिकल्पना से विवाद करता है कि किसी स्रष्टा की इच्छा से चमत्कारपूर्ण सृष्टि हुई, और विश्व के बने रहने का श्रेय प्रकृति के अपरिवर्तनीय नियमों को देता है। धर्मशास्त्र में प्रशिक्षित बुद्धि, अपनी परम सत्ता के विश्व-स्रष्टा होने के दावे को बनाए रखने को उत्सुक, घड़ी और संसार के बीच सादृश्य के तर्क पर उसे सिद्ध करने चलती है, और कहती है कि जैसे घड़ीसाज़ के बिना घड़ी नहीं हो सकती थी, वैसे ही स्रष्टा के बिना संसार नहीं हो सकता। यह तर्क कहाँ तक सुदृढ़ है, इसकी जाँच आगे की जाएगी; किन्तु हम इस अवसर का लाभ उठाकर धर्मशास्त्र द्वारा प्रस्तुत दावे में निहित दो बिन्दुओं की परीक्षा कर सकते हैं। ये हैं — शून्य से सृष्टि की धारणा, और विश्व के प्रथम आरम्भ की धारणा।

जहाँ तक इन दोनों में से प्रथम का प्रश्न है, 'शून्य' की धारणा स्वयं में विरोध लिये है। लोक-प्रचलित अर्थ में 'कुछ नहीं' एक रिक्त संकल्पना है, और इस रूप में मन के लिये अचिन्त्य है। हम शून्यता की अवस्था का वर्णन अस्तित्व की उस दशा के रूप में कर सकते हैं जब यह वस्तु, वह वस्तु, अन्य वस्तु — अर्थात् जब एक-एक और सब वस्तुएँ — नहीं थीं; किन्तु तब हमारे पास इन्द्रिय-विषयों के निषेध की मात्र एक धारणा रह जाती है; और जब हम स्वयं द्रव्य को ही सोच से हटाने का प्रयत्न करते हैं, तब मन उस प्रेरणा को मानने से इनकार कर देता है और ओष्ठ वाणी गढ़ने से। तब यदि जगत्-प्रक्रिया का कोई आरम्भ मान भी लें, तो हमें कहना होगा कि विश्व की अभिव्यक्ति से पूर्व अस्तित्व की सच्ची दशा वह रही होगी जिसमें सब वस्तुएँ स्वयं सत्ता की गोद में अव्यक्त पड़ी थीं। इस अवस्था का एक सुन्दर वर्णन 'दूज्यान की पुस्तक' (Book of Dzyan) में मिलता है, जिससे हम निम्नलिखित उद्धृत करते हैं :—

> "शाश्वत जननी, अपने सदा अदृश्य वस्त्रों में लिपटी, एक बार फिर सात अनन्तताओं तक सो चुकी थी।

> "काल नहीं था, क्योंकि वह अवधि की अनन्त गोद में सोया पड़ा था।

> "वैश्विक मन नहीं था, क्योंकि उसे धारण करने वाले कोई बुद्धिमान् प्राणी नहीं थे।

> "दुःख के महान् कारण नहीं थे, क्योंकि उन्हें उत्पन्न करने और उनमें फँसने वाला कोई नहीं था।

> "अन्धकार अकेला ही उस असीम सर्वस्व को भरे था, क्योंकि पिता, माता, पुत्र एक बार फिर एक हो गए थे, और पुत्र अभी नए चक्र और उस पर की अपनी तीर्थयात्रा के लिये जागा नहीं था।

> "सात सत्य अस्तित्व में नहीं रह गए थे, और विश्व — आवश्यकता का पुत्र — उस निरपेक्ष में निमग्न था, जिससे उसे उस सत्ता द्वारा उच्छ्वसित होना था जो है और फिर भी नहीं है। कुछ भी नहीं था।

> "अस्तित्व के कारण नहीं रह गए थे; जो दृश्य था और जो अदृश्य है, दोनों उस शाश्वत अभाव — एकमात्र सत्ता — में विश्राम कर रहे थे।

> "अस्तित्व का केवल एक रूप असीम, अनन्त, अकारण फैला था, स्वप्नरहित निद्रा में; और जीवन वैश्विक अवकाश में उस समस्त उपस्थिति में अचेतन स्पन्दित हो रहा था, जिसका संवेदन द्रष्टा की खुली आँख करती है।

> **“किन्तु द्रष्टा कहाँ था, जब विश्व की अधि-आत्मा निरपेक्ष में लीन थी और महान् चक्र जनकहीन था? (अपनी निराकार, शाश्वत, निरपेक्ष अवस्था में)!”**

उपर्युक्त वर्णन ‘कुछ नहीं’ अथवा ‘शून्यता’ की अवस्था का पर्याप्त यथार्थ चित्रण है। जो वस्तु वास्तव में और सचमुच स्वयं में और स्वयं के लिये विद्यमान है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकती; और जब किसी वस्तु का रूप अनभिव्यक्ति की दशा में चला जाता है और हम कहते हैं कि वह नहीं है, तब भी जिस उपादान से वह बनी थी, वह किसी न किसी रूप में विद्यमान बना रहता है। यही बात दूसरे शब्दों में कहें तो — सब वस्तुएँ अभिव्यक्ति से पूर्व और पश्चात् कारणात्मक सम्भावनाएँ हैं, और अभिव्यक्ति के काल में प्रत्यक्षगम्य यथार्थताएँ; जबकि वह सच्चा कारण, या कारण-समूह, जो उन्हें जन्म देता है, उनके रूपान्तरों से अप्रभावित बना रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अवधि के इतिहास में कभी कोई ऐसा क्षण हो ही नहीं सकता था जिसके विषय में किसी भी यथार्थता के साथ यह कहा जा सके कि विश्व शून्य था और कुछ भी विद्यमान नहीं था।

> **‘कुछ नहीं’ शब्द का सच्चा अर्थ तब स्पष्ट होगा जब हम इस वाक्य के अर्थ का विश्लेषण करें — ‘संसार शून्य था और कुछ भी विद्यमान नहीं था।’ अब, साधारणतः जैसा कि यह अंग्रेज़ी भाषा में प्रचलित है, ‘कुछ नहीं’ शब्द का अर्थ अस्तित्व का प्रतिपक्ष है; किन्तु इस अर्थ में उसका प्रयोग किसी विधायक कथन में हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह अचिन्त्य है कि अस्तित्व का प्रतिपक्ष, अर्थात् अभाव, कभी विद्यमान भी हो सकता है। यह कहने के तुल्य है कि जो वस्तु स्वयं विद्यमान नहीं, उसके पक्ष में अस्तित्व का विधान नहीं किया जा सकता। अतः ‘कुछ भी विद्यमान नहीं था’ — यह कथन स्वयं-विरोधी है।**

किन्तु यदि हम ‘कुछ नहीं’ शब्द को प्रचलित अर्थ न दें, और उसका प्रयोग अस्तित्व के अभाव के अर्थ में नहीं, अपितु मात्र वस्तुओं अर्थात् इन्द्रिय-विषयों के निषेध के अर्थ में करें, तो इस प्रयोग में सुदृढ़ अर्थ आ जाता है और वह विधायक कथन में प्रयुक्त होने योग्य बन जाता है। तब ‘कुछ नहीं’ की संकल्पना की एक विधायक अन्तर्वस्तु होगी, और ‘कुछ भी विद्यमान नहीं था’ इस कथन का अर्थ होगा — ‘कोई-वस्तु-नहीं’, अर्थात् जो कोई वस्तु नहीं है, वह विद्यमान था। अब, जो कोई वस्तु नहीं है, वह कारणात्मक द्रव्यों या तत्वों का समूह है — उस आध्यात्मिक अमूर्तन ‘सत्ता’ या ‘यथार्थ’ का मूर्त पक्ष, जो ‘वस्तु’ अर्थात् इन्द्रिय-विषयों के प्रतिपक्ष के रूप में खड़ा किया गया है। अतः ‘संसार शून्य था और कुछ भी विद्यमान नहीं था’ — इस वाक्य का सच्चा अर्थ यह नहीं कि सत्ता नहीं थी, अथवा नष्ट हो चुकी थी;

अपितु यह कि अवकाश में कोई इन्द्रिय-विषय अर्थात् प्रत्यक्षगम्य वस्तुएँ नहीं थीं, और यथार्थ — अर्थात् जो कोई वस्तु नहीं है, अतएव जीवन और अन्य द्रव्य — विद्यमान था और अवकाश के 'शून्य' को भरे था।

यहाँ रुककर हम एक बार-बार दोहराए जाने वाले प्रश्न पर ध्यान दे सकते हैं, जो यह है : स्वयं द्रव्य कहाँ से आया? दार्शनिक दृष्टि से तो यह प्रश्न ही असंगत है, क्योंकि द्रव्य स्वयं सत्ता है, और इस रूप में अपना स्रोत स्वयं है। इसके अतिरिक्त, यदि हम कार्य से कारण का अनुसरण करते चलें, तो अन्ततः हमें किसी विद्यमान द्रव्य पर रुकना ही होगा; अन्यथा यह प्रक्रिया अनन्त हो जाएगी, अथवा उसे शून्य के गर्भ से वस्तुओं की चमत्कारपूर्ण सृष्टि पर निर्भर होना पड़ेगा, जिसका अर्थ होगा तर्क से अतर्क में पतन।

इसके अतिरिक्त, चूँकि यह विश्वास करना असम्भव है कि दृश्य परिघटनाओं की समस्त विविधता एक ही 'शून्य' से निकल सकती है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वयं 'शून्य' के संघटन में भी भेद होने चाहिये। इस प्रकार हमें ऐसी वस्तु में भेदों का अस्तित्व मिलता है जिसका स्वयं कोई अस्तित्व ही नहीं!

अतः यह स्पष्ट है कि 'कुछ नहीं' को अस्तित्व के प्रतिपक्ष के रूप में अस्तित्व के भीतर स्थापित करने का प्रयत्न उस मनुष्य के प्रयत्न जैसा है जो अपने ही कंधों पर कूदने का यत्न करता है; और यह कि जो धर्मशास्त्री इस शब्द को उसके लोक-प्रचलित अर्थ में प्रयोग करता है, वह सत्य से बहुत दूर है।

जहाँ तक दूसरे बिन्दु का प्रश्न है, धर्मशास्त्री प्रथम कारण अथवा आरम्भ की अपनी धारणा में भी भ्रान्त है। हम विश्व के किसी प्रथम आरम्भ की कल्पना नहीं कर सकते। जो स्थिति तब तक बनी हुई थी, उसमें परिवर्तन क्यों होना चाहिये? क्या ईश्वर भी अपना रुख असृजनात्मक से सृजनात्मक में बदलता है? और उस उपादान का क्या, जिससे विश्व बना है? क्या वह लोकों के निर्माण से पूर्व किसी न किसी रूप में विद्यमान नहीं था? धर्मशास्त्री इस अन्तिम प्रश्न का उत्तर नकार में देना चाहेगा, किन्तु उसे उस वैज्ञानिक की फटकार का भय है जिसने यह सिद्ध कर दिया है कि शून्य से कुछ बनाना सम्भव नहीं। पदार्थ और ऊर्जा के संरक्षण के नियम प्रथम आरम्भ की धारणा के विरोधी हैं, और हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि जगत्-निर्माण की प्रक्रिया में इससे अधिक कुछ सम्भव ही नहीं कि पहले से विद्यमान स्थिति में किसी प्रकार की व्यवस्था पुनः स्थापित की जाए, अर्थात् अव्यवस्था से एक सुव्यवस्थित जगत् बनाया जाए। किन्तु उस अव्यवस्था की भी जाँच करने पर वह किसी पूर्ववर्ती सुव्यवस्थित जगत् से उत्पन्न प्रतीत होगी, जो इसी प्रकार किसी पूर्ववर्ती अव्यवस्था के पश्चात् आया होगा, और इसी प्रकार आगे भी। अतः वस्तुओं के आरम्भ तक पहुँचने के स्थान पर हम अपने को अव्यवस्था और सुव्यवस्था के एक चक्र में उलझा पाते हैं, जिससे निकलना केवल इस धारणा को ही त्याग देने पर सम्भव है।

प्रथम कारण का सिद्धान्त जगत्-समस्या की विशालता से चकित मन को क्षण भर की राहत भले दे दे, किन्तु यह वैसी ही राहत है जैसी कड़ाही से निकलकर आग में गिरने वाले को मिलती है। विज्ञान के मनुष्य ने जगत्-प्रक्रिया को धर्मशास्त्री की अपेक्षा कहीं अच्छी तरह समझा है। प्रो. हेकल कहते हैं :—

> **"हाल ही में सिद्धान्त द्वारा इसकी प्रबल पुष्टि और विस्तार हुआ है कि यह ब्रह्माण्ड-निर्माण की प्रक्रिया केवल एक बार नहीं हुई, अपितु आवर्तक रूप से दोहराई जाती है। जब विश्व के कुछ भागों में नीहारिका के घूमते पिण्डों से नए वैश्विक पिण्ड उठते और विकसित होते हैं, तब अन्य भागों में पुराने, बुझे हुए, शीतल सूर्य टकरा जाते हैं और उत्पन्न ऊष्मा से पुनः नीहारिका की अवस्था में घटा दिये जाते हैं।"**

तीव्र गति से चलते पिण्डों की टक्कर में उत्पन्न ऊष्मा की विपुल मात्रा वह नई गतिज ऊर्जा है जो परिणामी नीहारिकाओं की दशा और नए घूर्णनशील पिण्डों के निर्माण को प्रभावित करती है। इस प्रकार जो हमारे लिये आरम्भ है, वह किन्हीं अन्य ग्रहों में दूसरों के लिये अन्त हो सकता है। यह शाश्वत नाट्य इसी प्रकार निरन्तर और सदा चलता रहता है। अपने ही ग्रह पर, दैनिक जीवन में, हम इसी सिद्धान्त का दृष्टान्त देखते हैं। जो आज बीज है, वह कल वृक्ष बन जाता है, और परसों फिर बीज, जिससे पुनः वृक्ष बने। क्या हम पूछ सकते हैं कि पहले कौन था — बीज या वृक्ष? वृक्ष बीज में है, और बीज वृक्ष में। यह प्रश्न ही नहीं उठता कि पहले कौन था — बीज या वृक्ष। अनन्तता के चक्र में प्रथम कारण के लिये कोई स्थान नहीं। रूपों के आरम्भ की तो कल्पना की जा सकती है, किन्तु स्वयं द्रव्यों का कौन-सा आरम्भ बताया जा सकता है? सर ऑलिवर लॉज (Sir Oliver Lodge) ठीक ही कहते हैं :—

> **"मेरे विचार से हम सब उचित रूप से यह मान सकते हैं कि जो कुछ वास्तव में और मूलतः विद्यमान है, वह मात्र अस्तित्व की दृष्टि से काल से स्वतन्त्र है। वह अनेक परिवर्तनों से गुज़र सकता है और इस प्रकार उसका इतिहास हो सकता है, अर्थात् जहाँ तक उसके परिवर्तनों का प्रश्न है, उसके निश्चित काल-सम्बन्ध अवश्य होंगे; किन्तु उसके विषय में यह सोचना कठिन है कि वह किसी दिये हुए काल में अस्तित्व से निकल जाता है, अथवा अस्तित्व में आता है — यद्यपि वह अपना रूप और आगन्तुक गुण पूर्णतया बदल सकता है। जो कुछ भी आधारभूत है, उसका किसी न किसी प्रकार का अतीत और भविष्य अवश्य होगा, यद्यपि किसी विशेष संयोजन या विन्यास की उत्पत्ति और विनाश की तिथि हो सकती है।" ('लाइफ ऐंड मैटर')**

यह धारणा कि विश्व की चमत्कारपूर्ण सृष्टि केवल लगभग ६,००० वर्ष पूर्व हुई थी, जिसे ईसाई धर्मशास्त्री मानते आए हैं, वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा मिथ्या सिद्ध कर दी गई है। हेकल इस विषय में वैज्ञानिक जाँच का परिणाम इन शब्दों में समेटते हैं :—

> **"आधुनिक भूविज्ञान की उज्ज्वल प्रगति के हम तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण और सर्वसामान्य परिणामों के ऋणी हैं। प्रथमतः, उसने पृथ्वी की कथा से पर्वतों के निर्माण और महाद्वीपों के आकार-ग्रहण में चमत्कार तथा अलौकिक कारकों के समस्त प्रश्न को बाहर कर दिया है। द्वितीयतः, उनके निर्माण में लगे विशाल काल-खण्ड की लम्बाई की हमारी धारणा पर्याप्त रूप से विस्तृत हुई है। अब हम जानते हैं कि पुराजीवी, मध्यजीवी और नूतनजीवी संरचनाओं के विशाल पर्वतों की वृद्धि में हज़ारों नहीं, अपितु लाखों वर्ष लगे हैं। तृतीयतः, अब हम जानते हैं कि उन संरचनाओं में जो असंख्य जीवाश्म मिलते हैं, वे 'प्रकृति की क्रीड़ाएँ' नहीं हैं, जैसा १५० वर्ष पूर्व माना जाता था, अपितु उन जीवों के प्रस्तरीभूत अवशेष हैं जो पृथ्वी के इतिहास के पूर्ववर्ती कालों में जीवित थे और पूर्वजों की एक लम्बी शृंखला से क्रमिक रूपान्तरण द्वारा उत्पन्न हुए थे।"**

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, रेडियोमितीय काल-निर्धारण से पृथ्वी की आयु लगभग ४.५४ अरब वर्ष सिद्ध हुई है, जो यहाँ बताए गए 'लाखों वर्ष' से कहीं अधिक है।

अतः 'उत्पत्ति' पुस्तक में दी गई सात दिनों की सृष्टि का सच्चा तात्पर्य चाहे जो हो, यह स्पष्ट है कि उस विवरण की धर्मशास्त्री द्वारा की गई व्याख्या शब्द के किसी भी अर्थ में सन्तोषजनक नहीं मानी जा सकती। भूविज्ञान ने सन्देह की सम्भावना से परे यह सिद्ध कर दिया है कि जिस संसार में हम रहते हैं, वह करोड़ों वर्ष से कम पुराना नहीं है; और हमारे पास इस धारणा को अस्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं कि वह प्रथम बार लगभग छह हज़ार वर्ष पूर्व अस्तित्व में आया।

इस प्रकार यह निश्चित है कि विश्व का कोई आरम्भ हो ही नहीं सकता था, और फलतः उसे शाश्वत ही मानना होगा। किन्तु यह स्पष्टतः सृष्टि की उस धारणा के लिये घातक है जो केवल इस कल्पना पर टिक सकती है कि निरन्तर शून्य और निष्क्रियता के बीच जगत्-प्रक्रिया का कोई आरम्भ हुआ। निःसन्देह हमारा निष्कर्ष प्रथम दृष्टि में ईश्वरवाद को अत्यन्त अप्रिय लगेगा, किन्तु फिर भी उससे बचाव नहीं; क्योंकि संसार ऐसी विशेषताओं से भरा है जो हमें किसी नियन्त्रक परम बुद्धि को सहज ही स्वीकार करने से रोकती हैं।

मैकेब (McCabe) द्वारा उद्धृत मि. फ़िस्क (Fiske) के अनुसार —

> “यह तथ्य हमारे सम्मुख अटल रूप से खड़ा है कि एक परम इच्छा, जो पूर्ण बुद्धि से प्रकाशित हो और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो, विश्व को भिन्न प्रकार से गढ़ सकती थी, जिससे वह दुःख और जीवन का वह अपव्यय टाला जा सकता था जो प्रकृति की विकास-प्रक्रिया की विशेषता है।”

मि. मैकेब मैलक (Mallock) की ‘रिलीजन ऐज़ अ क्रेडिबल डॉक्ट्रिन’ से भी उद्धृत करते हैं, जिससे हम निम्नलिखित अंश लेते हैं, क्योंकि उसका विचाराधीन बिन्दु से विशेष सम्बन्ध है :—

> “हमें अपने को समस्त पूर्वनिर्धारित निष्कर्षों से, समस्त प्रश्न-लोपी श्रद्धाओं से मुक्त करना होगा, और विश्व के तथ्यों की ओर स्थिर दृष्टि से देखना होगा। यदि ईश्वरवादी ऐसा करें, तो जो वे देखेंगे वह उन्हें चकित कर देगा। वे देखेंगे कि यदि इस विशाल प्रक्रिया के पीछे कोई ऐसी सत्ता है जिसमें हमारे ही जैसी चेतना और प्रयोजन हो — ऐसा प्राणी जो जानता है कि वह क्या चाहता है और उसे पाने का भरसक प्रयत्न कर रहा है — तो वह किसी पवित्र और सर्वज्ञ ईश्वर के स्थान पर एक बिखरे-दिमाग़ वाला, अर्ध-शक्तिमान्, अर्ध-असमर्थ राक्षस है। वे उन पुराने परिचित तथ्यों को उतनी ही स्पष्टता से पहचानेंगे जितनी सदा पहचानते आए हैं, जो उन्हें ईश्वर की बुद्धि, प्रेम और भलाई के प्रमाण जान पड़ते थे; किन्तु वे पाएँगे कि ये तथ्य, जब शेष तथ्यों के साथ मिलाकर देखे जाते हैं, तब हमें स्वयं इस सत्ता के स्वभाव में केवल एक ऐसा मानदण्ड देते हैं जिससे उसके अधिकांश कर्म हमें किसी अपराधी उन्मत्त के कर्मों जैसे दिखाई देते हैं। यदि वह अन्धा होता तो उस पर पाप न होता; किन्तु यदि हम यह मानें कि वह देख सकता है, तो उसका पाप बना रहता है। स्वभाव से ही फूहड़, और जब सक्रिय रूप से क्रूर नहीं होता तब निर्मम — जब वह करुणा प्रदर्शित करता प्रतीत होता है तब भी हम विवश होकर उसे दिव्य रूप से करुणामय नहीं, अपितु मात्र दुर्बल और मनमौजी मानते हैं, उस बालक की भाँति जो बिल्ली के बच्चे को दुलारता है और अगले ही क्षण उस पर कुत्ता छोड़ देता है। और केवल उसका नैतिक चरित्र ही टुकड़े-टुकड़े होकर नहीं गिरता, अपितु उसकी गरिमा भी विलीन हो जाती है। तारों की व्यवस्थित प्रक्रियाएँ और प्रकृति की बड़ी परिघटनाएँ किसी वस्तु का इतना संकेत नहीं करतीं जितना उस थकाऊ राज-दरबारी शिष्टाचार का जो ऐसे राजा को घेरे है जो उसे न समझ सकता है न तोड़ सकता है; जबकि गर्जन और बवण्डर, जो अनादि काल से उसकी भीषण शक्ति और महिमा के विशेष प्रकाशन माने जाते रहे हैं, यदि किसी वैयक्तिक चरित्र का कुछ भी संकेत करते हैं तो किसी गुण्डे लफंगे का, जो बादलों में एड़ियाँ उछाल रहा है — सम्भवतः उपद्रव पर तुला नहीं, किन्तु इस तथ्य के

> **प्रति उदासीन कि वह उपद्रव कर रहा है। जो ईश्वर उनका [विकास-प्रक्रियाओं का] जान-बूझकर दोषी हो सकता था, वह इतना असंगत, इतना राक्षसी, इतना उन्मत्त ईश्वर होगा कि उस पर विश्वास ही न किया जा सके।"**

यह है मि. मैलक का मत, जो — जैसा हमें मि. मैकेब से ज्ञात होता है — जीवन भर अज्ञेयवाद के सबसे समर्थ विरोधियों में रहे हैं और नास्तिकता की घोषणा के प्रति तिरस्कार से कम कुछ भी नहीं रखते। उनकी टिप्पणियों में निर्णायकता का बल है; और यद्यपि धर्म-सम्बन्धी उनकी धारणाओं के विषय में सब बातों में उनसे सहमत न हुआ जाए, फिर भी यह मानना असम्भव है कि विश्व किसी मानव-सदृश, प्रयोजनवान् स्रष्टा की प्रत्यक्ष इच्छा का परिणाम है। किन्तु अब धर्मशास्त्री अपनी भूमि बदलकर पूछ सकता है : यह मान भी लें कि संसार की सृष्टि किसी परम बुद्धि ने कभी नहीं की, तो क्या ईश्वरवाद की यह असफलता कि वह उसे किसी स्रष्टा के सृजनात्मक अभिकल्प या प्रयत्न का परिणाम सिद्ध कर सके, किसी को यह कहने का अधिकार देती है कि — चूँकि जगत् के विकास का निष्पक्ष अध्ययन हमें सिखाता है कि उसमें कोई निश्चित लक्ष्य और कोई विशेष प्रयोजन नहीं ढूँढ़ा जा सकता, इसलिये सब कुछ अन्धे संयोग पर छोड़ देने के अतिरिक्त कोई विकल्प प्रतीत नहीं होता? हम कैसे जानते हैं कि कोई अन्य विकल्प नहीं है? हमें भौतिकवादी की स्थिति को उसकी समग्रता में लेना होगा और देखना होगा कि वह अपने मृत, अचेतन पदार्थ और निर्जीव बल के साथ उसे टिका पाता है या नहीं। क्या मृत सत्ता या सत्ताओं की धारणा के साथ यह मानना संगत है कि विकास के कारक केवल वही एक दिशा ले सकते थे जो उन्होंने वस्तुतः ली? वे कोई अन्य दिशा क्यों नहीं ले सकते थे? पदार्थ और बल की ट्रामगाड़ी को दिशा देने वाली पटरियाँ कहाँ थीं?

यही है वह नई भूमि जो धर्मशास्त्र ने ग्रहण की है, और जिससे उसे हटाए बिना वैज्ञानिक चिन्तन में आगे प्रगति नहीं हो सकती।

प्रश्न यह है कि वह कौन-सा नियामक सिद्धान्त है जो प्रकृति में परिघटनाओं की नियमितता सुनिश्चित करता है? निःसन्देह दार्शनिकों का एक वर्ग यह मानता है कि संसार की समस्त व्यवस्था और नियमितता की व्याख्या शुद्ध और सरल संयोग से ही हो जाती है; किन्तु यह मानना असम्भव प्रतीत होता है कि इस व्याख्या से तर्क सन्तुष्ट हो जाता है। कारण, जहाँ यह निश्चित है कि विश्व किसी मानव-सदृश शिल्पी की प्रत्यक्ष और प्रयोजनवान् सृष्टि का परिणाम नहीं है, वहीं यह भी उतना ही निश्चित है कि संयोग किसी भी प्रकार उसके अस्तित्व का कारण नहीं हो सकता। आकस्मिकता की परिभाषा सामान्य नियम के अपवाद के रूप में की जा सकती है, किन्तु कभी स्वयं सामान्य नियम के रूप में नहीं। प्रकृति के विविध नियमों के

व्यवस्थित और नियमित कार्य को किसी भी प्रकार आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। यदि पतवार संयोग के हाथ में हो, तो न किसी सत्यापन की निश्चितता होगी, न हम प्रकृति की किसी परिघटना की पुनरावृत्ति पर भरोसा कर सकेंगे। समस्त वस्तुओं के अस्तित्व की आकस्मिक स्वतःस्फूर्तता का सिद्धान्त, जो कुछ विशुद्ध भौतिक वस्तुओं के रूपों और परिवर्तनों की व्याख्या भले कर दे, अधिक से अधिक तर्क की एक कोरी अटकल है, सर्वव्यापी प्रयोज्यता वाला नियम नहीं। संयोग और नियम स्वभाव से ही असंगत हैं। जैसा हडसन (Hudson) कहीं बताते हैं, आकस्मिकताओं की शृंखला, चाहे वह कितनी ही असंख्य या महत्वपूर्ण क्यों न हो, किसी भी वस्तु के व्यवस्थित, प्रगतिशील विकास का न कारण बन सकती है, न उसकी पर्याप्त व्याख्या कर सकती है — फिर विश्व, या किसी ग्रह, या मानवता के विकास की तो बात ही क्या; उसके लिये तो नियम चाहिये।

पुनः, यदि विकासात्मक प्रगति परमाणुओं या तत्वों के मात्र यादृच्छिक मिश्रण का परिणाम है, तो स्वयं उस आकस्मिकता की कारणता किससे है? इस प्रकार यदि हम पग-पग पीछे जाएँ, तो अन्ततः हमें स्वयं वस्तुओं के स्वभाव में ही निहित एक अन्तर्निहित, अनिवार्य प्रवृत्ति पर रुकना होगा। इसी को हम द्रव्यों का स्वकार्य मानते हैं, जिसे करने से उनमें से कोई इनकार नहीं कर सकता। यही विचार का अन्तिम पड़ाव है, जिसके आगे शून्य का अभेद्य अन्धकार है जहाँ मनुष्य की कल्पना विस्मय से स्तब्ध खड़ी रह जाती है। यहाँ आगे की समस्त चर्चा तत्वमीमांसीय शब्द-जाल में समाप्त हो जाती है, और विचार की अन्तिम सीमा की निरन्तर पुनरावृत्ति हमें चेतावनी देती है कि इस प्रक्रिया को और आगे बढ़ाना व्यर्थ है।

वस्तुओं की यह अन्तर्निहित प्रवृत्ति, मानो उनकी अभिव्यक्त होने की इच्छा, अथवा जिसे सामूहिक रूप से प्रकृति की परम इच्छा* कहा जा सकता है, सबके पीछे विद्यमान है, और इसी 'अभिव्यक्त होने की इच्छा' के हम संसार की व्यवस्था तथा नियमितता के लिए ऋणी हैं। यदि पतवार संयोग के हाथ में हो, तो हम किसी भी बात की भविष्यवाणी करने में असमर्थ रहेंगे, और जीवन विज्ञान के अनुशीलन में प्रोत्साहन और आनन्द पाने के स्थान पर निरी अनिश्चितता और चिन्ता में क्षीण होकर बिखर जाएगा। आप ज़रा उस अवस्था की कल्पना कीजिए जिसमें संयोग ही प्रधान कारण हो। तब इस बात का क्या भरोसा कि हैली के धूमकेतु (Halley's comet) के अगले आगमन के समय के विषय में हमारी गणनाएँ सत्य सिद्ध होंगी? तब इस बात की क्या निश्चितता कि हमारी यह पृथ्वी, जो विज्ञान के अनुसार अपार वेग से सूर्य की परिक्रमा करती है, अगले ही क्षण एकाएक ठहर न जाएगी, और समस्त प्राणियों का संहार करके हमारे पर्वतों तथा शिलाओं के दृढ़तम भागों को एक सेकण्ड से भी कम में चूर्ण न कर देगी? संक्षेप में, नियमों के सुव्यवस्थित संचालन का अराजक संयोग की दशा में बदल जाना — इससे बड़ी विपत्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतएव हमें संयोग की परिकल्पना को सर्वथा अस्वीकार कर देना चाहिए। किन्तु

हमारे इस निष्कर्ष को किसी हस्तक्षेप करने वाले देवता के अस्तित्व की सिद्धि न समझा जाए; क्योंकि जो तर्क संयोग की परिकल्पना का निषेध करता है, वही यह सिद्ध करने के लिए भी पर्याप्त है कि प्रकृति के नियमों की एकरूपता और नियमितता केवल इसी मान्यता पर सम्भव है कि उनके संचालन में कोई हस्तक्षेप नहीं करता। प्रकृति के नियम मनुष्यों की लिखित अथवा मौखिक आज्ञाओं के समान नहीं हैं, जिन्हें छल अथवा चातुरी से विफल किया जा सके; उनका उद्गम द्रव्यों के गुणों में है, जिनमें कोई हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं करता, और न सफलतापूर्वक कर ही सकता है।

* धर्मशास्त्र निस्सन्देह यह मानता है कि जगत्-प्रक्रिया अपने ईश्वर के शब्द से चलती है, और उसकी आज्ञा के बिना विश्व में कुछ भी घटित नहीं हो सकता; किन्तु तब धर्मशास्त्र के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं कि यदि वस्तुएँ किसी देवता के शब्द के आज्ञापालन में ही कार्य कर सकती हैं, तो उन्हें भिन्न-भिन्न गुणों से युक्त क्यों किया गया? यदि हम मिथ्या निष्कर्षों से अपने को धोखा न दें, तो हमें दिखाई देगा कि भिन्न-भिन्न द्रव्य भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, और उनमें से कोई भी दूसरे का कार्य नहीं कर सकता। यदि ऐसा न होता, तो जल से अग्नि का कार्य, अग्नि से वायु का, वायु से बुद्धि का, इत्यादि कार्य कराए जाने की कल्पना की जा सकती थी। किन्तु यह कल्पना इतनी असंगत है कि किसी स्वस्थ बुद्धि ने कभी इसे सम्भव नहीं माना। अतः हमें यह मानना ही होगा कि प्रत्येक द्रव्य का अपना विशेष कार्य है, जिसे और कोई नहीं कर सकता। किन्तु कार्य है क्या, यदि वह द्रव्य के अस्तित्व का विशिष्ट प्रकार न हो? इसका अर्थ यही हुआ कि यदि किसी द्रव्य का कार्य क्षण भर के लिए भी नष्ट कर दिया जाए तो वह द्रव्य रह ही नहीं सकता; जैसे अग्नि उसी क्षण अग्नि न रहेगी जिस क्षण वह जलाने और ताप उत्पन्न करने का अपना विशिष्ट कार्य करना छोड़ दे। अब, यह कल्पना कि प्रकृति के द्रव्यों को अपना कार्य करने के लिए किसी देवता की आज्ञा की आवश्यकता है, केवल तभी सम्भव है जब यह माना जाए कि वे उसके आदेश के बिना कार्य करते ही नहीं। किन्तु यह स्पष्टतः असम्भव है, क्योंकि कोई द्रव्य एक ही समय में विद्यमान भी हो और अविद्यमान भी — यह नहीं हो सकता, जब कि उसका कार्य उसके अस्तित्व का विशिष्ट प्रकार मात्र है। अतः यह सिद्ध होता है कि विद्यमान द्रव्यों के कार्य में कोई भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता ('द प्रैक्टिकल पाथ' (The Practical Path), पृष्ठ ६-७, पाद-टिप्पणी)।

यह भी ध्यान में रखना उचित है कि 'संयोग' शब्द का, उसके 'वैज्ञानिक' अर्थ में, किसी 'नियमहीन' घटना जैसा कोई आशय नहीं है, अपितु वह केवल प्रयोजनमूलक (टेलियोलॉजिकल) प्रकार के किसी बाह्य हस्तक्षेप का निषेध मात्र है। हेकेल (Haeckel) कहते हैं:—

> “दार्शनिकों का एक वर्ग अपनी प्रयोजनवादी धारणा के अनुसार यह प्रतिपादित करता है कि सम्पूर्ण विश्व एक सुव्यवस्थित तन्त्र है जिसमें प्रत्येक परिघटना का अपना लक्ष्य और प्रयोजन है; संयोग नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। दूसरा वर्ग, जो यान्त्रिक सिद्धान्त को मानता है, इस प्रकार कहता है: विश्व का विकास एक अद्वैतवादी यान्त्रिक प्रक्रिया है, जिसमें हमें कोई लक्ष्य या प्रयोजन दिखाई नहीं देता; जिसे हम जैव जगत् में प्रयोजन कहते हैं, वह जैविक कारणों का एक विशेष परिणाम है; न आकाशीय पिण्डों के विकास में और न हमारी पृथ्वी की ऊपरी सतह के विकास में हमें किसी नियन्त्रक प्रयोजन का कोई चिह्न मिलता है — सब कुछ संयोग का परिणाम है। दोनों ही पक्ष ठीक हैं — संयोग की अपनी-अपनी परिभाषा के अनुसार। कारणता का सामान्य नियम, द्रव्य के नियम के साथ मिलकर, हमें यह सिखाता है कि प्रत्येक परिघटना का एक यान्त्रिक कारण है; इस अर्थ में संयोग नाम की कोई वस्तु नहीं। फिर भी दो ऐसी परिघटनाओं के एक साथ घटित होने को व्यक्त करने के लिए इस शब्द को बनाए रखना न केवल उचित, अपितु आवश्यक है, जो परस्पर कार्य-कारण-सम्बन्ध से बँधी नहीं हैं, किन्तु जिनमें से प्रत्येक का अपना यान्त्रिक कारण है, जो दूसरे के कारण से स्वतन्त्र है।”

हेकेल ने ‘रिडल’ (Riddle) में जो पक्ष ग्रहण किया है, उसका ईश्वरवादी दार्शनिकों के आक्षेपों से बचाव करते हुए श्री जोसेफ मैक्केब (Joseph McCabe) उस एकमात्र अर्थ का वर्णन करते हैं जिसमें विज्ञान ‘संयोगजन्य घटनाओं’ को स्वीकार करता है, और विज्ञान तथा ईश्वरवाद के बीच का विवाद्य विषय स्पष्ट रूप से निर्धारित करते हैं। उनके अनुसार—

> “हेकेल और उनके सहयोगी यह मानते हैं कि विकास के कारणों की दिशा आकस्मिक नहीं है; कि वे जिस एक दिशा में वस्तुतः गए हैं, उसके अतिरिक्त कभी किसी और दिशा में जा ही नहीं सकते थे। जब आप हाथ से कोई पत्थर गिराते हैं, तो उसके सामने चलने के लिए एक दर्जन सम्भव मार्ग नहीं होते। आप इसका कोई कारण नहीं खोजते कि वह ‘ब’ अथवा ‘स’ दिशा के स्थान पर ‘अ’ दिशा का ही अनुसरण क्यों करता है। अद्वैतवादी कहता है कि विश्व की समस्त शक्तियों के विषय में भी यही बात है। ईश्वरवादी कहता है कि अन्तिम लक्ष्य अवश्य ही पूर्वदृष्ट रहा होगा और उन शक्तियों का अवश्य ही मार्गदर्शन हुआ होगा, अन्यथा वे इस निश्चित दिशा में इतने अविचल भाव से कभी कार्य न करतीं। अद्वैतवादी कहता है कि इन शक्तियों को मार्गदर्शन की उतनी ही आवश्यकता थी जितनी एक ट्रामगाड़ी को होती है; उनके लिए केवल एक ही दिशा सम्भव थी। यहाँ विवाद्य विषय स्पष्ट है, और धर्मरक्षा-शास्त्र की वर्तमान दशा में यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है।”

इसमें सन्देह नहीं कि यही ठीक व्याख्या है, क्योंकि विज्ञान के साहित्य में 'संयोग' 'नियमहीनता' का पर्यायवाची नहीं है। किन्तु भौतिकवादी तब संकट में पड़ जाता है जब वह यह कहता है कि पदार्थ और बल की उसकी 'ट्रामगाड़ी' न केवल स्वयं अपना मार्गदर्शन इतनी परिशुद्धता से कर सकती थी कि अपने मार्ग के समस्त मोड़ों, घुमावों और अन्य बाधाओं से बचकर निकल जाए, अपितु अपने यात्रियों को भी उत्पन्न कर सकती थी। क्योंकि बुद्धि पदार्थ की उपज नहीं है, और चाहे कितना ही प्रामाणिक भार डाला जाए और कितनी ही चिकनी-चुपड़ी बातें की जाएँ, यह कभी सिद्ध नहीं किया जा सकेगा कि चेतन उससे उत्पन्न हो सकता है जो स्वभाव से अचेतन है। प्रसिद्ध बेलफ़ास्ट अभिभाषण (Belfast Address) में बिशप बटलर (Bishop Butler) के मुख में जो तर्क रखा गया है, और जिसे स्वर्गीय प्रोफ़ेसर टिंडल (Tyndall) ने अखण्डनीय घोषित किया था, वह आज तक किसी भी प्रकार खण्डित नहीं हुआ:

> **"अपने मृत उदजन (हाइड्रोजन) परमाणुओं को लीजिए, अपने मृत प्राणवायु (ऑक्सीजन) परमाणुओं को, अपने मृत कार्बन परमाणुओं को, अपने मृत नत्रजन (नाइट्रोजन) परमाणुओं को, अपने मृत भास्वर (फ़ॉस्फ़ोरस) परमाणुओं को, तथा उन अन्य समस्त परमाणुओं को लीजिए, जो छर्रे के दानों के समान मृत हैं और जिनसे मस्तिष्क बना है। उन्हें पृथक् और संवेदनहीन कल्पना कीजिए; उन्हें परस्पर मिलते और सब कल्पनीय संयोग बनाते हुए देखिए। यह, विशुद्ध यान्त्रिक प्रक्रिया के रूप में, मन के द्वारा देखा जा सकता है। किन्तु क्या आप यह देख सकते हैं, अथवा स्वप्न में भी देख सकते हैं, अथवा किसी भी प्रकार कल्पना कर सकते हैं कि उस यान्त्रिक क्रिया से और इन पृथक्-पृथक् मृत परमाणुओं से संवेदना, विचार और भाव किस प्रकार उत्पन्न होंगे? क्या पासों की खड़खड़ाहट से आप 'होम' की रचना निकाल सकेंगे, अथवा बिलियर्ड की गेंदों की टक्कर से अवकल गणित? ... आणविक प्रक्रियाओं और चेतना की परिघटनाओं के बीच तार्किक निरन्तरता की जो माँग मानव-बुद्धि करती है, उसे आप सन्तुष्ट नहीं कर सकते।"**

टिंडल ने पदार्थ की परिभाषा को इतना विस्तृत कर देने का प्रयत्न किया कि उसमें जीवन भी समा जाए, और इस प्रकार इस कठिनाई से बचना चाहा। उन्होंने कहा:—

> **"यदि हम पदार्थ को उस रूप में देखें जैसा डेमोक्रिटस (Democritus) ने उसका चित्रण किया और जैसा पीढ़ियों से हमारी वैज्ञानिक पाठ्य-पुस्तकों में उसकी परिभाषा दी जाती रही है, तो उससे चेतन जीवन के उत्पन्न होने की धारणा मन में बन ही नहीं सकती। बिशप बटलर के मुख में रखा गया तर्क, मेरे मत में, ऐसे समस्त भौतिकवाद को चूर्ण करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु जिन्होंने पदार्थ की ये परिभाषाएँ गढ़ीं, वे आंशिक अध्येता ही थे। वे जीवविज्ञानी नहीं, गणितज्ञ थे, जिनका श्रम पदार्थ के**

> केवल उन्हीं आगन्तुक धर्मों और गुणों तक सीमित था जिन्हें उनके सूत्रों में व्यक्त किया जा सकता था। उनका विज्ञान यान्त्रिक विज्ञान था, जीवन का विज्ञान नहीं। पदार्थ से उसकी सम्पूर्णता में उनका कभी सामना नहीं हुआ; और उनकी अपूर्ण परिभाषा से विवस्त्र होकर 'सबकी वह वत्सल माता' अपनी ही सन्तानों के भय का विषय बन गई। आइए, हम श्रद्धापूर्वक, किन्तु ईमानदारी से, इस प्रश्न का सामना करें। पदार्थ से वियुक्त होकर जीवन कहाँ है? हमारा विश्वास चाहे जो कहे, हमारा ज्ञान तो उन्हें अविच्छेद्य रूप से जुड़ा हुआ दिखाता है। हम जो भी भोजन करते हैं और जो भी प्याला पीते हैं, वह पदार्थ के द्वारा मन के रहस्यमय नियन्त्रण को ही प्रकट करता है।"*

* 'फ्रैगमेण्ट्स ऑफ़ साइंस' (Fragments of Science), खण्ड २।

किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जीवन और पदार्थ सर्वथा भिन्न द्रव्य हैं, और प्रत्येक के अपने पृथक् तथा विशिष्ट गुण हैं, तथा प्रत्येक ऐसे कार्य करता है जिन्हें दूसरा स्वभावतः करने में असमर्थ है। वैज्ञानिक की विकास-सम्बन्धी धारणा की परीक्षा करने के लिए हम जैविक नेत्र की रचना-प्रक्रिया पर विचार कर सकते हैं। हेकेल इस विषय पर वैज्ञानिक निष्कर्षों का सार अपनी सुपरिचित सुगठित शैली में इस प्रकार देते हैं:—

> "(१) संगठन की निम्नतम अवस्था में सम्पूर्ण मनःप्लाज़्म (साइकोप्लाज़्म) ही, जैसा का तैसा, संवेदनशील होता है और बाहर से आने वाली उत्तेजनाओं पर प्रतिक्रिया करता है; निम्नतम प्रोटिस्टों में, अनेक वनस्पतियों में तथा कुछ अत्यन्त प्रारम्भिक प्राणियों में यही स्थिति है।

> "(२) दूसरी अवस्था में जीव की सतह पर अत्यन्त सरल और अविवेचक इन्द्रिय-अंग प्रकट होने लगते हैं, जो प्रोटोप्लाज़्मीय तन्तुओं और वर्णक-बिन्दुओं के रूप में होते हैं — स्पर्श-नाड़ियों और नेत्रों के पूर्वगामी; ये कुछ उच्चतर प्रोटिस्टों में तथा अनेक निम्नतर प्राणियों और वनस्पतियों में पाए जाते हैं।

> "(३) तीसरी अवस्था में इन्हीं प्रारम्भिक रचनाओं में से विभेदन के द्वारा विशिष्ट इन्द्रिय-अंग उत्पन्न होते हैं, जिनमें से प्रत्येक का अपना विशेष अनुकूलन होता है: ये हैं गन्ध और स्वाद के रासायनिक उपकरण तथा स्पर्श, ताप, श्रवण और दृष्टि के भौतिक अंग। इन इन्द्रिय-अंगों की विशिष्ट ऊर्जा कोई मौलिक अन्तर्निहित गुण नहीं है, अपितु कार्यात्मक अनुकूलन और प्रगतिशील आनुवंशिकता से अर्जित की गई है।

> **"(४) चौथी अवस्था की विशेषता है स्नायु-तन्त्र का, और फलतः संवेदना का, केन्द्रीकरण अथवा एकीकरण; पहले पृथक् अथवा स्थानबद्ध संवेदनाओं के सहचार से प्रतीतियाँ उत्पन्न होती हैं, यद्यपि वे अब भी अचेतन ही रहती हैं। अनेक निम्नतर तथा उच्चतर प्राणियों की यही दशा है।**

> **"(५) अन्ततः, पाँचवीं अवस्था में, उच्चतम मानसिक कार्य, अर्थात् सचेतन प्रत्यक्ष, स्नायु-तन्त्र के किसी केन्द्रीय भाग में संवेदनाओं के प्रतिबिम्बन से विकसित होता है, जैसा हम मनुष्य में और उच्चतर कशेरुकियों में तथा सम्भवतः कुछ उच्चतर अकशेरुकियों में, विशेषतः सन्धिपादों में, पाते हैं।"**

यह सब निस्सन्देह अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण प्रतीत होता है, किन्तु यदि कोई इस सिद्धान्त पर विचार करे तो इसके दोष स्पष्ट हो जाते हैं। एक तो यह प्रत्यक्ष की शक्ति की ही व्याख्या नहीं करता। नेत्र और दृष्टि एक वस्तु नहीं हैं, और न अंग तथा उसका कार्य एक ही है। इसके अतिरिक्त, दृष्टि एक सरल क्रिया है, फिर भी उसके सम्पादन में नेत्र के पीछे स्थित अनेक केन्द्रों का योग रहता है। जब तक ये समस्त केन्द्र भीतर और बाहर एक ही साथ विकसित न हों, दृष्टि सम्भव ही न होगी। और फिर, यदि अंग ही कार्य का कारण हो, तो हमें उसका व्यापार सदैव अनुभव होना चाहिए। कान को निरन्तर सुनना चाहिए, नाक को निरन्तर सूँघना चाहिए, नेत्र को निरन्तर देखना चाहिए, इत्यादि। किन्तु यह सदा नहीं होता, यहाँ तक कि जाग्रत क्षणों में भी नहीं — यह भली-भाँति विदित है। निद्रा में तो इन्द्रिय-अंगों के कार्य और भी पूर्ण रूप से स्थगित हो जाते हैं। अतः यान्त्रिक व्याख्या मानसिक शक्तियों की व्याख्या करने में असमर्थ रह जाती है।

नेत्र जैसे एक ही प्रकार के जटिल अंगों का 'विकास की भिन्न-भिन्न और परस्पर अपसारी रेखाओं' पर विकसित होना यह संकेत करता है कि विभिन्नता का वास्तविक कारण कोई आन्तरिक वेग है। यह वेग आत्मा में निवास करता है, जैसा कि कुछ ही आगे पूर्ण रूप से सिद्ध किया जाएगा। बर्गसाँ (Bergson) के अनुसार जीवन एक प्रवाह है, जो पदार्थ में अपनी गति के एक निश्चित बिन्दु पर पहुँचकर भिन्न-भिन्न शाखाओं में विभक्त हो जाता है, और प्रत्येक शाखा एक नई जाति के रूप में विकसित होकर उस मूल वेग की — जो विभिन्नता का मूल कारण है — कुछ विशिष्टताओं को प्रकट करती है। यद्यपि हम उनके प्रवाह-सिद्धान्त तथा काल के एक निश्चित बिन्दु पर उसके शाखाओं में बँटने की प्रत्येक आवश्यक बात से सहमत नहीं हैं, तथापि हम समझते हैं कि वे ठीक कहते हैं जब वे कहते हैं*:—

---

* 'क्रिएटिव एवोल्यूशन' (Creative Evolution), पृष्ठ ९८ से १०१।

"नेत्र जैसे अंग में दो बातें समान रूप से चकित करती हैं: उसकी रचना की जटिलता और उसके कार्य की सरलता। नेत्र भिन्न-भिन्न भागों से बना है, जैसे श्वेतपटल, स्वच्छमण्डल, दृष्टिपटल, स्फटिक-लेंस इत्यादि। इनमें से प्रत्येक भाग में विस्तार अनन्त है। अकेले दृष्टिपटल में ही स्नायविक तत्त्वों की तीन परतें हैं — बहुध्रुवीय कोशिकाएँ, द्विध्रुवीय कोशिकाएँ, दृष्टि-कोशिकाएँ — जिनमें से प्रत्येक का अपना पृथक् व्यक्तित्व है और निस्सन्देह अत्यन्त जटिल संगठन है; दृष्टिपटल की सूक्ष्म रचना इतनी जटिल है कि कोई भी सरल वर्णन उसका यथार्थ बोध नहीं करा सकता। संक्षेप में, नेत्र की यन्त्र-रचना अनन्त यन्त्र-रचनाओं से बनी है, और वे सब अत्यन्त जटिल हैं। फिर भी दृष्टि एक सरल तथ्य है। नेत्र खुलते ही दर्शन की क्रिया सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार, क्योंकि क्रिया सरल है, इस अनन्त जटिल यन्त्र के निर्माण में प्रकृति की तनिक-सी भी असावधानी दृष्टि को असम्भव बना देती। अंग की जटिलता और कार्य की एकता के बीच का यही विरोध हमें ठिठकने पर विवश करता है। यान्त्रिक सिद्धान्त वह है जो हमें यह दिखाना चाहता है कि बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से — चाहे वे सीधे ऊतकों पर क्रिया करके हों, चाहे अधिक अनुकूलित ऊतकों के चयन द्वारा परोक्ष रूप से — यह यन्त्र क्रमशः किस प्रकार बना। किन्तु यह सिद्धान्त चाहे जो रूप ले, और यह मान भी लिया जाए कि वह भागों के विस्तार की व्याख्या कर पाता है, तो भी वह उनके पारस्परिक सम्बन्धों पर कोई प्रकाश नहीं डालता।

"फिर आता है प्रयोजनवाद का सिद्धान्त, जो कहता है कि भागों को किसी पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार, किसी निश्चित लक्ष्य की दृष्टि से, एकत्र किया गया है। इसमें वह प्रकृति के श्रम की तुलना उस कारीगर के श्रम से करता है, जो भी किसी विचार को साकार करने अथवा किसी प्रतिमान की अनुकृति करने की दृष्टि से भागों को जोड़कर काम करता है। यहाँ यन्त्रवाद प्रयोजनवाद को उसके मानवरूपवादी स्वरूप के लिए उलाहना देता है, और ठीक ही देता है। किन्तु वह यह नहीं देख पाता कि वह स्वयं भी — कुछ अंग-भंग रूप में ही सही — इसी पद्धति से चलता है। सच है कि उसने अनुसृत लक्ष्य अथवा आदर्श प्रतिमान से छुटकारा पा लिया है। किन्तु वह भी यही मानता है कि प्रकृति ने भागों को जोड़कर मनुष्य की भाँति काम किया है, जब कि भ्रूण के विकास पर एक दृष्टि डालने मात्र से पता चल जाता है कि जीवन किसी और ही ढंग से कार्य करता है। जीवन तत्त्वों के संयोजन और संकलन से नहीं, अपितु वियोजन और विभाजन से आगे बढ़ता है। हमें इन दोनों ही दृष्टिकोणों से आगे जाना होगा, क्योंकि यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद दोनों ही मूलतः ऐसे दृष्टिकोण मात्र हैं जिन तक मानव-मन मनुष्य के अपने कार्य पर विचार करते-करते पहुँचा है। किन्तु उनसे आगे किस दिशा में जाया जा सकता है? हम कह चुके हैं कि किसी अंग की रचना का विश्लेषण करते हुए हम अनन्त काल तक उसका विभाजन करते जा सकते हैं, यद्यपि समग्र का कार्य एक सरल वस्तु है। अंग की अनन्त जटिलता और कार्य की अत्यन्त सरलता के बीच का यही विरोध हमारी आँखें खोल देना चाहिए।

"यदि मैं अपना हाथ 'अ' से 'ब' तक उठाऊँ, तो यह गति मुझे एक ही साथ दो रूपों में प्रतीत होती है। भीतर से अनुभव करने पर वह एक सरल, अविभाज्य क्रिया है। बाहर से देखने पर वह एक निश्चित वक्र-रेखा 'अ ब' का मार्ग है। इस वक्र-रेखा में मैं जितनी चाहूँ उतनी स्थितियाँ पहचान सकता हूँ, और उस रेखा को इन स्थितियों का एक निश्चित पारस्परिक समन्वय कहकर परिभाषित किया जा सकता है। किन्तु ये स्थितियाँ, जो संख्या में अनन्त हैं, और जिस क्रम में वे जुड़ी हैं, वह — दोनों ही उस अविभाज्य क्रिया से स्वतः उत्पन्न हुए हैं जिसके द्वारा मेरा हाथ 'अ' से 'ब' तक गया। यहाँ यन्त्रवाद केवल स्थितियों को ही देखने में रहेगा। प्रयोजनवाद उनके क्रम का भी हिसाब लेगा। किन्तु यन्त्रवाद और प्रयोजनवाद दोनों ही उस गति को एक ओर छोड़ देंगे, जो स्वयं यथार्थ है। एक अर्थ में गति स्थितियों से और उनके क्रम से अधिक है; क्योंकि उसे उसकी अविभाज्य सरलता में कर देना ही इस बात के लिए पर्याप्त है कि उत्तरोत्तर स्थितियों की अनन्तता तथा उनका क्रम एक साथ प्राप्त हो जाए — और उनके साथ कुछ और भी, जो न क्रम है न स्थिति, किन्तु जो सारभूत है, अर्थात् गतिशीलता। किन्तु दूसरे अर्थ में गति स्थितियों की उस शृंखला और उन्हें जोड़ने वाले क्रम से कम है; क्योंकि बिन्दुओं को किसी निश्चित क्रम में सजाने के लिए पहले उस क्रम की कल्पना करनी होती है और फिर बिन्दुओं से उसे साकार करना होता है — वहाँ जोड़ने का श्रम चाहिए और वहाँ बुद्धि चाहिए, जब कि हाथ की उस सरल गति में इनमें से कुछ भी नहीं है। वह बुद्धिपूर्ण नहीं है, शब्द के मानवीय अर्थ में, और वह कोई संयोजन भी नहीं है, क्योंकि वह तत्त्वों से बनी हुई नहीं है। ठीक यही बात नेत्र और दृष्टि के सम्बन्ध में है। नेत्र बनाने में प्रकृति को उससे अधिक श्रम नहीं करना पड़ा जितना मुझे अपना हाथ उठाने में करना पड़ता है।

"निर्माण करना एक बात है, और संगठित करना सर्वथा दूसरी बात। निर्माण करना मनुष्य की ही विशेषता है। वह पदार्थ के उन भागों को जोड़ने में निहित है जिन्हें हमने इस प्रकार काटा है कि उन्हें परस्पर बिठाया जा सके और उनसे एक समान क्रिया प्राप्त की जा सके। भाग, मानो, उस क्रिया के चारों ओर एक आदर्श केन्द्र की भाँति सजाए जाते हैं। अतः निर्माण करना परिधि से केन्द्र की ओर काम करना है, अथवा जैसा दार्शनिक कहते हैं, अनेक से एक की ओर। इसके विपरीत, संगठन केन्द्र से परिधि की ओर काम करता है। वह एक ऐसे बिन्दु से आरम्भ होता है जो लगभग गणितीय बिन्दु है, और इस बिन्दु के चारों ओर संकेन्द्री तरंगों में फैलता जाता है, जो उत्तरोत्तर विस्तृत होती जाती हैं। निर्माण का कार्य उतना ही अधिक प्रभावी होता है जितनी अधिक मात्रा में पदार्थ लिया जाए; वह संकेन्द्रण और संपीडन से चलता है। इसके विपरीत, संगठन की क्रिया में कुछ विस्फोटक-सा है: उसे आरम्भ में यथासम्भव न्यूनतम स्थान चाहिए, न्यूनतम पदार्थ चाहिए, मानो संगठनकारी शक्तियाँ अनिच्छापूर्वक ही देश में प्रवेश करती हों।

“और भी अधिक यथार्थता से कहें तो, जिस प्रक्रिया से प्रकृति नेत्र की रचना करती है, उसकी तुलना हम उस सरल क्रिया से कर सकते हैं जिससे हम अपना हाथ उठाते हैं। किन्तु हमने पहले यह मान लिया था कि हाथ को कोई प्रतिरोध नहीं मिला। अब कल्पना कीजिए कि वायु में चलने के स्थान पर हाथ को लोहे के बुरादे में से होकर जाना है, जो दबता जाता है और ज्यों-ज्यों हाथ आगे बढ़ता है त्यों-त्यों उसका प्रतिरोध करता है। एक निश्चित क्षण पर हाथ का बल चुक जाएगा, और ठीक उसी क्षण बुरादा एक निश्चित रूप में — अर्थात् उस रुके हुए हाथ और बाँह के एक भाग के रूप में — संहत और समन्वित हो चुका होगा। अब मान लीजिए कि हाथ और बाँह अदृश्य हैं। तब देखने वाले इस विन्यास का कारण स्वयं बुरादे में और उस राशि के भीतर की शक्तियों में खोजेंगे। कुछ लोग प्रत्येक कण की स्थिति का कारण पड़ोसी कणों द्वारा उस पर की गई क्रिया में बताएँगे: ये यन्त्रवादी हैं। दूसरे यह मानना अधिक पसन्द करेंगे कि इन प्राथमिक क्रियाओं के विस्तार का संचालन समग्र की किसी योजना ने किया है: ये प्रयोजनवादी हैं। किन्तु सत्य यह है कि वहाँ केवल एक अविभाज्य क्रिया हुई है, अर्थात् हाथ का बुरादे में से होकर जाना; कणों की गति का वह अक्षय विस्तार तथा उनके अन्तिम विन्यास का क्रम, दोनों ही, एक प्रकार से, इस अविभक्त गति को नकारात्मक रूप में व्यक्त करते हैं, क्योंकि वे एक प्रतिरोध का एकीभूत रूप हैं, न कि सकारात्मक प्राथमिक क्रियाओं का संश्लेषण। इसी कारण, यदि कणों के विन्यास को ‘कार्य’ और हाथ की गति को ‘कारण’ कहा जाए, तो यह तो कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण कार्य की व्याख्या सम्पूर्ण कारण से हो जाती है, किन्तु कारण के भागों के अनुरूप कार्य के भाग किसी प्रकार भी न होंगे। दूसरे शब्दों में, यहाँ न यन्त्रवाद का स्थान है न प्रयोजनवाद का, और हमें किसी भिन्न ही प्रकार की व्याख्या का आश्रय लेना होगा। अब, हम जो परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं उसमें दृष्टि का दृष्टि-यन्त्र से सम्बन्ध लगभग वही होगा जो हाथ का उस लोहे के बुरादे से है जो उसकी गति का अनुसरण करता है, उसे मार्ग देता है और सीमित करता है। दृष्टि को बनाने वाली वह अविभक्त क्रिया जितनी अधिक अथवा कम आगे बढ़ती है, उसी के अनुसार अंग की भौतिकता कम या अधिक संख्या में परस्पर समन्वित तत्त्वों से बनती है, किन्तु उसका क्रम अनिवार्यतः पूर्ण और निर्दोष होता है। वह आंशिक हो ही नहीं सकता, क्योंकि, फिर कहते हैं, जिस वास्तविक प्रक्रिया से वह उत्पन्न होता है उसके कोई भाग ही नहीं हैं। यही वह बात है जिसका हिसाब न यन्त्रवाद लेता है न प्रयोजनवाद, और यही वह बात है जिस पर हम भी विचार करना चूक जाते हैं जब हम नेत्र जैसे किसी उपकरण की अद्भुत रचना पर आश्चर्य करते हैं। वस्तुतः वह कारण, चाहे न्यूनाधिक तीव्र हो, अपना कार्य एक ही खण्ड में और पूर्णतः समाप्त रूप में ही उत्पन्न कर सकता है। ज्यों-ज्यों वह दृष्टि की दिशा में और आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह किसी निम्नतर जीव के सादे वर्णक-पुंज देता है, अथवा सर्प्युला (Serpula) का प्रारम्भिक नेत्र, अथवा ऐल्सिओपे (Alciope) का किंचित् विभेदित नेत्र, अथवा पक्षी का अद्भुत रूप से पूर्ण नेत्र; किन्तु ये सब अंग, चाहे उनकी जटिलता असमान हो, अनिवार्यतः समान समन्वय प्रस्तुत करते हैं। इसी कारण, दो प्राणि-जातियाँ परस्पर चाहे कितनी ही दूर

> **क्यों न हों, यदि दोनों में दृष्टि की ओर की प्रगति समान दूर तक गई है, तो दोनों में एक ही प्रकार का दृष्टि-अंग होता है; क्योंकि अंग का रूप केवल यही व्यक्त करता है कि कार्य का सम्पादन किस मात्रा तक प्राप्त हुआ है।"**

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, नेत्र की जटिलता की व्याख्या संचयी प्राकृतिक चयन तथा ज्ञात मध्यवर्ती नेत्र-रूपों की क्रमिक शृंखला से हो जाती है, अतः नेत्र से लिया गया यह विशेष यन्त्रवाद-विरोधी तर्क अब मान्य नहीं रहा।

> **'मॉडर्न साइंस एण्ड द इल्यूज़न्स ऑफ़ प्रोफ़ेसर बर्गसाँ' (Modern Science and The Illusions of Prof. Bergson) के लेखक श्री इलियट (Elliot) आपत्ति करते हैं कि "यदि दृष्टि एक ही प्राथमिक 'जीवन-प्रवृत्ति' है, जो जहाँ भी जाती है वहाँ एक निश्चित प्रकार का नेत्र बना देती है, तो या तो दो प्रकार की दृष्टियाँ और दो पृथक् 'जीवन-प्रवृत्तियाँ' माननी होंगी; अथवा फिर मुक्ता-शम्बूक (Pearly Nautilus) को अपने नेत्र के विकास के लिए डार्विनवादी सिद्धान्तों की शरण लेनी पड़ेगी; और यदि मुक्ता-शम्बूक भौतिकवादी रीति से नेत्र उगा सकता है, तो पेक्टेन (Pecten) क्यों नहीं?" किन्तु यदि श्री इलियट ने स्वप्नावस्था में दृष्टि के रहस्य को — जब दर्शन के प्राकृतिक अंग बन्द रहते हैं — खोजने का कष्ट किया होता, तो बहुत सम्भव था कि वे भौतिकवाद का पक्ष लेने अथवा बर्गसाँ महोदय के आक्षेपों से डार्विन की रक्षा करने के लिए इतनी शीघ्रता से लेखनी न उठाते। खेद है कि श्री इलियट यह नहीं बताते कि मुक्ता-शम्बूक के सूचिछिद्र-कैमरा जैसे नेत्र से दृष्टि के जीवन अथवा आत्मा का कार्य होने में क्या बाधा पड़ती है। जो नेत्र के द्वारा देखता है वह जीवन ही है; नेत्रों के भिन्न-भिन्न प्रकार केवल दृष्टि की दिशा में उसकी गति के भिन्न-भिन्न प्रकारों के सूचक हैं।**

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जो परिकल्पना जीवन-तत्त्व की उपेक्षा करती है, वह जगत्-समस्या को सुलझाने में कभी सफल होने की आशा नहीं कर सकती। पदार्थ केवल भौतिक शरीर अथवा निवास-स्थान ही बना सकता है; वह अपने श्रम के फल में निवास करने और उसका उपभोग करने वाले 'निवासियों' की रचना कभी न कर सकेगा।

वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा स्वयं में एक द्रव्य* है, और चेतना का पर्यायवाची है। यदि हम उसे क्षेत्र से हटा दें, तो उसका स्थान लेने के लिए, अथवा प्रत्यक्ष, स्मृति आदि उन परिघटनाओं की व्याख्या करने के लिए, कुछ भी शेष नहीं रहता, जिन्हें कठोर भौतिकवाद हेकेल के विचार-मार्ग पर व्यर्थ ही समझाने का प्रयत्न करता है।

* 'द्रव्य' शब्द जब आत्मा के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है तो उसे पदार्थ के साथ गड्डमड्ड नहीं करना चाहिए। दर्शन में द्रव्य वह है जो समस्त परिघटनाओं का — चाहे वे भौतिक हों अथवा आध्यात्मिक — आधार है, अथवा उनका स्थायी आश्रय या कारण है; वह आश्रय जिसे हम उन गुणों अथवा धर्मों के नीचे कल्पित करते हैं, जिनके द्वारा ही हमें सत्ता का बोध होता है ('द इम्पीरियल डिक्शनरी' (The Imperial Dictionary))। इस प्रकार जो कुछ भी विद्यमान है वह द्रव्य अवश्य होगा। अतः आत्माएँ अथवा चेतन तत्त्व, और पदार्थ — दोनों ही द्रव्य हैं, यद्यपि भिन्न स्वभाव के, जैसा उनके गुणों से स्पष्ट है।

अरबी शब्द 'वुजूद' (wajūd — है-पन, अथवा होना) सत्ता अथवा अस्तित्व के भाव को व्यक्त करने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है, यद्यपि वह ठीक वही भाव नहीं देता जो 'substance' शब्द देता है, जिसका लगभग यथार्थ पर्याय संस्कृत का 'द्रव्य' है, अर्थात् परिवर्तनों अथवा पर्यायों का आश्रय। यही 'है-पन' अथवा 'वुजूद', जो होने का ही आधार है, यथार्थ की एकमात्र कसौटी प्रस्तुत करता है, जिससे जो कुछ भी 'वुजूद' से युक्त पाया जाए वह वस्तुतः और सचमुच विद्यमान (उपस्थित) माना जाना चाहिए।

यह ध्यान देने योग्य है कि भौतिकवादी चेतना के अस्तित्व का सर्वथा निषेध* नहीं करता, अपितु केवल एक पृथक् सत्ता अथवा आत्मा के रूप में उसकी स्थायिता का निषेध करता है। 'मैं' की चेतना को ही अहं मानकर वह यह दिखाने चलता है कि वह नित्य कैसे नहीं हो सकता, और घोषित करता है कि अब वह उस अवर्णनीय रहस्य का विषय नहीं रहा जो मध्ययुगीन सभ्यता के अन्धकारपूर्ण और अन्धविश्वासी युगों में हुआ करता था; क्योंकि अब वह व्यक्ति में क्रमशः उद्भूत और विकसित हुए एक विचार की चेतना मात्र पाया जाता है। निस्सन्देह, यदि हम बालक में 'मैं' के भाव का विकास देखें, तो हमें ज्ञात होता है कि अपने शैशव-जीवन के काफ़ी लम्बे भाग तक वह अपने विषय में अन्य पुरुष में बात करता है और उसे अपने व्यक्तित्व की कोई स्पष्ट धारणा नहीं होती। इसके अतिरिक्त, व्यक्तित्व स्वभावतः परिवर्तनशील है। हमारे विचार निरन्तर नए साँचे में ढलते और बदलते रहते हैं। किसी वयस्क पुरुष में उस विद्यार्थी-बालक के व्यक्तित्व का बहुत थोड़ा अंश शेष रहता है जो वह कभी था; और उस बालक में भी उससे पूर्ववर्ती काल के व्यक्तित्व का बहुत कम अंश बचा रहता है। और जब हम वृद्ध होते हैं तब तो हममें इससे भी अधिक आमूल परिवर्तन हो जाता है; वृद्धावस्था में जीवन की पूर्ववर्ती अवस्थाओं की न रुचियाँ, न व्यवसाय, न परिवेश — किसी का हम पर कोई अधिकार अथवा आकर्षण नहीं रहता। अपनी परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ आत्म-सम्बन्धी हमारी धारणाएँ भी बदलती हैं। व्यक्तित्व विचार का, अर्थात् स्व और पर के विवेक का, परिणाम है। अतएव जब तक बालक की विवेक-शक्ति पर्याप्त रूप से विकसित नहीं होती, तब तक वह स्व और शेष सबके, जो पर है, बीच कोई भेद नहीं जानता; किन्तु विवेक-शक्ति के विकास के साथ ही उसमें ग्रहण करने वाले, देहधारी स्व का भाव उदय होता है — पहले धुँधले रूप में, किन्तु आगे चलकर आत्मा की पूर्ण चेतना के साथ, और उस शेष सबको छोड़कर जो पर है। जहाँ तक स्व के विचार के विकास का प्रश्न है, हेकेल यह कहने में सर्वथा ठीक हैं:—

* यदि कोई इतना दुस्साहसी निकले कि वह चेतना के अस्तित्व का ही सर्वथा निषेध कर दे, तो उससे इतना ही कहा जा सकता है कि सत्य की समस्त दार्शनिक खोज में हमें 'ज्ञाता' अथवा 'विचारक' के अस्तित्व को स्वीकृत मानकर ही चलना पड़ता है; क्योंकि इस स्वतःसिद्ध सत्य को माने बिना एक पग भी आगे बढ़ना असम्भव है। यदि कोई विचारक अथवा ज्ञाता ही न हो, तो विचार अथवा ज्ञान कौन करेगा? जैसा शंकर कहते हैं:— "आत्मा किसी के लिए भी सन्दिग्ध नहीं है, क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है। आत्मा आत्मा के अस्तित्व के प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। और न ऐसी सत्ता का निषेध ही सम्भव है, क्योंकि वह तो उसी का स्वरूप है जो उसका निषेध करना चाहे।" किसी भी वस्तु को जानने में मनुष्य पहले अपने को जानता है। जैसा एक सुविख्यात दार्शनिक कहते हैं: "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।" अथवा जैसा मैक्स म्यूलर (Max Müller) कहते हैं: "मैं हूँ, इसलिए मैं सोचता हूँ।" कोई तब तक सोच नहीं सकता जब तक उसका किसी प्रकार का अस्तित्व न हो। 'क्या मैं हूँ?' — यह प्रश्न उठता ही नहीं; क्योंकि जो पहले से ही एक प्रतिज्ञा के रूप में स्वीकृत है और स्वतःसिद्ध सत्य है, उसका प्रमाण माँगना अतार्किक है। इस प्रश्न को उठाने के लिए किसी को अपने होंठ खोलने का अधिकार तब तक नहीं जब तक वह आरम्भ में ही यह स्वीकार न कर ले कि जो इसे पूछ रहा है वह कोई विद्यमान सत्ता है।

> **"उस महत्त्वपूर्ण क्षण में जब वह (बालक) पहली बार 'मैं' शब्द उच्चारित करता है, जब आत्म-बोध स्पष्ट हो उठता है, तभी आत्म-चेतना का और अन-अहं के प्रतियोग का आरम्भ होता है।"**

व्यक्तित्व की परिघटना तभी तक उलझन में डालने वाली प्रतीत होती है जब तक हम उसका अध्ययन उसके विकास की समस्त अवस्थाओं में नहीं करते। किसी पूर्ण विकसित प्राणी को देखकर हम उसके व्यक्तित्व को एक प्रकार की पृथक् सत्ता कल्पित करने लगते हैं और अमूर्त रूप में उसका विचार करने लगते हैं। यह भ्रान्त धारणा तत्काल दूर हो सकती है, यदि हम बालक के जन्म-क्षण से लेकर उसके विकास के इतिहास पर दृष्टि डालें और उसके जीवन की आरम्भिक अवस्थाओं में उसकी वृद्धि का अनुसरण करें। प्रोफ़ेसर हेकेल ने इस बात की बड़ी योग्यता से चर्चा अपने 'रिडल ऑफ़ द यूनिवर्स' (Riddle of the Universe) में तथा 'द वण्डर्स ऑफ़ लाइफ़' (The Wonders of Life) में की है। किन्तु वे आधुनिक विज्ञान के अपने वैध क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहते, और अपनी महत्त्वाकांक्षा को ऐसे विरल वातावरण में उड़ान भरने देते हैं जिसमें उनका साँस लेना कठिन है। इस प्रकार वे अपने पाँव जमाए नहीं रख पाते और उन दलदलों में डगमगाने लगते हैं जो तत्वमीमांसा के प्रदेश में असावधान को फँसाने के लिए इतनी बहुतायत से भरी पड़ी हैं। काण्ट (Kant) के उन सिद्धान्तों के विषय में, जिनमें आत्मा की अमरता भी सम्मिलित थी, 'द वण्डर्स ऑफ़ लाइफ़' में कहा गया है:—

> **"यदि काण्ट के सन्तान होती और उन्होंने धैर्यपूर्वक बालक की आत्मा के विकास का अनुसरण किया होता (जैसा एक शताब्दी बाद प्रेयर (Preyer) ने किया), तो वे इस भ्रान्त धारणा पर शायद ही दृढ़ रहते कि बुद्धि, अपनी प्रागनुभविक ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति के साथ, कोई अतीन्द्रिय और अलौकिक जीवन-चमत्कार है, अथवा मनुष्य को स्वर्ग से मिला हुआ कोई अनुपम उपहार है। इस भ्रान्ति की जड़ यह है कि काण्ट को मन के प्राकृतिक विकास की कोई कल्पना ही न थी। उन्होंने उन तुलनात्मक और उद्भव-सम्बन्धी पद्धतियों का प्रयोग नहीं किया जिनके हम गत शताब्दी की प्रमुख वैज्ञानिक उपलब्धियों के लिए ऋणी हैं। काण्ट और उनके अनुयायी, जो अपने को लगभग पूर्णतः अन्तर्निरीक्षण की पद्धतियों अथवा अपने ही मन के आत्म-अवलोकन तक सीमित रखते थे, दार्शनिक के अत्यन्त विकसित और बहुमुखी मन को ही मानव-आत्मा का प्रतिमान मानते रहे, और मानसिक जीवन की उन निम्नतर अवस्थाओं की सर्वथा उपेक्षा करते रहे जो हमें बालक में और असभ्य मनुष्य में मिलती हैं।"**

जैसा पहले कहा जा चुका है, विद्वान् प्रोफ़ेसर व्यक्तित्व के विकास के विषय में निस्सन्देह ठीक हैं, किन्तु हमें अपने को उनकी वाग्मिता के प्रवाह में बहकर उस सीमा से आगे नहीं जाने देना चाहिए। इस महान् पुरुष से यह भूल हुई है कि उन्होंने बुद्‌धि को चेतना के साथ ही मिला दिया है, जब कि वस्तुतः बुद्‌धि तो चेतना की एक अभिव्यक्ति मात्र है, जो एक विशेष प्रकार के सीमित शरीर के द्वारा कार्य करते समय प्रकट होती है। सच्चा स्व शुद्‌ध चेतना है, यद्यपि वह पदार्थ के शरीर में आत्मस्थ है; और जैसे विद्युत्, एक शक्ति के रूप में, नाना रूपों में प्रकट होती है — कभी प्रकाश के रूप में, कभी ताप के रूप में, और कभी भारी पिण्डों को चलाने वाली शक्ति के रूप में, इत्यादि — यद्यपि उसकी अनेकविध अभिव्यक्तियाँ ही दिखाई देती हैं, शक्ति अर्थात् स्वयं विद्युत् कभी नहीं, वैसे ही आत्मा भी हमें केवल अपनी अभिव्यक्तियों में ही दिखाई देती है। विद्युत् स्वयं में क्या है, यह हम नहीं जानते, यद्यपि हम इतना अवश्य जानते हैं कि उपयुक्त साधनों के प्रयोग से वह प्रकाश में परिणत की जा सकती है। इसी प्रकार चेतना जब मानव-मस्तिष्क के द्वारा कार्य करती है तो बुद्‌धि के रूप में प्रकट होती है, यद्यपि स्पष्ट है कि वह स्वयं बुद्‌धि से परे होनी चाहिए। अब, चूँकि उपकरण अथवा वाहन का स्वभाव ही अभिव्यक्ति के रूप को निर्धारित करता है, अतः बुद्‌धि की शक्ति, जिसका उन्मेष मस्तिष्क के विकास पर निर्भर है, अनिवार्यतः विकास की उसी प्रक्रिया से होकर जाएगी जैसी प्रेयर ने देखी। किन्तु जैसे विद्युत्-प्रकाश को दीपक का, गोलक का अथवा उसके साज-सामान का स्राव नहीं कहा जा सकता, वैसे ही बुद्‌धि को भी भौतिक मस्तिष्क का स्राव नहीं कहा जा सकता। अतएव आत्मा, यदि उससे चेतना अभिप्रेत हो, तो किसी प्रकार भी मानव-मस्तिष्क की

उपज नहीं कही जा सकती; किन्तु यदि उसे किसी विशेष जन्म में भौतिक परिवेश से खींचे गए और 'व्यक्तित्व' का नाम दिए गए विचारों का पुंज मात्र माना जाए, तो वह अवश्य ही बुद्धि पर, और इसलिए उसके वाहन मस्तिष्क पर, निर्भर होगी। इसी सीमित अर्थ में हेकेल निस्सन्देह ठीक हैं।

किन्तु क्या जीवन की आरम्भिक अवस्थाओं में 'मैं' के विचार अथवा भाव का अभाव स्वयं अहं का ही अभाव सिद्ध करता है? हमारा मत है, नहीं। निद्रा में अथवा मूर्च्छा में भी 'मैं' का विचार नहीं होता, किन्तु क्या उस समय उसका अभाव किसी को यह कहने का अधिकार देता है कि उन अवस्थाओं में अहं ही असत् है? पशु भी अपने विषय में उत्तम अथवा अन्य पुरुष में न तो संकेत करते हैं न बात करते हैं, फिर भी वे 'हमारे ही समान एक समुदाय' हैं, जैसा क़ुरआन ठीक ही कहता है। यह सच है कि तुतलाना आरम्भ करने वाला शिशु अपने विषय में अन्य पुरुष में कहता है, किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोई शिशु कभी 'अन्य पुरुष में' सुख अथवा दुःख का अनुभव नहीं करता, न दूसरों के अनुभवों को अपना बनाता है, न अपने अनुभव उन्हें सौंपता है। जब कोई नन्हा-सा बालक तुतलाकर कहता है, 'बच्चे को बिस्कुट दो', तो उसका अभिप्राय निश्चय ही यह नहीं होता कि बिस्कुट उसके अतिरिक्त किसी और को दिया जाए। ऐसी दशा में 'बच्चे' का यह उल्लेख शिशु-सुलभ व्याकरण-नियमों की उस मनोहर अवहेलना का एक आनन्ददायक उदाहरण मात्र है, जो प्रत्येक माता के हृदय को इतनी प्रिय है। अनेक वयस्क व्यक्ति भी, विशेषतः समाज के निम्न वर्गों के लोग, अपने विषय में नाम लेकर बात करते हैं, किन्तु कोई यह नहीं कहता कि वे अपने अस्तित्व का अनुभव 'उत्तम पुरुष में' नहीं करते। इसी प्रकार जो लोग कोई विदेशी भाषा सीखना आरम्भ करते हैं, वे भी उन शब्दों के प्रयोग में हास्यास्पद भूलें करते हैं जो रूढ़ अथवा सुविधाजनक अमूर्तताओं को व्यक्त करने के लिए बने हैं, और जिनमें सर्वनाम अपना एक पृथक् वर्ग बनाते हैं। शिशु अपने को 'बच्चा' कहकर पुकारा जाता सुनता है, और सर्वनामों के प्रयोग से विशेष परिचित अथवा उसमें निपुण न होने के कारण अपनी बोली में व्याकरण के नियमों का पालन नहीं कर पाता।

वस्तुस्थिति यह है कि चेतना अपने को दो भिन्न रूपों में प्रकट करती है; प्रथमतः, अनुभूति के रूप में, और द्वितीयतः, विचार के रूप में। इनमें से प्रथम रूप अनुत्पन्न है और विकास से स्वतन्त्र है — उस अर्थ में जिस अर्थ में विज्ञान इस शब्द का प्रयोग करता है — किन्तु द्वितीय रूप परिवेश और उन्मीलन पर निर्भर करता है। जो युक्ति हमें इस निष्कर्ष तक ले जाती है कि व्यक्तित्व की धारणा विकास की सन्तान है, वही युक्ति हमें इस निष्कर्ष तक भी ले जाती है कि प्राथमिक रूप शाश्वत है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति के विशेष प्रकार समय-समय पर भिन्न हो सकते हैं। शिशु के विकास और वृद्धि का अध्ययन भी उस पीड़ा-अनुभूति की उपस्थिति को प्रकट करता है, जो संसार में प्रवेश करते ही उस नन्हे प्राणी के प्रथम क्रन्दन में

अभिव्यक्ति पाती है। क्या यह पीड़ा की अनुभूति, क्षुधा के बोध सहित, तथा राग-द्वेष के वे समस्त चिह्न, जिन्हें शिशु जन्म के प्रथम क्षण से ही प्रदर्शित करता है, भी विकास का ही परिणाम हैं? हम चेतना को विकास का उत्पाद मानने के लिए तभी प्रस्तुत होंगे, जब विज्ञान अपनी प्रयोगशालाओं में यह प्रमाणित करने में सफल हो जाए कि निर्जीव वस्तुओं को भी पीड़ा का अनुभव कराया जा सकता है और उन्हें रुलाया जा सकता है। विकास के क्रम में चेतना के रूपान्तरों की चर्चा करने से पूर्व हमें प्रथमतः चेतना का एक अधिष्ठान स्वीकार करना ही होगा।

हमें 'व्यक्तित्व' और उसके अधिष्ठान के बीच के भेद के विषय में अपने चित्त को पूर्णतः स्वच्छ रखने का प्रयत्न करना चाहिए। पूर्वोक्त, अर्थात् व्यक्तित्व, उन विचारों का पुंज है — सामाजिक, स्वामित्वपरक, और इसी प्रकार के अन्य — जिन्हें मनुष्य अपने देह-रूप स्व से जोड़ लेता है; अतएव वह उन सम्बन्धों का समुच्चय है जिनमें कोई विशेष शरीर संसार के अन्य शरीरों के प्रति स्थित होता है। किन्तु परवर्ती, अर्थात् व्यक्तित्व का अधिष्ठान, स्वयं वही शक्ति है जो इन सम्बन्धों को समझने और निर्धारित करने में समर्थ बनाती है। यह शक्ति जीवन में अन्तर्निहित है, यद्यपि उसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति अथवा रूप में वह सहज ही लक्षित नहीं होती; क्योंकि रूपान्तरों को स्वीकार करने से पूर्व एक मूल केन्द्रक का होना आवश्यक है। अतएव चेतना के अधिष्ठान को कभी भी विकास का अथवा भौतिक मस्तिष्क के पदार्थ का परिणाम नहीं कहा जा सकता।

वस्तुस्थिति यह है कि जिस क्षण हम इस भ्रान्त धारणा से मुक्त हो जाते हैं कि चेतना मस्तिष्क के भौतिक पदार्थ का उत्पाद हो सकती है, और उसे उसका उचित स्थान एक ऐसे यथार्थ के रूप में दे देते हैं जो पदार्थ के समकालीन है और ऐसे कार्यों से सम्पन्न है जिन्हें पदार्थ कभी नहीं कर सकता, उसी क्षण हमारे समक्ष इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह जाता कि जीवन की सन्तति अतीत और भविष्य दोनों में स्वीकार करें। जीवन की सन्तति तथा विकास के स्थापित तथ्यों से एक अनिवार्य उपसिद्धान्त यह निकलता है कि कुछ विरल और साधारण कोटि के माध्यमों से अधिक उन्नत आत्माओं में पूर्वजन्मों की चेतना सम्भव है। विगत अनुभवों का समुच्चय मन में प्रवृत्तियों, संवेगों, आवेगों आदि के रूप में सुरक्षित रहता है, न कि चेतना की सतह पर तैरते हुए ज्ञान के पृथक् खण्डों या टुकड़ों के रूप में। अतएव विगत जन्मों की स्मृति आत्मा की इस क्षमता पर निर्भर है कि वह अपने मानसिक झुकावों और प्रवृत्तियों को पुनः उन मूल अनुभवों में रूपान्तरित कर सके जिन्होंने उन्हें जन्म दिया था। मन में विगत विचारों और कर्मों के विलीन हो चुके संस्कारों को पुनर्जीवित करने की सामर्थ्य है, यह स्मरण की शक्ति से स्पष्ट है। अतएव जो कोई आत्म-निरीक्षण का कार्य उन्नत मात्रा में कर सकता है, वह अपने विगत जीवनों की स्मृति पुनः प्राप्त कर सकता है; यद्यपि साधारण माध्यमों के प्रकरण में, जो प्रायः 'निष्क्रिय' होते हैं, यह सामर्थ्य स्वीकार नहीं

की जा सकती, सिवाय वहाँ जहाँ मन की असामान्यता अनजाने ही इच्छा के प्रशिक्षण की ओर ले जाती हो। किन्तु ऐसे प्रकरण में भी विश्वास की भ्रान्तियाँ तथा मन और शरीर की अशुद्धियाँ प्रत्यक्ष की गई परिघटनाओं पर अपनी छाया डाले बिना और वस्तुओं को उलट-पलट दिखाए बिना नहीं रहतीं।

किसी को केवल कुछ जैन पुराणों में पवित्र तीर्थंकरों के जीवनचरित पढ़ने की आवश्यकता है, और वह इस तथ्य का आश्वस्त हो जाएगा कि पूर्वजन्मों की चेतना न केवल प्रत्येक और सब प्रकरणों में सुझाव का परिणाम नहीं है, अपितु समस्त मानवजाति के लिए प्राप्तव्य भी है।

यह तथ्य कि आत्मा भौतिक शरीर से स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ है, प्रमाणित करना कठिन नहीं, क्योंकि वह एक सरल और अविनाशी द्रव्य है। आत्मा द्रव्य है, अर्थात् ऐसी वस्तु है जो स्वयं अपने बल पर विद्यमान रहती है, यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि वही ज्ञान का विषयी है और समस्त वस्तुओं, सम्बन्धों तथा अनुभूति की अवस्थाओं के बोध की पूर्ववर्ती शर्त है। समस्त मानसिक रूपान्तर और चेतना की अवस्थाएँ, जैसे सुख-दुःख की संवेदनाएँ आदि, एक ऐसे विषयी की पूर्वकल्पना करती हैं जिसकी वे हों। जैसा एक प्रतिष्ठित मनोवैज्ञानिक कहता है, अनुभूति अनिवार्यतः एक ऐसी सत्ता को अन्तर्भूत करती है जो अनुभव करती हो। ज्ञान और संवेग शून्य में अन्तर्निहित नहीं हो सकते, न ही इच्छा किसी विशुद्ध अभाव का कार्य हो सकती है। अतएव वे किसी विद्यमान वस्तु की, और परिणामतः किसी द्रव्य की, अवस्थाएँ ही होनी चाहिए।

जहाँ तक आत्मा की सरलता का प्रश्न है, इतना बताना ही पर्याप्त है कि वह यौगिक नहीं हो सकती, क्योंकि अन्यथा वह उन कार्यों के निर्वाह में असमर्थ होती जिन्हें वह करती है।

> **"प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव," मेहर (Maher) कहते हैं, "उसे यह सिखाता है कि वह विविध अमूर्त धारणाएँ, जैसे सत्ता, एकता, सत्य, सद्गुण आदि, बनाने में समर्थ है, जो अपने स्वभाव से सरल, अविभाज्य क्रियाएँ हैं। अब, इस प्रकार की क्रियाएँ किसी विस्तारयुक्त अथवा यौगिक द्रव्य से, जैसे उदाहरणतः मस्तिष्क से, प्रवाहित नहीं हो सकतीं। थोड़े-से चिन्तन से यह दिखाई दे जाएगा। यह होने के लिए कि, मान लीजिए, सत्य की अविभाज्य धारणा इस विस्तारयुक्त द्रव्य की क्रिया का परिणाम हो, या तो धारणा के भिन्न-भिन्न भाग मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न भागों के हों, या मस्तिष्क का प्रत्येक भाग एक सम्पूर्ण धारणा का आश्रय हो, अथवा सम्पूर्ण धारणा मस्तिष्क के किसी एक ही भाग से सम्बद्ध हो। अब, प्रथम विकल्प असंगत है। जिस क्रिया से बुद्धि सत्य, सत्ता आदि को ग्रहण करती है, वह एक अविभाज्य विचार है। पृथक् परमाणुओं के समुच्चय पर बाँटा या वितरित किया जाना उसके स्वभाव से सीधे असंगत है। किन्तु दूसरा विकल्प भी उतना ही असम्भव है। यदि यौगिक द्रव्य के भिन्न-भिन्न भाग**

> **प्रत्येक एक पूर्ण धारणा के आधार होते, तो हमें एक ही समय में उस विषय की एक नहीं, अपितु अनेक धारणाएँ प्राप्त होतीं। किन्तु हमारी चेतना हमें बताती है कि ऐसा नहीं है। अन्ततः, यदि सम्पूर्ण धारणा यौगिक द्रव्य के किसी एक भाग या अंश में स्थित हो, तो या तो वह भाग स्वयं यौगिक है अथवा सरल। यदि सरल, तो हमारा प्रतिपाद्य — कि विचार का अन्तिम विषयी अविभाज्य है — तत्काल सिद्ध हो जाता है। यदि यौगिक, तो असम्भव विकल्पों की वही पुरानी शृंखला पुनः चलेगी, जब तक हम अन्ततः उसी निष्कर्ष पर पहुँचने को विवश न हो जाएँ।"**

* मेहर की अविस्तार-सम्बन्धी धारणा पाठक को उनकी 'साइकोलॉजी' (Psychology) के पृष्ठ ४४४ की निम्नलिखित पादटिप्पणी के पठन से स्पष्ट हो जाएगी: "विद्यापीठीय विद्वानों ने पूर्वोक्त गुण को — विस्तार अथवा घटक अंशों की संरचना के अभाव को — 'परिमाणात्मक सरलता' पद से व्यक्त किया। और यह तथ्य कि आत्मा एक ही स्वभाव के निर्माण के लिए संयुक्त होने वाले अनेक तत्त्वों का परिणाम नहीं है (जैसे, उदाहरणार्थ, उनके मत में समस्त देहधारी वस्तुओं के आकारिक और भौतिक तत्त्व हैं), उन्होंने यह कहकर सूचित किया कि वह सारतः सरल है — 'सिम्प्लेक्स क्वोआद एसेन्तिआम' (simplex quoad essentiam)।"

यही युक्ति निर्णय के विषयी की सरलता को भी सिद्ध करती है। मेहर एस. जे. पुनः बताते हैं:

> **"सरलतम निर्णय भी दो पृथक् धारणाओं की तुलना की पूर्वकल्पना करता है, जिन्हें एक ही अविभाज्य कर्ता द्वारा एक साथ ग्रहण किया जाना चाहिए। मान लीजिए यह निर्णय उत्पन्न होता है — 'विज्ञान उपयोगी है।' यदि जो विषयी 'विज्ञान' और 'उपयोगी' इन दोनों संकल्पनाओं को ग्रहण करता है, वह अविभाज्य नहीं है, तो हमें यह मानना होगा कि इनमें से एक पद को एक भाग ग्रहण करता है और दूसरे को दूसरा भाग; अथवा यह कि विभाज्य विषयी के पृथक् अंश प्रत्येक दोनों धारणाओं के आश्रय हैं। किन्तु प्रथम स्थिति में हमें कोई निर्णय प्राप्त ही नहीं हो सकता। भाग 'अ' 'विज्ञान' को ग्रहण करता है, भिन्न भाग 'ब' 'उपयोगी' की धारणा बनाता है, किन्तु तुलना की वह अविभाज्य क्रिया, जिसके लिए ऐसे एक ही कर्ता की आवश्यकता है जो दोनों धारणाओं को संयुक्त करे, अनुपस्थित है; और तब हमें वह विधायक कथन उतना ही नहीं मिल सकता जितना तब, जब एक मनुष्य 'विज्ञान' का विचार करे और दूसरा 'उपयोगी' की संकल्पना बनाए। दूसरे विकल्प में, यदि 'अ' और 'ब' प्रत्येक एक साथ 'विज्ञान' और 'उपयोगी' दोनों को ग्रहण करते हों, तो हमें एक नहीं, अपितु निर्णयों की बहुलता प्राप्त होती। मन की उस आनुमानिक क्रिया की सरलता, जिससे हम किसी निष्कर्ष के तार्किक अनुक्रम को पकड़ते हैं, यौगिक द्रव्य की परिकल्पना से और भी अधिक असंगत है। ये तीन निर्णय — 'प्रत्येक य, ज़ है; प्रत्येक क्ष, य है; अतएव प्रत्येक क्ष, ज़ है' — यदि किसी यौगिक द्रव्य से निकले हों, तो वे उतना ही न्याय-वाक्य नहीं बना सकते जितना तब, जब प्रत्येक प्रतिज्ञा को कोई पृथक् मनुष्य अकेले ग्रहण करे।"**

स्मृति के सम्बन्ध में भी यह देखना कठिन नहीं कि वह पदार्थ का, अथवा मस्तिष्क जैसे किसी यौगिक द्रव्य का, कार्य नहीं हो सकती। स्मरण तब तक सम्भव नहीं जब तक जो व्यक्ति किसी विगत अनुभव का स्मरण करता है और जिसने उसे भोगा था, उन दोनों की अभिन्नता चेतना में उपस्थित न हो। मेहर कहते हैं, "किसी अन्य के अनुभवों का स्मरण करना यह स्मरण करना होगा कि मैं कोई और था; दूसरे शब्दों में, एक ही साथ अपनी अभिन्नता का विधान और निषेध करना, जो एक विशुद्ध और असंगत विरोधाभास है।" तब, स्मरण ऐसी चेतना के लिए असम्भव होगा जो निरन्तर मस्तिष्क के भौतिक पदार्थ से उत्पन्न होती रहती है, और जो इसलिए जीवन भर बनी नहीं रहती।

पुनः, यदि चेतना को पदार्थ का स्राव माना जाए, तो वह एक यौगिक द्रव्य होगी, और उस स्थिति में किसी व्यक्ति को अपनी जो चेतना है, वह अपार संख्या में चेतनाओं के संयोग का ही परिणाम हो सकती है। किन्तु इसका खण्डन इस तथ्य से हो जाता है कि कोई भी अपने को अनेक अनुभव नहीं करता। इस विषय में 'द हिन्दू रियलिज़्म' (The Hindu Realism) के लेखक श्री जे. सी. चटर्जी (J. C. Chatterji) लिखते हैं:—

> **"न केवल यह कि कोई व्यक्ति अपने को अनेक अनुभव नहीं करता, अपितु यदि वस्तुतः अनेक चेतनाएँ मिलकर एक वैयक्तिक चेतना बनातीं, तो शरीर प्रायः या तो टुकड़े-टुकड़े हो जाता या सर्वथा निष्क्रिय रहता। क्योंकि यह अपेक्षाकृत अत्यन्त विरल बात है कि बहुसंख्यक चेतन सत्ताएँ पूर्णतः एक ही इच्छा और प्रयोजन के साथ मिलकर कार्य करती पाई जाएँ। उनकी सामान्यतः अपनी-अपनी भिन्न इच्छाएँ और प्रयोजन होते हैं; और यदि शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों और अवयवों में से प्रत्येक की अपनी पृथक् चेतना होती, और साथ ही वे किसी अन्य केन्द्रीय चेतना के अधीन न होते, तो यह प्रायः निश्चित है कि वे बहुधा असहमत होते और अपनी भिन्न इच्छाएँ तथा प्रयोजन कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते; और परिणाम शरीर का पूर्ण विघटन होता। अथवा, यदि शरीर विघटित न भी होता, तो क्रिया का पूर्ण अवरोध हो जाता, क्योंकि शरीर के भिन्न अंगों की परस्पर विरोधी इच्छाएँ और प्रयोजन एक-दूसरे को निष्प्रभावी कर देते। किन्तु चूँकि न तो इस प्रकार का विघटन और न ऐसा गतिरोध कभी देखा जाता है, अतः हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि एक वैयक्तिक चेतना को उत्पन्न करने वाली शरीर के भिन्न अंगों की पृथक् चेतनाएँ नहीं हैं।"**

इसके अतिरिक्त, यदि शरीर में अनेक चेतनाएँ होतीं, तो मानसिक क्रिया एक ही साथ भिन्न-भिन्न अंगों में चलती, अथवा कम से कम प्रत्यक्ष के एक ही विषय की उतनी ही धारणाएँ होतीं जितनी शरीर अथवा मस्तिष्क में चेतनाएँ हैं। किन्तु चूँकि वास्तविक अनुभव इस कल्पना का खण्डन करता है, अतएव यह निष्पन्न होता है कि आत्मा चेतना की एक अविभाज्य इकाई है।

उपर्युक्त युक्तियाँ चेतना के द्रव्य की सरलता प्रमाणित करने के लिए पूर्णतः पर्याप्त हैं।

अब हम अविनाशिता के उस गुण पर आते हैं जो आत्मा का ही एक धर्म है। इस विषय में यह स्पष्ट होना चाहिए कि जो सरल, अर्थात् अयौगिक द्रव्य है, उसका अन्त होना कभी कल्पित नहीं किया जा सकता; क्योंकि जो विद्यमान है उसके विनाश का अर्थ केवल इतना ही हो सकता है कि कोई यौगिक अपने घटक अंशों में टूट जाए। अतएव जहाँ कोई दिया हुआ द्रव्य ऐसा यौगिक ही नहीं जो सरलतर तत्त्वों में टूट सके, वहाँ विनाश सम्भव नहीं।

पूर्वोक्त विचारों के परिणामस्वरूप हम यह कहने के अधिकारी हैं कि द्रव्य होने के नाते, अर्थात् ऐसी वस्तु होने के नाते जो अपने ही स्वभाव से टिकी रहती है, आत्मा का अस्तित्व से विनाश किसी प्रकार सम्भव नहीं, और वह उस भौतिक शरीर से सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता है जिसमें वह अपने पार्थिव जीवन के दौरान निवास करती है। ऐसी होने के नाते वह मांस के अपने वस्त्र से स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व बनाए रखने में पूर्णतः समर्थ है।

अब यह प्रश्न उठता है कि इस नश्वर देह-पिंजर को, अर्थात् पदार्थ के इस शरीर को, त्याग देने पर क्या आत्मा किसी भी अर्थ में अपनी प्रत्यक्ष-शक्ति को बनाए रखेगी। इसका उत्तर प्रत्यक्ष-शक्ति के स्वभाव पर निर्भर है; अतएव यदि प्रत्यक्ष इन्द्रियों का — नेत्र, कर्ण आदि का — कार्य हो, तो स्वभावतः वह भौतिक मृत्यु के पश्चात् जीवित नहीं रह सकता। किन्तु यदि, इसके विपरीत, प्रत्यक्ष इन्द्रियों का नहीं, अपितु आत्मा का कार्य है, जैसा हम प्रतिपादित करते हैं, तो इस निष्कर्ष से बचने का कोई उपाय नहीं कि शरीर की मृत्यु का अर्थ आत्मा की प्रत्यक्ष-शक्तियों का विनाश नहीं होगा।

इससे यह निष्पन्न होता है कि प्रत्यक्ष की शक्ति किसी भी अर्थ में इन्द्रियों की उपज नहीं है, अपितु आत्मा में ही अन्तर्निहित है। अतएव मृत्यु में आत्मा का भौतिक शरीर से पृथक् होना प्रत्यक्ष-सामर्थ्य में किसी भी प्रकार बाधा न डालेगा, यद्यपि भावी जीवन अथवा जीवनों में उसका विकास नवीन परिवेश की प्रकृति पर निर्भर करेगा, ठीक जैसे यहाँ वह मस्तिष्क और स्नायु-पदार्थ की गुणवत्ता पर निर्भर करता है। इसमें उस निष्कर्ष को भी जोड़ लीजिए जिस पर हम पहले ही पहुँच चुके हैं — कि चिन्तन और तर्क भौतिक मस्तिष्क के नहीं, अपितु आत्मा के व्यापार हैं — और तब आत्मा के मरणोत्तर बने रहने का पक्ष पूर्णतया स्पष्ट तथा अकाट्य हो जाता है।

जब तक हम इसी विषय पर हैं, यह इंगित कर देना अनुचित न होगा कि भौतिकवाद की भ्रान्ति उसकी इस कल्पना से उत्पन्न होती है कि आत्मा तब तक आत्मा नहीं जब तक वह सर्वदा और समस्त अवस्थाओं में एक ही अपरिवर्तित दशा में न बनी रहे, जिससे यह निकाला जाता है कि जो चेतना कस्तूरी, कहवा आदि से प्रभावित होती है वह पदार्थ की ही उपज हुए बिना नहीं रह सकती। इस भ्रान्त धारणा को सम्भवतः धार्मिक तत्त्वमीमांसा की उन कतिपय सस्ती और सुगम प्रणालियों की शिक्षाओं से प्रोत्साहन मिला है जो सचमुच जीवन-तत्त्व को अपरिवर्तनीय और पदार्थ से अप्रभावित मानती हैं। किन्तु उस कल्पना में निहित भ्रान्ति से बड़ी कोई भ्रान्ति नहीं हो सकती; क्योंकि आत्मा और पदार्थ दोनों ही कतिपय परिस्थितियों में एक-दूसरे को प्रभावित तथा एक-दूसरे पर क्रिया करने में समर्थ हैं। और न प्रकृति के इन दोनों द्रव्यों के बीच की पारस्परिक क्रिया किसी भी अर्थ में अनियमित अथवा अनिश्चित है; उसके अपने नियम हैं जो उतने ही कठोर और अलंघ्य हैं जितने किसी भी अपोदिक्तिक (निश्चयात्मक) विज्ञान में मिलने वाले नियम। इनमें से कुछ नियमों को हम तब परिभाषित करेंगे जब कर्म के सिद्धान्त पर विचार करने आएँगे; अभी इतना कहना पर्याप्त है कि भौतिकवादी ने चेतना की परिघटनाओं की व्याख्या के लिए विकल्पों के एक भ्रान्त समुच्चय पर ही अपना ध्यान सीमित करके सारे प्रश्न को उलझा दिया है। इसमें विचित्रतम बात यह है कि जहाँ वह पदार्थ के अस्तित्व से इनकार करने को उद्यत नहीं, यद्यपि वह प्रकृति के बलों के अधीन निरन्तर परिवर्तनों से गुज़रता रहता है, वहीं आत्मा को कस्तूरी आदि से प्रभावित होते देखते ही उसे उसमें असत्ता के सिवा और कुछ नहीं दिखता — यह पूर्णतया भूलकर कि चेतन और अचेतन के बीच की खाई इतनी चौड़ी है कि किसी भी उपाय से पाटी नहीं जा सकती। जैसा कि प्रो. बाउन (Prof. Bowne) कहते हैं:—

> **"मन को मोम की पटिया बताकर और वस्तुओं को उस पर अपनी छाप अंकित करते हुए वर्णित करके हमें लगता है कि हमने कोई बड़ी अन्तर्दृष्टि पा ली — जब तक कि हम यह पूछने का विचार नहीं करते कि यह विस्तारयुक्त पटिया है कहाँ, और वस्तुएँ अपनी छाप उस पर अंकित कैसे करती हैं, और यदि वे ऐसा कर भी लें तो प्रत्यक्ष की क्रिया की व्याख्या कैसे हो सकेगी। ... संवेदन और प्रत्यक्ष के साक्षात् पूर्ववर्ती मस्तिष्क में होने वाले स्नायविक परिवर्तनों की एक शृंखला है। बाह्य जगत् का जो कुछ भी हम जानते हैं, वह इन्हीं स्नायविक परिवर्तनों में और उन्हीं के द्वारा प्रकट होता है। किन्तु वे परिवर्तन उन वस्तुओं से सर्वथा असदृश हैं जिन्हें उनका कारण मानकर विद्यमान माना जाता है। यदि हम मन की कल्पना प्रकाश में स्थित और अपने विषयों के साक्षात् सम्पर्क में कर सकते, तो कम से कम कल्पना को सान्त्वना तो मिलती; किन्तु जब हम मन को बाह्य जगत् के सम्पर्क में केवल कपाल के अंधकारमय कक्ष के भीतर आता हुआ मानते हैं, और वहाँ भी प्रत्यक्ष किए जाने वाले विषयों के सम्पर्क में नहीं, अपितु केवल स्नायविक परिवर्तनों की एक शृंखला के सम्पर्क में, जिनके विषय में वह कुछ भी नहीं**

> जानता, तब यह स्पष्ट है कि विषय तो बहुत दूर रह गया। चित्रों, छापों आदि की सारी बात समाप्त हो जाती है, क्योंकि उन उपमाओं को कोई अर्थ देने वाली समस्त शर्तें ही नहीं रहतीं। यह भी स्पष्ट नहीं कि हम उस अंधकार से निकलकर प्रकाश और यथार्थ के जगत् में फिर कभी अपना मार्ग पा सकेंगे। हम भौतिकी और इन्द्रियों पर पूर्ण विश्वास से आरम्भ करते हैं, और तत्काल विषय से दूर हटाकर एक स्नायविक भूलभुलैया में पहुँचा दिए जाते हैं, जहाँ विषय पूर्णतया स्नायविक परिवर्तनों के एक समुच्चय से विस्थापित हो जाता है जो स्वयं अपने अतिरिक्त और किसी वस्तु से तनिक भी सदृश नहीं। अन्ततः हम कपाल के अंधकारमय कक्ष में आ उतरते हैं। विषय सर्वथा लुप्त हो चुका है, और ज्ञान अभी प्रकट ही नहीं हुआ। दृढ़तम यथार्थवाद के अनुसार भी, स्नायविक चिह्न ही बाह्य जगत् के समस्त ज्ञान की कच्ची सामग्री हैं। किन्तु इन चिह्नों से आगे बढ़कर बाह्य जगत् के ज्ञान तक पहुँचने के लिए हमें एक ऐसे व्याख्याता को मानना पड़ेगा जो इन चिह्नों को पुनः उनके वस्तुपरक अर्थ में पढ़ सके। किन्तु वह व्याख्याता भी अपने भीतर विश्व के अर्थ को अन्तर्निहित रूप से धारण किए हुए होना चाहिए; और ये चिह्न वस्तुतः उद्दीपन मात्र हैं जो आत्मा को उस वस्तु के उद्घाटन के लिए प्रेरित करते हैं जो उसके भीतर ही है। चूँकि सर्वसम्मति से आत्मा बाह्य जगत् से केवल इन्हीं चिह्नों के माध्यम से सम्पर्क करती है, और विषय के इतने ही निकट पहुँचती है जितने निकट ये चिह्न उसे ले जा सकें, अतः यह निष्पन्न होता है कि व्याख्या के सिद्धान्त मन में ही होने चाहिए, और परिणामस्वरूप जो रचना बनती है वह मूलतः मन के अपने ही स्वभाव की अभिव्यक्ति है। समस्त प्रतिक्रिया इसी प्रकार की होती है; वह प्रतिक्रिया करने वाले कर्ताओं के स्वभाव को व्यक्त करती है, और ज्ञान भी इसी कोटि में आता है।" —
> मेटाफ़िज़िक्स (Metaphysics), पृ. ४०७—४१०।

उस महान् मनोवैज्ञानिक प्रो. विलियम जेम्स (William James) को भी यह स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा कि जो 'मैं' जानता है वह कोई समुच्चयात्मक व्यक्तित्व नहीं हो सकता, यद्यपि मनोवैज्ञानिक के रूप में उन्होंने अपने ऊपर उस प्रश्न पर निर्णय देने का दायित्व नहीं समझा जो इस समय हमारे सम्मुख है। वे लिखते हैं:—

> "आत्म-चेतना में विचार की एक धारा निहित है, जिसका प्रत्येक अंश 'मैं' के रूप में (१) अपने पूर्ववर्ती अंशों का स्मरण कर सकता है और जो कुछ वे जानते थे उसे जान सकता है; तथा (२) उनमें से कतिपय को 'मुझ' के रूप में विशेष महत्त्व दे सकता और उनकी सर्वोपरि चिन्ता कर सकता है, और शेष को उन्हीं का बना सकता है। इस 'मुझ' का केन्द्र सदा वही शारीरिक सत्ता होती है जो उस समय उपस्थित अनुभव की जाती है। यह 'मुझ' वस्तुपरक रूप से ज्ञात वस्तुओं का एक अनुभवसिद्ध समुच्चय है। जो 'मैं' उन्हें जानता है वह स्वयं समुच्चय नहीं हो सकता; न ही मनोवैज्ञानिक प्रयोजनों के लिए उसे आत्मा जैसी कोई अपरिवर्तनीय तत्त्वमीमांसीय सत्ता, अथवा काल से परे देखा जाने वाला शुद्ध अहं जैसा

> कोई सिद्धान्त, मानना आवश्यक है। वह प्रत्येक क्षण में एक विचार है, जो पिछले क्षण के विचार से भिन्न है, किन्तु उसे तथा उन सबको, जिन्हें वह अपना कहता था, अपना बना लेने वाला है।" —देखिए 'द प्रिंसिपल्स ऑफ़ साइकॉलजी' (The Principles of Psychology), खण्ड १, पृ. ४००।

प्रो. जेम्स का मत है कि व्यक्तित्व का तात्पर्य है

> "दो तत्त्वों की निरन्तर उपस्थिति — एक वस्तुपरक व्यक्ति, जिसे कोई क्षणभंगुर आत्मपरक विचार जानता है और जिसे काल में निरन्तर बना हुआ पहचाना जाता है।"

किन्तु प्रश्न यह है कि यह तथाकथित आत्मपरक विचार है क्या, और हम उसे कहाँ खोजें? इसका उत्तर भौतिकवाद के ग्रन्थों में नहीं, अपितु धार्मिक दर्शन में मिलता है, और स्वामी अभेदानन्द की भाषा में उसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:—

> "पुनः, यह प्राण अथवा जीवन-शक्ति बुद्धि से अभिन्न है ... आत्मा की दो शक्तियाँ हैं, जो बुद्धि के रूप में तथा प्राण अर्थात् जीवन-शक्ति की क्रिया के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। बुद्धि वह है जो चेतना का स्रोत है। जीवन-शक्ति अथवा मुख्य प्राण इन्द्रिय-शक्तियों से स्वतंत्र कोई वस्तु है, किन्तु इन्द्रिय-शक्तियाँ जीवनदायी प्राण पर निर्भर हैं। जहाँ जीवन-शक्ति अनभिव्यक्त है, वहाँ इन्द्रियाँ भले ही पूर्ण बनी रहें, किन्तु संवेदन के प्रत्यक्ष के रूप में इन्द्रिय-शक्तियों की कोई अभिव्यक्ति न होगी। मृत मनुष्य का नेत्र पूर्ण हो सकता है, दृष्टि-नाड़ी अच्छी दशा में हो सकती है, मस्तिष्क की कोशिकाएँ सामान्य अवस्था में हो सकती हैं, किन्तु चूँकि उस शरीर में जीवन-शक्ति कार्य नहीं कर रही, अतः इन्द्रियों को मृत ही बने रहना पड़ेगा — अपने व्यापार किए बिना, कोई संवेदन उत्पन्न किए बिना। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि शरीर में समस्त इन्द्रियाँ इसीलिए सक्रिय रहती हैं क्योंकि समस्त क्रिया का स्रोत प्राण वहाँ विद्यमान है, और क्योंकि जीवन-शक्ति ही समस्त इन्द्रियों का शासन और नियमन करती है।" —(सेल्फ़-नॉलेज (Self-Knowledge), पृ. ७२, ७३, ७६ तथा ७७)।

थियोसॉफ़िस्टों (Theosophists) के अनुसार:—

> "चेतना और जीवन अभिन्न हैं, एक ही वस्तु के दो नाम, जैसा कि वह भीतर से और बाहर से देखी जाती है। चेतना के बिना जीवन नहीं; जीवन के बिना चेतना नहीं। जब हम विचार में उन्हें अस्पष्ट रूप से पृथक् करते हैं और फिर विश्लेषण करते हैं कि हमने क्या किया, तो हम पाते हैं कि अन्तर्मुख चेतना को ही हमने जीवन नाम दिया है, और बहिर्मुख जीवन को चेतना। जब हमारा ध्यान एकता पर टिकता है, तब हम जीवन कहते हैं; जब वह अनेकता पर टिकता है, तब हम चेतना कहते हैं; और हम भूल

> जाते हैं कि वह अनेकता पदार्थ के कारण है, वही पदार्थ का सार है — वह प्रतिबिम्बकारी सतह जिसमें एक अनेक बन जाता है। जब यह कहा जाता है कि जीवन 'न्यूनाधिक चेतन' है, तब जीवन नामक अमूर्त तत्त्व का विचार नहीं होता, अपितु 'किसी जीवित वस्तु' का, जो अपने परिवेश के प्रति न्यूनाधिक सजग है।" —('अ स्टडी इन कॉन्शसनेस' (A Study in Consciousness), ऐनी बेसेंट (Annie Besant), पृ. ३२)।

किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि चेतन परिघटनाओं की अभिव्यक्ति में पदार्थ की क्या भूमिका है; परन्तु विलियम जेम्स, जिनके मनोवैज्ञानिक के रूप में मत का उल्लेख ऊपर हो चुका है, तब सच्चा स्वर छेड़ते हैं जब वे कहते हैं:—

> "जब वह शरीरक्रिया-विज्ञानी, जो यह समझता है कि उसका विज्ञान अमरत्व की समस्त आशा को काट देता है, यह वाक्य उच्चारित करता है कि 'विचार मस्तिष्क का एक व्यापार है', तब वह इस बात को ठीक वैसे ही सोचता है जैसे वह तब सोचता है जब कहता है, 'भाप केतली का व्यापार है', 'प्रकाश विद्युत्-परिपथ का व्यापार है', 'शक्ति गिरते हुए जलप्रपात का व्यापार है।' इन पिछले उदाहरणों में उन विविध भौतिक वस्तुओं का व्यापार अपने प्रभावों को भीतर से रचने अथवा उत्पन्न करने का है, और उनके इस व्यापार को उत्पादक व्यापार कहना चाहिए। ठीक वैसा ही, वह समझता है, मस्तिष्क के साथ भी होगा। अपने भीतर चेतना को उत्पन्न करते हुए, ठीक जैसे वह कोलेस्टेरिन, क्रिएटिन और कार्बनिक अम्ल उत्पन्न करता है, हमारी आत्मा के जीवन से उसके सम्बन्ध को भी उत्पादक व्यापार ही कहना होगा। ...किन्तु भौतिक प्रकृति के जगत् में इस प्रकार का उत्पादक व्यापार ही एकमात्र व्यापार नहीं जिससे हम परिचित हैं। ...रंगीन काँच, प्रिज़्म अथवा अपवर्तक लेंस की स्थिति में हमें संचारक व्यापार मिलता है। प्रकाश की ऊर्जा, चाहे वह किसी भी प्रकार उत्पन्न हुई हो, काँच के द्वारा छानी जाती और वर्ण में सीमित की जाती है, तथा लेंस या प्रिज़्म के द्वारा एक निश्चित पथ और आकार में निर्धारित की जाती है। इसी प्रकार, ऑर्गन (वाद्य) की कुंजियों का भी केवल संचारक व्यापार होता है। वे क्रमशः विभिन्न नलिकाओं को खोलती हैं और वायु-कोष की हवा को विविध रूपों में निकल जाने देती हैं। विभिन्न नलिकाओं के स्वर उस वायु-स्तम्भ से बनते हैं जो बाहर निकलते समय कम्पित होता है। किन्तु वह वायु ऑर्गन में उत्पन्न नहीं होती। ऑर्गन स्वयं, अपने वायु-कोष से भिन्न, केवल एक यंत्र है जो उस वायु के अंशों को इन विशिष्ट सीमित आकारों में जगत् पर छोड़ देता है। अब मेरा प्रतिपाद्य यह है — कि जब हम इस नियम का विचार करें कि विचार मस्तिष्क का एक व्यापार है, तब हमसे यह अपेक्षित नहीं कि हम केवल उत्पादक व्यापार का ही विचार करें; हमें यह अधिकार भी है कि हम अनुमतिदायक अथवा संचारक व्यापार पर विचार करें। और साधारण मनो-शरीरक्रिया-विज्ञानी इसी को अपने लेखे से बाहर छोड़ देता है। ...जैसे इस समय वायु मेरी स्वर-द्वार से होकर आती है, और उन

> **स्वर-तन्तुओं की विशेषताओं द्वारा, जो उसका निर्गम-द्वार बनते हैं और उसे मेरे व्यक्तिगत स्वर में ढालते हैं, अपने कम्पनों के बल और गुण में निर्धारित तथा सीमित की जाती है — ठीक वैसे ही यथार्थ की असली सामग्री, आत्माओं का जीवन, जैसा वह अपनी पूर्णता में है, हमारे विविध मस्तिष्कों को भेदकर इस जगत् में सब प्रकार के सीमित रूपों में फूट निकलेगा, उन समस्त अपूर्णताओं और विचित्रताओं के साथ जो यहाँ नीचे हमारी सान्त व्यक्तिगत सत्ताओं की विशेषता हैं।" —ह्यूमन इम्मॉर्टैलिटी (Human Immortality), पृ. २८—३६।**

सत्य यह है कि आत्मा, जीवन अथवा चैतन्य एक स्वयंसिद्ध यथार्थ है, और पदार्थ तथा उसके रूपों से सर्वथा स्वतंत्र है; भौतिकवाद ने उसे पदार्थ की उपज मानकर अंधकार में एक बहुत बड़ी छलाँग लगाई है।

यह कल्पना करना भूल होगी कि हम ही अनुसंधान के इस क्षेत्र में सर्वप्रथम हैं; वस्तुतः प्रत्येक युग ने अपने ऐसे विचारक उत्पन्न किए हैं जिन्होंने इस समस्या के अध्ययन में स्वयं को पूरे मन से लगा दिया। सम्भवतः पदार्थ की समस्त प्रतीतियों के मूल में स्थित यथार्थ अथवा जीवन के स्वरूप-सम्बन्धी अन्वेषण में कतिपय रहस्यवादी अनुसंधाताओं से आगे निकल जाना सरल नहीं है। हम उनके अथक उत्साह और उनकी विवेक-शक्ति की केवल प्रशंसा ही कर सकते हैं। उन्होंने भौतिक पदार्थ के अणु को कोई सरल, निरवयव इकाई नहीं, अपितु उससे भी छोटे खण्डों से बना हुआ माना है, और उन खण्डों को भी सरल नहीं, अपितु और भी सूक्ष्मतर कणों का जटिल संयोग माना है।

जब हम उस तक पहुँचते हैं जो भौतिक पदार्थ की क्षुद्रतम इकाई अथवा अणु प्रतीत होती है, तब भी हम अपनी खोज के अन्त पर नहीं होते; क्योंकि हमारे परम विस्मय के साथ उस बिन्दु पर वह अणु टूट जाता है और अपने भीतर एक प्रकार का सूक्ष्मतर पदार्थ प्रकट कर देता है, जिसे गूढ़विद्यावेत्ता सूक्ष्म (Astral) 'लोक' का पदार्थ कहते हैं। सूक्ष्म 'लोक' में भी विभाजन की उसी प्रक्रिया को जारी रखने पर हम उसकी पदार्थ-इकाई अथवा अणु तक पहुँचते हैं, केवल यह पाने के लिए कि उसके भीतर भी अवर्णनीय सौन्दर्य का एक और 'लोक' विद्यमान है। इस प्रकार हम उन स्तरों से होकर जाते हैं जिन्हें 'मानसिक', 'बौद्धिक' (Buddhic), 'नैर्वाणिक', 'परनैर्वाणिक' तथा 'महापरनैर्वाणिक' कहा जाता है, जिनमें से प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती से सूक्ष्मतर कोटि के पदार्थ से बना है। किन्तु जीवन इन समस्त स्तरों पर अपने को अभिव्यक्त करता है, और ये स्तर परस्पर एक-दूसरे में व्याप्त बताए जाते हैं। इन रहस्यवादी अन्वेषकों को कोई भी विशेष प्रकार का पदार्थ ऐसा न मिल सका जो चेतना का स्रोत हो, और आज भी कोई उन विशेष अणुओं को नहीं बता सका जिनसे बुद्धि और स्मृति चुआई जा सकें अथवा चयन और संकल्प निकाले जा सकें। ऐसी है जीवन की यह समस्या; चेतना की उत्पत्ति के विषय में हम अपनी जिज्ञासा को जितना भी

आगे धकेलें, रहस्य केवल गहराता ही जाता है, और हम सत्ता की उस पहेली के आमने-सामने आ खड़े होते हैं, जिसमें अपनी दुर्ग्राह्यता और अनिर्णेयता का सारा तड़पाने वाला आकर्षण है। किन्तु हमें इसके विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात नहीं भूलनी चाहिए, अर्थात् यह कि समस्या केवल इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि हम जीवन अथवा आत्मा को स्वयंसिद्ध यथार्थ के रूप में स्वीकार करने से इनकार करके उसे स्वयं ही गढ़ लेना चाहते हैं। इस प्रकार दुर्ग्राह्यता का वह आकर्षण मानव-बुद्धि का ही है, जो पहले तो एक भूलभुलैया रचती है और फिर उसके काल्पनिक मोड़ों और घुमावों में स्वयं को खो देने में सफल हो जाती है; और चूँकि यह उलझन हमारी ही बनाई हुई है, अतः हम अपने को उसके जालों में जितना गहरा चाहें उतना गहरा उलझने दे सकते हैं।

आधुनिक विज्ञान की अपनी परीक्षा को आगे बढ़ाते हुए हमने देखा कि पदार्थ चेतना की परिघटनाओं की व्याख्या के लिए अपर्याप्त है, यद्यपि वैज्ञानिकों ने उसके व्यापार को बढ़ा-चढ़ाकर बताते हुए इस कठिनाई से बच निकलने का प्रयत्न किया है। आधुनिक विज्ञान के मार्ग में यही एकमात्र कठिनाई नहीं है; क्योंकि उसे काल और दिक् (देश) तक का बहुत कम अथवा कोई ज्ञान नहीं, यद्यपि वह उस सर्वव्यापी ईथर से परिचित है जो गति का आवश्यक माध्यम है। काल और दिक् के विषय में आधुनिक लेखकों में व्याप्त विचार-भ्रान्ति का कुछ अनुमान इंग्लैंड के महानतम दार्शनिकों में से एक हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) के निम्नलिखित सुविचारित मत को पढ़कर लगाया जा सकता है:—

> **"हम दिक् और काल की कल्पना सत्ताओं के रूप में नहीं कर सकते, और उतने ही असमर्थ हैं उनकी कल्पना सत्ताओं के गुणों के रूप में अथवा असत्ताओं के रूप में करने में। ... उनका जो साक्षात् ज्ञान हमें प्रतीत होता है, वह परीक्षा करने पर पूर्ण अज्ञान ही सिद्ध होता है।" —(द फ़र्स्ट प्रिंसिपल्स — The First Principles)।**

महान् जर्मन दार्शनिक कान्ट (Kant) हर्बर्ट स्पेंसर से पहले ही दिक् और काल को बुद्धि के शुद्ध पूर्वसिद्ध (à priori) रूप घोषित कर चुके थे; किन्तु इससे उस अंग्रेज़ विचारक को सन्तोष न हुआ, जिसने कहा:—

> **"जिस प्रतिज्ञा से कान्ट का दर्शन आरम्भ होता है, वह शब्दों में बोधगम्य होते हुए भी किसी भी प्रयत्न से विचार में नहीं ढाली जा सकती — उसे यथार्थतः विचार कही जाने योग्य किसी धारणा में नहीं अनूदित किया जा सकता, अपितु वह केवल एक छद्म-धारणा बनकर रह जाती है। सर्वप्रथम, यह कहना कि दिक् और काल आत्मपरक शर्तें हैं, अन्तर्निहित रूप से यह कहना है कि वे वस्तुपरक यथार्थ नहीं हैं; यदि हमारे मन के समक्ष उपस्थित दिक् और काल अहं के हैं, तो अनिवार्यतः वे अन-अहं के**

> नहीं हैं। किन्तु ऐसा सोचना असम्भव है। स्वयं वही तथ्य, जिस पर कान्ट अपनी परिकल्पना आधारित करते हैं — अर्थात् यह कि दिक् और काल की हमारी चेतना दबाई नहीं जा सकती — इसी की साक्षी देता है; क्योंकि दिक् और काल की जिस चेतना से हम अपने को मुक्त नहीं कर सकते, वह उन्हें वस्तुपरक रूप से विद्यमान मानने वाली चेतना है। यह उत्तर देना व्यर्थ है कि यदि वे आत्मपरक रूप हों तो ऐसी असमर्थता अनिवार्यतः होगी ही। यहाँ प्रश्न यह है कि चेतना साक्षात् किसकी साक्षी देती है? और चेतना की साक्षात् साक्षी यह है कि काल और दिक् मन के भीतर नहीं, अपितु मन के बाहर हैं; और इतने नितान्त स्वतंत्र हैं कि मन के असत् हो जाने की कल्पना करने पर भी हम उन्हें असत् होते नहीं सोच सकते।" —(द फ़र्स्ट प्रिंसिपल्स)।

अन्ततः हेकल (Haeckel) काल और दिक् की वस्तुपरक यथार्थता को स्वीकार करके कान्ट के कठोर भाववाद को कुछ मृदु करने का प्रयत्न करते हैं, यद्यपि पदार्थ-बल-जगत् की अपनी अद्वैतवादी योजना में वे अन्ततः उन्हें अपनी गणना से बाहर ही छोड़ देते हैं। काल और दिक् के विषय में वे यह कहते हैं:—

> "जब से कान्ट ने काल और दिक् को केवल 'प्रत्यक्ष के रूप' बताया — दिक् बाह्य संवेदनशीलता का रूप, काल आन्तरिक संवेदनशीलता का — तब से इस महत्त्वपूर्ण समस्या पर एक तीव्र विवाद चला आ रहा है, जो अब भी जारी है। आधुनिक तत्त्वमीमांसकों के एक बड़े वर्ग ने अपने को यह विश्वास करा लिया है कि इस 'आलोचनात्मक तथ्य' का बड़ा महत्त्व है, कि वह एक विशुद्ध भाववादी ज्ञान-मीमांसा का प्रस्थान-बिन्दु है, और इसके परिणामस्वरूप काल और दिक् की यथार्थता के विषय में सामान्य स्वस्थ मन का स्वाभाविक मत बहा दिया गया है। काल और दिक् की यह संकीर्ण और अति-भाववादी धारणा भ्रान्तियों का एक उर्वर स्रोत बन गई है। वह इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि कान्ट ने उस सिद्धान्त में समस्या के केवल एक पक्ष को, आत्मपरक पक्ष को छुआ था, और उसके वस्तुपरक पक्ष की समान वैधता को भी स्वीकार किया था। 'काल और दिक्,' उन्होंने कहा था, 'अनुभवसिद्ध यथार्थता रखते हैं, किन्तु पारलौकिक भाववादिता।' हमारा आधुनिक अद्वैतवाद कान्ट की इस प्रतिज्ञा के साथ पूर्णतया संगत है, किन्तु समस्या के आत्मपरक पक्ष की एकांगी अतिशयोक्ति के साथ नहीं।"
> —(द रिडल ऑफ़ द यूनिवर्स — The Riddle of the Universe)।

काल और दिक् के विषय में आधुनिक विज्ञान बस इतना ही जानता है; और हेकल के पास भी उनके स्वरूप के विषय में इससे अधिक कहने को कुछ नहीं जितना इस कथन से निकाला जा सके कि वे अनुभवसिद्ध यथार्थता रखते हैं किन्तु पारलौकिक भाववादिता।

गति की उत्पत्ति की समस्या के विषय में, जिसे दू ब्वा रेमों (Du Bois Reymond) ने 'जगत्-पहेलियों' में द्वितीय कहा है, विज्ञान का अन्तिम शब्द यही मानना होगा कि वह

> **"इस स्वीकृति से हल हो जाती है कि गति भी द्रव्य का उतना ही सहज और मौलिक गुण है जितना संवेदन।" —(द रिडल ऑफ़ द यूनिवर्स)।**

किन्तु यह कथन एक सीमा तक भ्रामक है, क्योंकि गति यद्यपि पदार्थ का गुण है, तथापि वह शुद्ध आत्मा का गुण नहीं, यद्यपि देहधारी आत्माएँ अपनी गतियों को इच्छानुसार विशेष मार्गों में मोड़ने की शक्ति रखती हैं। यह आगे चलकर स्पष्ट कर दिया जाएगा; इस बीच यह प्रकट है कि जो वस्तु उन्हें ऐसा करने में समर्थ बनाती है वह उनकी इच्छा है, जो एक विशिष्ट प्रकार का बल है। बहुत से लोग तत्काल यह अस्वीकार कर देंगे कि इच्छा किसी प्रकार का बल है; किन्तु इस बात से आश्वस्त होने के लिए कि उसे विशुद्ध असत्-मात्र नहीं माना जा सकता, हमें केवल डॉ. अल्फ्रेड रसेल वालेस (Alfred Russell Wallace) की 'नैचुरल सिलेक्शन ऐंड ट्रॉपिकल नेचर' (Natural Selection and Tropical Nature) से निम्नलिखित सुतर्कित मत-अभिव्यक्ति का उल्लेख करना पर्याप्त है। डॉ. वालेस कहते हैं:—

> **"हम दो मूलतः भिन्न, अथवा प्रतीत रूप से भिन्न, प्रकार के बलों से परिचित हैं — पहला प्रकृति के प्राथमिक बलों का है, जैसे गुरुत्वाकर्षण, संसक्ति, प्रतिकर्षण, ताप, विद्युत् आदि; दूसरा हमारा अपना इच्छा-बल है। बहुत से लोग तत्काल यह अस्वीकार कर देंगे कि उत्तरवर्ती का अस्तित्व है। कहा जाएगा कि वह पूर्वोक्त प्राथमिक बलों का ही एक रूपान्तर मात्र है; कि बलों की परस्पर-सम्बद्धता में प्राणी-जीवन के बल भी सम्मिलित हैं, और कि इच्छा स्वयं मस्तिष्क में होने वाले आणविक परिवर्तन का ही परिणाम है। किन्तु मेरा विचार है कि यह दिखाया जा सकता है कि यह अन्तिम कथन कभी सिद्ध नहीं हुआ, और न कभी इसे सम्भव ही सिद्ध किया गया; और यह कि इसे कहने में ज्ञात से अज्ञात की ओर अंधकार में एक बहुत बड़ी छलाँग लगा ली गई है। यह तत्काल स्वीकार किया जा सकता है कि पशुओं और मनुष्य का पेशीय बल प्रकृति के प्राथमिक बलों से प्राप्त रूपान्तरित ऊर्जा मात्र है। इतना, यदि कठोरता से सिद्ध नहीं, तो भी अत्यन्त सम्भाव्य अवश्य बना दिया गया है, और यह प्राकृतिक बलों तथा प्राकृतिक नियमों के हमारे समस्त ज्ञान के साथ पूर्ण संगति में है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि शरीरक्रिया-सम्बन्धी लेखा-जोखा कभी इतनी यथार्थता से मिलाया गया है कि हम यह कहने के अधिकारी हों कि किसी सावयव शरीर ने, अथवा उसके किसी भाग ने, भौतिक जगत् के ज्ञात प्राथमिक बलों से प्राप्त बल की तुलना में एक ग्रेन का हज़ारवाँ अंश भी अधिक बल व्यय नहीं किया। यदि ऐसा होता, तो वह इच्छा के अस्तित्व का सर्वथा निषेध कर देता; क्योंकि इच्छा यदि कुछ**

है, तो वह एक ऐसी शक्ति है जो शरीर में संचित बलों की क्रिया को दिशा देती है, और यह कल्पनीय नहीं कि यह दिशा-निर्देश जीव के किसी भाग में किसी बल का व्यय किए बिना हो सके। कोई यंत्र कितनी ही सूक्ष्मता से क्यों न बनाया गया हो, कितनी ही उत्कृष्ट रचना वाली अटकनों से युक्त क्यों न हो जो न्यूनतम सम्भव बल के प्रयोग से किसी भार या कमानी को मुक्त कर दें, फिर भी कुछ न कुछ बाह्य बल सदा अपेक्षित होगा; इसी प्रकार, प्राणी-यंत्र में भी, मस्तिष्क की कोशिकाओं अथवा तन्तुओं में उन स्नायविक धाराओं को गति देने के लिए, जो कतिपय पेशियों के रुद्ध बलों को खोलती अथवा उद्दीप्त करती हैं, कितने ही सूक्ष्म परिवर्तन क्यों न अपेक्षित हों, उन परिवर्तनों को सम्पन्न करने के लिए कुछ न कुछ बल अवश्य चाहिए। यदि यह कहा जाए कि 'वे परिवर्तन स्वचालित हैं और बाह्य कारणों से गति में लाए जाते हैं', तब हमारी चेतना का एक आवश्यक अंग — इच्छा करने में एक निश्चित मात्रा की स्वतंत्रता — नष्ट हो जाता है; और यह अकल्पनीय है कि ऐसे विशुद्ध स्वचालित जीवों में कोई चेतना अथवा कोई प्रतीत इच्छा उत्पन्न ही कैसे और क्यों होती। यदि ऐसा होता, तो हमारी प्रतीत इच्छा एक भ्रम होती, और प्रोफ़ेसर हक्सली (Huxley) का यह विश्वास कि 'हमारा संकल्प घटनाओं के क्रम की एक शर्त के रूप में कुछ महत्त्व रखता है', भ्रान्त होता, क्योंकि तब हमारा संकल्प घटनाओं की श्रृंखला की एक कड़ी मात्र होता, जिसका महत्त्व किसी भी अन्य कड़ी से न अधिक होता न कम।"
—(नैचुरल सिलेक्शन ऐंड ट्रॉपिकल नेचर, पृ. २११)।

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, भौतिकी प्रकृति के मूल बलों में किसी पृथक् 'इच्छा-बल' को नहीं गिनती, और स्नायुविज्ञान संकल्प को मस्तिष्क की भौतिक तंत्रिकीय प्रक्रियाओं से ही उत्पन्न मानता है.

कि इच्छा एक प्रकार का बल है, यह हाल ही में एक सुघड़ छोटे-से आविष्कार द्वारा प्रदर्शित किया गया है, जिसमें एक अत्यन्त सूक्ष्मता से सन्तुलित सुई इच्छा की क्रिया के अधीन किए जाने पर अपना स्थान बदल देती है। किन्तु इच्छा की बल के रूप में सामर्थ्य सिद्ध करने के लिए किसी यांत्रिक उपकरण की आवश्यकता ही नहीं; आप क्षण भर के लिए खड़े होकर देखिए, और सोचिए कि आपके शरीर के चौदह स्टोन भार को उठाने वाला बल कौन-सा था, यदि आपकी इच्छा ही नहीं?

इसी के साथ आधुनिक विज्ञान की हमारी परीक्षा समाप्त होती है, जो, जैसा कि हमारे अन्वेषण ने भली-भाँति सिद्ध कर दिया है, अभी पूर्णता से बहुत दूर है।

अब हम हिन्दू यथार्थवाद की ओर लौट सकते हैं, ताकि वैशेषिक दर्शन के दृष्टिकोण से जगत्-प्रक्रिया के कारणों की गणना कर सकें। जहाँ तक पदार्थ का प्रश्न है, हिन्दू यथार्थवाद उसे अणुमय द्रव्य बताने में आधुनिक वैज्ञानिक के साथ एकमत है। आधुनिक विज्ञान पदार्थ के लगभग सत्तर भिन्न प्रकार के अणु खोज सका है, किन्तु अब तक उन्हें कम वर्गों अथवा जातियों में समेट नहीं सका; परन्तु कणाद उन्हें केवल चार प्रकारों में समेट देते हैं, अर्थात्—

(१) वे जो दृष्टि से जाने जा सकते हैं,

(२) वे जो स्पर्श अथवा ताप की इन्द्रिय से जाने जा सकते हैं,

(३) वे जो रसना-इन्द्रिय से जाने जा सकते हैं, तथा

(४) वे जो घ्राण-इन्द्रिय को अपील करते हैं और उसी से जाने जा सकते हैं।

कणाद का मत है कि श्रवण-इन्द्रिय के अनुरूप कोई अणु नहीं हो सकते, क्योंकि वे शब्द के उत्सर्जन को अणुओं के किसी विशेष वर्ग का गुण नहीं मानते, चूँकि प्रत्येक वस्तु की कल्पना नीरव रूप में की जा सकती है। उनका कथन है कि शब्द आकाश (आधुनिक विज्ञान के ईथर जैसा सतत माध्यम) में घर्षण से उत्पन्न होता है।

इन चार प्रकार के अणुओं में हिन्दू यथार्थवादी पाँच अन्य द्रव्य और जोड़ते हैं, और उन्हें नौ यथार्थ कहते हैं, जिनकी गणना इस प्रकार की जा सकती है:—

(१—४) चार प्रकार के अणु, जैसा ऊपर कहा गया;

(५) आकाश, अर्थात् सतत ईथर,

(६) काल, अर्थात् क्षणों का क्रम,

(७) दिक्, अर्थात् वह तत्त्व जो वस्तुओं को देश में धारण करता है,

(८) मन, तथा

(९) आत्मा।

कणाद के इन नौ यथार्थों के विचित्र विपर्यास में कपिल के दो अन्तिम तत्त्व (सत्ताएँ) खड़े हैं, अर्थात् प्रकृति, जो प्रकृति के उपादान और बलों का मूल है, तथा पुरुष, जो चेतना अथवा जीवन का तत्त्व है। इनके सम्बन्ध में कपिल की प्रणाली एक सीमा तक उस प्रणाली से मिलती-जुलती है जिसे योग कहा जाता है, और जो भी विश्व को दो द्रव्यों — आकाश और प्राण (जीवन) — में समेट देती है। किन्तु इनमें से कोई भी दार्शनिक सम्प्रदाय उस अद्वैतवादी एकता तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करता जो वेदान्त की मूल स्वर-लहरी है, और जिसे हिन्दू तत्त्वमीमांसा का चूड़ामणि कहा जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-मन का एक विशेष प्रकार केवल यह जान लेने से सन्तुष्ट नहीं होता कि जगत् में कितने प्रकार के अणु, अथवा द्रव्य और बल हैं; वह समस्त विविधता को एकता में समेट देना चाहता है, ताकि अपनी अद्वैतवादी आकांक्षा को तृप्त कर सके। किन्तु जब बुद्धि विशुद्ध भौतिक मार्गों पर लगाई जाती है, तब यह कहा जा सकता है कि वह कणाद के नौ यथार्थों में तथा सांख्य सम्प्रदाय के पुरुष और प्रकृति में उनके आगे के तत्त्वमीमांसीय संक्षेपण में अपनी सीमा पर पहुँच जाती है। बुद्धि अब तक पदार्थ और रूप के बाह्य जगत् की ओर ही देखती रही है, और इसलिए वह द्रष्टा और दृश्य के द्वैत से आगे बढ़कर अद्वैत तक नहीं पहुँच सकती। वैशेषिक, सांख्य और योग दर्शनों के प्रवर्तक क्रमशः कणाद, कपिल और पतंजलि ने विश्व को इसी प्रकार से ही निरूपित किया है।

किन्तु अद्वैतवादी का कथन है कि जो दार्शनिक अद्वैत तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करता, उसे अपना पक्ष-पत्र छोड़ बैठा ही मानना चाहिए। सर ऑलिवर लॉज (Sir Oliver Lodge) का विचार है:—

> **"सत्य यह है कि समस्त दर्शन का लक्ष्य अद्वैतवादी होना है; उसे एकीकरण का लक्ष्य रखना ही पड़ता है, वह चाहे कितना ही दुष्प्राप्य क्यों न हो; और जो दार्शनिक इस खोज को त्याग दे और एक स्थायी विरोधाभास से — दो अथवा अधिक असंगत तथा सर्वथा भिन्न और असम्बद्ध शक्तियों से संयुक्त विश्व से — सन्तुष्ट हो जाए, उसे दार्शनिक के रूप में अपना पक्ष-पत्र छोड़ बैठा और एक प्रकार के स्थायी मैनिकीवाद (Manichaeism) की शरण लेता हुआ माना जाएगा, जिसे अनुभव ने अटिकाऊ और अन्ततः अचिन्त्य सिद्ध कर दिया है।" —(लाइफ़ ऐंड मैटर — Life and Matter)।**

उपर्युक्त तर्क की दिशा के अनुरूप, अद्वैतवादी का कथन है कि एकता तब प्राप्त की जा सकती है जब बुद्धि को आत्म-स्पष्टीकरण के उद्देश्य से स्वयं अपनी ओर मोड़ दिया जाए। वेदान्त नाम से विख्यात विचार-सम्प्रदाय बुद्धि के अपने ही स्वरूप में इस अन्तर्मुखी अभियान का अनुगमन करता है। अतएव अब हम वेदान्त के दृष्टिकोण से जगत् के स्वरूप का अन्वेषण करेंगे।

वेदान्त अपना अभियान इन्द्रियों की विश्वसनीयता को चुनौती देकर आरम्भ करता है — इन्द्रियाँ, जिनके व्यापार की परिस्थितियों में तनिक-सा फेरफार ही मिथ्या प्रतीतियाँ उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है; रस्सी प्रायः साँप समझ ली जाती है, वृक्ष का ठूँठ मनुष्य, और छाया प्रेत। अतएव वेदान्ती परिघटनात्मक 'बाह्य' के इन धोखेबाज़ दूतों पर तनिक भी भरोसा करने से इनकार कर देता है।

वेदान्त जो अगला प्रश्न उठाता है वह जगत् के स्वरूप से सम्बन्धित है, जो, यह इंगित किया जाता है, इन्द्रियों पर इतना नितान्त आश्रित है कि उनसे स्वतंत्र रूप में उसका अस्तित्व है, यह कहा ही नहीं जा सकता। वस्तुएँ वैसी ही हैं जैसी वे प्रत्यक्ष की जाती हैं, अथवा प्रत्यक्ष की गई वस्तुओं से अनुमित होती हैं। किन्तु विस्तार, वर्ण आदि के अतिरिक्त प्रत्यक्ष होता ही क्या है, और ये तो केवल इन्द्रिय-विकार ही हैं? प्रत्यक्ष और अनुमान, इसके अतिरिक्त, इन्द्रियों और मन की अवस्था पर निर्भर हैं; जैसे कामला-रोग-ग्रस्त नेत्र वाला मनुष्य समस्त वस्तुओं को पीली देखता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की सामग्री संवेदन है और केवल संवेदन। वस्तुएँ स्वयं अपने आप में क्या हैं, यह ज्ञात नहीं; केवल संवेदन ही अनुभव किए और भोगे जाते हैं, और यही संवेदन हमारे प्रत्यक्ष की कच्ची सामग्री हैं। अतः प्रत्यक्ष, और इसी कारण विश्व की सत्ता, इन्द्रियों के व्यापार पर निर्भर है — दूसरे शब्दों में, चेतना की अवस्थाओं पर। बर्कले (Berkeley) का कथन है:—

> "यह कि न हमारे विचार, न आवेग, न कल्पना द्वारा रचित प्रत्यय मन के बाहर विद्यमान हैं, इसे प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करेगा। और यह भी उतना ही स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्रिय पर अंकित विविध संवेदन अथवा प्रत्यय, वे चाहे जिस प्रकार मिश्रित अथवा संयुक्त हों (अर्थात् वे चाहे जिन विषयों की रचना करते हों), उन्हें प्रत्यक्ष करने वाले मन के अतिरिक्त अन्यत्र विद्यमान नहीं हो सकते। मेरा विचार है कि इसका सहजानुभूत ज्ञान कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, यदि वह इस पर ध्यान दे कि 'विद्यमान होना' पद का, इन्द्रियगोचर वस्तुओं पर प्रयुक्त होने पर, अर्थ क्या है। जिस मेज़ पर मैं लिख रहा हूँ, उसके विषय में मैं कहता हूँ कि वह विद्यमान है, अर्थात् मैं उसे देखता और स्पर्श करता हूँ; और यदि मैं अपने अध्ययन-कक्ष से बाहर होता, तब भी मैं कहता कि वह विद्यमान थी, और इससे मेरा तात्पर्य यह होता कि यदि मैं अपने कक्ष में होता तो मैं उसका प्रत्यक्ष कर सकता, अथवा यह कि कोई अन्य चेतन उसका प्रत्यक्ष वस्तुतः कर रहा है। कोई गन्ध थी, अर्थात् वह सूँघी गई; कोई शब्द था, अर्थात् वह सुना गया; कोई वर्ण अथवा आकृति थी, और वह दृष्टि अथवा स्पर्श से प्रत्यक्ष की गई। इन और इन जैसी अभिव्यक्तियों से मैं इससे अधिक कुछ नहीं समझ सकता। क्योंकि जहाँ तक अचेतन वस्तुओं की, उनके प्रत्यक्ष किए जाने से किसी भी सम्बन्ध के बिना, निरपेक्ष सत्ता की बात कही जाती है, वह तो सर्वथा अबोधगम्य प्रतीत होती है। उनका 'एस्से' (esse) 'पर्सिपि' (percipi) है, और यह

> **सम्भव भी नहीं कि उनका उन मनों अथवा चेतन वस्तुओं के बाहर कोई अस्तित्व हो जो उनका प्रत्यक्ष करती हैं। यह सचमुच एक विचित्र रूप से मनुष्यों में प्रचलित मत है कि घर, पर्वत, नदियाँ, और एक शब्द में समस्त इन्द्रियगोचर विषय, बुद्धि द्वारा प्रत्यक्ष किए जाने से भिन्न कोई प्राकृतिक अथवा वास्तविक अस्तित्व रखते हैं। किन्तु यह सिद्धान्त संसार में कितने ही बड़े आश्वासन और स्वीकार के साथ क्यों न माना जाता रहा हो, फिर भी जो कोई इसे प्रश्नास्पद बनाने का साहस अपने हृदय में पाएगा, वह, यदि मैं भूलता नहीं, यह देख लेगा कि इसमें एक प्रकट विरोधाभास निहित है। क्योंकि पूर्वोक्त विषय उन वस्तुओं के अतिरिक्त और हैं ही क्या जिन्हें हम इन्द्रिय से प्रत्यक्ष करते हैं, और हम अपने ही प्रत्ययों अथवा संवेदनों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष करते ही क्या हैं; और क्या यह स्पष्टतः विरुद्ध नहीं कि इनमें से कोई एक, अथवा इनका कोई भी संयोग, अप्रत्यक्षित रूप में विद्यमान हो?"**

यदि हम इस मत की भलीभाँति परीक्षा करें तो सम्भवतः यह पाया जाएगा कि मूल में वह अमूर्त विचारों (abstract ideas) के सिद्धान्त पर ही अवलम्बित है। क्योंकि इससे सूक्ष्मतर अमूर्तीकरण का प्रयास और क्या हो सकता है कि इन्द्रियगोचर विषयों के अस्तित्व को उनके प्रत्यक्ष होने से पृथक् किया जाए, और उन्हें अप्रत्यक्ष रहते हुए भी विद्यमान माना जाए? प्रकाश और वर्ण, ऊष्मा और शीत, विस्तार और आकृति — संक्षेप में, वे सब वस्तुएँ जिन्हें हम देखते और अनुभव करते हैं — इनके अतिरिक्त और क्या हैं, सिवा इसके कि वे इतनी सारी संवेदनाएँ, धारणाएँ, विचार अथवा इन्द्रियों पर पड़े हुए संस्कार हैं; और क्या इनमें से किसी को भी प्रत्यक्ष से पृथक् करना, विचार में भी, सम्भव है? जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं किसी वस्तु को उसी से पृथक् कर देना उतना ही सरल पाऊँगा। किन्तु मेरी कल्पना अथवा विचार की शक्ति वास्तविक अस्तित्व अथवा प्रत्यक्ष की सम्भावना से आगे नहीं जाती। अतः, जिस प्रकार मेरे लिए यह असम्भव है कि मैं किसी वस्तु की वास्तविक संवेदना के बिना उसे देखूँ या अनुभव करूँ, उसी प्रकार यह भी असम्भव है कि मैं अपने विचारों में किसी इन्द्रियगोचर वस्तु या विषय की उसके प्रत्यक्ष अथवा संवेदना से भिन्न कल्पना कर सकूँ।" ('प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज' — Principles of Human Knowledge)

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियगोचर जगत् का प्रत्यक्ष, और इसलिए उसका ज्ञान, इन्द्रियों के व्यापार पर निर्भर करता है; दूसरे शब्दों में, चेतना की अवस्थाओं पर। किन्तु न प्रत्यक्ष सम्भव है, न अनुमान, बिना किसी ज्ञाता मन अथवा आत्मा के — जिसे बर्कले (Berkeley) 'स्पिरिट' कहते हैं। अतः जो कुछ विद्यमान है, वह केवल किसी ज्ञाता विषयी के सम्बन्ध में ही विद्यमान रह सकता है। किन्तु जिसका अस्तित्व ही इस बात पर आश्रित हो कि कोई दूसरा उसे प्रत्यक्ष करे, उसे सच्चा यथार्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह स्वाश्रित नहीं है। इसलिए यह जगत् स्वप्न के समान है, जो केवल प्रत्यक्ष में ही

विद्यमान रहता है। इससे यह भी निष्पन्न होता है कि सच्चा यथार्थ, जो अपने अस्तित्व के प्रमाण के लिए किसी अन्य की सत्ता पर निर्भर नहीं करता, और जो अन्य समस्त वस्तुओं के ज्ञान की पूर्ववर्ती शर्त है, वह प्रत्यक्ष करने वाली शक्ति अथवा चेतना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वेदान्त, इसीलिए, विश्व को नाम और रूप का एक पुंज, अथवा माया, अर्थात् एक काल्पनिक प्रदर्शन कहकर वर्णित करता है। इस दृष्टि से पदार्थ इस काल्पनिक जगत् की केवल काल्पनिक सामग्री है, और किसी प्रत्यक्ष करने वाले प्राणी या प्राणियों के मन के सम्बन्ध में ही विद्यमान रहता है। इस अर्थ में हम उसे मन की अन्तर्वस्तु कह सकते हैं।

आगे, चूँकि जो भ्रान्ति है वह केवल किसी मन के सम्बन्ध में ही विद्यमान रह सकता है, इससे यह भी निष्पन्न होता है कि चेतना अथवा मन को पदार्थ से स्वतन्त्र रूप से विद्यमान होना चाहिए; क्योंकि यह कहना विचित्र तर्क होगा कि मन उस द्रव्य की उपज है जो स्वयं अपने प्रत्यक्ष के लिए मन पर ही निर्भर है। वेदान्त ठीक यही सिखाता है। उसके अनुसार, एक सार्वभौम चेतना, अथवा ईश्वर, जिसे वह ब्रह्म कहता है, ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है और शेष सब भ्रान्ति है।

रही यह आपत्ति कि प्रकृति के नियमों की कठोर अनिवार्यता और एकरूपता के लिए पदार्थ की यथार्थता अपरिहार्य है, तो उसका उत्तर सहज ही है; क्योंकि प्रायोगिक विज्ञान के लिए इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि विश्व वास्तविक है अथवा काल्पनिक, क्योंकि प्रकृति के नियम विश्व के स्वरूप के सम्बन्ध में हमारे विचारों पर निर्भर नहीं करते — कि वह वास्तविक है या काल्पनिक — अपितु जो कुछ विद्यमान है उसके गुणधर्मों पर निर्भर करते हैं।

भाववाद के दृष्टिकोण से, प्रकृति के नियमों की जो व्याख्या कान्ट (Kant) ने दी है, वह अब सामान्यतः सत्य मानी जाती है। वे बतलाते हैं:—

> **"यदि अनुभव को हमें ऐसे नियम सिखाने हैं जिनके अधीन वस्तुओं का अस्तित्व है, तो ये नियम, यदि वे वस्तुओं के स्वरूप से सम्बन्ध रखते हों, तो अनिवार्यतः उनके अपने होने चाहिए, हमारे अनुभव के बाहर भी। किन्तु अनुभव हमें यह सिखाता है कि क्या विद्यमान है और वह किस प्रकार विद्यमान है, यह कभी नहीं सिखाता कि उसे अनिवार्यतः वैसा ही होना चाहिए और अन्यथा नहीं। इसलिए अनुभव हमें वस्तुओं के अपने-आप में स्वरूप का ज्ञान कभी नहीं करा सकता।" — डॉ॰ पॉल कैरस (Dr. Paul Carus) द्वारा 'कान्ट्स प्रोलेगोमेना' (Kant's Prolegomena), पृ॰ ५०-५१।**

किन्तु यद्यपि यह सत्य है कि अनुभव हमें यह कभी नहीं सिखाता कि वस्तुएँ जैसी हैं वैसी ही क्यों हैं और अन्यथा क्यों नहीं, तथापि बुद्धि अपने अनुभवों को कतिपय सुनिश्चित नियमों अथवा विधानों से शासित पाती है। इससे यह निष्पन्न होता है कि विचार अनुभव की न्यूनताओं की पूर्ति कर देता है, और इसलिए यह मानना ही होगा कि वह स्वयं नियमों की संहिता से सम्पन्न है। इस अर्थ में बुद्धि के नियमों को प्राक्-प्रदत्त (à priori) कहना ही होगा। किन्तु, चूँकि वस्तुओं का हमारा अनुभव उन्हीं वस्तुओं के सम्पर्क से उत्पन्न होता है, और चूँकि ये अनुभव सभी अवस्थाओं में और बिना किसी अपवाद के बुद्धि के नियमों से मेल खाते हैं, इससे यह निष्पन्न होता है कि प्रकृति की वस्तुएँ भी उन्हीं नियमों के, अथवा उनसे संगत नियमों के समुच्चय के, अधीन हैं। अतः यह असम्भव है कि प्रकृति के नियमों की वैधता कभी क्षीण हो।

इस समस्त विवेचन से जो न्यायसंगत निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि प्रकृति के नियम उन्हीं द्रव्यों के स्वभाव से निर्धारित होते हैं, और उन्हीं से उनकी वैधता तथा एकरूपता सुनिश्चित और सुरक्षित होती है — जिन द्रव्यों में मन और पदार्थ दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। जीवन के व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए हमें इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि पदार्थ वास्तविक है या काल्पनिक; जब तक हमारी चेतना विश्व के सम्पर्क में बनी रहती है, तब तक उसका काल्पनिक परिवेश — यदि उसे काल्पनिक मान भी लिया जाए — हमारे लिए उतनी ही व्यावहारिक अनिवार्यता और वैधता रखेगा जितनी वह तब रखता जब पदार्थ वास्तविक अस्तित्व से सम्पन्न होता।

इस सम्बन्ध में जो अगला महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है वह यह है: वास्तविक ज्ञाता कौन है? सामान्य जन कहता है कि मैं, अमुक व्यक्ति — मान लीजिए, जॉन स्मिथ (John Smith) — ज्ञाता हूँ। क्या वस्तुतः ऐसा ही है? क्या श्रीमान् जॉन स्मिथ स्वयं अपने बल पर कुछ जानते हैं? अथवा वे केवल उतना ही जानते हैं जितना उनके भीतर बैठे बुद्धि के उस छोटे-से न्यायाधीश पर प्रतिबिम्बित होता है? अब, यदि श्रीमान् स्मिथ स्वयं अपने अधिकार से ज्ञाता होते, तो वे वस्तुओं के 'विस्मरणकर्ता' न होते। जानने और भूलने के ये दो व्यापार परस्पर भली भाँति नहीं निभते। फिर भी यह तथ्य कि जॉन स्मिथ कभी-कभी अपनी स्मृति को कुरेदकर कुछ आपाततः विस्मृत घटनाओं को स्मरण कर लेते हैं, यह दर्शाता है कि ज्ञान वहाँ ज्यों का त्यों विद्यमान है, चाहे वह किसी विशेष क्षण में उन तक पहुँच में हो अथवा न हो। नवीन मनोविज्ञान (New Psychology) के साहित्य में ऐसी अनेक घटनाओं के विवरण मिलते हैं जिन्हें स्वयं उन व्यक्तियों ने नहीं देखा था, फिर भी जो उनके मनों के भीतर ज्यों की त्यों विद्यमान थीं। उस महिला का उदाहरण, जिसकी कुंजी गिर गई थी और जिसने सम्मोहन के प्रभाव में उसका ठौर-ठिकाना स्मरण कर लिया, इसी प्रकार का दृष्टान्त है। यदि उसने उसे गिरते हुए देखा होता, तो स्वभावतः वह उसे खोने न देती। तब इस दृष्टान्त में यह किसने जाना कि कुंजी खो गई है, किसने उसे गिरते देखा, और किसने स्मरण

रखा कि वह कहाँ गिरी थी? स्पष्ट है, वह महिला नहीं, अपितु कोई और। श्रीमान् स्मिथ को ऐसे अनेक दृष्टान्त अभिलिखित मिलेंगे, यदि वे इस विषय में स्वयं को सन्तुष्ट करना चाहें। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन समस्त दृष्टान्तों में हमारे मित्र श्रीमान् जॉन स्मिथ अपनी भूमि पर टिक नहीं पाते; वस्तुतः, जैसा कि हमारे प्रथम तर्क से स्पष्ट है, वे ज्ञाता नहीं, अपितु 'विस्मरणकर्ता' हैं! वेदान्त, इसीलिए, यह प्रतिपादित करता है कि ज्ञाता देह नहीं है, अपितु भीतर का यथार्थ है। यह अन्तर्वर्ती यथार्थ, जो शुद्ध चेतना है, वेदान्तियों के मत में सत्-चित्-आनन्द है, अर्थात् सत्ता, चेतना और आनन्द, जो ईश्वर के गुण हैं। वेदान्त चेतना को अनन्त और सर्वज्ञ भी मानता है, इसलिए वह जहाँ कहीं भी उपस्थित हो, वहाँ अपनी समग्र पूर्णता में और अखण्ड रूप में ही उपस्थित होनी चाहिए।

अतः यह निष्पन्न होता है कि वेदान्त के दृष्टिकोण से समस्त प्राणियों की वास्तविक आत्मा ईश्वर से सर्वथा अभिन्न है, और किसी भी प्रकार उससे भिन्न नहीं। इसीलिए वेदान्त अपने अनुयायी से यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं करता — "तत् त्वम् असि" (वह तू ही है)।

हमें आगे यह भी बताया जाता है कि प्रत्येक प्राणी का अमर अंश स्वयं चेतना ही है, क्योंकि जो अपरिवर्तनशील है और काल से परे है, और जिस पर अन्य समस्त वस्तुओं का प्रत्यक्ष और ज्ञान निर्भर करता है, वह अनिवार्यतः जन्म और मृत्यु से ऊपर है — और ये दोनों ही दोनों ओर से काल से सीमित हैं। अतः केवल वही अमरत्व को प्राप्त होता है जो अपने को अपने अन्तर्वर्ती यथार्थ के साथ एकरूप कर लेता है।

जहाँ तक इस प्रश्न के धार्मिक पक्ष का सम्बन्ध है, जिस जगत् को हम इन्द्रियों के साधन से प्रत्यक्ष करते हैं, उसका विद्यमान यथार्थों में गौण महत्त्व ही है, क्योंकि वह इन्द्रिय-अंगों के व्यापार पर आश्रित है; वह तो जीवन्त यथार्थ, अर्थात् चेतना ही है, जो हमारे आकलन में अग्रगण्य स्थान की अधिकारिणी है। जो लोग वस्तुओं के रूपों पर अपनी श्रद्धा टिकाते हैं, वे उनसे कुछ ही अच्छे हैं जो स्वप्न में देखे गए विषयों पर मुग्ध हो जाते हैं और अन्त में दुःख पाते हैं। इसलिए पूजा और आराधना का सच्चा विषय, एकमात्र वही जो आत्मा के लिए उस शान्ति, उस सुख और उस अमरत्व को सुनिश्चित कर सकता है जिसके लिए वह लालायित है, वह अन्तर्वर्ती दिव्यता, सच्चिदानन्द, स्वयं आत्मा ही है। वही है जिसका साक्षात्कार करके उस व्यथा से छुटकारा पाया जा सकता है जो अज्ञानी आत्मा का भाग है।

भौतिक विश्व, ज्ञान के लिए मन पर आश्रित होने के कारण, यथार्थवाद की शब्दावली में, एक विराट् विचार के समान है जिसके भीतर असंख्य छोटे विचार, जिन्हें शरीर कहा जाता है, समाए हुए हैं। जैसा कि बर्कले कहते हैं: 'शरीर विचारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं; उनका सार उनके प्रत्यक्ष में है।' वेदान्ती इसी

अर्थ में अस्तित्व के रहस्य को समझता है। उसके लिए यह समस्त प्रपंच भ्रान्ति है, और एकमात्र यथार्थ वह एक चेतन सत्ता, उसका अपना आत्मा है, जिसे वह ब्रह्म कहता है और "नेति नेति" — अर्थात् 'न यह, न यह' — इन शब्दों से परिभाषित करता है। इस सर्वथा निषेधात्मक परिभाषा के मूल में यह विचार है कि ब्रह्म शब्दों से इतना अगम्य है कि उसकी परिभाषा केवल उन सब वस्तुओं के निषेध द्वारा ही सम्भव है जो भाषा द्वारा परिभाष्य हैं।

यह एक सत्ता समस्त भूमिकाओं पर बनी रहती है और उसका निषेध अथवा उपेक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि जो चेतना का निषेध करेगा उसे स्वयं चेतन होना पड़ेगा। वही द्रष्टा है, स्वयं प्रत्यक्ष है, और मृत्यु अथवा विनाश के अधीन नहीं। उसी को जानना है; जो उस 'द्रष्टा' को नहीं जानता, वह कुछ भी ऐसा नहीं जानता जो जानने योग्य हो। और, इसके विपरीत, जिसने इस यथार्थ को जान लिया है वह सांसारिक वस्तुओं, शास्त्रों और विज्ञानों के समस्त ज्ञान के विषय में भली भाँति कह सकता है कि वे न केवल अनावश्यक हैं, अपितु भार हैं। उसे ज्ञान की क्या आवश्यकता जिसने यथार्थ को जान लिया है — केवल सापेक्ष यथार्थ को नहीं, अपितु उस वास्तविक परम यथार्थ को जो अमर और शाश्वत है। जैसा कि भगवद्गीता कहती है, विद्वान् ब्राह्मण के लिए समस्त वेदों का उतना ही प्रयोजन है जितना सब ओर से जल से आप्लावित स्थान में किसी कूप का। वेदान्त हमें बताता है कि यह यथार्थ दूर खोजने की वस्तु नहीं है; वह तो भीतर का पुरुष, आत्मा है, जिसकी प्रत्येक रूप में उपस्थिति ही जीवन और मानसिक व्यापार का कारण है।

ऊपर जो कहा गया है उससे यह निष्पन्न होता है कि अद्वैत वेदान्त के दार्शनिकों के अनुसार समस्त विश्व में एकमात्र जीवन्त और अपरिवर्तनशील सत्ता शुद्ध चेतना ही है। गुण अथवा सार के रूप में कल्पित होने पर वह किन्हीं भी परिस्थितियों में कभी नहीं बदलती, चाहे वह अनुभवगम्य अस्तित्व की जाग्रत्, स्वप्न अथवा सुषुप्ति — किसी भी भूमिका पर क्रियाशील हो। यही एक शाश्वत सत्ता, वेदान्त हमें सिखाता है, हमारे भीतर की चेतना भी है। अतः हम सब ईश्वर हैं। इसी सरल आधारशिला पर "तत् त्वम् असि" की वेदान्तिक धारणा खड़ी की गई है।

रही विद्यमान आत्माओं की संख्या की बात, तो वेदान्त उस विषय में भी कठोरतापूर्वक अद्वैतवादी है, और यह प्रतिपादित करता है कि सत्ता में केवल एक ही आत्मा है और हो सकती है। कहा जाता है कि चूँकि समस्त आत्माओं में चेतना समान रूप से विद्यमान है, इससे यह निष्पन्न होता है कि चेतना ही एकमात्र वास्तविक आत्मा है। जगत् और स्वप्न के बीच कतिपय साम्य-लक्षणों की ओर संकेत करते हुए — जो वेदान्त की सर्वाधिक प्रिय तर्क-प्रणाली है — वेदान्ती पूछते हैं: क्या हम अपने स्वप्न-प्राणियों

को आत्माएँ कह सकते हैं? यदि नहीं, तो इस स्वप्न-सदृश भ्रान्ति में, जिसे हम अपना वास्तविक भौतिक जगत् कहकर प्रसन्न होते हैं, आत्माओं की बहुलता के लिए स्थान कहाँ है? यदि हम स्वप्न के प्रेतों को आत्मा कहने से इनकार करते हैं, तो इस जगत् के स्त्री-पुरुषों को उस नाम से पुकारने का हमें कौन-सा अधिकार है? स्वप्न के टूटते ही स्वप्न-रंगमंच के अभिनेता और अभिनेत्रियाँ वायु में विलीन हो जाते हैं, भवन, उपवन, नगर — नहीं, समूचे लोक तक — शून्य में ढह जाते हैं, और समस्त दृश्यावली किसी पत्र की भाँति लपेट दी जाती है, और पीछे आत्माओं की बहुलता नहीं, केवल स्वप्नद्रष्टा का एक अखण्ड आत्मा शेष रह जाता है। इसी प्रकार, वेदान्ती तर्क करता है, हमारी जाग्रत् चेतना के इस जगत् में भी केवल एक ही आत्मा है और हो सकता है। चेतना पर अनन्तता के देशगत प्रकार का आरोप करते हुए वह पूछता है: जब ईश्वर एक ही है, और विश्व के भीतर तथा बाहर सर्वत्र है, तो किसी दूसरे के प्रवेश के लिए स्थान कहाँ है? विवेकानन्द (Vivekananda) इसी अर्थ में यह प्रतिपादित करते हैं:—

> **"विश्व में एक ही आत्मा है, दो नहीं। वह न आता है, न जाता है। वह न पुनर्जन्म लेता है, न मरता है, न पुनः जन्मता है। वह ऐसा कर भी कैसे सकता है? मरे कैसे? जाए कहाँ? मैं कहाँ पहले से ही नहीं हूँ?" (स्वामी विवेकानन्द, आत्मा के विषय में।)**

यह तर्क कि चूँकि विभिन्न मनों की अन्तर्वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए प्रत्येक मन स्वयं में एक पृथक् सत्ता अथवा आत्मा है, वेदान्त को इस आधार पर स्वीकार्य नहीं कि वे केवल अपनी अन्तर्वस्तुओं की दृष्टि से भिन्न हैं, अपने स्वभाव अथवा सार की दृष्टि से नहीं — जिससे यह प्रकट होता है कि चेतना समस्त मनों में समान है, और इसी कारण एक ही तथा सर्वव्यापी है। वेदान्त कहता है कि स्वप्न में भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि व्यक्तिगत मनों की अन्तर्वस्तुएँ एक-दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी जागने पर हम पाते हैं कि मनों और अन्तर्वस्तुओं की वह विविधता सर्वथा शुद्ध भ्रान्ति थी, और यह कि स्वप्नद्रष्टा का मन ही अकेला स्वप्न के उन समस्त असंख्य मनों के लिए चेतना का आगार था।

ऐसा ही है उस तर्क का स्वरूप जिसे वेदान्त अपने दर्शन के समर्थन में प्रस्तुत करता है। वेदान्त में आत्मा से जो अभिप्रेत है वह चेतना की कोई स्वयंसिद्ध इकाई नहीं, अपितु एक अत्यन्त सूक्ष्म और चिरस्थायी शरीर है — सूक्ष्म शरीर — जो पुनर्जन्म का वाहन है। किन्तु आत्म-चेतना को इस अत्यन्त सूक्ष्म शरीर का भी गुण नहीं माना जाता, अपितु कहा जाता है कि वह वह आभा है जिसे वह चेतना के सार से उधार लेता है।

इस प्रकार वेदान्त अपने अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की ओर बढ़ता है। सर्वप्रथम वह द्रष्टा और दृश्य के द्वैत का उन्मूलन करता है, प्रत्यक्षगोचर परिघटनाओं को शुद्ध और सरल भ्रान्ति में घटाकर; और फिर आत्माओं की बहुलता को हटा देता है, और प्रत्यक्ष करने वाली शक्ति को एक अकेली इकाई के रूप में शेष छोड़ देता है — सर्वव्यापी, शाश्वत और अपरिवर्तनशील। यही उस सुविख्यात उक्ति में संगृहीत है — 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' — जिसका अर्थ है कि ब्रह्म एक है और दूसरा कोई नहीं।

ब्रह्म की अपरिवर्तनीयता को चेतना के स्वभाव पर अवलम्बित किया जाता है, जिसे आत्माओं का साधारण गुण, अर्थात् एक अमूर्त गुण, मानकर कल्पित किया गया है; क्योंकि इस रूप में यह अकल्पनीय है कि चेतना कभी स्वयं होना बन्द कर दे, अथवा किसी ऐसी वस्तु में रूपान्तरित हो जाए जो वह नहीं है। अतः वेदान्त यह दुहराते नहीं थकता कि वह अभिव्यक्ति की समस्त भूमिकाओं पर अक्षुण्ण बनी रहती है, अर्थात् अस्तित्व की उन तीन अवस्थाओं पर जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के नाम से ज्ञात हैं, जिनमें परवर्ती लेखकों ने एक चौथी और जोड़ दी है, अर्थात् तुरीय (अतिचेतना)।

ऐसा है अद्वैत वेदान्त का सिद्धान्त, जो किसी न किसी रूप में, और कुछ आवश्यक यद्यपि गौण भेदों के साथ, उन समस्त भाववादी प्रणालियों की तह में विद्यमान पाया जाएगा जिनका लक्ष्य एकीकरण है।

मुस्लिम भाववाद का 'हमा ऊस्त' (hamâ ust — 'सब वही है') सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त की लगभग प्रतिलिपि ही है; उसका भी लक्ष्य वस्तुओं का ईश्वर की एकता में एकीकरण करना है।

किन्तु दर्शन के इस कथित उच्च लक्ष्य के दुर्भाग्य से, अद्वैतवाद केवल सामान्य बुद्धि का गला घोंटकर ही सम्भव है, क्योंकि वह ठोस तथ्यों के विरुद्ध है।

यदि हम इस विषय में किसी पूर्वनिर्मित धारणा से अन्धे न हों, तो हम यह देखने में नहीं चूकेंगे कि यह सिद्धान्त कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है और शेष सब भ्रान्ति अथवा माया — वेदान्त दर्शन के पारिभाषिक शब्द का प्रयोग करें तो — आरम्भ से ही स्वतःविरोधी है; क्योंकि प्रारम्भ में ही हमें ब्रह्म और माया का द्वैत दे दिया गया है। यह पूछना उचित है कि यह माया कोई ऐसी वस्तु है जो वस्तुतः विद्यमान है, अथवा नहीं? इसके अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प सम्भव नहीं, क्योंकि कोई वस्तु एक ही समय में वस्तुतः विद्यमान भी हो और न भी हो, यह नहीं हो सकता। अब, यदि हम कहें कि वह अस्तित्व की एक वास्तविकता है, तो हमारी अद्वैत-आकांक्षा का वहीं अन्त हो जाता है; किन्तु यदि इसके विपरीत यह कहा जाए कि वह

अस्तित्व से सम्पन्न नहीं है, तो यह असम्भव है कि जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं, वह कभी प्रत्यक्ष हो सके। यही वह धर्मसंकट है जिससे वेदान्त कभी अपने को निकाल नहीं पाया — केवल अपने ही सन्तोष के लिए भले निकाल लेता हो।

इसी प्रकार, 'हमा ऊस्त' का सिद्‌धान्त भी सत्य के मार्ग में ठोकर का पत्थर है, और उसने उतनी ही बड़ी हानि की है जितनी शुद्‌ध और सरल भौतिकवाद के सिद्‌धान्तों ने। जब केवल 'वही' अस्तित्व में हो, तो यह अनिवार्य है कि जगत् को एक साधारण स्वप्न में घटा दिया जाए, जिसमें वही स्वप्नद्रष्टा हो और अन्य समस्त प्राणी कल्पना के प्रेत। तदनुसार, आत्मा यथार्थ नहीं, अपितु यथार्थ का प्रतिबिम्ब है, और परम श्रेय या तो प्रतिबिम्ब का विनाश है, अथवा 'उसी' में विलीन हो जाना — जिसमें भी व्यक्ति का उच्छेद निहित है। उस उच्छेद की धारणा से, जो उसके सम्मुख आँखें गड़ाए खड़ी है, आत्मा को किस प्रकार का सान्त्वन मिलेगा, इसकी कल्पना करना कठिन है; किन्तु यह विचित्र है कि इस प्रकार के भाववाद के प्रवर्तकों को यह कभी नहीं सूझा कि वस्तुएँ केवल इसलिए विद्यमान होना बन्द नहीं कर देतीं कि हम मानसिक रूप से उनके कुछ साधारण गुणों या धर्मों को अलग कर देते हैं।

> **'सब वही है' — यह सूत्र अपनी सरलता के कारण निश्चय ही मनोहर है, और यदि संक्षिप्तता ही वाग्वैदग्ध्य की आत्मा है, तो वह बाज़ी मार ले जाने का अधिकारी है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या संक्षिप्तता, जैसे वाग्वैदग्ध्य की आत्मा है, वैसे ही प्रज्ञा की भी आत्मा है? विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि उस 'सब' में केवल वही सम्मिलित नहीं जो जीवित और चेतन है, अपितु वह भी जो न जीवित है न चेतन। चाहे हम विश्व को मन और पदार्थ में घटाएँ, अथवा चेतना और उसकी अवस्थाओं में — भावनाएँ, इन्द्रिय-संवेदनाएँ और विचार — द्वैत से बचने का कोई उपाय नहीं, क्योंकि चेतना के विचार और अवस्थाएँ स्वयं चेतन नहीं हैं, और इसलिए चेतना से भिन्न हैं। इस द्वैत को किसी भी प्रकार से लाँघा नहीं जा सकता, जब तक कोई यह सिद्ध न कर दे — और हमें भय है कि यह कभी सिद्ध न हो सकेगा — कि चेतना के विचार और अवस्थाएँ भी बुद्धि, स्मृति तथा सुख-दुःख अनुभव करने की सामर्थ्य से सम्पन्न हैं। स्वप्नों की उपमा यहाँ सर्वथा अग्राह्य है, क्योंकि स्वप्न यद्यपि अनेक बातों में इस जगत् से मिलता-जुलता है, तथापि हर बात में ऐसा नहीं है। वह तो स्वप्नद्रष्टा के विचारों का केवल नाट्य-रूपान्तरण है, और वे विचार निरात्म और अचेतन हैं। इसका प्रमाण इस तथ्य में है कि स्वप्नद्रष्टा जागने पर जो कुछ उसने स्वयं अनुभव किया या सोचा उसे तो स्मरण रखता है, किन्तु उन दूसरों की भावनाओं और विचारों से वह सर्वथा अनभिज्ञ रहता है जिन्हें वह अपने स्वप्न में देखता है। यदि यह तथ्य होता कि स्वप्नद्रष्टा का मन ही अपने स्वप्न-प्रेतों के शरीरों में आत्मा बनकर बैठ जाता है, और उन्हें सत्ता के प्रमाण-स्वरूप मानसिक साज-सामान से सम्पन्न कर देता है, तो उनके अपने वैयक्तिक अनुभव चेतना में होते — अर्थात् भावनाएँ, संवेदनाएँ और इसी प्रकार की वस्तुएँ — जिनसे वह**

> **अनभिज्ञ रह ही नहीं सकता। किन्तु चूँकि ऐसा नहीं है, इसलिए यह स्पष्ट है कि इन प्रेतों की अपनी कोई वैयक्तिकता नहीं, और वे केवल वही भूमिका निभाते हैं जो स्वप्नद्रष्टा की बुद्धि ने विचार के नाटक में उन्हें सौंप दी है। अतः स्वप्न-प्राणी निरात्म* प्राणी हैं, और उनकी तुलना उन मनुष्यों से नहीं की जा सकती जिनके कानों में वेदान्त निःसंकोच दीक्षा का वह दिव्य और प्राणदायी सूत्र फूँकता है — "तत् त्वम् असि"।**

* स्वप्न के स्वभाव में ऐसा कुछ नहीं जो यथार्थ और जीवन सम्बन्धी हमारी धारणाओं को उलट दे। वह तो केवल चिन्तन की एक चित्रात्मक विधि है, और जाग्रत् अवस्था के विभ्रम से किसी महत्त्वपूर्ण बात में भिन्न नहीं। इस तथ्य में सन्देह का कोई अवकाश नहीं कि विचार की प्राथमिक विधि चित्रात्मक ही है, क्योंकि शब्द तो प्रतिमाओं का स्थान तभी लेते हैं जब हम भाषा से परिचित हो जाते हैं। जो जन्म से बधिर और मूक हैं, उनके लिए भी प्रतिमाओं के माध्यम से चिन्तन की विधि के अतिरिक्त कोई अन्य विधि उपलब्ध नहीं। यहाँ तक कि जो शब्द हम बोलते और सुनते हैं, वे भी प्रतिमाओं को जन्म देते हैं; किन्तु अभ्यास हमें उनका अर्थ अत्यन्त शीघ्रता से ग्रहण करने में समर्थ बना देता है, इसलिए जिन प्रतिमाओं को वे जगाना चाहते हैं वे अंकुर-अवस्था में ही रह जाती हैं और परिणामतः अप्रत्यक्ष रह जाती हैं। केवल तभी मानसिक प्रतिमाएँ दृश्य रूप धारण करती हैं जब किसी विशेष विचार अथवा विचार-शृंखला में हमारी भावनाएँ संलग्न होती हैं। उदाहरण के लिए, अपने शिकार के पतन पर प्रसन्न होता हुआ कोई अत्याचारी, विजय की भावना की तीव्रता के कारण, अपने अत्याचार के उस अभागे पात्र के आतंक, विषाद और असहायता को प्रायः प्रत्यक्ष ही कर लेता है। और जब हम अपने को किसी अत्यन्त सुखद अथवा पीड़ाजनक अनुभव के ब्योरों पर टिकने देते हैं, तो उस प्रसंग से सम्बद्ध व्यक्ति मानो हमारी आँखों के सामने ही खड़े दिखाई देने लगते हैं, और उन्हीं स्थितियों में जिनमें वे उस समय थे जब वह अनुभव वास्तविकता था। ऐसी परिस्थितियों में हम अपने परिवेश को भूल जाते हैं और अतीत के उस व्यक्तित्व से अपनी एकरूपता कर बैठते हैं, ठीक 'अरेबियन नाइट्स' (Arabian Nights) की उस कथा के नायक की भाँति व्यवहार करते हुए, जिसने कल्पना में ही अण्डों की एक टोकरी की आय से विशाल सम्पत्ति खड़ी कर ली, और उसी कल्पना में अपने राजा की परी-सी कन्या का वरण कर लिया, फिर उसके उच्च कुल के अभिमान को नीचा दिखाने के लिए जानबूझकर उस पर क्रुद्ध हो उठा और वस्तुतः 'उसे' एक लात जड़ दी, जिससे टोकरी खिड़की के बाहर जा उड़ी और उसका सुखी गृहस्थी का स्वप्नमहल आशाओं भरे अण्डों सहित चूर-चूर हो गया। हमारा स्वप्न-व्यक्तित्व ठीक इसी कथा के नायक के उस करोड़पति व्यक्तित्व के समान है, और उसमें उस स्मृति-प्रतिमा से अधिक वैयक्तिकता नहीं जो भावनाओं और आवेगों की तीव्रता से प्रत्यक्षगम्य रूप में साकार हो उठी हो।

इस आपत्ति का एक सम्भव उत्तर यह है कि हम इस जगत् के मनुष्यों की भावनाओं और विचारों से भी अनभिज्ञ रहते हैं; किन्तु यह तो प्रश्न को ही मान लेना है, क्योंकि इस जगत् के अन्य प्राणियों की चेतना-अवस्थाओं से हमारी यह अनभिज्ञता या तो इस तथ्य के कारण हो सकती है कि हमारे मन पृथक्-पृथक् हैं, अथवा इस कारण कि वे केवल हमारे ही विचार-रूप हैं। जहाँ तक स्वप्न-प्राणियों का प्रश्न है, हम निश्चयपूर्वक जानते हैं कि वे किसी स्वप्नद्रष्टा के विचार-रूप मात्र हैं; किन्तु जब तक दूसरे विकल्प की सम्भावना तार्किक रूप से निषिद्ध न कर दी जाए, तब तक इस जगत् के जीवित प्राणियों के विषय में वही कथन नहीं किया जा सकता। सामान्य अवस्थाओं में हमें दूसरे के विचारों को जानना अथवा प्रत्यक्ष करना प्राप्त नहीं है, इसलिए जिसे कोई प्रत्यक्ष करता है वह किसी अज्ञात अतिसामान्य सत्ता या प्राणी के — जो कहीं किसी उच्चतर भूमि पर सोया हुआ स्वप्न देख रहा हो — विचार या भाव नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त, प्रत्यक्ष, स्मृति और बुद्धि से केवल जीवित प्राणी ही सम्पन्न होते हैं, जिनका उपभोग किसी विचार-रूप ने कभी नहीं किया। अतः, यदि कोई किसी शाश्वत स्वप्नद्रष्टा का विचार-रूप मात्र है, तो यह कैसे हुआ कि वह चेतना के उन समस्त गुणों से सम्पन्न है जो प्राणी को कल्पना के प्रेत से पृथक् करते हैं?

जब तक भाववाद यह प्रतिज्ञा सिद्ध न कर दे कि कल्पना के प्रेत भी चेतना से सम्पन्न हैं, तब तक स्वप्नों की उपमा पर भरोसा करना व्यर्थ है। जो लोग यह मानते हैं कि आत्मा किसी चेतन यथार्थ का प्रतिबिम्ब मात्र है, वे यह भी नहीं समझा पाते कि वह चेतना से सम्पन्न कैसे हो गया। चूँकि कोई प्रतिबिम्बित प्रतिमा कभी चेतना, भावनाओं और इसी प्रकार के गुणों से युक्त नहीं पाई जाती, और चूँकि इस जगत् के समस्त जीवित प्राणी इन्हीं गुणों का उपभोग करते हैं, इसलिए यह प्रश्न उठता है कि मूल और उसके प्रतिबिम्बित परिणाम के बीच भेद का स्वरूप क्या है। यदि वह भेद केवल विकास अथवा अभिव्यक्ति की मात्रा का ही है, तो वह स्पष्टतः कोई भेद है ही नहीं, क्योंकि समस्त जीवित प्राणियों में ज्ञान के पूर्णतम उन्मीलन की सामर्थ्य है, जैसा कि आगे दिखाया जाएगा। किन्तु यदि वह भेद गुण का है, तो इसका कोई प्रमाण नहीं कि हमारी अपनी चेतना के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की चेतना का अस्तित्व है, और कठोर प्रमाण के बिना कोई बात सिद्ध नहीं मानी जा सकती। इसके अतिरिक्त, यदि प्रकार भिन्न होते, तो किसी प्रतिबिम्ब का 'वह' बन जाना — जो कि अभीष्ट लक्ष्य है — सम्भव ही न होता। अतः यह निष्पन्न होता है कि यह विचार कि आत्माएँ किसी एक अकेली सत्ता की प्रतिबिम्बित प्रतिमाएँ हैं, दर्शन में टिक नहीं सकता। हमें यहाँ इतना ही और जोड़ना है कि किसी भी विचार-प्रणाली को संगत माने जाने का अधिकार नहीं जो एक ही साँस में यह सिखाने का दावा करती है कि आत्मा प्रतिबिम्ब है, और फिर भी उसी के कान में "तत्

त्वम् असि” फुसफुसाती है। इसके अतिरिक्त, यदि विश्व किसी ऐसी सत्ता अथवा शक्ति का स्वप्न है जो अपरिवर्तनशील और अविकारी है, तो उसे शाश्वत होना चाहिए; और यदि वह शाश्वत है, तो उसकी तुलना किसी क्षणभंगुर और बीत जाने वाली वस्तु से करने की अनुमति बुद्धि नहीं देती।

इसके अतिरिक्त, यदि सत्ता में केवल एक ही आत्मा है, और वह शाश्वत, सर्वव्यापी तथा आनन्दमय है, तो व्यष्टि आत्मा की पीड़ा की अनुभूति और संसार के बन्धन से मुक्त होने की उत्कण्ठा का लेखा-जोखा किस प्रकार दिया जाए? निश्चय ही, जो मुक्ति और आनन्द के परम सौभाग्य का उपभोग कर रहा है, उसे किसी भी प्रकार उनके साथ अभिन्न नहीं माना जा सकता जो इस जगत् की पीड़ाएँ अथवा विश्व के किसी अन्य प्रदेश में नरक की यातनाएँ भोग रहे हैं।

और फिर भी, यदि वास्तविक आत्मा एक ही है, तो वे प्राणी जिनके अनुभव केवल दुःखमय हैं, या तो सर्वथा असत् ही होने चाहिए, अथवा वही एक आत्मा। किन्तु इनमें से दूसरी कल्पना न केवल निरीक्षण के किसी एक भी तथ्य से समर्थित नहीं होती, अपितु अनुभव द्वारा वस्तुतः खण्डित भी होती है; क्योंकि कोई भी एकाकी व्यक्ति न तो अपने को अनेक अनुभव कर सकता है, और न एक ही समय में संसार के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव भोग सकता है; और पहली कल्पना असंगति की ओर ले जाती है, क्योंकि जो सर्वथा अभाव-रूप है, वह भावना, स्मृति आदि से युक्त नहीं हो सकता, जिन्हें निरीक्षण और अन्तर्निरीक्षण निश्चय ही व्यक्तिगत आत्मा के गुण सिद्ध करते हैं। अतः यह कहना बुद्धि के प्रतिकूल है कि विश्व में केवल एक ही आत्मा विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त, यदि वेदान्त की यह कल्पना कि केवल एक ही सत्ता है, ठीक मान ली जाए, तो मोक्ष के विचार का अर्थ व्यक्ति के उच्छेद के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता; क्योंकि जो सदा मुक्त और आनन्दमय है, उसके लिए मोक्ष का कोई अर्थ नहीं—और जहाँ तक ब्रह्म का प्रश्न है, वह नित्य मुक्त और नित्य आनन्दमय ही वर्णित है—तथा जो व्यक्तिगत आत्मा उसे प्राप्त करने को लालायित है, वह तो भ्रम का एक पुंज मात्र है, जिसका विनाश होना है, जिससे अद्वैत वेदान्त द्वारा स्थापित वह एकमात्र सत्ता ब्रह्म, अपने दृष्टिगोचर समस्त का अकेला और निर्विवाद सम्राट् बना रहे। इस प्रकार व्यक्ति के लिए अद्वैतवाद का तार्किक परिणाम मुक्ति नहीं, अर्थात् अधिक पूर्ण और समृद्ध जीवन की उपलब्धि नहीं, अपितु उच्छेद ही है। वेदान्त के निरपेक्ष अद्वैतवाद की इसी विशेषता ने कतिपय यूरोपीय विद्वानों को उसे निराशावाद का एक रूप मानने की ओर प्रेरित किया है।

अन्ततः, प्रश्न के व्यावहारिक पक्ष से देखा जाए तो वेदान्त को एक व्यावहारिक धर्म सिद्ध हुआ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ब्रह्म को कभी मुक्ति की आवश्यकता ही नहीं रही, और व्यक्तिगत आत्माएँ, जो व्यक्तिनिष्ठ भ्रान्ति के शुद्ध मायिक रूप मात्र हैं, अपने स्वभाव से ही उसकी प्राप्ति से वंचित हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उसके उपदेश से कभी किसी का हित हुआ हो; और चूँकि कोई भी ऐसा धर्म, जिसके सिद्धान्त कभी व्यावहारिकता की कसौटी पर कसे ही न गए हों, ईश्वर-साक्षात्कार की व्यावहारिक प्रणाली नहीं माना जा सकता, इसलिए अद्वैतवाद को उन प्रणालियों के साथ गिने जाने का अधिकार नहीं जो व्यावहारिक सिद्ध हो चुकी हैं। अतः उसका प्रामाण्य केवल मनुष्यों के अनुमानों पर टिका है, और किसी ऐसे व्यक्ति की साक्षी से रंचमात्र भी समर्थित नहीं जिसके विषय में कहा जा सके कि उसे उसकी विद्या से लाभ हुआ।

चाहें तो अब हम जगत् को स्वप्न की उपमा भी दे सकते हैं, किन्तु परिणाम किसी भी प्रकार भिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि स्वप्न की समाप्ति का अर्थ स्वप्न-प्राणियों का उच्छेद ही है, उनकी मुक्ति नहीं। अतः जो आत्मा शाश्वत सुख प्राप्त करने की दृष्टि से अद्वैत वेदान्त की शरण में जाती है, उसे अपने अस्तित्व के ही मिट जाने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अद्वैतमूलक पराकाष्ठा तक पहुँचने की भाववाद की आकांक्षा विफल होने को अभिशप्त है।

अब धर्मशास्त्रीय मूल की अद्वैत-आकांक्षा पर विचार करना शेष है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् ईश्वर की धारणा से ग्रस्त और विचार की एकता प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा से अन्धा होकर, धर्मशास्त्र के पास इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं कि वह विश्व के उपादान तथा सर्वस्व के स्रष्टा के रूप में एक परमात्मा की स्थापना करे। तदनुसार, ईसाई और मुस्लिम मत के धर्मशास्त्री अपनी बुद्धि की वाणी का गला घोंटने और यह घोषित करने में तनिक भी संकोच नहीं करते कि पदार्थ अपने ईश्वर के आदेश अथवा सर्जक संकल्प से शून्य से उत्पन्न किया गया। यहाँ तक कि तत्त्वचिन्तन-प्रवृत्त हिन्दू ईश्वरवाद भी यहाँ तक कह जाता है कि जैसे मकड़ी अपने उदर के भीतर से जाला बुनती है, अथवा जैसे स्वप्न देखने वाले का मन अपने ही भीतर से स्वप्न-जगत् का दृश्यपट रच लेता है, वैसे ही स्रष्टा विश्व के उपादान, ढाँचे और सर्वस्व को अपने ही भीतर से प्रक्षिप्त करता है; और जैसे मकड़ी अपने जाले को पुनः अपने भीतर समेट लेती है, वैसे ही स्रष्टा 'कल्प-दिवस' के अन्त में समस्त विश्व को पुनः आत्मसात् कर लेता है। यह तो अद्वैतवाद

की पराकाष्ठा है; किन्तु इसे जगत् के समक्ष तर्कसंगति की बलि देकर ही प्रस्तुत किया जा सकता है। हिन्दू सिद्धान्त जो सन्तोष प्रदान करता प्रतीत होता है, वह भी वास्तविक से अधिक आभासी है, क्योंकि वह सर्वप्रथम 'मकड़ी के उदर' में ही द्वैत की स्वीकृति ध्वनित करता है।

इस प्रसंग में यह देखना रोचक होगा कि सृष्टि के मुसलमानी और ईसाई विवरण स्रष्टा तथा विश्व के स्वरूप पर क्या प्रकाश डालते हैं। मुसलमानी विश्वास के अनुसार मनुष्य एक मुट्ठी धूल से बनाया गया। ठीक है; किन्तु हम जो जानना चाहते हैं वह यह है: क्या वह धूल ईश्वर से स्वतन्त्र रूप में विद्यमान थी, अथवा वह भी मनुष्य के बनाए जाने से कुछ पूर्व उसी के द्वारा बनाई गई थी? आइए, हम पद-पद पीछे चलें, वस्तुओं के उद्गम का अनुसरण करते हुए, जब तक कि हम उस सर्वप्रथम वस्तु तक न पहुँच जाएँ जिसे सर्वशक्तिमान् ने रचा या बनाया। अब हम समय के उस बिन्दु पर पहुँच गए हैं जब ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ भी विद्यमान न था, और तब हम यह पूछने के अधिकारी हैं कि स्रष्टा द्वारा उच्चारित प्रथम 'कुन्' (हो जा) का पालन किसने किया, और प्रथम वस्तु किस उपादान से गढ़ी गई?

क्षण भर के लिए इस स्थिति की कल्पना कीजिए। ईश्वर ने विश्व की प्रथम वस्तु बनाने का निश्चय किया और आदेश-वचन दिया। किन्तु जब ईश्वर के अतिरिक्त और कोई भी विद्यमान न था, तब उस आदेश का पालन किसने किया? फिर, वह वस्तु बना दी गई; किन्तु यह जानना परम आवश्यक है कि जब स्वयं स्रष्टा के अतिरिक्त सर्वथा और कुछ भी न था, तब उसके निर्माण का उपादान कहाँ से आया? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर केवल यही हो सकता है कि ईश्वर ने अपने ही आदेश का पालन किया और जिस वस्तु को वह बनाना चाहता था, उसके निर्माण का उपादान अपने ही भीतर से प्रक्षिप्त किया। तर्क की किसी भी प्रक्रिया से इन निष्कर्षों से बचा नहीं जा सकता, क्योंकि शुद्ध शून्य से हम द्रव्यता नहीं निकाल सकते। अब भी बनाने का 'कैसे' शेष रह जाता है, जिसका अधिक विस्तृत वर्णन पवित्र बाइबिल के पुराने नियम में मिलता है, जिसके प्रति, प्रतीत होता है, मुसलमान इस विषय पर अपने विचारों के लिए ऋणी हैं। प्रकाश को प्रथम रचित वस्तु मानकर हम उस प्रक्रिया की जाँच करने चलते हैं जिसका परिणाम उसका प्रकट होना हुआ। उत्पत्ति की पुस्तक के अनुसार, परमेश्वर ने कहा, 'उजियाला हो', और उजियाला हो गया। आइए देखें कि उस परम महत्त्वपूर्ण क्षण में क्या घटित हुआ जब परमेश्वर ने कहा, 'उजियाला हो', और प्रकाश अस्तित्व में आ गया। अब, इस प्रसंग में जिज्ञासु बुद्धि को सर्वप्रथम जो बात सूझती है वह यह है कि परमेश्वर ने प्रकाश के बनाए जाने का आदेश देने से पूर्व अवश्य ही उसका मानस-चित्र बना लिया होगा, क्योंकि उसे यह ज्ञात रहा ही होगा कि वह क्या बनाना चाहता है।

इस प्रसंग में उस वृत्तान्त-लेखक के अन्तिम शब्द अत्यन्त महत्त्व के हैं। लिखा है, "और परमेश्वर ने उजियाले को देखा कि वह अच्छा है।" हम किसी वस्तु को अच्छा तभी कहते हैं जब वह हमारे मन में स्थित किसी विचार अथवा प्रतिमा से मेल खाती है। सारे संसार में मनुष्य-जाति का यही सामान्य अनुभव है। अतः यह स्पष्ट है कि जब परमेश्वर ने देखा कि जो प्रकाश बनाया गया वह ठीक उसी प्रकार का है जैसा उसने मन में बनाने का निश्चय किया था, तब उसने उसे अच्छा घोषित किया। निष्कर्ष स्पष्टतः यह है कि परमेश्वर ने आदेश-वचन देने या रचने से पूर्व उस प्रकाश की मानसिक कल्पना बना ली थी जिसे वह बनाना चाहता था, जिससे कि जब प्रकाश बन गया तो उसने उसकी तुलना अपने मन की प्रतिमा से की, और रचना को अच्छा पाकर सन्तुष्ट हुआ और अपना हर्ष व्यक्त किया। तब, प्रकाश की सृष्टि में प्रथम सोपान वह मानस-प्रतिमा थी जो प्रभु के मन में बन गई थी। हम पहले ही देख चुके हैं कि उस समय कोई और था ही नहीं जो उसके आदेश का पालन कर सकता, अतः प्रभु परमेश्वर ने स्वयं ही उसका पालन किया होगा। किन्तु यह निष्कर्ष हमारे लिए यह आवश्यक कर देता है कि हम 'और परमेश्वर ने कहा, उजियाला हो'—इस पाठ में आए 'कहा' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करें कि वह पूर्व-निगमित निष्कर्षों से संगत हो जाए। यह बात कोई बड़ी कठिनाई प्रस्तुत नहीं करती, क्योंकि किसी अन्य सत्ता के अभाव में परमेश्वर ने अपने आप से ही कहा होगा, जिसका वस्तुतः अर्थ यही हुआ कि उसने प्रकाश के अस्तित्व का विचार किया और उसकी मानस-प्रतिमा अपने मन में धारण की। इस प्रसंग में आदेश की भाषा भी अर्थपूर्ण है। वह 'करो' या 'बनाओ' नहीं थी, अपितु 'उजियाला हो' थी, जो यह सूचित करती है कि वह किसी को सम्बोधित नहीं थी, वरन् परमेश्वर का एक प्रकार का आत्मालाप थी। यह भी हम जानते हैं कि जिस उपादान से प्रकाश बना, वह परमेश्वर के अपने ही सत्त्व से आया, क्योंकि उस समय और कुछ था ही नहीं। अतः हमारे तीन निष्कर्ष ये हैं:

(१) परमेश्वर ने प्रकाश की एक मानस-प्रतिमा धारण की,

(२) उसने अपने मन में धारण की हुई उस प्रतिमा के अनुरूप एक परिघटना बनाने का विचार किया, और

(३) उसके अपने ही अस्तित्व ने वह उपादान प्रदान किया जो हमारा प्रकाश बना।

इस प्रकार प्रकाश प्रकट हुआ: प्रकाश की सृष्टि की इच्छा थी, और उसके साथ दिव्य मन में उसकी प्रतिमा थी; और यही निर्माण की अनिवार्य सामग्री थी। इस प्रकार जगत्-रचना की प्रक्रिया एक विचार के प्रत्यक्ष की वास्तविकता में प्रक्षेपण के तुल्य हुई, और उस प्रक्रिया से बहुत मिलती-जुलती रही जिससे हमारे स्वप्न बनते हैं।

सृष्टि के ईश्वरवादी सिद्धान्त के उपर्युक्त विश्लेषण के फलस्वरूप हम यह कहने के अधिकारी हैं कि जो वस्तु स्रष्टा को विश्व की सृष्टि में समर्थ बनाती है, वह उसकी प्रतिमा-निर्माण की शक्ति, अर्थात् कल्पना की क्षमता है। वेदान्ती मन की इस प्रतिमा-निर्माण-शक्ति को माया कहता है; सूफी उसे 'कुव्वत-ए-ख़याल' कहता है; और अंग्रेज़ी में वह 'इमैजिनेशन' (imagination) कही जाती है। किन्तु नाम कुछ भी हो, प्रकृति में सर्जनशील शक्ति यही एकमात्र शक्ति है।

इस प्रकार मन अथवा कल्पना के प्रकृति में सर्जक बल होने से यह समझना सहज है कि शून्य से विश्व की सृष्टि की धारणा को स्वप्नों की परिघटनाओं से सीधा बल मिलेगा, जिन्हें अपरिपक्व बुद्धि द्रव्यता के सर्वथा रहित, अतः शुद्ध शून्य से उत्पन्न मान लेने की प्रवृत्ति रखती है। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है, और ऐसा जिसके परिणाम बहुत दूर तक जाने वाले होंगे, कि ईसाई और मुस्लिम धर्मशास्त्री जहाँ पदार्थ को शून्य से रचा गया मानने तक जाने को तत्पर हैं, वहीं वे इस कारण उसे तनिक भी कम भौतिक नहीं मानते। किन्तु यदि पदार्थ शून्य से रचा गया, तो वह शून्यता से जनित यथार्थता से ही युक्त होगा; और चूँकि मन अथवा आत्मा अकृत है, अतः शून्य की सन्तान रूप पदार्थ की यथार्थता आत्मा की यथार्थता की तुलना में कल्पित ही कही जा सकती है। इस प्रकार पदार्थ के उद्गम विषयक उनके विश्वास का तात्कालिक और तार्किक परिणाम वेदान्त के उस सिद्धान्त की स्वीकृति ही होगा जो जगत् को भी भ्रम, अर्थात् शून्यता से जनित यथार्थता, बताता है।

उपर्युक्त विवेचन के फलस्वरूप हम कह सकते हैं कि न भाववाद, न ही दर्शन की कोई अन्य प्रणाली, जगत् के रहस्य को सुलझाने में सफल होने की आशा कभी कर सकती है, जब तक कि वह पहले दो मौलिक रूप से भिन्न प्रकार के द्रव्यों—चेतन और अचेतन—का अस्तित्व स्वीकार न कर ले। किन्तु जो कठिनाई भौतिकवादी के सम्मुख मुँह बाए खड़ी है, वह भाववादी की कठिनाई से भी बड़ी है, क्योंकि भौतिकवाद कब्र में शान्तिपूर्ण विश्राम की प्राप्ति से, और आत्मा की उन समस्त उच्च एवं उदात्त आकांक्षाओं तथा आशाओं के उच्छेद से—जो अकेली ही जीवन को जीने योग्य बनाती हैं—अधिक ऊँचा लक्ष्य रख ही नहीं सकता।

यदि भौतिकवादी अपनी जिज्ञासाओं को उनके उचित अन्त तक ले जाएँ, तो वे यह देखे बिना न रहेंगे कि पदार्थ, जो उनकी एकमात्र पूँजी है, इच्छा के कार्यों को निभाने में सर्वथा असमर्थ है, और बल भी विचार-विमर्श की प्रक्रिया चलाने में उतना ही असहाय है। हम लाभपूर्वक विज्ञान के एक प्रमुख पुरुष के उन स्मरणीय शब्दों का उल्लेख कर सकते हैं, जिन्हें सर ऑलिवर लॉज (Sir Oliver Lodge) ने उद्धृत किया है:—

> "यह किसी भी परिश्रम के योग्य है कि...मनुष्य अपने ही ज्ञान से उस महान् सत्य को जान ले...कि जो तर्क हमें 'भौतिकवाद' तक ले जाता है, उसका ईमानदार और कठोर अनुसरण हमें अनिवार्यतः उससे आगे ले जाता है.... यदि भौतिकवादी यह कहता है कि विश्व और उसकी समस्त परिघटनाएँ पदार्थ और गति में विश्लेष्य हैं, तो बर्कले (Berkeley) उत्तर देता है, सत्य है; किन्तु जिसे तुम पदार्थ और गति कहते हो, वह हमें केवल चेतना के रूपों के रूप में ही ज्ञात है; उनका होना ही उनका कल्पित या ज्ञात होना है; और किसी विचारशील मन से पृथक् चेतना की अवस्था का अस्तित्व शब्दों में ही विरोध है। मैं इस तर्क को अखण्डनीय समझता हूँ। और इसलिए, यदि मुझे निरपेक्ष भौतिकवाद और निरपेक्ष भाववाद में से एक चुनने को बाध्य किया जाए, तो मैं अपने को दूसरा विकल्प स्वीकार करने को विवश पाऊँगा।"

इस विचार का विरोध कि जगत् स्वप्न-सदृश वस्तु है, तभी उठता है जब हम यह भूल जाते हैं कि यह वर्णन विद्यमान द्रव्यों के अपने स्वरूप को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करता, और यह कि भाववाद तथा यथार्थवाद का भेद जगत् के अस्तित्व या अनस्तित्व के विषय में नहीं है, अपितु केवल और केवल उन शब्दों के विषय में है जिनका प्रयोग हम अपनी इस धारणा को व्यक्त करने के लिए करते हैं कि विद्यमान क्या है।

भौतिक जगत् की यथार्थता का निषेध कभी भी उसका सर्वथा अपलाप नहीं हो सकता, न ही इससे अधिक कुछ कि वह उन रूपों से रचा हुआ एक स्वप्न-सदृश दृश्यपट मात्र है जो बनते ही विलीन हो जाते हैं, अथवा विलीन होने लगते हैं, तथा उन दृश्यों से जो अनित्य और निरन्तर परिवर्तनशील हैं। प्रकृति में वस्तुओं का यह परिवर्तनशील और चंचल रूप मन को उनकी अनित्यता के बोध से भर देने वाला है, और इसी कारण उसे स्वप्न की उपमा दी जा सकती है। क्योंकि स्थायित्व ही यथार्थता की कसौटी होने से, मन जो कुछ अनित्य है उसे अयथार्थ मान लेने की प्रवृत्ति रखता है। जैसा हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) कहते हैं:—

> "यथार्थता से हमारा अभिप्राय चेतना में स्थायित्व से है—ऐसा स्थायित्व जो या तो निरुपाधिक होता है, जैसा देश की हमारी चेतना, अथवा जो सोपाधिक होता है, जैसा किसी वस्तु को पकड़े रहते समय उसकी हमारी चेतना। जिसे हम यथार्थ समझते हैं, वह केवल स्थायित्व की कसौटी से ही पहचाना जाता है; क्योंकि इसी कसौटी से हम उसे उससे अलग करते हैं जिसे हम अयथार्थ कहते हैं। हमारे सम्मुख खड़े व्यक्ति और ऐसे व्यक्ति के विचार के बीच हम इस आधार पर भेद करते हैं कि हम विचार को चेतना से निकाल बाहर करने में समर्थ हैं, किन्तु उसे देखते रहते हुए उस व्यक्ति को चेतना से निकाल बाहर करने में असमर्थ हैं। और जब झुटपुटे में अपनी आँखों पर पड़े किसी संस्कार की

> **विश्वसनीयता के विषय में हमें सन्देह होता है, तब हम यह देखकर बात का निपटारा करते हैं कि निकट से देखने पर वह संस्कार बना रहता है या नहीं; और यदि स्थायित्व पूर्ण हो तो हम यथार्थता का विधान करते हैं। स्थायित्व ही सचमुच वह है जिसे हम यथार्थता कहते हैं—यह इस तथ्य से प्रकट होता है कि जब समीक्षा यह सिद्ध कर चुकती है कि प्रत्यक्ष में उपस्थित यथार्थ वह विषयगत यथार्थ नहीं है, तब भी विषयगत यथार्थ की जो अस्पष्ट चेतना हममें शेष रहती है, वह किसी ऐसी वस्तु की है जो प्रकार, रूप अथवा प्रतीति के समस्त परिवर्तनों के अन्तर्गत नितान्त रूप से बनी रहती है। और यह तथ्य कि हम नितान्त यथार्थ की अनिश्चित धारणा तक नहीं बना सकते, सिवाय नितान्त स्थायी के रूप में, यह ध्वनित करता है कि स्थायित्व ही यथार्थ की हमारी अन्तिम कसौटी है, चाहे वह अपने अज्ञात रूप में विद्यमान हो या हमें ज्ञात रूप में" ('फ़र्स्ट प्रिंसिपल्स' — First Principles)।**

उस महान् अंग्रेज़ दार्शनिक की उपर्युक्त उक्तियों के प्रकाश में यह देखना सहज है कि इन्द्रिय-विषय—चाहे हम उन्हें विचार कहें या शरीर—अनित्य और क्षणभंगुर हैं, अतः द्रव्य के नितान्त स्थायित्व की तुलना में केवल एक प्रकार की सापेक्ष यथार्थता से ही युक्त हैं। इसलिए हम उन्हें उपचार-वश मायिक (भ्रामक) कह सकते हैं।

दूसरी ओर, भाववादी की भूल इसमें है कि वह अमूर्तनों की एक प्रणाली पर आधारित अपने एकांगी दृष्टिकोण को अनुचित प्रमुखता देता है, और मूर्त प्रकृति का निषेध करता है; क्योंकि यह सत्य है कि विश्व रूपों, अर्थात् शरीरों, से बना है, जो प्रत्यक्ष करने वाली चेतना की दृष्टि से केवल संवेदनाएँ या विचार हैं, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि ये शरीर, संवेदनाएँ अथवा विचार परस्पर भिन्न हैं, और इसलिए किसी न किसी प्रकार के उपादान से बने होने चाहिए। और चूँकि शून्य से केवल शून्य ही रचा जा सकता है, अतः यह उपादान, जो शरीरों, विचारों, संवेदनाओं अथवा जिस भी नाम से हम उन्हें पुकारना चाहें, उनकी रचना में प्रविष्ट होता है, नित्य होना चाहिए। अतः नितान्त स्थायित्व, अर्थात् यथार्थता, उस पदार्थ का भी लक्षण है जिससे शरीर बने हैं, यद्यपि उन रूपों का नहीं जिन्हें वह प्रकृति के बलों की क्रिया के परिणामस्वरूप समय-समय पर धारण करता है।

इस प्रकार सच्चा भाववाद, विश्व को भ्रम बताते हुए भी, यह कहने तक नहीं जाता कि वह सर्वथा असत् है; अतः जिसे वह भ्रम कहता है, वही वस्तु है जिसे यथार्थवादी भौतिक जगत् कहता है। प्रत्यक्ष के साक्षात् उपादान संवेदना ही होने से यह महत्त्वहीन है कि हम प्रत्यक्षगोचर जगत् को भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाओं का पुंज कहें अथवा भौतिक शरीरों और वस्तुओं का। यह सत्य है कि संवेदनाएँ केवल इन्द्रिय-विकार हैं, किन्तु यह भी सत्य है कि वे प्रायः इन्द्रियों पर किसी बाह्य उद्दीपक की क्रिया से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष करने वाली चेतना से पृथक् किसी न किसी प्रकार के जगत् का अस्तित्व

निर्विवाद है; और यदि हम यहाँ तक भी कह जाएँ कि केवल संवेदनाएँ ही प्रत्यक्षगोचर जगत् की रचना करती हैं, तब भी यह स्वीकार करना ही होगा कि भिन्न-भिन्न संवेदनाएँ उन तत्त्वों की दृष्टि से परस्पर भिन्न हैं जो उनकी रचना में प्रविष्ट होते हैं। यह कहने का ही दूसरा ढंग है कि वे किसी न किसी प्रकार के उपादान से बनी हैं, जिसे स्पष्टता और विचार की एकरूपता के लिए पदार्थ कहा जा सकता है। अतः जब कतिपय भाववादी यह कल्पना करते हैं कि उनका दर्शन भौतिक विश्व के उन्मूलन को ध्वनित करता है, तब वे एक असम्भव वस्तु की कल्पना करते हैं, इस तथ्य के होते हुए भी कि पदार्थ के अस्तित्व का प्रमाण उसके प्रत्यक्ष किए जाने पर निर्भर है।

भाववाद को बहुत कष्ट और अपमान से बचा लेगा यह जान लेना कि वस्तुओं के वर्णन में मिथ्या और अनुपयुक्त शब्दों के प्रयोग पर कट्टर आग्रह केवल अपनी ही कठिनाइयों को बढ़ाने वाला है, और यह कि 'भ्रम' तथा 'माया' जैसे शब्दों का प्रयोग वस्तुतः उसे वैज्ञानिक चिन्तन के एक विशाल क्षेत्र से बाहर कर देता है, जिसके बिना सत्य को उसके विपरीत असत्य से निश्चित रूप से पृथक् नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि आत्मा का ज्ञान परम कल्याण का मूल स्रोत है, जिससे भौतिकवाद इसलिए वंचित है कि वह पदार्थ से पृथक् और भिन्न द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता का ही निषेध करता है; किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि ज्ञान केवल उसी को कहते हैं जो सन्देह, भ्रम और अज्ञान—असत्य के इन तीन अंगों—से मुक्त हो, और जिसका प्रयोजन मिथ्या तथा दूषित शब्दावली से कभी सधता नहीं, सदा बाधित ही होता है।

यह भी जोड़ देना चाहिए कि भौतिकवादी भ्रम के जाल में तभी तक उलझा रहता है जब तक वह चेतना के स्वरूप को नहीं पहचानता और उसे पदार्थ का उत्पाद बताता रहता है। जिस क्षण वह चेतना को एक स्वतन्त्र यथार्थ के रूप में स्वीकार करने पर आ जाएगा, उसी क्षण वह पदार्थ के उस पर्दे को, जो उसकी आगे की प्रगति रोक रहा है, अपनी आँखों के सामने से हटा हुआ पाएगा। तब वह अपने बाट और माप, अपना शल्य-उपकरण तथा विशुद्ध भौतिक विज्ञान के क्षेत्र के अन्य अनुसन्धान-यन्त्र फेंक देगा, और अपने को उस जीवन्त सत्ता के आमने-सामने पाएगा, और सत्य को जान लेगा। इसके विपरीत, सच्ची जिज्ञासा-भावना से ओत-प्रोत भाववादी आरम्भ से ही जीवन-तत्त्व के प्रति निष्ठा स्वीकार करके चलता है, और इस प्रकार भौतिकवादी के अधिकांश श्रमसाध्य दुर्गम परिश्रम से बच जाता है। एक सत्य के प्रकाश में कार्य करता है, जबकि दूसरा इस पद्धति को त्याग देता है और उसे अनिवार्यतः सन्देह और अनिश्चय के अन्धकार में टटोलना पड़ता है। किन्तु यथार्थवादी और भाववादी—दोनों दर्शनों की पराकाष्ठा अथवा शिखर, जब उन्हें अन्तिम परिणति तक पहुँचाया जाए, एक ही है, अर्थात् "जीवन ही ईश्वर है, और मैं वही हूँ"; अथवा जैसा बाइबिल कहती है, "मैं ने कहा, तुम ईश्वर हो।"*

* यूहन्ना १०:३४।

अब हम सृष्टि के उन विभिन्न सिद्धान्तों का विहंगम अवलोकन कर सकते हैं जिनका विश्लेषण हमने अपनी जाँच के क्रम में किया है। निम्नलिखित तालिकाएँ न केवल एक दृष्टि में प्रत्येक सिद्धान्त की स्थिति और गुण-दोष दिखा देंगी, अपितु तुलना के कार्य को भी सरल बना देंगी।

(क)—ईश्वरवादी विवरण।

प्रथम कारण: ईश्वर (एक आत्मा)। — जगत्-प्रक्रिया का स्वरूप: आदेश-वचन द्वारा एक वास्तविक भौतिक विश्व की सृष्टि, अथवा शून्य से किसी वस्तु का निर्माण।

(ख)—हिन्दू सिद्धान्त।

प्रथम कारण: ईश्वर (एक आत्मा)। — जगत्-प्रक्रिया का स्वरूप: मकड़ी के जाले की भाँति एक वास्तविक विश्व का प्रक्षेपण और अन्ततः पुनः आत्मसात्करण।

(ग)—भौतिकवादी सिद्धान्त।

कारण: (१) जड़, अचेतन पदार्थ, और (२) प्रकृति के बल। — जगत्-प्रक्रिया का स्वरूप: विकास, जिसके क्रम में चेतना जड़ पदार्थ से उतनी ही चमत्कारपूर्ण रीति से उत्पन्न होती है जितनी चमत्कारपूर्ण रीति से शून्य से जगत् की सृष्टि होती है।

(घ)—वेदान्ती सिद्धान्त।

कारण: सत्-चित्-आनन्द (चेतना)। — जगत्-प्रक्रिया का स्वरूप: सृष्टि माया-शक्ति (कल्पना की क्षमता) से होती है, और इसलिए वह केवल स्वप्न-सदृश यथार्थता से युक्त है।

इनमें से तालिका (क) में दिया गया ईश्वरवादी सिद्धान्त इसलिए मिथ्या है कि वह मनुष्य के इस नित्य अनुभव का विरोध करता है कि शून्य से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता।

तालिका (ख) में दिया गया हिन्दू सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है, क्योंकि वह द्रष्टा और दृश्य के द्वैत को जगतों के उगलने-निगलने वाले कारण-कारण (Causa Causans) के मकड़ी-सदृश उदर में ठेल कर प्रश्न को केवल टाल जाता है।

तालिका (ग) में दिखाई गई भौतिकवादी की स्थिति भी उतनी ही अस्थिर है। वह अपना ध्यान वस्तुओं के विशुद्ध विषयगत पक्ष तक सीमित रखता है, और उस व्यक्तिनिष्ठ पक्ष की उपेक्षा कर देता है जिसके साथ हेकल (Haeckel) आधुनिक अद्वैतवाद को पूर्णतः संगत मानते हैं, और जिसका तर्क हक्सली (Huxley) की दृष्टि में सर्वथा अखण्डनीय है। यह कहना तो बहुत अच्छा है कि हमारा आधुनिक अद्वैतवाद समस्या के व्यक्तिनिष्ठ पक्ष के साथ पूर्णतः संगत है, किन्तु उस स्वीकृत रूप से अनुत्तरणीय स्थिति को कार्यरूप कब दिया जाएगा?

वेदान्ती सिद्धान्त पर पहले ही विस्तार से विचार किया जा चुका है, और यहाँ उस पर बहुत कम टिप्पणी अपेक्षित है। उसकी अद्वैत-आकांक्षा उसी प्रकार विफल होने को अभिशप्त है जिस प्रकार उस आधुनिक अद्वैतवादी की, जो पदार्थ और बल को एक योजक-चिह्न से जोड़कर अपना अद्वैतवाद 'सिद्ध' करने का दावा करता है। यहाँ तक कि बर्कले के विषय में भी यही मानना चाहिए कि उन्होंने अपना पक्ष छोड़ ही दिया जब उन्होंने व्यक्तिगत मनों से पृथक् और भिन्न एक सार्वभौम मन की धारणा प्रस्तुत की, यद्यपि यह कल्पना करना कठिन है कि ऐसी धारणा उनके अटल भाववाद में स्थान कैसे पा सकी; क्योंकि सार्वभौम मन की धारणा अपनी ही चेतना की एक अवस्था ही हो सकती है, और इस रूप में वह उस भौतिक जगत् से अधिक स्वतन्त्र यथार्थ नहीं जो प्रत्यक्ष करने वाले मन की अवस्था के रूप में ही जाना जाता है।

सारांश यह कि चेतना पदार्थ से स्वतन्त्र एक यथार्थ है, और किसी भी अर्थ में उसका उत्पाद नहीं। वह नित्य है, जिसका न आदि है न अन्त। विश्व भी नित्य है, और उसमें ऐसे भौतिक रूप हैं जो विकास और परिवर्तन के अधीन हैं। पदार्थ भी अकृत और नित्य है। भौतिकवादी सिद्धान्त, जिसकी पराकाष्ठा विकास के महान् सिद्धान्त में होती है, अनिवार्यतः अपूर्ण, एकांगी और अगौरवपूर्ण है। वह अपूर्ण है, क्योंकि वह आत्मा के अस्तित्व की उपेक्षा करता है; एकांगी है, क्योंकि वह अपना सर्वेक्षण वस्तुओं के विषयगत पक्ष तक सीमित रखता है; और अगौरवपूर्ण है, क्योंकि वह जीवन्त यथार्थ को जड़ पदार्थ का उत्पाद मानकर उसका अपमान करता है। धर्मशास्त्री इसलिए मिथ्या है कि उसे ईश्वर की सच्ची धारणा नहीं है, कि वह विश्व का कोई आदि मानता है, और कि वह वस्तुओं की शून्य से सृष्टि पर आग्रह करता है। वही उत्तरदायी है कि धर्म वैज्ञानिक जगत् के लिए उपहास और तिरस्कार का लक्ष्य बन गया है। यदि ठीक से समझा जाए, तो धर्म और विज्ञान बिना किसी टकराव की सम्भावना के हाथ में हाथ डालकर चलेंगे—वह टकराव जो सदा पहले की ओर से अविवेक का, और दूसरे की ओर से उतावली और इसी कारण अनिवार्यतः अपूर्ण अनुसन्धान का परिणाम होता है।

३

ईश्वर

GOD

"जो अपने निज स्वरूप को जान लेता है, वह ईश्वर को जान लेता है।"—मुहम्मद के वचन (Sayings of Mahomed)।

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, हदीस-विद्या इस वचन को मुहम्मद तक प्रामाणिक रूप से नहीं पहुँचाती; यह किसी भी मान्य संग्रह में नहीं मिलता, यद्यपि सूफ़ी साहित्य में इसका उद्धरण व्यापक रूप से होता रहा है.

> **"तू देखने वाले के द्रष्टा को नहीं देख सकता, तू सुनने वाले के श्रोता को नहीं सुन सकता, तू समझने वाले के मन्ता को नहीं समझ सकता, तू जानने वाले के ज्ञाता को नहीं जान सकता।"—बृहदारण्यक उपनिषद्, ३।४।२।**

श्री रामकृष्ण परमहंस ईश्वर-ज्ञान की दुरूहता को समझाने के लिए ईश्वर की उपमा शर्करा के एक अनन्त पर्वत से और ऋषियों की उपमा चींटियों से दिया करते थे, जिनके विषय में यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वे उस समूचे पर्वत को खा डालेंगी।

> **"शुकदेव तथा अन्य पवित्र मुनिगण अधिक से अधिक सबसे बड़ी जाति की चींटियाँ ही थे। यदि हम यह कह दें कि वे उस शर्करा के आठ-दस कण खा सके, तो हमने उनके पक्ष में पर्याप्त कह दिया। यह कहना उतना ही असंगत है कि निरपेक्ष ईश्वर को किसी ने जान लिया और पूर्णतया समझ लिया है, जितना यह कहना कि शर्करा का एक पर्वत कुछ चींटियाँ खाने के लिए अपने घर उठा ले गईं।"**

हिन्दुओं ने सदैव यही प्रतिपादित किया है कि ईश्वर, ज्ञाता होने के कारण, स्वयं जाना नहीं जा सकता, क्योंकि जानने वाला कर्ता कभी ज्ञान का विषय नहीं बन सकता।* किन्तु यद्यपि यह सत्य है कि ईश्वर को सूक्ष्मदर्शी यन्त्र, शल्य-छुरिका तथा परिघटनाओं के जगत् की अन्य ऐसी ही अन्वेषण-सामग्री के अधीन नहीं किया जा सकता, तथापि उपलब्ध तथ्यों और सामग्री के सावधान विश्लेषण तथा समीक्षात्मक सर्वेक्षण द्वारा उसका तथा उसके गुणों और विशेषताओं का यथेष्ट रूप से यथार्थ बोध प्राप्त कर लेना मानव-बुद्धि की सीमा के बाहर नहीं है।

---

* देखिए मैक्स म्यूलर (Max Muller) कृत 'फिलॉसफी ऑव वेदान्त' (Philosophy of Vedanta), पृष्ठ ६१-७१।

> **'ईश्वर' शब्द का प्रयोग मनुष्य-जाति अनेक भिन्न-भिन्न अर्थों में करती है, यद्यपि जहाँ तक हमें ज्ञात है, अब तक किसी दार्शनिक अथवा धर्मशास्त्री ने उसके इन विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया। इनमें से कुछ अर्थ इस प्रकार रखे जा सकते हैं:**

(१) निर्विशेष रूप में चेतना की धारणा, जिसे सर्वव्यापी तत्त्व अथवा सत्ता के रूप में ग्रहण किया जाता है;

(२) मुक्त आत्मा की, और सामूहिक रूप से समस्त मुक्त आत्माओं की धारणा, जो 'माया' के लोक से ऊपर, अर्थात् नाम और रूप के विश्व से बहुत ऊँचे निवास करती हैं, और इसी से जिन्हें परात्पर कहा जाता है;

(३) सृजनशील तत्त्व की धारणा, अर्थात् 'क़ुव्वत-इ-ख़याल', अथवा कल्पना-शक्ति;

(४) मनुष्य-सदृश सगुण स्रष्टा की धारणा; तथा

(५) सृजनकारी लोगोस (logos) की कल्पना, अर्थात् उस सर्वव्यापी, अव्यक्त तत्त्व के विचार, जो ईश्वर की आत्मा है।

इनमें से प्रथम दो प्रायः धर्म की समस्त पद्धतियों में पाई जाती हैं, यद्यपि साधारणतया रूपक और उपमा के पीछे छिपी हुई; तीसरी मन के व्यापारों के मनोवैज्ञानिक तथा तत्त्वमीमांसीय विश्लेषण पर आधारित है; चौथी अज्ञानपूर्ण अन्धविश्वास का विशुद्ध हठवाद है; और अन्तिम विचारों का मानवीकरण है, अथवा ज्ञान का सामूहिक स्वरूप। प्रथम प्रकार के उदाहरण-स्वरूप हम अल्लाह का उल्लेख कर सकते हैं, जो अल् और लाह से बना है, अर्थात् 'गुप्त रहने वाला'; तथा ब्रह्मन्, अप्रकट, जो ब्रह्म, प्रकट, से भिन्न है; और

वह ईश्वरत्व, वह पिता जिसे तब तक नहीं जाना जा सकता जब तक पुत्र उसे प्रकट न करे (लूका १०:२२)। बाइबिल का 'एलोहीम' तथा अरबी का 'इलाह' दूसरे अर्थ के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, और 'वचन', 'लोगोस', 'ईश्वर' तथा 'ब्रह्मा' ईश्वर के पाँचवें अर्थ के। ईश्वर के प्रति 'हम' सर्वनाम का प्रयोग भी दूसरे वर्ग का ही सूचक है।

एलोहीम और इलाह शब्दों के अर्थ के विषय में हम 'एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स' (Encyclopedia of Religion and Ethics) (खण्ड ६, पृष्ठ २४८) का उल्लेख कर सकते हैं, जो यह बताता है:

> **"इलाह शब्द (जो अय्यूब के 'एलोअह' से अभिन्न है) अपने रूप से मूलतः बहुवचन प्रतीत होता है, और वह भी प्राचीनतर सामी 'इल्' (हिब्रू 'एल्') का, उसी सादृश्य पर जैसे 'शफ़-अत्' से 'शिफ़ाह', अर्थात् 'ओष्ठ' (जहाँ 'अत्' स्त्रीलिंग प्रत्यय है)। स्वयं इलाह का और आगे का बहुवचन बाइबिल का एलोहीम है, जिसका, आश्चर्य है, एक चिह्न अल्लाह के अरबी सम्बोधन-रूप 'इल्लाहुम्मा' में मिलता प्रतीत होता है, जिसकी व्याख्या करने में वहाँ के व्याकरणाचार्यों को सबसे अधिक कठिनाई होती है।"**

यह तथ्य कि अल्लाह शब्द दो भिन्न धातुओं तक ले जाया जा सकता है, इस व्युत्पत्ति की व्यापक प्रकृति का ही सूचक है; यह उन दोनों मतों में से किसी का खण्डन नहीं करता, जो, जैसा कि आगे किसी अध्याय में पूर्णतया दिखाया जाएगा, सत्य के दो पक्ष हैं। वस्तुतः इस शब्द की प्रधान धातु 'एल्' ध्वनि ही प्रतीत होती है, जिसे संस्कृत 'इळा' प्रकट करती है, और जो इन्द्र का एक विशेषण है—इन्द्र, जो जीवन का, उस गुप्त प्रकाश का, अर्थात् चेतना का काव्यात्मक मानवीकरण है। हैरल्ड बेली (Harold Bayley) के अनुसार,

> **"huyl शब्द heol, haul अथवा houl के तुल्य है, जो सूर्य का केल्टिक नाम है। प्रतीत होता है कि heol, अर्थात् उस सनातन एल् से ही, हमें अपने विशेषण hale, whole और holy प्राप्त हुए हैं। 'पवित्र' के लिए ट्यूटानिक शब्द hel, heli, heil अथवा ala है, अर्थात् Ella, वह ईश्वर जो सदा से विद्यमान रहा है, वह सर्व और वह समग्र। प्रत्यक्षतः समस्त भाषाओं में जो शब्द पवित्रता का द्योतक है, वह उस दिव्य रूप से पूजित सूर्य-प्रकाश से ही व्युत्पन्न हुआ है।"***

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, असम्बद्ध भाषाओं के समान-ध्वनि वाले शब्दों से अर्थ निकालने की बेली की यह पद्धति आधुनिक ऐतिहासिक भाषाविज्ञान में अस्वीकृत है.

* ‘द लॉस्ट लैंग्वेज ऑव सिम्बलिज़्म’ (The Lost Language of Symbolism), खण्ड १, पृष्ठ २२९।

इस प्रकार ‘एल्’ भी, ‘लाह’ के समान, उसी गुप्त दिव्य प्रकाश का प्रतीक है। श्री बेली ने इस सरल ध्वनि ‘एल्’ को धारण करने वाले अनेक शब्दों को उनकी आदिम धातुओं तक खोज निकाला है, जिनमें से हमें यहाँ केवल ‘इस्राएल’ का ही उल्लेख करना है।

श्री बेली लिखते हैं, “यह स्पष्ट है कि ‘यशुरून’ अथवा ‘इस्राएल’ प्रायः किसी ऐसी वस्तु की ओर संकेत करता है जो सामी पिशाच-पूजकों के एक ऐतिहासिक कबीले से कहीं अधिक है, और यह कि इस्राएल—चाहे वह पुरुष हो या स्त्री—कभी-कभी उस व्यक्तिगत आत्मा का मानवीकरण है जो निर्जन प्रान्तर में भटक रही है। मेरा सुझाव है कि इस्राएल नाम स्वभावतः इन अंशों में विश्लिष्ट होता है—Is, ‘का प्रकाश’, ra, ‘वह सनातन सूर्य जो सदा से विद्यमान रहा है’, और El, प्रथम कारण, ‘समस्त वस्तुओं का मूल तत्त्व अथवा आदि’। इस प्रकार काव्यात्मक ‘इस्राएल’ ‘एज़्रा’ नाम के विस्तार-रूप में प्रकट होता है, जिसका अर्थ है ‘प्रकाश का उदय’, और आत्मा में स्थित उस दिव्य तत्त्व, प्रकाश अथवा तेज-पुंज के एक और मानवीकरण के रूप में।”*

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक सामी भाषा-विज्ञान ‘इस्राएल’ को ‘ईश्वर से संघर्ष करना’ अर्थ वाली हिब्रू धातु से व्युत्पन्न मानता है (उत्पत्ति ३२:२८), न कि इन अंशों से.

* ‘द लॉस्ट लैंग्वेज ऑव सिम्बलिज़्म’, खण्ड १, पृष्ठ २८४।

इस प्रकार अल्लाह वह गुप्त ज्वाला है,† वह सनातन, अकृत, चेतन तत्त्व, जो ‘इलाह’ अथवा ‘एलोहीम’ में अभिव्यक्त होता है—चाहे हम उस शब्द को अल्-लाह मानें अथवा अल्-इलाह का संक्षिप्त रूप। जहाँ तक इस विशेषण में निहित अनेक देवताओं की धारणा का प्रश्न है, इस अवस्था में उसकी व्याख्या में प्रवृत्त होना असामयिक होगा; अतः हम उसे किसी अधिक उपयुक्त अवसर के लिए सुरक्षित रखेंगे। इस बीच हम ईश्वर की सामान्य धारणा सम्बन्धी अपनी जिज्ञासा को आगे बढ़ा सकते हैं।

† ज्वाला स्वयं असंख्य दीप्तिमान बिन्दुओं का समुच्चय ही तो है।

> **'गॉड' (God) शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ पूर्णतया स्पष्ट नहीं है, किन्तु प्राचीन नॉर्स अथवा आइसलैंडी भाषा में, जो स्कैंडिनेवियन भाषा-समूह की प्राचीनतम भाषा है, हम उसे 'मूर्तिपूजक देवताओं के लिए प्रयुक्त पाते हैं (नपुंसकलिंग तथा प्रायः सदैव बहुवचन), और आगे चलकर वह ईश्वर के अर्थ में gud में परिवर्तित हो गया' ('द इम्पीरियल डिक्शनरी'—The Imperial Dictionary)। सम्भवतः यह शब्द निम्नलिखित आदिम ध्वनियों में विश्लिष्ट किया जा सकता है:—**

(i) g, जो विराट् अथवा अनन्त का द्योतक है, जैसे गोग और मागोग में;

(ii) o, जो समग्रता अथवा पूर्णता को व्यक्त करता है; और

(iii) d, जिसका अर्थ है दीप्तिमान, जैसे ओडिन, डायना, द्यौस् आदि में।

श्री बेली* के अनुसार, रहस्यवादी लोग g अक्षर को स्वयम्भू के अर्थ में, o को पूर्ण पुरुष के द्योतक के रूप में, और d को दीप्ति के प्रतिनिधि के रूप में समझते थे। अतः रहस्यात्मक शब्द-विज्ञान में 'गॉड' शब्द का अर्थ सम्भवतः वह सनातन, स्वयम्भू किन्तु गुप्त तत्त्व है, जो प्रकाश की प्रकृति का है, अर्थात् चेतना, जो अन्तःप्रकाश का उद्गम है।

---

* देखिए 'द लॉस्ट लैंग्वेज ऑव सिम्बलिज़्म', खण्ड २, पृष्ठ ३६४ और ३६५।

फ़ारसी 'ख़ुदा' वस्तुतः 'ख़ुद्-आ' है; 'ख़ुद' का अर्थ है स्वयं, और 'आ' 'आयिन्दा' से है, अर्थात् आने वाला। इसमें भाव स्वयंभू सत्ता अथवा द्रव्य का है, और यह निर्मूलता के गुण को व्यक्त करता है। अतः ईश्वर की फ़ारसी धारणा चेतना अथवा जीवन की है, जो अपना उद्गम स्वयं है। निःसन्देह यह शब्द पदार्थ तथा अन्य विद्यमान द्रव्यों पर भी लागू हो सकता था, यदि यह तथ्य न होता कि चेतना उनसे अग्रगण्य होने की अधिकारिणी है, इस आधार पर कि उनके प्रत्यक्ष के लिए वह अनिवार्य है। 'यहोवा' का अत्यन्त रोचक अभिधान अथवा नाम (जो 'याह्वे' का विकृत रूप है, शब्दशः, जीवित यथार्थ),† तथा 'मैं हूँ' यह विशेषण भी, चेतना अथवा जीवन की इसी प्रकार की धारणा पर आश्रित है, और उसका उदाहरण है जिसे जैन दार्शनिक भाव-निक्षेप कहते हैं।‡ क्योंकि दिव्यता जीवन का अविच्छेद्य गुण है, और जीवन का लक्षण 'होना' है,

† देखिए 'द लॉस्ट लैंग्वेज ऑव सिम्बलिज़्म', खण्ड १, पृष्ठ ३०२।

‡ निक्षेप का सम्बन्ध प्राणियों और वस्तुओं के नामकरण की पद्धति से है, और वह चार प्रकार का है:

(१) यादृच्छिक रूप से (नाम निक्षेप), जैसे किसी मनुष्य को वुल्फ़, कृष्ण आदि कह देना;

(२) किसी ऐसे विशेष गुण के सन्दर्भ में जो पहले से उस वस्तु पर आरोपित कर दिया गया हो (स्थापना निक्षेप), जैसे शतरंज में प्रयुक्त काष्ठ-खण्डों को घोड़ा, ऊँट इत्यादि कहना;

(३) वस्तु में निहित सम्भावना के सन्दर्भ में (द्रव्य निक्षेप), जैसे राजा के पुत्र को राजा कहना; और

(४) कार्य अथवा वृत्ति के सन्दर्भ में (भाव निक्षेप), जैसे किसी व्यक्ति को भक्ति करने के कारण भक्त कह देना।

अतएव ईश्वर का वर्णन उस रूप में किया जा सकता है जो 'है'। यदि हम इन शब्दों को जीवन के, जो ईश्वर के रूप में मानवीकृत है, मुख में रख दें, तो वे बन जाएँगे 'मैं हूँ', अथवा 'मैं वही हूँ जो है', अर्थात् 'मैं वह हूँ जो है'। तदनुसार हम संसार के प्रायः समस्त शास्त्रों में ईश्वर को अपना नाम 'मैं हूँ' के रूप में प्रकट करते हुए पाते हैं।

कभी-कभी जब जीवन की अनिर्वचनीय प्रकृति पर बल देना अभीष्ट होता है, तब 'मैं हूँ' 'मैं वही हूँ जो मैं हूँ' बन जाता है। ज़रथुस्त्री धर्म में सर्वशक्तिमान् के अत्यन्त गुप्त नामों में से एक 'अह्मि' (मैं हूँ) है। ऐसा ही 'अह्मि यत् अह्मि' (मैं वही हूँ जो मैं हूँ) है।§

§ 'आइसिस अनवेल्ड' (Isis Unveiled), खण्ड २, पृष्ठ २२१; अवेस्ता, १७, ४ तथा ६।

पुराने नियम में कहा गया है कि ईश्वर ने मूसा पर अपना नाम प्रकट करते हुए कहा, "मैं जो हूँ सो हूँ", और उसे यह निर्देश दिया कि वह इस्राएल के लोगों से कहे: 'मैं हूँ' ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है (निर्गमन ३:१४)।

इसी प्रकार हिन्दू शास्त्रों में भी वह निरपेक्ष तत्त्व "सोऽहम् अस्मि" (मैं वही हूँ जो है) के महान् अनिर्वचनीय नाम से जाना जाता है।¶ संस्कृत 'अस्मि यद् अस्मि' का शाब्दिक अर्थ है, 'मैं वही हूँ जो मैं हूँ'।

¶ ईशावास्य उपनिषद्, १६। तथा देखिए गंगा प्रसाद कृत 'द फ़ाउंटेन-हेड ऑव रिलीजन' (The Fountain-Head of Religion)।

ईसा मसीह ने भी 'मैं हूँ' का प्रयोग जीवन के सन्दर्भ में किया, जब उन्होंने कहा, "इब्राहीम के होने से पहले मैं हूँ", जिसका अभिप्राय है '"मैं हूँ" इब्राहीम से पूर्व था'। निश्चय ही यह विचार और अभिव्यक्ति का कोई आकस्मिक संयोग मात्र नहीं है, और यह धर्म की समस्त विवेकसम्मत पद्धतियों के नीचे विद्यमान एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार को, और सब सम्भावनाओं में एक सामान्य उद्गम को भी, प्रकट कर देता है।

किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि ईश्वरत्व की वह मूल धारणा, जैसी कि ईश्वर के नामों के रूप में प्रयुक्त शब्दों की व्युत्पत्ति से प्रकट होती है, अपने भीतर स्रष्टा के विचार जैसा कुछ भी नहीं रखती; और न ही हमें उसकी चतु:सीमा के भीतर ऐसा कुछ मिलता है जो धर्मशास्त्रियों द्वारा अपने देवता पर मनुष्य-सदृश संकल्प करने वाले और पश्चात्ताप करने वाले व्यक्तित्व के आरोपण का समर्थन करता प्रतीत हो। तब आश्चर्य ही क्या, यदि आधुनिक विचारकों ने, आज के धर्मशास्त्र की इस मिलावटी धारणा को विवेकपूर्ण चिन्तन के साथ असंगत पाकर, ईश्वर के विचार को ही सर्वथा अस्वीकार कर दिया है।

यह विवाद एक प्रकार के घड़ीसाज़ के चारों ओर केन्द्रित हो गया है, जो स्रष्टा की धर्मशास्त्रीय धारणा का प्रतिनिधित्व करता है। जिस प्रकार घड़ी को देखकर मनुष्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कोई घड़ीसाज़ है जिसने उसे बनाया, उसी प्रकार विश्व को देखकर धर्मशास्त्री उछलकर इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि कोई मनुष्य-सदृश विश्व-निर्माता है जिसकी यह कारीगरी अवश्य होगी; और अपने पक्ष के समर्थन की उत्सुकता में वह अपनी ही इन्द्रियों के साक्ष्य को नकारने में भी संकोच नहीं करता। वह दर्शन दीन ही है, और उससे भी दीन वह धर्मशास्त्र, जिसे अपने प्रस्तावों को सिद्ध करने के लिए असत्य का आश्रय लेना पड़े। हमें उसे उचित रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए जो सबके सामने प्रत्यक्ष है, और सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न प्रत्येक मूल्य पर करना चाहिए, चाहे उसमें पूर्वाग्रह की उन 'मूर्तियों' का विध्वंस ही क्यों न सम्मिलित हो जिन्हें हम स्नेहपूर्वक सँजोए रखते हैं।

पिछले अध्याय में यह पहले ही स्थापित किया जा चुका है कि जगत् की सृष्टि की धारणा विवेकपूर्ण चिन्तन के लिए ग्राह्य नहीं है; किन्तु अभी तक यह निश्चित नहीं हुआ कि ईश्वर व्यक्तियों का स्रष्टा है अथवा नहीं? अतः आगे बढ़ने से पूर्व हम इस विषय का अन्वेषण करेंगे।

सृष्टि के विचार के सम्बन्ध में जो प्रथम प्रश्न उठता है, वह यह है कि ईश्वर कुछ भी बनाने का कष्ट क्यों उठाए? भिन्न-भिन्न पद्धतियों ने इसका भिन्न-भिन्न उत्तर दिया है। एक पद्धति सुझाती है कि उसने जगत् बनाना चाहा क्योंकि ऐसा करना उसे रुचिकर लगा; दूसरी, कि वह अकेलापन अनुभव करता था और साथ चाहता था; तीसरी, कि वह ऐसे प्राणी रचना चाहता था जो उसकी महिमा का गान करें और उसकी

उपासना करें; चौथी, कि उसने यह क्रीड़ा-भाव से किया, इत्यादि। किन्तु अन्तिम को छोड़कर, वह भी एक सीमित अर्थ में जो शीघ्र ही स्पष्ट हो जाएगा, इनमें से कोई भी उत्तर न तो विषय के अनुरूप है और न सन्तोषजनक। प्रारम्भ में ही यह ध्यान देना आवश्यक है कि यदि ईश्वर स्वयं में पूर्ण और परिपूर्ण है, तो उसमें कोई इच्छा अथवा अतृप्त लालसा हो ही नहीं सकती; क्योंकि आनन्द, जो ईश्वरत्व का एक गुण अवश्य होना चाहिए, केवल चेतना की उस अवस्था का ही नाम है जिसमें अपने ही स्वरूप में पूर्णता और परिपूर्णता का ज्ञान ही नहीं, अपितु समस्त इच्छाओं का अभाव भी हो। अतः यदि ईश्वर अपनी सृष्टि की अर्चना में सुख ढूँढ़ता, तो वह स्वयं में सुखी नहीं हो सकता था, क्योंकि तब उसका सुख दूसरों के अस्तित्व और कर्मों पर निर्भर होता।

* जो लोग अपने ईश्वर में क्रोध का आरोपण करते हैं, वे भूल जाते हैं कि क्रोध ईश्वरत्व का गुण नहीं है, क्योंकि ईश्वर को सुखी मानना ही चाहिए, और क्रोध सुख का प्रतिपक्ष है, जो तभी उत्पन्न होता है जब वस्तुएँ वैसी नहीं होतीं जैसी होनी चाहिए, और इस प्रकार चित्त का सन्तुलन और प्रशान्ति भंग कर देती हैं। अतएव जो क्रुद्ध है, वह उसी क्षण सुखी नहीं हो सकता। अब यदि यह सत्य है कि ईश्वर समस्त वस्तुओं को देखता है, तो उसे अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में मानवीय दुष्टता और पाप का वह पूरा दृश्य-पट देखना पड़ता होगा, जिसका मात्र वर्णन ही कभी-कभी रक्त को क्षोभ से उबाल देने के लिए पर्याप्त होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि यदि वह चिड़चिड़ा देवता हो, तो उसे सुख की तो बात ही क्या, अपने लिए एक क्षण की मानसिक शान्ति भी कदाचित् ही मिलती। किन्तु जिस सत्ता के जीवन में सुख का एक क्षण भी न हो, वह ईश्वर के रूप में किसी और के किस काम आ सकती है। स्वयं सुख की अभावग्रस्त होकर वह निश्चय ही उसे दूसरों को प्रदान नहीं कर सकती। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर की चेतना में क्रोध का कोई स्थान नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त, सर्वज्ञता पर यह कहना कलंक ही है कि वह यह पूर्वदृष्ट न कर सकी कि दुःखी मरणधर्माओं के साथ से सुख नहीं मिल सकता। कोई सर्वप्रज्ञ, सर्वज्ञ ईश्वर अज्ञानी, दयनीय अभागों से—और निःसन्देह हममें से अधिकांश ऐसे ही हैं—यह आशा कैसे कर सकता था कि वे अपने रक्तस्रावी हृदयों की भक्ति उसे अर्पित करेंगे, विशेषतः जब हम स्वयं देववाद के ही प्रमाण पर यह जानते हैं कि यदि उसने हमें रचा ही न होता तो हमारे लिए कोई कष्ट और शोक होता ही नहीं? पुनः, यदि स्रष्टा सर्वशक्तिमान् है, जैसा कि उसे माना जाता है, तो उसे ऐसा जगत् रचने में प्रसन्नता क्यों होनी चाहिए जहाँ उसकी सृष्टि का अनिवार्य भाग शोक और पीड़ा ही हो? यदि उसे साथ ही अभीष्ट है, तो वह अपने साथ के लिए अधिक सुखी प्राणी क्यों न बनाए? धर्मशास्त्र की विविध पद्धतियों द्वारा दिए गए उत्तरों पर ये कुछ आपत्तियाँ हैं, और इनका बल इतना प्रत्यक्ष है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

भगवद्गीता, इस तथ्य के प्रति पूर्णतया सजग होकर कि इच्छा किसी न्यूनता की पूर्ति अथवा चित्त के किसी रिक्त स्थान को भरने की अभिलाषा की सूचक है, और इसलिए अपने ईश्वरत्व में सृष्टि की इच्छा तक का आरोपण करने में असमर्थ होकर, सृजनात्मक क्रिया को ईश्वर के तत्त्व का ही एक स्वाभाविक व्यापार बना देने के द्वारा इस कठिनाई से बच निकलने का प्रयत्न करती है। वह भगवान् से कहलवाती है:—

> **"हे कौन्तेय, कल्प के अन्त में समस्त प्राणी मेरी अपरा प्रकृति में प्रवेश कर जाते हैं; और कल्प के आदि में मैं उन्हें पुनः प्रकट करता हूँ। अपनी ही प्रकृति में गुप्त रहकर मैं प्रकृति के वश से परतन्त्र इस समस्त प्राणि-समूह को बारम्बार प्रकट करता हूँ। मेरे अध्यक्षत्व में प्रकृति चराचर को उत्पन्न करती है; इसी कारण यह विश्व घूमता रहता है। और न ही ये कर्म मुझे बाँधते हैं...क्योंकि मैं उदासीन के समान स्थित हूँ, कर्म में अनासक्त।"**

क़ुरआन भी घोषित करता है:—

> **"उसका सिंहासन आकाशों और पृथ्वी पर विस्तीर्ण है, और उनकी देखभाल उस पर भार नहीं बनती।" (अध्याय २)**

जो भाव व्यक्त किया गया है वह यह है कि सृष्टि ईश्वर की ओर से किसी सोद्देश्य प्रयत्न का परिणाम नहीं, अपितु उसकी स्वाभाविक क्रियाशीलता से निष्पन्न होती है, जिससे जगत्-निर्माण के लिए उसमें किसी इच्छा का आरोपण नहीं किया जा सकता। इसी अर्थ में जगत्-निर्माण को भगवान् की लीला (क्रीड़ा) कहा जाता है।

किन्तु यह धर्मशास्त्र के लिए घातक है, क्योंकि 'लीला का स्वामी' कोई सत्ता नहीं, अपितु एक शक्ति है—वही शक्ति जो हमारे सोते समय हमारे लिए स्वप्नों का जगत् रचती है, अर्थात् कल्पना की क्षमता, अथवा जीवन का प्रतिमा-निर्माणकारी व्यापार। आगे चलकर हम देखेंगे कि विचार मनुष्य के अधिकार में एक प्रचण्ड शक्ति है, जिसे प्रकृति के साम्राज्य पर आधिपत्य पाने के लिए उसे केवल समझना और उपयोग में लाना है। 'द सीक्रेट डॉक्ट्रिन' (The Secret Doctrine) में कहा गया है:

> **"रूप का एक ही उद्गम है—विचार की वह रहस्यमयी शक्ति, जो उसे अपनी ही अन्तर्निहित ऊर्जा से बाह्य, प्रत्यक्षगम्य, परिघटनात्मक परिणाम उत्पन्न करने में समर्थ बनाती है।"**

सन्त यूहन्ना के सुसमाचार का लेखक भी लिखता है:—

> **"आदि में वचन था, और वचन परमेश्वर के साथ था, और वचन परमेश्वर था।... सब कुछ उसी के द्वारा उत्पन्न हुआ; और जो कुछ उत्पन्न हुआ है, उसमें से कोई भी वस्तु उसके बिना उत्पन्न नहीं हुई।... और वचन देहधारी हुआ।"**

> **'ब्रह्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में, जो नाम वेदान्त निरपेक्ष तत्त्व को देता है, प्रोफ़ेसर मैक्स म्यूलर का मत है कि उसका मूल अर्थ प्रतीत होता है 'वह जो फूट पड़ता है अथवा प्रस्फुटित होता है'—चाहे विचार और वाणी के रूप में, अथवा सृजनात्मक शक्ति या भौतिक बल के रूप में ('द वेदान्त फ़िलॉसफ़ी'—The Vedanta Philosophy, पृष्ठ २२ तथा १४२)।**

अतः कल्पना, अथवा मन, निर्विशेष रूप में लिया जाए, अर्थात् समस्त आत्माओं में समान एक गुण के रूप में, वही धर्मशास्त्र का स्रष्टा है। इसी कारण रहस्यवादी प्रकार के प्रायः समस्त धर्म ईश्वर का वर्णन एक सर्वव्यापी तत्त्व के रूप में करते हैं। भगवद्गीता में भी कहा गया है:—

> **"मेरे अव्यक्त स्वरूप से यह समस्त जगत् व्याप्त है; समस्त प्राणी मुझमें स्थित हैं, मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। मेरे ईश्वरीय योग को देख! मैं प्राणियों का आधार हूँ, फिर भी प्राणियों में स्थित नहीं; मैं ही उनका निमित्त कारण हूँ। जैसे सर्वत्र संचरण करती हुई महान् वायु आकाश में स्थित है, वैसे ही समस्त प्राणी मुझमें स्थित हैं—ऐसा तू जान।"**

इसी आशय का कथन पवित्र बाइबिल में भी है:

> **"देख, स्वर्ग में, वरन् सर्वोच्च स्वर्ग में भी, तू नहीं समाता" (१ राजा ८:२७)।**

सन्त पौलुस के मन में भी दिव्य अन्तर्व्याप्ति का यही भाव था, जब उन्होंने कहा*:—

> **"उसी में हम जीवित हैं, चलते-फिरते हैं और स्थित हैं।"**

* देखिए प्रेरितों के काम १७:२८।

यदि अब हम इस विचार का उसके रहस्यवादी परिवेश से पृथक् करके विश्लेषण करें, तो हम पाएँगे कि दिव्य अन्तर्व्याप्ति का अर्थ इससे न अधिक है न न्यून कि जाति अथवा वर्ग की उन व्यक्तियों में अन्तर्व्याप्ति है जो उसके अन्तर्गत आते हैं; अर्थात् उनके बीच एक अमूर्तन-तत्त्व की उपस्थिति, जिनसे उसे विचार में पृथक् कर लिया गया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य-सदृश स्रष्टा का विचार विवेक को किसी भी रूप में ग्राह्य नहीं। साधारणतया यह तर्क इस विषय का निपटारा करने के लिए पर्याप्त होता, किन्तु चूँकि सगुण स्रष्टा की धारणा के साथ गहरी जड़ें जमाए हुए पूर्वाग्रह जुड़ गए हैं, अतः हम धर्मशास्त्र की भ्रान्ति को उघाड़ने के लिए इस सिद्धान्त का और भी परीक्षण करेंगे।

धर्मशास्त्री, जगत् के अपने मनुष्य-सदृश स्थपति की धारणाओं के साथ, यह मानता है कि आत्माएँ ईश्वर द्वारा बनाई जाती हैं ताकि वे उन मांस के आवासों में निवास करें जिन्हें वह भी उनके लिए बनाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक आत्मा उसी क्षण रची जाती है ताकि वह किसी शरीर में, जैसे ही वह बने, निवास करे; जिससे वह अपने अस्तित्व, अपनी दशा और अपने परिवेश के लिए किसी भी प्रकार उत्तरदायी नहीं, क्योंकि उनके अभिकल्पन और निर्माण में उसका कोई 'हाथ' ही नहीं था। इस प्रकार, यदि कोई आत्मा अज्ञानी जन्मती है, तो यह उसका दोष नहीं; क्योंकि उसके ईश्वर ने उसे वैसा ही रचा। किन्तु प्रश्न यह है: सर्वशक्तिमान् स्रष्टा अज्ञानी आत्माएँ क्यों रचे और फिर उनके प्रबोधन के लिए निरन्तर पैगम्बर और उद्धारक भेजता रहे, और उनके बीच परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का प्रचार होने दे, जिससे साधारणतया सत्य को जानना प्रायः असम्भव ही हो जाए? और यह सब कुछ नहीं है, क्योंकि हमें बताया जाता है कि भ्रान्तियों की इस प्रहसन-लीला का चरम अंक न्याय के दिन घटित होगा, जब वही न्यायी और सर्वशक्तिमान् ईश्वर न्याय-आसन पर बैठकर मनुष्यों की भूलों और त्रुटियों का न्यायिक रूप से निर्धारण और उद्घोषण करेगा, और उन्हें उनके कर्मों के अनुसार दण्ड अथवा पुरस्कार देगा; और देखिए! वे पुरस्कार और दण्ड अनन्त होंगे। और आगे ऐसा प्रतीत होता है कि अज्ञान का निवेदन स्वीकार नहीं किया जाएगा, जिससे कोई आत्मा यह नहीं कह सकेगी कि उसे जो बुद्धि प्राप्त हुई थी, वह उसे सन्तोषपूर्वक यह सिद्ध न कर सकी कि पैगम्बर मुहम्मद की शिक्षा पुत्र मसीह के सिद्धान्त से अधिक विश्वास के योग्य थी, अथवा इसके विपरीत। और उसका क्या जो अपनी माता के गर्भ में ही मर जाता है? हाय! उसे भी न्याय के दिन दण्ड अथवा पुरस्कार पाने के लिए उपस्थित होना होगा, और स्वर्ग अथवा नरक भेजा जाना होगा, क्योंकि लोकप्रचलित ईश्वरवाद की सृष्टि-मीमांसा में आत्माओं के जाने के लिए कोई तीसरा स्थान है ही नहीं। उसे एक स्थान पर ही क्यों भेजा जाए और दूसरे पर नहीं, यह न्यायिक विवेक के प्रयोग के लिए किसी नियम के अभाव में विशुद्ध स्वेच्छाचारी संकल्प की ही बात प्रतीत होती है। किन्तु यह विवेक को स्वीकार्य होने के लिए पर्याप्त रूप से असंगत है। अपने उन प्रिय बन्धुओं के प्रति सम्पूर्ण आदर रखते हुए जो इन सिद्धान्तों में श्रद्धा रखते हैं, हम यह कहने को विवश हैं कि ऐसी धारणाएँ मध्ययुग के अन्धकारमय दिनों में तो सद्बुद्धि अथवा सुदृढ़ दर्शन के रूप में चल जाती होंगी, किन्तु हमारी

सभ्यता की बीसवीं शताब्दी में बुद्धिमान् लोगों को यह अपेक्षा करने का अधिकार है कि जो अपने को मनुष्यों का आध्यात्मिक गुरु घोषित करते हैं, वे अव्यवस्थित वाणी के प्रवाह के स्थान पर संगत विवेक प्रस्तुत करें।

जो भी हो, मुख्य बात यह है कि क्या आत्माओं की सृष्टि का आरोपण किसी देवता पर करना विवेकसम्मत है? इस विषय में यह आशा है कि निम्नलिखित तर्क हमें उन सरल द्रव्यों की सृष्टि की धारणा के प्रति अपने उन्मत्त मोह से मुक्त करने के लिए पर्याप्त होगा, जिन्हें प्रकृति में सनातन रूप से विद्यमान मानने के अतिरिक्त और कुछ माना ही नहीं जा सकता।

यदि आत्मा चेतन तत्त्व है, तो या तो ईश्वर उसे अपने ही शरीर से गढ़ता है, क्योंकि उसे विशुद्ध चेतन तत्त्व कहा जाता है, अथवा किसी आध्यात्मिक 'मिट्टी' के पिण्ड से, जो सम्भवतः उसके पास हो।* किन्तु प्रथम स्थिति में, प्रत्येक रची हुई आत्मा ईश्वर की सत्ता को घटाती जाएगी, जो असंगत है, क्योंकि ईश्वर अपरिवर्तनशील और अविकारी है;

* यह ध्यान देने योग्य है कि किसी वास्तविक, अर्थात् सरल व्यक्तित्व अथवा सत्ता के लिए स्वयं को विभाजित कर लेना सर्वथा असम्भव है, क्योंकि सरल द्रव्य विभाजन अथवा विच्छेद के योग्य नहीं होता, उसके ऐसे कोई अवयव ही नहीं होते जो एक-दूसरे से पृथक् किए जा सकें।

और दूसरी स्थिति में, अर्थात् इस मान्यता पर कि ईश्वर के पास आध्यात्मिक 'मिट्टी' का कोई पिण्ड है जिससे वह आत्माएँ गढ़ता है, यह आध्यात्मिक मिट्टी का पिण्ड या तो परमाणुओं से बना होगा, अथवा अपनी प्रकृति में अपरमाणविक होगा। यदि पहला, तो प्रत्येक आध्यात्मिक परमाणु चेतन तत्त्व के रूप में पहले से ही विद्यमान है, और उसकी सृष्टि का आरोपण ईश्वर पर करना सर्वथा निरर्थक है। न ही यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर इस आध्यात्मिक द्रव्य के अनेक 'परमाणुओं' को संयुक्त करके आत्माएँ बनाता है, क्योंकि चेतन तत्त्व एक सरल द्रव्य है। दूसरी परिकल्पना पर—कि वह आध्यात्मिक 'मिट्टी' अपनी संरचना में अपरमाणविक है—उसे छोटी-छोटी आत्माओं में तोड़ना सम्भव ही न होगा, क्योंकि वह स्वयं उस द्रव्य की प्रकृति के विरुद्ध होगा। 'शून्य' से सृष्टि की एकमात्र शेष परिकल्पना दर्शन में ग्राह्य नहीं है। चेतन तत्त्व की प्रकृति ईश्वर की प्रकृति से ही प्रकट है, जिसे चेतन तत्त्व और अकृत कहा जाता है। अब, चूँकि द्रव्यों की प्रकृति व्यक्तिगत विश्वासों के अनुरूप बदलती नहीं, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि ईश्वर के प्रसंग में चेतन तत्त्व अकृत है, तो वह अन्य समस्त प्रसंगों में भी वैसा ही होना चाहिए। अतः समस्त आत्माएँ सनातन और अकृत हैं, अर्थात् स्वयंसिद्ध हैं।

इस अवस्था में हम जितना स्वीकार करने को उद्यत हों, उससे कहीं अधिक लाभ हमें इस बात के जानने से होगा कि सत्ता के द्रव्य से सम्बद्ध गुणों की दृष्टि से देखा जाए तो ईश्वरत्व किसी भी साधारण आत्मा से किंचिन्मात्र भी भिन्न नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार स्वर्ण सारे संसार में स्वर्ण ही रहता है, चाहे वह हमें हिमालय में मिले अथवा उत्तरी अमेरिका के विस्तीर्ण घास-प्रान्तरों में, उसी प्रकार आत्म-द्रव्य जहाँ कहीं और जिस किसी रूप में भी पाया जाए, आत्म-द्रव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इस प्रकार, एक ही द्रव्य से बनी हुई वस्तुओं में उस अशुद्धि के तत्त्व को छोड़कर, जो किसी एक व्यक्ति में लगी हुई मिले और किसी दूसरे में नहीं, और कोई भेद सम्भव नहीं। और ईश्वर तथा मनुष्य में ठीक यही भेद है; एक शुद्ध आत्मस्वरूप है, पूर्णता में पूर्णतया विकसित, और दूसरा अब भी पाप और मालिन्य के कीचड़ में लोट रहा है। इसी से ईश्वर मनुष्य की कल्पना के लिए पूर्णता का आदर्श है — उस मनुष्य की, जिसका अन्तस्तत्त्व उससे किसी भी अंश में कम शुद्ध, कम दिव्य और कम अकृत नहीं जिसकी वह मुक्ति पाने के लिए उपासना करता है।

अब हमें यह निश्चित करना है कि क्या ईश्वर को शरीरों का निर्माता कहा जा सकता है। यहाँ भी धर्मशास्त्र के पास अपने सिद्धान्त के समर्थन में घड़ीसाज़ की उसी पुरानी उपमा के अतिरिक्त और कुछ प्रस्तुत करने को नहीं है, और उसके विरुद्ध जो आपत्तियाँ उठती हैं उनके उत्तर में कहने को कुछ भी नहीं। सर्वप्रथम तो यही कि गर्भावस्था की अवधि में इतना बहुमूल्य समय व्यर्थ क्यों जाता है? सर्वशक्तिमान् ईश्वर किसी प्राणी को बनाने का निश्चय करता है, किन्तु उसकी आज्ञा का पालन तत्काल क्यों नहीं होता? फिर, ईश्वर उस प्राणी को बनाने का निश्चय करता है, किन्तु अनेक स्थलों पर वह गर्भावस्था में ही समाप्त हो जाता है। प्रश्न यह है कि उसकी मृत्यु किसी अन्य शक्ति के व्यापार से हुई, अथवा प्रभु ने निर्माण की प्रक्रिया के मध्य में ही अपना विचार बदल दिया? यदि पहली बात है, तो हम और भी अधिक कठिनाइयों में जा पड़ते हैं, क्योंकि तब वह विनाशकारी शक्ति स्पष्टतः स्रष्टा से अधिक बलवती ठहरती है, क्योंकि वह उसकी आज्ञाओं को निरस्त कर सकती है। और यदि दूसरी बात है, तो ईश्वर को एक मनमौजी, चंचल और परिवर्तनशील सत्ता मानना पड़ेगा, जो चरित्र-बल और गरिमा से रहित है तथा अपने ही आदेशों के प्रति आदर से शून्य है। इस प्रकार एक स्थिति में स्रष्टा का प्रयत्न उसकी असमर्थता के कारण विफल होता है, और दूसरी में उसकी चित्त-चंचलता के कारण। इतना ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि सृष्टि की कल्पना सर्वथा अस्थिर और असमर्थनीय है। रचना-कौशल का जो प्रमाण अथवा आभास सृष्टिवाद के पक्ष में सबसे प्रबल तर्क माना जाता है, वह चारों ओर बिखरी हुई अपूर्णताओं के प्रमाण से कहीं अधिक मात्रा में सन्तुलित हो जाता है।

यदि श्रद्धालु धर्मशास्त्री इस समस्या पर शान्त चित्त से विचार करे, तो उसे शीघ्र ही ज्ञात हो जाएगा कि उसकी यह व्याख्या — कि ईश्वर शरीर का निर्माता है — स्वयं उसकी ही अपनी उस धारणा से मेल नहीं खाती जो वह अपने परमेश्वर की गरिमा के विषय में रखता है, जिसे वह इस उतावली में न केवल प्रत्येक सदाचारी दम्पति के, अपितु उन सबके भी संकेत और पुकार पर खड़ा कर देता है जो व्यभिचार, परस्त्रीगमन और अगम्यागमन के पाप में लिप्त हैं। यदि ईश्वर अपने ही निर्धारित शील-संहिता के कतिपय उल्लंघनों की स्पष्ट शब्दों में निन्दा करता है — और धर्मशास्त्र हमें विश्वास दिलाता है कि वह करता है — तो उसकी अपनी ही आज्ञाओं के उल्लंघन के फलस्वरूप उत्पन्न सन्तानों की सृष्टि का श्रेय उसे कैसे दिया जा सकता है? जिस कर्म की वह ज़ोर देकर भर्त्सना करता है, उसी को आशीर्वाद और फल देने वाला उसे बताना उसे उन्मत्तों और शिशुओं की श्रेणी में रख देना है। सम्भव है अब धर्मशास्त्री देवदूतों की ओट लेकर यह कहे कि शरीर का निर्माण उनके ही हाथों होता है; किन्तु देवदूत तो केवल पिता की इच्छा का ही पालन करते हैं, अतः व्यभिचार, परस्त्रीगमन और अगम्यागमन के प्रत्येक प्रसंग में शिशु का निर्माण उसी की अनुमति से हुआ मानना पड़ेगा।

इसके अतिरिक्त यह जानना भी रोचक होगा कि ईश्वर शरीर बनाता किस प्रकार है — किसी साधारण श्रमिक के समान अपने हाथों से, अथवा हाथों के बिना, अर्थात् केवल एक आज्ञा-वचन से? यदि हम यह कहें कि वह उसे अपने हाथों से बनाता है, तो समस्त विश्व में सब प्रकार के प्राणियों के अनन्त शरीरों को बनाने के लिए अनन्त हाथ चाहिए; किन्तु यह असंगत है, क्योंकि इस कल्पना के अनुसार तो वह केवल हाथ-ही-हाथ* होगा, और कुछ नहीं। और न ही ईश्वर की गरिमा इससे बढ़ती या प्रकट होती है कि वह भ्रूण-वृद्धि की समस्त अवधि तक अपने हाथ ऐसे अपवित्र† स्थानों में डाले रखे जैसे कि कतिपय गर्भाशयों को — कम से कम उन प्रसंगों में तो अवश्य ही, जहाँ स्त्री गर्भाधान के पश्चात् भी पुरुष के समागम का निषेध नहीं करती — होना ही पड़ता है। दूसरा विकल्प भी उतना ही अस्थिर है, क्योंकि ईश्वर के वचन और किसी सजीव अंगी के निर्माण के बीच कार्य-कारण का कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

इससे भी आगे, यदि कोई बाह्य कर्ता शरीर की रचना करे, तो वह सजीव अंगी (organism) न होकर एक निर्मित वस्तु होगी; क्योंकि उसका बनना परिधि से केन्द्र की ओर चलेगा। अतएव स्वयं ईश्वर के लिए भी किसी सजीव अंगी को बनाना असम्भव है, जब तक कि वह भीतर से न बनाए; और उस दशा में उसे स्वयं उस प्राणी की 'आत्मा' ही बन जाना पड़ेगा — किन्तु यह तो ईश्वरवादी धर्मशास्त्र द्वारा गृहीत स्थिति के लिए ही प्राणघातक होगा।

और अधिक विचार करने पर हम यह देख पाते हैं कि भौतिक शरीर की रचना ईश्वर के कर्तृत्व से केवल दो में से किसी एक प्रकार से ही जोड़ी जा सकती है: या तो वह आत्मा को केन्द्र मानकर आरम्भ करता है और फिर उस पर पदार्थ का लेप चढ़ाता जाता है, अथवा वह पहले शरीर को उसी प्रकार बनाता है जैसे कोई मनुष्य घर बनाता है, और फिर उसमें रहने के लिए आत्मा को बिठा देता है। किन्तु दोनों ही दशाओं में आत्मा न तो शरीर के द्वारा क्रिया कर सकेगी और न उसकी अनुभूतियों को अपनी ही अनुभूति के रूप में वेदन कर सकेगी, क्योंकि दोनों ही स्थितियों में वास्तविक आत्मीयता की ऊष्मा का अभाव रहेगा। आत्मा शरीर के साथ अनुभव कर सके, इसके लिए आवश्यक है कि वह उसके बढ़ते हुए आकार के साथ निरन्तर फैलती जाए, जिससे विकास के प्रत्येक क्षण में निवास और निवासी के बीच पूर्ण सामंजस्य बना रहे। वृद्धि की परिघटना न तो आत्मा पर पदार्थ का लेप चढ़ाया जाना सूचित करती है, और न वह किसी किरायेदार द्वारा घर में बस जाने के सदृश ही है; वह तो स्वयं 'निवासी' के द्वारा आवश्यक सामग्री के ग्रहण और आत्मसात् किए जाने का फल है। सजीव प्राणियों की वृद्धि और विकास की प्रक्रिया पर एक दृष्टि डालना ही इस तथ्य के विषय में विश्वास उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि भौतिक शरीर तब तक बन ही नहीं सकता जब तक स्वयं आत्मा उसकी निर्मात्री न हो। ईश्वरवादी धर्मशास्त्र के लिए शेष एकमात्र विकल्प यह कहना है कि ईश्वर केवल शरीर-निर्माण का पर्यवेक्षण करता है; किन्तु इसमें भी आत्मा की अपना शरीर बनाने की सामर्थ्य स्वीकार कर ही ली जाती है, क्योंकि हम पत्थरों को राजमिस्त्री बनने का प्रशिक्षण तो नहीं दे सकते। इसके अतिरिक्त, जब हम विकृत और विकलांग शरीरों के प्रसंगों को देखते हैं — उन दृष्टान्तों की तो बात ही क्या जिनमें शिशु जन्म से पूर्व ही मर जाता है — और भौतिक शरीरों में शारीरिक तथा मानसिक सामर्थ्य की विषमताओं को देखते हैं, तब यह निष्कर्ष अनिवार्य और अपरिहार्य हो जाता है कि शरीर का निर्माण किसी पूर्ण और निष्पक्ष स्थपति का कार्य नहीं हो सकता। ये सारी कठिनाइयाँ उसी क्षण हमारे मार्ग से लुप्त हो जाती हैं जब हम आत्मा को ही उसका अपना ईश्वर और अपने ही शरीर का निर्माता स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार एक ओर तो शास्त्र-वचन का — कि ईश्वर शरीर बनाता है — सच्चा दार्शनिक अभिप्राय रत्ती भर भी नष्ट नहीं होता, और दूसरी ओर शरीर की अपूर्णताएँ तथा परिवेश, परिस्थिति और अवस्थाओं की विषमताएँ उस प्रक्रिया की यान्त्रिक प्रकृति से तथा आत्मा के पूर्व कर्मों के प्रभाव से उत्पन्न 'बीजों' और 'गर्भाशयों' के भेद से भली भाँति समझ में आ जाती हैं।

* अधिक प्रबुद्ध धर्मशास्त्रियों के अनुसार ईश्वर के हाथ होते ही नहीं।

† यह तर्क उस अस्थिर धारणा का भी निराकरण कर देता है कि सूर्य के नीचे जो कुछ भी होता है उस सबके होने के लिए ईश्वर का कर्तृत्व अपेक्षित है। तब तो हमें ईश्वर को न केवल घास उगाते, बीज अंकुरित करते और मादा के स्तनों में दुग्ध बनाते हुए मानना पड़ेगा, अपितु मनुष्यों और पशुओं के शरीरों में पीब, लार, मूत्र और मल जैसी कुरूप और मलिन वस्तुओं का निर्माण करते हुए भी! किन्तु यह तो इतना उपहासास्पद है कि इस पर विचार तक नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त के अतिरिक्त, धर्मशास्त्री की यह धारणा कि परमेश्वर संकल्प करता है और फिर पश्चात्ताप भी करता है, वस्तुएँ बनाता है और फिर बनाकर पछताता है, एक और आधार पर भी अग्राह्य है — वह यह कि यह पूर्णता की उस कल्पना के सर्वथा विपरीत है जो ईश्वर का अनिवार्य गुण है। हम अपनी अपूर्णताओं के कारण भूल करने योग्य हैं; किन्तु जो नित्य और सर्वज्ञ है, और जिसके लिए भूत, वर्तमान और भविष्य खुली पुस्तक के समान हैं, उसे प्रज्ञा सिखाने के लिए अनुभव की आवश्यकता नहीं होती। 'साइकिक फिनॉमिना' (Psychic Phenomena) से उद्धृत निम्नलिखित अंश विचाराधीन विषय के लिए प्रासंगिक है।

तर्क की ससीम प्रक्रियाओं के विषय में जो कहा गया है, वही अनुभव के विषय में भी लागू होता है; अतः कोई भूलें और गड़बड़ियाँ करने वाला स्रष्टा किसी प्रकार भी सर्वज्ञ ईश्वर नहीं माना जा सकता। इस प्रकार ईश्वर की वह पूर्णता, जिसे सब दृष्टियों से परिपूर्ण होना ही चाहिए, ऐसे संकल्प करने और पश्चात्ताप करने वाले देवता की कल्पना के साथ असंगत है, जो मानवता के दीन, अज्ञ और दुर्बल प्राणियों को रचता है और फिर आग्रह करता है कि वे अपने रक्त-रंजित तथा अनाश्वस्त हृदयों की भक्ति उसे अर्पित करें। अतएव सच्चा ईश्वरत्व ऐसी सत्ता अथवा सत्ताओं में ही हो सकता है जो उस विकारयुक्त मानवीय प्रकृति की दुर्बलताओं से ऊपर उठ चुकी हों, जिन्हें आधुनिक धर्मशास्त्र अपने ईश्वर पर आरोपित करता है।

इन्हीं तथा ऐसे ही अन्य कारणों से ईश्वरत्व का उस वस्तु से भी कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता जिसे जगत् का संचालन कहा जाता है। किस लौकिक — अथवा इस विषय में कहें तो किस पारलौकिक — प्रयोजन से वह, जिसका अस्तित्व ही उच्चतम कोटि की पवित्रता की विशुद्धतम अभिव्यक्ति है, स्वयं को जगत् का प्रबन्धक बना ले? शासन और पवित्रता में, निश्चय ही, मेल नहीं बैठता, चाहे कोई चाटुकार जिह्वा कतिपय राजाओं को पवित्र कहने में कितना ही आनन्द क्यों न लेती हो; क्योंकि पवित्रता सदाचरणों से नहीं बनती — वे तो गृहस्थ के धर्म (उचित आचरण) की सीमा भर हैं — वह तो सन्न्यास (त्याग) से ही आरम्भ

होती है। अतएव जिसने संसार की ओर पीठ नहीं फेरी — और जो वस्तुतः उसका शासन करता है, उसके विषय में तो यह कहा ही नहीं जा सकता कि उसने ऐसा किया है — वह पवित्र माने जाने का अधिकारी नहीं।

जहाँ तक ईश्वर के प्रयोजन का प्रश्न है, वह निश्चय ही मृगतृष्णा-सा ही कुछ होगा, यदि अपनी सर्वशक्तिमत्ता के रहते हुए भी वह अब तक अपने मार्ग के विघ्नों को पार न कर सका; अथवा फिर दोष उसकी सर्वज्ञता का होगा, यदि वह उसे यह चेतावनी न दे सकी कि वह अपने प्रयोजन की सिद्धि की बात कुछ अधिक ही जल्दी सोच रहा है। और न ही तथ्य उस सर्वशक्तिमत्ता के गुण के पक्ष में कुछ अधिक कहते हैं जो लोकों के इस परम शासक में माना जाता है। क्योंकि किसी साधारण आरक्षी अधिकारी के विषय में हम क्या सोचेंगे यदि वह यह जानते हुए भी कि कोई डाकू किसी मनुष्य को तलवार से मारने जा रहा है, उसकी रक्षा के लिए हाथ न बढ़ाए? अपराधी को दण्ड देना निःसन्देह न्याय है, किन्तु क्या हम उस सिपाही को उचित ठहराएँगे जो खड़ा-खड़ा देखता रहे और पीड़ित को बचाने के लिए कुछ न करे? और यदि किसी साधारण सिपाही का ऐसा आचरण अक्षम्य रूप से अनुचित है, तो उस सत्ता के लिए, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, ऐसे अत्याचार को होने देना कितना अधिक बुरा होगा? यदि हम जान-बूझकर तथ्यों से आँखें न मूँदें, तो हमें दिखाई देगा कि जीवन विपत्तियों और महाविनाशों से कुछ अधिक ही भरा हुआ है, जिनमें से अधिकांश निश्चय ही टाले जा सकते थे यदि प्रकृति किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और दयालु ईश्वर के मार्गदर्शन में होती। जैसा कि श्री जोसेफ़ मैक्केब (Joseph McCabe) अपनी ‘बैंकरप्सी ऑफ़ रिलिजन’ (Bankruptcy of Religion) में (पृष्ठ ३४) संक्षेप में कहते हैं,

> **“आप उस पिता के विषय में क्या सोचेंगे जो पूर्णतया समर्थ होते हुए भी खड़ा-खड़ा यह देखता रहे कि उसकी पुत्री के साथ घोर अत्याचार हो रहा है? और क्या आप सन्तुष्ट हो जाएँगे यदि वह पिता आपको यह सिद्ध कर दे कि उसकी पुत्री ने किसी प्रकार उसकी गरिमा का अपमान किया था?”**

समुद्रों और मरुभूमियों पर मूसलाधार वर्षा, जब कि उसकी एक समयोचित बूँद कहीं और किसी व्यापक दुर्भिक्ष को टालने के लिए अपेक्षित हो; आयु, लिंग और निर्दोषता का विचार किए बिना महामारी और तलवार द्वारा जीवन का थोक संहार; भूकम्प और बाढ़ द्वारा विस्तीर्ण विनाश, जो प्राणियों को अकथनीय पीड़ा पहुँचाते हैं — ये सब इस बात के प्रबल साक्षी हैं कि इनकी उत्पत्ति प्राकृतिक नियम से निर्धारित होती है, न कि किसी ऐसी परम दयालु बुद्धि से जो अपने मार्ग से किसी भी प्रकार के समस्त विरोध को कुचल देने में समर्थ हो।

अतएव हमारा निष्कर्ष यह है कि परमेश्वर को विश्व का शासक मानने की धारणा उतनी ही निराधार और अयुक्तिसंगत है जितनी यह असंगत कल्पना कि ईश्वरत्व किसी जगत् की रचना करने में निहित है।

अब हमें आत्म-द्रव्य की अमूर्तता के विषय में प्रचलित उस भ्रान्ति की ओर ध्यान देना चाहिए, जिसका अर्थ प्रायः यह लगा लिया जाता है कि उसमें किसी भी प्रकार की द्रव्यता का ही निषेध है। यह कि निरपेक्ष अमूर्तता की कल्पना का खण्डन प्रकृति सर्वत्र करती है, किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि जो कुछ है, उसकी कोई मूर्त सत्ता अवश्य होनी चाहिए, और वह किसी न किसी प्रकार की द्रव्यता के बिना अचिन्त्य है। प्रकृति में जहाँ कहीं सत्ता है, वहाँ आकाश का अवगाहन है; और जहाँ आकाश का अवगाहन है, वहाँ किसी न किसी प्रकार की द्रव्यता है। इसके विपरीत किसी सत्ता-अवस्था की कल्पना करना बुद्धि के लिए सम्भव नहीं। जैसा कि हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) बल-केन्द्रों के विषय में कहते हैं:—

> **"विस्तार से रहित बल-केन्द्र न केवल अकल्पनीय हैं, अपितु हम किसी प्रकार के पदार्थ के माध्यम के बिना, विस्तारयुक्त अथवा विस्तारहीन — किन्हीं भी बल-केन्द्रों की ऐसी कल्पना नहीं कर सकते कि वे दूर से ही अन्य ऐसे केन्द्रों को आकृष्ट अथवा विकर्षित करते हों।" ('द फर्स्ट प्रिंसिपल्स' — The First Principles)**

हर्बर्ट स्पेंसर के ये विचार किसी प्रकार के विस्तार से रहित सत्ता की समस्त कल्पनाओं पर पूरे बल के साथ लागू होते हैं; क्योंकि जो है, उसे अनन्त आकाश के किसी न किसी भाग में होना ही चाहिए, और इस प्रकार जो उसमें नहीं है वह कल्पना की विशुद्ध उपज मात्र है। किन्तु जो आकाश में है, उसे उसका कोई न कोई भाग अवगाहित करना ही होगा, और इसलिए उसकी सत्ता के आधार-रूप में द्रव्यता का कोई अधिष्ठान अवश्य होना चाहिए। चेतना की भी द्रव्यता के अधिष्ठान से पृथक् कल्पना करना असम्भव है। सम्भव है हम कभी न जान पाएँ कि चेतना का द्रव्य कैसा है, किन्तु उसे द्रव्यता से रहित सत्ता मानना तो सर्वथा असम्भव ही है।

> **'आत्म-द्रव्य' (spirit) शब्द ने, प्रतीत होता है, मध्ययुग के अदार्शनिक धर्मशास्त्रियों को सब प्रकार की उन्मत्त और कपोल-कल्पित अटकलों की छूट दे दी थी, और आज भी हमारी जाति का विशाल बहुमत उसके यथार्थ अभिप्राय के विषय में सर्वथा अनिश्चित जान पड़ता है। इस शब्द के चारों ओर जो दार्शनिक धुन्ध छा गई है, उसके परिणामस्वरूप 'आत्म-द्रव्य' पद भ्रान्ति और विवाद का एक विपुल स्रोत बन गया है। यह विचार कि ईश्वर आत्मस्वरूप है, बुद्धिवाद की दृष्टि से जाँचने पर यह अर्थ नहीं रखता कि वह सर्वथा अमूर्त है, अपितु केवल इतना ही कि जिस द्रव्य से उसकी सत्ता बनी है वह उस**

> **प्रकार का नहीं है जिससे भौतिक शरीर बनते हैं। आत्म-द्रव्य की अमूर्तता से बुद्धि वह नहीं समझती जो मूर्तता अथवा द्रव्यता के समस्त अधिष्ठान से रहित हो, अपितु वह समझती है जो लोक-प्रचलित अर्थ में पदार्थ नहीं है। अतएव ईश्वर को समस्त द्रव्यता से सर्वथा रहित मानना बुद्धि के लिए अग्राह्य है।**

आत्म-द्रव्य के विषय में आकाश-अवगाहन की धारणा को उसी प्रकार समझना चाहिए जिस प्रकार प्रकाश आकाश को अवगाहित करता है। जैसे दीपक का प्रकाश आकाश में रहता है, किन्तु उसी आकाश को प्रकाशित करने में — और इस प्रकार अवगाहित करने में — अन्य प्रकाशों को कोई बाधा नहीं देता, वैसे ही आत्म-द्रव्य, जो प्रकाश से भी सूक्ष्मतर है, आकाश को अवगाहित तो करता है किन्तु इस प्रकार नहीं कि अन्य वस्तुओं में बाधा डाले; और जैसे अनन्त प्राणियों की दृष्टियाँ आकाश के एक ही बिन्दु पर केन्द्रित हो सकती हैं, वैसे ही अनन्त आत्मिक सत्ताएँ, अर्थात् आत्माएँ, एक ही स्थान में रह सकती हैं।

अब ईश्वरत्व के सम्बन्ध में अनन्तता की धारणा हमारे ध्यान की अपेक्षा करती है। कभी-कभी यह कल्पना की जाती है कि ईश्वर एक सर्वव्यापी सत्ता है — यहाँ तक कि वेदान्त भी अपने ब्रह्म को भौतिक अर्थ में वस्तुतः सर्वव्यापी मानता है। किन्तु यह विचार किसी भी अर्थ में बुद्धि के अनुकूल नहीं है। क्योंकि जिन दो प्रकारों से हम ईश्वर की सत्ता की कल्पना कर सकते हैं — अर्थात् एक व्यक्ति-सत्ता के रूप में, अथवा एक तत्त्व के रूप में — उनमें से कोई भी उसे असीम आकाश के साथ समव्याप्त नहीं बना सकता। जहाँ तक पहले का प्रश्न है, इतना कहना ही पर्याप्त है कि किसी सजीव सत्ता की हमारी कल्पना आकाश के विषय में हमारी धारणाओं से इतनी मूलतः भिन्न है कि उन दोनों को भौतिक विस्तार की दृष्टि से समव्याप्त मान लेना कल्पना की ओर से आत्म-वंचना की बाजीगरी मात्र होगा। यही आपत्ति ईश्वर की उस सर्वव्यापकता पर भी लागू होती है जो उसे एक तत्त्व मानकर मानी जाती है; और वह इस अतिरिक्त आधार पर भी अग्राह्य है कि किसी पारभौतिक अमूर्त-भाव का यह स्वभाव ही नहीं कि वह आकाशगत अर्थ में सार्वत्रिक व्याप्ति का भोग करे। हमारे मन में उसकी कल्पना का वर्णन करने के लिए कितने ही चुने हुए शब्दों का प्रयोग क्यों न किया जाए, उसकी ओर संकेत करने में हम कितने ही सुरुचिपूर्ण वाक्यांश क्यों न बरतें, तथ्य यह बना रहता है कि चेतना के गुण की हमारी धारणा आद्यन्त एक पारभौतिक अमूर्त-भाव है, और स्वयंसिद्ध द्रव्य के रूप में वह उतनी ही अचिन्त्य है जितना कि उन असंख्य परमाणुओं से पृथक् पदार्थ, जो वस्तुतः और यथार्थतः उस सबका प्रतिनिधित्व करते हैं जिसे प्रकृति मूर्तता, अर्थात् पदार्थ, की हमारी धारणा में मान्य ठहराती है। और यदि प्रकृति पदार्थ को एक अकेले परमाणु की सीमा से अधिक व्याप्ति नहीं देती, तो क्या वह चेतना को यह अनुमति देगी कि वह अपना साम्राज्य आत्मा की चौहद्दी के परे फैला ले? जो पारभौतिकवादी सुविधाजनक एकीकरणों तथा विशुद्ध शाब्दिक अमूर्तताओं

की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों से होकर इस सदा-जागरूक 'ईश्वरत्व' पर चोरी-छिपे बाज़ी मार लेने की आशा रखता है, वह सदा के लिए यह जान ले कि वह वस्तु-व्यवस्था को, जैसी वह सत्ता में देखी जा रही है, कभी उलट नहीं सकेगा — वह केवल अपनी ही मानसिक दृष्टि को इतना विकृत कर सकेगा कि जो सीधा है वह उसे टेढ़ा दिखाई दे।

बुद्धिवाद की बत्ती को तनिक-सा उकसा देने से ही हम यह देख सकेंगे — यद्यपि सम्भव है हम पूर्वग्रह का रंगीन चश्मा पहने ही रहें — कि यह व्याप्ति भी, जो ईश्वर के लिए उस वस्तु के द्वारा सिद्ध की जाती है जिसे अविवेकी पक्षपात के लिए पहले से ही निश्चित तर्क के मन-भ्रमकारी खोल कहा जा सकता है, वह नहीं है जिसकी आकांक्षा हम अब तक करते आए हैं; क्योंकि वह उस निरपेक्ष सर्वव्यापकता के लक्षित शिखर से बहुत ही पीछे रह जाती है, जिसे — ठीक हो अथवा अनुचित, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता — ईश्वरत्व के गठन का अनिवार्य अंग माना जाता है। क्योंकि चेतना की व्याप्ति चेतन द्रव्य तक ही सीमित है, और उसमें पदार्थ सम्मिलित नहीं। द्रव्य का निम्नलिखित सारणी-रूप में वर्गीकरण उन लोगों के लाभार्थ इस बात को स्पष्ट करने में उपयोगी होगा जिन्हें मानसिक अमूर्तीकरण के इस शास्त्र का विशेषज्ञ परिचय नहीं है।

द्रव्य — (१) चेतन द्रव्य (आत्मा); (२) अचेतन द्रव्य, अर्थात् पदार्थ, ईथर आदि।

यहाँ एक दृष्टि डालना ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि चेतन द्रव्य 'द्रव्य' नामक जाति का एक अंश मात्र है, और इसलिए उसके साथ अभिन्न नहीं माना जा सकता। अतएव यदि किसी बौद्धिक बाजीगरी से एक विशुद्ध अमूर्त-भाव को मूर्त यथार्थ मानकर पारभौतिकी को भौतिकी में बदलना सम्भव भी हो जाए, तो भी जाति और उपजाति का भेद समस्त अन्तरों को एक ही साथ मिटा देने की अनुमति नहीं देगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर की सर्वव्यापकता की धारणा भौतिक अर्थ में अग्राह्य है।

चेतना पर आरोपित अनन्तता के प्रकार का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए यह ध्यान में रखना उचित है कि 'अनन्त' शब्द तीन भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है, अर्थात्: प्रथमतः, असीमता के भाव को व्यक्त करने के लिए, जैसा कि आकाश के विषय में; द्वितीयतः, संख्यात्मक विपुलता के भाव को प्रकट करने के लिए, जो संख्या की अगणनीयता और अक्षयता को सूचित करती है, जैसा कि काल के क्षणों अथवा पदार्थ के कणों के विषय में; और तृतीयतः, ज्ञान की उस असीमता के भाव को प्रकट करने के लिए जो सीमाओं अथवा परिधि-भित्तियों के स्वभाव वाली किसी भी वस्तु से इतनी सर्वथा रहित है कि उसे किसी भी प्रकार से ससीम माना ही नहीं जा सकता।

अब, हम देख चुके हैं कि ईश्वर की अनन्तता प्रथम प्रकार की नहीं है; अतः जो प्रश्न हल करने को शेष रह जाता है वह यह है: क्या वह शेष दो प्रकारों में से किसी एक में अथवा दोनों में अनन्त है? किन्तु दूसरा प्रकार भी उसके लिए अनुपयुक्त है, क्योंकि किसी को भी शब्द के संख्यात्मक अर्थ में अनन्त नहीं कहा जा सकता। इससे हमारे पास केवल तीसरा प्रकार ही शेष रहता है, और वही वस्तुतः ईश्वरत्व से सम्बद्ध अनन्तता का यथार्थ प्रकार है।

ईश्वर की अनन्तता इस तथ्य से सिद्ध होती है कि वह शुद्ध आत्मस्वरूप है, अर्थात् चेतना है, उन समस्त प्रकार की अशुद्धियों से मुक्त जिनमें अमुक्त आत्माएँ फँसी हुई हैं; और चेतना की अनन्तता इस तथ्य से प्रकट है कि वह समस्त वस्तुओं को जानने की शक्ति से युक्त है, तथा ज्ञान के उस स्वभाव से भी, जो उसी का पर्यायवाची है। अब, चूँकि ज्ञान अनन्त विस्तार और विशालता में समर्थ है और अपने भीतर अनन्तता का बीज धारण किए हुए है, इसलिए चेतना स्वभावतः अनन्त हुए बिना रह ही नहीं सकती। अतएव चेतना का शुद्धतम रूप पूर्ण सर्वज्ञता से, अर्थात् काल अथवा आकाश से असीमित ज्ञान से, युक्त होना ही चाहिए।

यह न समझ लिया जाए कि ईश्वरत्व से आकाशगत प्रकार की अनन्तता का निषेध करने से उस परात्पर की पवित्रता अथवा पूर्णता में किसी प्रकार की कमी आ जाती है; प्रत्युत, यदि वह विशेषण उस पर लगाया जाए जो सर्वत्र फैला हुआ हो, तो वह अपने सच्चे अर्थ से ही वंचित हो जाएगा। देखा जाएगा कि पवित्रता और पूर्णता का आकार की असीमता पर कोई अवलम्बन नहीं है — अन्यथा विशालकाय शरीर वाले सभी पूर्ण और पवित्र होते — अपितु उनका अवलम्बन कर्मों की अशुद्धि, अर्थात् पाप, से मुक्ति पर है। ईश्वर पर सर्वव्यापकता के आरोपण का कारण मानव-मन की उस प्रवृत्ति में खोजना चाहिए जो अतिशयोक्तिपूर्ण रूपक के प्रयोग में आनन्द लेती है। चूँकि ईश्वर की सर्वज्ञता उसे सब कालों और सब स्थानों की समस्त वस्तुओं को जानने में समर्थ बनाती है, इसलिए वह मानो सर्वत्र उपस्थित है। ऐसे रूपक को केवल इतना प्रचलित होने भर की देर है कि उसके साथ लगे हुए विशेषक वाक्यांश में निहित बोध की कष्टसाध्य माँग से वह छुटकारा पा जाए — और तब 'अदीक्षित' जन उसे नितान्त शाब्दिक अर्थ में ग्रहण किए बिना नहीं रहते।

अब हमें यह निश्चित करने का प्रयत्न करना चाहिए कि सर्वज्ञता और आनन्द वस्तुतः ईश्वरत्व के गुण हैं अथवा नहीं, जैसा कि उन्हें कहा जाता है। इस विषय में यह देखने के लिए थोड़ा-सा ही विचार पर्याप्त है कि वे दोनों व्यक्तिगत आत्मा के स्वभाव से ही सम्बद्ध हैं, और इसलिए ईश्वर से भी सम्बद्ध हुए बिना नहीं रह सकते, जो मनुष्य में जो कुछ श्रेष्ठ है उसी की पूर्णता का प्रतीक है।

प्रथमतः, ज्ञान की पूर्णता के विषय में, वह इस तथ्य से सुनिश्चित है कि आत्मा शुद्ध चेतना है जिसका कार्य जानना है, और इस तथ्य से कि समस्त वस्तुएँ स्वभाव से ज्ञेय हैं। चेतना आत्मा के द्रव्य का ही स्वभाव है, और समस्त वस्तुएँ स्वभाव से ज्ञेय हैं; अतः प्रत्येक व्यक्ति के मूल स्वभाव के विषय में पूर्ण और परिपूर्ण सर्वज्ञता का प्रतिपादन करना ही होगा। इस प्रतिज्ञा को वह कोई भी सहज ही स्वीकार कर लेगा जो इस तथ्य को पूरा महत्त्व दे कि समस्त वस्तुएँ स्वभाव से ज्ञेय हैं — जिसका अर्थ यह नहीं कि आज हमारे लिए कुछ भी अज्ञात नहीं है, अपितु यह कि जो कभी किसी के द्वारा भी नहीं जाना जाएगा वह असत् है; क्योंकि जो कभी किसी को ज्ञात नहीं होगा, वह विद्यमान है, यह कभी ज्ञात ही नहीं होगा, सिद्ध होना तो दूर की बात है; और कठोर प्रमाण के बिना किसी भी वस्तु के पक्ष में सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती। यह मानना तक भी अनुज्ञेय नहीं कि 'अज्ञेय' का अर्थ अनिश्चित संख्या के कुछ गुणों का समुच्चय है जिनमें से कुछ कभी ज्ञात न हो सकें; क्योंकि उन अज्ञेय गुणों में से किसी के भी अस्तित्व का दावा करने का, तर्कसंगत होने से जान-बूझकर इनकार करने के अतिरिक्त, हमारे पास कोई भी कारण कभी नहीं होगा। अतएव इस स्थापना से कोई बचाव नहीं कि समस्त वस्तुएँ ज्ञेय हैं।

अब, चूँकि किसी द्रव्य के स्वाभाविक गुण उसकी समस्त इकाइयों अथवा व्यक्तियों में पाये जाते हैं, अतः यह स्पष्ट है कि जो एक व्यक्ति को ज्ञात है वह अन्य समस्त के द्वारा भी जाना जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि विचारों की कोई अनन्तता हो, जिनमें से प्रत्येक एक समय में केवल एक ही व्यक्ति को ज्ञात हो, तो प्रत्येक आत्मा की चेतना उन सबकी सम्पूर्ण अनन्तता को जानने में शक्तिरूप से समर्थ है। अतएव प्रत्येक आत्मा शक्तिरूप से सर्वज्ञ है, अर्थात् प्रत्येक प्राणी की चेतना समस्त वस्तुओं को, काल और देश से अपरिमित रूप में, जानने की क्षमता से युक्त है। इस निष्कर्ष में आश्चर्य करने योग्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान का अर्थ मात्र चेतना की एक अवस्था है, जो अपने ही स्वरूप-द्रव्य का विकार अथवा परिणमन होने के कारण आत्मा के द्वारा अनुभूत होती है। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य से बनी है; अन्य शब्दों में, जीव ज्ञान का शुद्ध मूर्तरूप है।*

* इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये प्रस्तुत लेखक कृत 'द साइंस ऑफ़ थॉट' (The Science of Thought)।

दूसरे, जहाँ तक सुख का प्रश्न है, प्रत्येक विचारशील प्राणी को यह स्पष्ट होना चाहिये कि यदि दुःख आत्मा के स्वभाव का अनिवार्य अंग होता, तो देवताओं के आनन्द के लिये हमारी अभिलाषा व्यर्थ होती। किन्तु वह ऐसा नहीं है, यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि उसकी उत्पत्ति सदैव आत्मा से बाह्य कारणों की उपस्थिति के कारण ही होती है। इसके अतिरिक्त, अनुभवों में जो सर्वाधिक दुःखद हैं उनका भी किसी न किसी समय अन्त होता ही है, ठीक वैसे ही जैसे उनका जो सुखद हैं। यह देखा जायगा कि सुख और दुःख

दोनों ही आत्मा के विकार अथवा परिणमन के स्वभाव वाले हैं, क्योंकि उनके अनुरूप कोई वस्तु बाह्य जगत् में विद्यमान कभी ज्ञात नहीं हुई, और इसलिये भी कि व्यक्ति अपनी ही अवस्थाओं अथवा विकारों के अतिरिक्त और कुछ अनुभव नहीं कर सकता। जो घटित होता प्रतीत होता है वह यह है कि आत्म-द्रव्य का अनुकूल परिणमन सुख की अनुभूति उत्पन्न करता है, जब कि प्रतिकूल विकार से विपरीत प्रकार की संवेदना उठती है। सुख और दुःख दोनों ही क्षणिक हैं, जैसा पहले कहा जा चुका है, और उनमें दुःख ही इस संसार में — जिसे उपयुक्त ही अश्रुओं की घाटी कहा गया है — प्राणियों का प्रायः भाग्य रहा है। यहाँ जो थोड़ा-सा सुख प्राप्त होता है, वह भी इतनी चिन्ता और कष्ट के पश्चात् मिलता है, और सामान्यतः इतना दुःख उत्पन्न करता है, कि यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि वह पीड़ा में जन्म लेता है और आँसुओं में समाप्त होता है। इसके अतिरिक्त, तृप्ति तो केवल तृष्णा को ही बढ़ाती है, और वासना वृद्धावस्था में इन्द्रियों के क्षीण होने पर अनिवार्य रूप से व्यथा की ओर ले जाती है। इस प्रकार, यदि इन्द्रिय-तृप्ति ही प्रकृति में पाये जाने वाले सुख का एकमात्र रूप हो, तो आत्मा के सम्बन्ध में सुख की पूर्णता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। किन्तु सौभाग्य से, एक अन्य प्रकार का आनन्द भी है जो प्राणियों के लिये सम्भव है और जिससे वे प्रायः पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं। यह शुद्ध आह्लाद के स्वाभाविक 'स्पन्दन' में निहित है, जो आत्मा का स्वभाव ही होने के कारण उस क्षण उसका अविच्छिन्न सहचर बन जाता है जब व्यक्ति स्वयं को अपने ही शुद्ध स्वरूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित कर लेता है।

यदि हम उस आनन्द के स्वरूप को समझना चाहते हैं जो ईश्वर का गुण है, तो हमें पहले हर्ष के विचार का विश्लेषण करना होगा, क्योंकि वह आनन्द से केवल मात्रा में ही भिन्न है। आरम्भ में ही हमें सुख और हर्ष के बीच भेद करना चाहिये। पूर्व तो मात्र इन्द्रियों की तृप्ति है, अतएव क्षणभंगुर और अल्पजीवी — 'कुछ काल तक रहने वाला और तत्पश्चात् समाप्त हो जाने वाला आह्लाद' ('इम्पीरियल डिक्शनरी' — Imperial Dictionary)। 'सुख' शब्द, जब अविशेषित हो, आह्लाद अथवा हर्ष की अपेक्षा कम उत्तेजना अथवा प्रसन्नता व्यक्त करता है। इस प्रकार सुख इन्द्रियों का व्यापार है, और उसका वास्तविक अनुभव उसी काल तक सीमित रहता है जब तक वे अपने विषयों के सम्पर्क में रहती हैं; यथा, भोजन तभी तक स्वादिष्ट और रुचिकर है जब तक रसना-ग्रन्थियाँ उसके वास्तविक सम्पर्क में हैं, किन्तु तब नहीं जब खाने की क्रिया समाप्त हो चुकी और वह उदर में चला गया। हर्ष, इसके विपरीत, एक भावावेग है और उसमें स्वतन्त्रता का तत्त्व निहित है। वह प्रफुल्लता अथवा उल्लास की अवस्था है, और चित्त के उत्साह को सूचित करता है। धार्मिक शब्दावली में वह एक साथ ही महिमामय और विजयी होने की अवस्था का द्योतक है, जैसा इस वचन में है —

> **"जिस ने उस आनन्द के लिये जो उसके आगे धरा था, क्रूस का दुःख सहा।" —इब्रानियों १२:२।**

हर्ष के विचार को पूर्णतया ग्रहण करने के लिये हमें कोई ऐसा वास्तविक दृष्टान्त विचारना होगा जिसमें वह उत्पन्न होता है; क्योंकि तभी हम उसका यथार्थ तात्पर्य समझ सकेंगे।

हम उस विद्यार्थी का उदाहरण लें जो अपनी वार्षिक परीक्षा में बैठा है, और जो अपनी सफलता का समाचार सुनकर उस संवाद पर हर्ष का अनुभव करता है। प्रश्न यह है कि उसका हर्ष कहाँ से उत्पन्न होता है? अन्य शब्दों में, उसके चित्त का उत्साह किस कारण उपजता है? यदि हम उस मानसिक परिवर्तन का विश्लेषण करें जो इस समाचार से हुआ, तो हम पायेंगे कि न तो समाचार स्वयं, और न सफलता का समाचार, अपितु उसकी निश्चितता ही स्पष्टतः उसके भावावेग का हेतु है। क्योंकि यदि समाचार प्रामाणिक न हो, तो सूचना के अत्यन्त सुखद स्वभाव के होते हुए भी उल्लास की समुचित अनुभूति जाग्रत नहीं हो सकती। तब हर्ष चित्त की वह अवस्था है जिसकी जड़ें मानसिक प्रतीति में, अन्य शब्दों में, श्रद्धा में हैं। सुख, यह एक दृष्टि में ही देखा जा सकता है, श्रद्धा पर तनिक भी निर्भर नहीं करता, क्योंकि वह भावावेग नहीं है और किसी मानसिक प्रतीति से उत्पन्न नहीं होता।

पुनः, वह बालक केवल और केवल इसीलिये हर्षित अनुभव करता है कि कोई स्थायी वस्तु उपलब्ध हो गई है, क्योंकि उसे यह विश्वास है कि भविष्य में उसे उस विशेष परीक्षा में फिर कभी नहीं बैठना पड़ेगा। उसका बन्धन, कम से कम जहाँ तक वह विशेष कार्य सम्बद्ध है, अब सदा के लिये समाप्त हो गया। इस प्रकार हर्ष उत्साह की वह अवस्था है जो किसी स्थायी और चिरन्तन हित के परिणामस्वरूप, अर्थात् आत्मा से कुछ बन्धनों के हट जाने से, प्रकट होती है। सुख का विचार यहाँ किसी भी अर्थ में हर्ष के विचार के साथ पग नहीं मिला सकता; क्योंकि जहाँ सच्चा हर्ष किसी क्लेशकर दायित्व अथवा सीमा से स्थायी मुक्ति का बोध है और इसी कारण एक भावावेग है, वहाँ सुख केवल अस्थायी है और अपने अविशेषित अर्थ में स्वतन्त्रता का कोई भाव नहीं देता।

हम इस सिद्धान्त को चाहे उस वणिक् के प्रसंग में लगायें जो विपुल सम्पत्ति संचित कर लेता है, चाहे उस सेनानायक के प्रसंग में जो युद्ध की लूट और सम्मानों से लदा हुआ अपने घर की ओर पग लौटाता है, चाहे उस प्रेमी के प्रसंग में जो अपनी प्रिया के अधरों से मन्द स्वर में कहा हुआ 'हाँ' सुनता है, अथवा सफलता के किसी भी अन्य प्रसंग में — परिणाम वही रहता है। प्रत्येक दृष्टान्त में हर्ष का भावावेग इस विश्वास के परिणामस्वरूप उमड़ता है कि उसी वस्तु के लिये फिर कभी प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। अतएव भावी तनाव और प्रयास से मुक्ति का बोध ही हर्ष का प्रत्यक्ष और साक्षात् कारण है।

संसार में मनुष्य एक विशाल पाठशाला में एक बड़े विद्यार्थी के समान है, और उसे अपने जीवन में अनेक परीक्षाएँ उत्तीर्ण करनी पड़ती हैं। जिस-जिस परीक्षा को वह सफलतापूर्वक उत्तीर्ण करता है, उसकी आत्मा से कुछ बन्धन हट जाते हैं, और इस प्रकार वह अपनी बढ़ती हुई स्वतन्त्रता के विचार पर हर्ष अनुभव करता है। जैसे विद्यार्थी पाठशाला छोड़ते समय अपनी पुस्तकें एक ओर रख देता है, वैसे ही वह संसार छोड़ते समय अपनी विवेचक बुद्धि को एक ओर रख देगा, यदि वह अपनी परीक्षाओं में सफल हुआ है।

तो क्या हम उस हर्ष की तीव्रता का सही अनुमान लगा सकते हैं जिसे हमारा यह 'विद्यार्थी' तब अनुभव करेगा, जब वह न केवल वह समस्त विद्या प्राप्त कर लेता है जो हमारी सांसारिक पाठशालाओं में पढ़ाई जा सकती है, अपितु विवेचक बुद्धि की समस्त कोटियों को निःशेष करके उस शक्ति पर ही अधिकार पा लेता है? कौन उस अनुभूति की, अथवा कहिये स्वतन्त्रता के उस भावावेग की गहराई को माप सकता है, जिसे ऐसा पुरुष, जिसने समस्त ज्ञान पर अधिकार पा लिया है और समस्त सन्देहों का नाश कर दिया है, अपनी मुक्त अवस्था में अनुभव करेगा? उसका आकलन अथवा माप* निश्चय ही बुद्धि से परे है, क्योंकि वह भावात्मक है, और बुद्धि भावों से व्यवहार करने का दावा नहीं करती। उसका वर्णन केवल उस भाषा द्वारा ही, और वह भी अत्यन्त क्षीण रूप में, किया जा सकता है जो स्वीकृत रूप से बुद्धि का ही अनुसरण करती है और उसकी संकल्पनाओं को शब्दों में आवृत करती है। अतएव आनन्द का वर्णन करते हुए अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि वह सत्ता की एक परम मंगलमयी अवस्था है जिसमें आत्मा में हर्ष उमड़ता है, शुद्ध परमानन्द की तरंग पर तरंग के रूप में, अविरल क्रम में — जो फिर भी क्रम नहीं है, उस अर्थ में जिसमें वह शब्द हमारे द्वारा अभिव्यक्ति के लिये सामान्यतः प्रयुक्त होता है।

* अनुभूतियाँ स्वभावतः एक-दूसरे से मात्रात्मक रूप से भिन्न नहीं हो सकतीं, क्योंकि वे स्वभाव से मानसिक हैं और परिमाणों के समान मापी नहीं जा सकतीं। किन्तु वे तीव्रता की दृष्टि से, अर्थात् गुणात्मक रूप से, भिन्न होती हैं, जैसे भिन्न-भिन्न वर्ण अथवा किसी एक रंग की छायाएँ। किसी विशेष अनुभूति की तीव्रता इस पर निर्भर करती है कि उस समय के लिये अन्य समस्त संवेदनाएँ, विचार और भावावेग चित्त से कितने अधिक या कम बहिष्कृत हुए हैं, तथा इस पर कि चित्त उससे सम्बद्ध विचार के विवरणों पर कितनी दृढ़ता से टिका रहता है। पेशियों के वे विकार और संकोच, जो भीतरी अवस्थाओं की बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं, निःसन्देह भिन्न-भिन्न अनुभूतियों और संवेदनाओं के साथ भिन्न होते हैं, और उनमें संलग्न क्षेत्र की न्यूनाधिकता के द्वारा परिमाण की धारणा उत्पन्न करते हैं, जिससे हम एक प्रकार से भीतरी मानसिक अवस्थाओं के गुण का मात्रात्मक अनुमान लगा पाते हैं; किन्तु यह शुद्ध बुद्धि का ही कार्य है, जो समस्त परिघटनाओं की व्याख्या परिमाण के पदों में करती है, और जिसके प्रयोग में ही वह निपुण है।

इसकी प्रतीति का सर्वोत्तम उपाय यह है कि आप शरीर पर उनके प्रभावों की सहायता लिये बिना यह ज्ञात करने का प्रयत्न करें कि क्रोध प्रेम से कितना अधिक भारी है, अथवा सद्गुण दुर्गुण से कितना अधिक दीर्घ है, इत्यादि।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि शुद्ध हर्ष एक ऐसी अवस्था है जो किसी बाह्य पदार्थ के अवशोषण से अस्थायी रूप में उत्पन्न नहीं की जाती, अपितु जो आत्मा के स्वभाव में ही अन्तर्निहित है और उससे बन्धनों के हट जाने से अभिव्यक्ति में आती है। अब, किसी विशेष उद्यम में मनुष्य की स्थायी सफलता आत्मा से अभाव के एक विचार को हटा देती है और उसे, मानो, उस निराशा के दलदल से ऊपर उठा देती है जिसमें वह उस विशेष वस्तु की अभिलाषा के कारण गिरा दी गई थी। इस प्रकार उसके बन्धन अभाव के उन विचारों में, अर्थात् इच्छाओं में, निहित हैं जिन्हें उसने अपने चारों ओर एकत्र कर लिया है; और ज्यों-ज्यों अभाव अथवा इच्छा का प्रत्येक विचार पूर्णता और सफलता के विचार से प्रतिस्थापित होता है, त्यों-त्यों वह अपनी वास्तविक अन्तर्निहित महिमा में विजयी और उल्लसित होकर उठ खड़ी होती है, और शुद्ध हर्ष से उछल पड़ती है।

> **'डिलाइट' (delight) अर्थात् आह्लाद शब्द स्वयं, यदि उसका विश्लेषण किया जाय, हर्ष की अनुभूति का अत्यन्त यथार्थ बोध कराता है। वह एक समस्त शब्द है, जो लैटिन उपसर्ग 'दे' (de) से — जो वृद्धि अथवा तीव्रता के भाव को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त होता है — तथा 'लाइट' (light) से, जो 'भारी' के विरोध में प्रयुक्त है, बना है; और उसका अर्थ है अनुभूति की वह अवस्था जो आत्मा की चिन्ता-भारित, अर्थात् व्यग्र अथवा शोकाकुल, मनोवृत्ति के विपरीत है। इस प्रकार आह्लाद का अर्थ है मानसिक सुगमता, अर्थात् चिन्ता से मुक्ति, और अतएव उल्लास और हल्केपन की वह अवस्था जो व्यग्रता से छुटकारे की अनिवार्य सहचरी है। 'छुटकारा' शब्द स्वयं भी केवल किसी प्रकार के अवरोध अथवा बन्धन से, अथवा किसी प्रकार की चिन्ता, पीड़ा या भार से, अथवा किसी दायित्व, उत्तरदायित्व या दण्ड से मुक्ति या विमोचन का ही अर्थ देता है, और साथ ही उन्मुक्ति का भी द्योतक है। जो भाव व्यक्त होता है वह किसी प्रकार के बन्धनों के हटने का है, और अतएव स्वतन्त्रता की स्वाभाविक अवस्था के प्राप्त होने अथवा पुनः प्राप्त होने का, न कि किसी परायी या नवीन वस्तु के अर्जन अथवा उपलब्धि का। जब कोई न्यायाधीश किसी बन्दी के पक्ष में दोषमुक्ति का निर्णय सुनाता है, तो उसका आह्लाद महान् होता है, क्योंकि वह तत्क्षण उन समस्त मानसिक व्यग्रताओं की पूर्ण निवृत्ति का अनुभव करता है, अथवा अनुभव करना आरम्भ करता है, जो उस पर लगाये गये अभियोग के कारण उसे दबाये हुए थीं; किन्तु उसकी दोषमुक्ति का तथ्य उसके शरीर, मन अथवा आत्मा में कुछ भी सकारात्मक नहीं जोड़ता, और उसे केवल उसी पूर्वस्थिति का अनुभव कराता है जो तब थी जब उसके अभियोग, बन्दीकरण और विचारण से उपजी विपत्तियों और चिन्ताओं ने उस पर अपने 'बन्धन' नहीं**

> **डाले थे। यह सत्य है कि वह अपने अभियोग से पूर्व अपने को इतना हल्का अनुभव नहीं करता था जितना पश्चात् करता है, किन्तु यह अन्तर हर्ष की उस अभिव्यक्ति के कारण है जो उस समय के लिये कुछ अन्य चिन्ताओं और व्यग्रताओं को भी परे हटा देती है। तब स्वतन्त्रता की पुरानी और नई अवस्थाओं में भेद यह है कि जहाँ पूर्व स्थिति में उसका उपभोग अन्य समस्त विद्यमान चिन्ताओं और व्यग्रताओं से मलिन था, वहाँ उत्तर स्थिति में वह उनमें से कम से कम कुछ से, कुछ समय के लिये, छुटकारे के बोध द्वारा उभरकर सामने आ जाता है। इस प्रकार आह्लाद का अर्थ मात्र आत्मा की स्वतन्त्रता की स्वाभाविक अवस्था है।**

किन्तु संसार के स्त्री-पुरुषों में आह्लाद स्वयं एक अल्पजीवी अवस्था है, क्योंकि उनकी इच्छाएँ, अर्थात् उनके आदर्श और उद्यम, उन्हें सत्ता के स्वाभाविक हर्ष का उपभोग करने का अवकाश विरले ही देते हैं; इसके विपरीत, ज्यों ही कोई विशेष भार आत्मा से हटता है, त्यों ही वे अपने अज्ञानपूर्ण और अस्वाभाविक जीवन के द्वारा उसके स्थान पर दो और भार उस पर लाद देते हैं। इसी कारण उन्हें यह समझ पाना कठिन होता है कि उनकी आत्माओं का वास्तविक स्वभाव दिव्य रूप से आनन्दमय और हर्षपूर्ण है। किन्तु 'मार्ग' पर प्रगति के क्रम में ये बन्धन आत्म-सचेत इच्छा के सचेतन प्रयत्न द्वारा एक के बाद एक हटते जाते हैं, जिससे स्वतन्त्रता और हर्ष के आह्लाद के उत्तरोत्तर अधिक अनुभव होते हैं, जो मुक्ति के बयाने अथवा पूर्वास्वाद के समान हैं; और अन्ततः जब समस्त बन्धन आत्मा से गिर जाते हैं, तब वह मुक्त पुरुष की परमानन्दमयी दृष्टि के समक्ष उस ईश्वर के साथ अभिन्न रूप में प्रकट होती है जो पूर्ण स्वतन्त्रता, सर्वग्राही ज्ञान और अपरिवर्तनीय, अक्षीण आनन्द का भोक्ता है। मर्त्य प्राणियों के हर्ष अथवा आह्लाद और शुद्ध आनन्द की अनुभूति में भेद केवल मात्रा का है, क्योंकि वे दोनों ही आत्मा की स्वतन्त्रता को व्यक्त करते हैं; किन्तु साधारण, अज्ञानी मनुष्यता में उनकी अभिव्यक्ति विपरीत चिन्तन और अस्वाभाविक जीवन के द्वारा शीघ्र ही सतह के नीचे दबा दी जाती है। इस प्रकार वे प्रकट अभिव्यक्ति में तभी आते हैं जब आत्मा से कोई भार उठ जाता है, और तब भी केवल तभी तक जब तक कोई पुराना अथवा अतिरिक्त भार उस पर लाद नहीं दिया जाता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जो हमें आह्लाद देता है वह अनिवार्य रूप से वही है जो हमारी व्यग्रताओं को हटाता है और इस प्रकार उस भार को हल्का करता है जिससे आत्मा दबी हुई है। अब, चूँकि हम व्यग्रता तभी अनुभव करते हैं जब हमारे व्यक्तिगत स्वार्थ किसी प्रकार सम्बद्ध हों, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि जो कुछ भी हमारे ध्यान को, कुछ समय के लिये, हमारे व्यक्तित्व अथवा उसके परोक्ष या अपरोक्ष सरोकारों से हटाता है, वह हर्ष का स्रोत है। सुन्दर भू-दृश्यों, भव्य पर्वतों, कलाकृतियों आदि का दर्शन ऐसे ही विषयों में है। किन्तु उनकी हानि यह है कि वे केवल क्षणिक विश्राम ही देते हैं।

किसी नये खिलौने के प्राप्त होने पर बालक का आह्लाद उस वैज्ञानिक के 'उछलते' भावावेग की तुलना में कुछ भी नहीं है जो सहसा प्रकृति के किसी गुप्त नियम की खोज में सफल हो जाता है, और उस वैज्ञानिक की अनुभूति भी उस रहस्यवादी के शुद्‌ध हर्ष की तुलना में तराजू में हल्की पड़ जाती है जो अपनी देदीप्यमान आत्मा की आभा की एक क्षणिक 'झलक' पा लेता है। इस प्रकार प्राप्त की गई स्वतन्त्रता की स्थायिता की मात्रा ही हर्ष के भावावेग की तीव्रता और अवधि को निर्धारित करती है। अतएव जो अपने को सर्वज्ञ, नित्यमुक्त और, मानो, आनन्द-मात्र का उद्गम ही अनुभव कर लेता है, उसे अनिवार्य रूप से आनन्द का भोग करना ही चाहिये; क्योंकि उसके लिये समस्त व्यग्रताओं और बन्धन का अन्त हो चुका। सुख का इच्छा के साथ, जो आत्मा के स्वाभाविक आह्लाद की अभिव्यक्ति को सीधे मलिन करती है, जो सम्बन्ध है उसे गणितीय रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है — सुख = १ / इच्छा — जिससे यदि हम हर को निरन्तर बढ़ाते जायँ तो हमारी सुख की इकाई घटकर एक अत्यन्त सूक्ष्म भिन्न रह जायगी, किन्तु उसके निःशेष हो जाने पर पूर्ण हो जायगी।

यदि हमारा विश्लेषण ठीक है, तो शोक आत्मा के स्वभाव से परायी अवस्था है, क्योंकि वह उस पर किसी प्रकार के अवरोध अथवा दायित्व, और अतएव भार या बन्धन, के आरोपण से उत्पन्न होता है। हम और आगे जाकर यह भी जोड़ सकते हैं कि शोक, अपनी समस्त सजातीय अनुभूतियों — जैसे दुःख, व्यथा आदि — के सहित, केवल शरीर और आत्मा के संयोग के परिणामस्वरूप ही उठता है; क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, शुद्‌ध आत्मा की स्वाभाविक अवस्था अमिश्रित आनन्द की है। पृथक्-पृथक् लिये जाने पर न शरीर और न आत्मा ही संवेदना के रूप में सुख अथवा दुःख का, और भावावेग के रूप में शोक आदि का अनुभव करने में समर्थ है। क्योंकि शरीर की अपनी कोई अनुभूति नहीं है, और आत्मा की स्वाभाविक अनुभूति हर्षमयता की है। इन प्रतिज्ञाओं में से पहली के प्रमाण में यह तथ्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि यदि मन कहीं अन्यत्र गहराई से लीन हो तो शरीर में पीड़ा का अनुभव नहीं होता, यद्यपि उसके कारण अक्षीण वेग के साथ विद्यमान बने रह सकते हैं और कुछ समय पश्चात् उसे पुनः उत्पन्न कर सकते हैं। दूसरी प्रतिज्ञा को किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं, और वह हर्ष के स्वरूप के हमारे विश्लेषण से स्पष्ट है। ये तथ्य हमें यह कहने का अधिकार देते हैं कि सुख, दुःख और समस्त हर्ष-विरोधी भावावेग आत्मा में तभी उठते हैं जब उसका ध्यान भौतिक शरीर की ओर निर्दिष्ट होता है और उसके सरोकारों में लीन हो जाता है। अतएव यदि आत्मा उस भौतिक शरीर से मुक्त हो जाय जिसके साथ वह भ्रमवश अपनी अभिन्नता मानती है, तो वह अपनी स्वाभाविक अनुभूति का, अर्थात् शुद्‌ध आनन्द का, उपभोग करेगी।

अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि जहाँ तक प्रकृति में मनुष्य के स्थान का प्रश्न है, प्रथम अध्याय में उसके समक्ष रखा गया आदर्श उसके लिये आकांक्षा करने योग्य न होने की दृष्टि से किसी भी प्रकार अत्यधिक ऊँचा नहीं है। जिन दो तत्त्वों से वह बना है, अर्थात् आत्मा और पदार्थ के शरीर, उनमें से पूर्व उस सब से पूर्णतया सम्पन्न है जो ईश्वर की हमारी धारणा में सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम है। यह सत्य है कि उसकी वर्तमान अवस्था में दिव्यता का अभिव्यक्ति में बहुत कम, यदि कुछ भी हो, है; किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि जो तत्त्व दिव्यता का गठन करते हैं उनमें से कोई भी उसकी आत्मा में अनुपस्थित नहीं है। प्रकृति का यह नियम है कि द्रव्यों के गुण और कार्य कभी नष्ट नहीं होते, भले ही वे किसी दी हुई अवस्था में कुछ समय के लिये कितने ही स्थगित क्यों न रहें, जैसा कि कतिपय गैसों के प्रसंग में स्पष्ट है जो जल के रूप में विद्यमान रहते हुए अपना वायवीय स्वभाव खो देती हैं, किन्तु उस क्षण उसे पुनः प्राप्त कर लेती हैं जब वह तरल अपने घटक अंशों में विश्लिष्ट कर दिया जाता है। इसी प्रकार, दिव्यता स्वयं को अभिव्यक्त करे अथवा न करे, वह वहाँ है ही, और अपनी समस्त पूर्णता में, प्राणियों में सबसे विनम्र प्राणी में भी।

जीवन के लिये यह अनिवार्य है कि वह प्रत्येक आत्मा में अखण्ड रूप से उपस्थित हो; किसी ने अब तक सत्ता को खण्डों और अंशों में प्रकट होते नहीं देखा। चेतना अनन्त भी है और सरल भी, और हमें उसे अखण्ड रूप में ही स्वीकार करना होगा, वह जहाँ कहीं और जिस किसी रूप में पाई जाय; और उसके अनन्त स्वभाव से जो निष्कर्ष निकाला जाना है वह जितना विस्मयकारी है उतना ही सत्य भी है — उसका अर्थ यह है कि हम स्वयं ही वह अनन्त हैं; उसका अर्थ यह है कि विश्व के समस्त प्राणियों का वास्तविक स्वभाव निरुपाधिक रूप से दिव्य है; उसका अर्थ यह है कि आत्मा स्वयं ही अपना ईश्वर है। यदि हम इस विचार को रहस्यवादी वेश में रखें, तो वह इस प्रकार पढ़ा जायगा कि निरपेक्ष, अर्थात् यथार्थ, जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति में अपनी समस्त पूर्णता के साथ उपस्थित है, यद्यपि 'माया के आवरण' के, अर्थात् नाम और रूप के, पीछे खड़ा हुआ। और भ्रान्ति का कारण माया का वह रूप, वह भौतिक शरीर, है जो आभासी मनुष्य का गठन करता है, जब कि वास्तविक मनुष्य वेदान्त की शब्दावली में स्वयं ब्रह्म से अन्य कुछ नहीं है। यह शरीर ही है जो ध्यान को समस्त काल आभासी बाह्य रूप पर टिकाये रखकर मनुष्य को भीतर देखने से रोकता है। जब मनुष्य अपने भ्रम के स्वरूप को समझने की ओर मुड़ता है, तब वह स्वयं को उस ईश्वर से अन्य कुछ नहीं पायेगा जिसका स्वभाव सच्चिदानन्द है, अर्थात् सत्ता-चेतना-आनन्द, जो अमुक्त आत्मा के भी गुण हैं, यद्यपि उसके प्रसंग में वे पूर्णता और परिपूर्णता में अभिव्यक्त नहीं होते। अतएव ईश्वर और मनुष्य में भेद उससे अधिक कुछ नहीं है जो पूर्ण विकसित पुष्प को केवल एक कली से पृथक् करता है। और चूँकि पूर्णता की परम ऊँचाई इच्छा के त्याग द्वारा प्राप्य है, जैसा आनन्द के प्रसंग में सत्य सिद्ध किया जा चुका है, और जैसा पूर्णता के अन्य समस्त गुणों के सम्बन्ध में तब सिद्ध किया

जायगा जब वह विषय अपने उचित स्थान पर विवेचन के लिये आयेगा, अतः ईश्वर और मनुष्य के बीच भेद केवल और केवल इच्छा के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है, जिससे ईश्वर को पूर्णतया मुक्त होना चाहिये और जिसमें मनुष्य न्यूनाधिक रूप से गहरा लिप्त है। इस प्रकार, ईश्वर इच्छा-रहित मनुष्य है, और मनुष्य इच्छा-सहित ईश्वर। इसके अतिरिक्त आत्मा एक दिव्यता है — अखण्ड, सम्पूर्ण और आत्म-पर्याप्त। अतएव समस्त प्राचीन विचार-पद्धतियों द्वारा संयुक्त रूप से दिया गया यह आदेश — "हे मनुष्य, अपने आपको जान।"

सारांश यह कि ईश्वर की धारणा न तो जगत् के किसी स्रष्टा अथवा प्रबन्धक की है, न किसी ऐसे सत्त्व की जो देवताओं और मनुष्यों द्वारा पूजे जाने के लिये उत्सुक हो, और न ही किसी ऐसे शक्तिशाली पुरुष की जो स्वार्थपूर्ण क्रीड़ा में लगा हो और अपने कर्मों के परिणामों के प्रति उदासीन हो, अपितु वह उस सब की पूर्णता की धारणा है जो मनुष्य के गठन में सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम है। सच्ची दिव्यता ज्ञान, आनन्द और पवित्रता के सम्बन्ध में पूर्णता से ही गठित होती है, जो निःसन्देह प्रत्येक आत्मा के आवश्यक और अविच्छेद्य गुण हैं। अतएव यह कथन —

> **"जो अपने आपको जानता है, वह ईश्वर को जानता है।" —मुहम्मद के वचन (Sayings of Muhammad)।**

४

पतन

THE FALL

"जो कोई ईश्वर के साथ किसी अन्य को साझी ठहराता है, वह उसके समान है जो आकाश से गिर पड़ता है * * ऐसा ही है।"—अल-क़ुरआन (Al-Qur'an), अध्याय २२।

जैसा कि प्रस्तुत अध्याय के शीर्षक से स्पष्ट है, हम पाठक को पुराकथा (mythology) के उस अल्प-अन्वेषित अन्धकारमय महाद्वीप में ले चले हैं, जहाँ उसे अन्धविश्वास के उस महानाग से युद्ध के लिए स्वयं को सन्नद्ध करना होगा, जिसका स्पर्श मात्र समस्त जीवित को धूलि में मिला देता है। यह विचित्र दृश्यों का, असम्भाव्य घटनाओं का और अकल्पनीय सम्बन्धों का देश है; वह प्रदेश है जहाँ लोग थोड़े से अथवा बिना किसी कारण के ही सबसे भीषण और भयंकर शाप उच्चारित करने में प्राय: तनिक भी संकोच नहीं करते, और वे शाप उन पर, जिनसे वे अप्रसन्न हों, तत्काल फलीभूत भी हो जाते हैं; यह अ-मानव मनुष्यों का, अ-नारी-सुलभ नारियों का, अ-देवोचित देवताओं का लोक है,—संक्षेप में, उस सबका जिसका अस्तित्व-हेतु (raison d'être) बेचारी सामान्य, स्वाभाविक बुद्धि के परास्त और खण्डित होने में मिलने वाले आनन्द की अनुभूति में ही निहित है। इसी विलक्षण और अलौकिक प्रदेश में अविवेकी, धर्मान्ध श्रद्धा की वह भयावह मदिरा चुआई जाती है, जिसकी कुछ बूँदें ही आजीवन बुद्धि की जड़ता उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त हैं; और उसका यह चेतना-हरण करने वाला गुण किण्वन की किसी भौतिक प्रक्रिया का परिणाम नहीं, अपितु उसके आसवकर्ता—अन्धविश्वास और पुराकथा के महापुरोहित—के मायावी व्यक्तित्व के चुम्बकत्व का फल है। अत: जो कोई इस हानिकारक पेय के विषैले धूम्र के प्रभाव से अपनी आत्मा को मुक्त करना चाहे, उसे सर्वप्रथम मानवजाति के इस परम शत्रु पर विजय प्राप्त करनी होगी।

इस दानव का दुर्ग घुमावदार गलियारों की एक अनन्त भूल-भुलैया है, ठीक उस क्रीट (Crete) की भूल-भुलैया के समान जिसमें प्राचीन काल में मीनोस (Minos) ने अपने भयंकर मीनोटौर (Minotaur) को रखा था; और इस संग्राम की शर्तें भी उन शर्तों से भिन्न नहीं हैं जो उस समय थीसियस (Theseus) को स्वीकार करनी पड़ी थीं—अन्तर केवल इतना है कि यहाँ कोई मीनोस-पुत्री नहीं जो हमें सूत्र का गोला और वह मायावी खड्ग दे सके जिससे उस पिशाच का संहार किया जाए। तथापि हमें अपने अवसर का सर्वोत्तम उपयोग करना होगा, और महती सरस्वती, ज्ञान की देवी, को प्रणाम करके कार्य-कारण के सूत्र-गोले तथा विवेक की उस तलवार को ग्रहण करना होगा, जो उनकी आज्ञा से बुद्धि हमारे हाथों में देती है। इस प्रकार सुसज्जित होकर हम कल्पना और तथ्य के उस अविवेकपूर्ण घालमेल के घुमावदार मोड़ों और बन्द गलियों में खो जाने का कोई जोखिम नहीं उठाएँगे, जिसमें हम अभी प्रवेश करने जा रहे हैं; और साथ ही कल्पना के इस विचित्र देश के उन निवासियों के अपवित्र भय से भी बचे रहेंगे, जो हमारे शत्रु हैं।

क्योंकि, जैसा कि हम आगे चलकर स्पष्ट करने की आशा रखते हैं, पुराकथा मन का वह भूमिगत मिलन-स्थल है, जहाँ वे सब एकत्र होते हैं जो बौद्धिकता के मध्याह्न-सूर्य की प्रखर किरणों को सह न सकने के कारण काव्य के रंगीन चश्मे धारण करने को विवश हैं। वे प्लेटो (Plato) के उन कल्पित बन्दियों के समान हैं, जो एक गुफा में अपने आसनों से दृढ़तापूर्वक बँधे हुए, प्रवेश-द्वार की ओर पीठ किए हुए, संसार के अपने ज्ञान के लिए केवल उन छायाओं पर निर्भर हैं जो उनके कारागार के आगे से जाने वाली प्रत्येक वस्तु के द्वारा उनके सम्मुख भित्ति पर पड़ती हैं। कभी-कभी वे यह भी सुन लेते हैं कि प्रकाश में स्थित लोग गुफा के पास से जाते हुए क्या कहते हैं, और इस प्रकार प्राप्त सत्य की उन अनलंकृत, नीरस धारणाओं को कल्पना के पुष्पित भण्डारों से लिए गए मनोहर रूपक के अत्यन्त समृद्ध परिधान पहनाकर वे अपना मनोरंजन करते हैं, और साथ ही अपने उच्छृंखल विचार की सन्तति के लिए अत्यन्त चित्रमय दृश्यावली तथा यथार्थ-सा वातावरण भी रच डालते हैं।

निस्सन्देह, आधुनिक मनुष्य, अपने विद्या के अगणित 'ग्रन्थ-भारों' के प्रति सचेत, प्राचीन पुराकथा और आख्यान के सम्मुख आने पर श्रेष्ठता-भाव से मुस्कुरा देता है; और निश्चय ही आधुनिक विद्या अपने अवज्ञापूर्ण उपहास के लिए ईसा-पूर्व के दिनों के 'अपरिष्कृत' धर्म से, और विशेषतः 'विधर्मी सर्वेश्वरवाद' से, कम प्रतिरोध करने वाला लक्ष्य कभी नहीं पा सकती। किन्तु हम देखेंगे कि जो सबसे पहले हँसता है, वह सदा सबसे अन्त तक हँसने वाला नहीं होता। हमारे लिए पुराकथा का अर्थ मानवता के शैशव-काल के विचार का अभिलेख नहीं है, जब कहा जाता है कि वानर-जाति से निकलने के तुरन्त पश्चात् मनुष्य अन्धकार में अपना मार्ग टटोल रहा था; अपितु वह उस एकमात्र विद्या की कतिपय अत्यन्त

गम्भीर और मूल्यवान घोषणाओं की काव्य-वेशधारी अभिव्यक्ति है, जो मनुष्य को देवताओं के पद और गरिमा तक उठा सकती है। कहीं-कहीं सम्भवतः कोई एक-दो ऐसे आख्यान मिल जाएँ जो इस आकलन पर खरे न उतरें; किन्तु वे अयोग्य हाथों द्वारा किए गए परिवर्तन के कारण हो सकते हैं। जिस वस्तु से विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए, वह है बाल-कथाओं के प्रकार की सामग्री, जिसे प्रायः एक ही दृष्टि में पहचाना जा सकता है, क्योंकि उसमें विशुद्ध आर्य मुद्रा की सच्ची खनक नहीं होती। रही यह बात कि हमारे प्रतिपाद्य से कतिपय विषयों में आधुनिक ऐतिहासिक धारणाओं में भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना है, तो उन्हें, यदि वे अशुद्ध पाई जाएँ, बदलना ही होगा। जातियों की उत्पत्ति, राष्ट्रों के प्रवास आदि विषयक हमारी धारणाएँ किसी सामान्य अथवा विशेष दैवी प्रकाशना पर आधारित नहीं हैं जिसमें परिवर्तन या हस्तक्षेप न किया जा सके; वे मानवीय अटकल का परिणाम हैं, शीघ्रता में गढ़ी गईं, और जब भी समुचित कारण ऐसा आदेश दे, उन्हें सत्य के आगे नत होना ही होगा।

रही इन पुराकथाओं की व्याख्या की बात, तो उनमें से कुछ इतनी स्पष्ट हैं कि उन्हें किसी विवेचन की आवश्यकता नहीं; कुछ अन्य थोड़े से विचार से सुलझाई जा सकती हैं; और कुछ ऐसी भी हैं जो सुलझाने के कौशल को चुनौती देती-सी प्रतीत होती हैं, किन्तु अध्यवसाय और अध्ययन के आगे अवश्य ही झुक जाती हैं।

प्रथम प्रकार के उदाहरण के रूप में यूनानी पुराकथा से इको (Echo) और नार्सिसस (Narcissus) की कथा का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें मानवीकरण अत्यन्त सरलतम प्रकार का है, यद्यपि साहित्यिक दृष्टि से किसी प्रकार अनगढ़ नहीं। वह वनदेवी, जिसकी वाणी की शक्ति छीन ली गई थी—सिवाय किसी अन्य स्वर के उत्तर में बोलने के—प्रतिध्वनि की परिघटना का उतना ही स्पष्ट वर्णन है, जितना नार्सिसस, जो स्वयं पर मुग्ध होकर जल में अपने ही प्रतिबिम्ब की बाँहों में आलिंगित होने के मूर्खतापूर्ण प्रयत्न में नष्ट हो जाता है, आत्म-गर्व का। लक्ष्मी की, विष्णु की पत्नी की, हिन्दू कल्पना इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण है। वे उस सम्पत्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं जो ज्ञान की सहचरी है, यद्यपि, कुसमय में, जैसा कि गायत्री का शाप कहता है, वह एक स्थान पर स्थिर नहीं रहती और नीच, चंचल, तिरस्करणीय, मूढ़, क्रूर, मूर्ख तथा बर्बर के पास ही निरन्तर निवास करती है। यह कहना व्यर्थ होगा कि यह वर्णन किसी व्यक्ति का नहीं है, और हिन्दू देवमण्डल के महानतम देवताओं में से एक की पत्नी, किसी देवी का तो और भी नहीं, अपितु काव्यमय, रूपकात्मक भाषा में सम्पत्ति सम्बन्धी हमारी धारणा का विशुद्ध और सीधा-सादा निरूपण है।

अरैक्नी (Arachne), जो बैंजनी रंग के एक प्रसिद्ध रंगरेज़ की पुत्री थी, और पैलस-एथीनी (Pallas-Athene), ज्ञान की देवी, के बीच की प्रतिस्पर्धा का आख्यान दूसरे प्रकार का उदाहरण है, और थोड़े से चिन्तन पर अपना रहस्य खोल देता है।

आख्यान इस प्रकार है कि अरैक्नी अपने वस्त्रों पर समृद्ध और अद्भुत आकृतियाँ बुनने के अपने दुर्लभ कौशल के लिए विख्यात थी, और उसका नाम इतना ऊँचा उठ गया कि उन कलाओं की देवी पैलस-एथीनी तक एक दिन उसका काम देखने आ पहुँचीं। अब, अरैक्नी को अपने कौशल पर बड़ा गर्व था, और वह इस बात से इनकार करती थी कि उसकी कृति की उत्कृष्टता का देवी की प्रेरणा से कोई सम्बन्ध है, यद्यपि लोग सामान्यतः इसके विपरीत मानते थे। देवी से आमने-सामने भेंट होने पर उसने उन्हें खुली चुनौती दे डाली, जिस पर देवी ने, गर्वपूर्ण अवज्ञा से आहत होकर, अपनी कला को अपनी इस पार्थिव प्रतिद्वन्द्विनी की कला के सम्मुख रखने का प्रस्ताव किया। यह चुनौती स्वीकार कर ली गई, और प्रतियोगिता की व्यवस्था की गई जो तत्काल आरम्भ हो गई।

दो करघे लगाए गए, जिन पर इन उत्सुक प्रतिद्वन्द्विनियों ने अपना सर्वोत्तम कौशल और चातुर्य ऐसी शीघ्रता से चलाया कि शीघ्र ही दोनों पर बढ़ते हुए वस्त्र इन्द्रधनुष के समस्त रंगों में अद्भुत आकृतियों में बुने हुए और स्वर्ण-तन्तुओं से जड़े हुए दमकने लगे। अपनी रचना के लिए पैलस ने एथेंस के एक्रोपोलिस पर पंक्तिबद्ध देवताओं को चुना—बीच में जोव (Jove) का भीषण वैभव, पोसाइडन (Poseidon) अपने त्रिशूल से चट्टान पर प्रहार करते हुए, और शेष के मध्य पूर्ण कवच में स्वयं वे, जिन्हें उस जैतून-वृक्ष का आह्वान करते हुए दिखाया गया था जो मनुष्य को उनका सर्वोत्तम उपहार था। इस केन्द्रीय समूह के चारों ओर वे दृश्य चित्रित थे जिनमें अभिमानी मर्त्य लोग विनष्ट किए जा रहे थे, विद्रोही दैत्य पर्वतों में परिणत किए जा रहे थे, और—अपनी धृष्ट प्रतिद्वन्द्विनी को संकेत देने के लिए—बकवादिनी कन्याएँ चीख़ती हुई चिड़ियों में बदल दी गई थीं। इन सबके चारों ओर जैतून-पत्रों की एक किनारी चली गई थी, इस चिह्न के रूप में कि यह किसकी कारीगरी है, जिससे स्पर्धा करने का साहस विरले ही करते!

उधर अनादरशीला अरैक्नी ने ऐसी कथाएँ चुनी थीं जो देवताओं पर लज्जा या उपहास डालती थीं। ज़्यूस (Zeus) और उसके भ्राता अनुचित रूपों में मर्त्य स्त्रियों से प्रणय-याचना करते दिखाए गए, अपोलो (Apollo) पृथ्वी पर एक गड़रिये के रूप में विनम्रतापूर्वक सेवा करते हुए, डायोनिसस (Dionysus) अपनी मद्यप क्रीड़ाएँ करते हुए, और तो और, स्वयं वृद्ध क्रोनस (Cronos) की कलंकपूर्ण स्मृतियाँ भी............ यह सब आइवी-पत्रों तथा पुष्पों की एक किनारी से घिरा हुआ। किन्तु ये दृश्य इतनी चतुर कला से बुने गए थे कि उस अभियोग लगाते हुए वस्त्र पर आँखों के सम्मुख सचमुच के पशु और सचमुच

की तरंगें उभरी हुई प्रतीत होती थीं—और अपनी सच्चाई के कारण वे और भी अधिक अपमानजनक थे। पैलस-एथीनी ने ऐसा ही अनुभव किया जब वे दूसरी की कृति को देखने उठीं। एक चीख़ के साथ......उन्होंने उस अत्यन्त निष्ठापूर्वक रँगे हुए वस्त्र को झपट लिया, उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले, और ऐसी उत्कृष्ट कृति की चतुर रचयित्री पर प्रहारों की वर्षा कर दी।

> **"कोई मर्त्य कन्या उस सुनहरे केशों वाली देवी के सम्मुख कैसे ठहर सकती थी, जब उनकी आँखें क्रोध से धधक रही हों? इस प्रकार अन्यायपूर्वक पराजित होकर अरैक्नी अपनी द्वेषजनित लज्जा सह न सकी। वह निराशा में स्वयं को फाँसी लगाने चुपचाप चली गई। किन्तु तब भी पैलस का क्रोध तृप्त न हुआ। उन्होंने अपनी प्रतिद्वन्द्विनी को जीवित रहने का आदेश दिया—पर कैसे घृणित रूप में! क्योंकि उसके फूले हुए शरीर के चारों ओर एक जादू बुन दिया गया, उसके मानवीय अंग-प्रत्यंग लुप्त हो गए, उसके केश झड़ गए, उसके अंग सिकुड़ गए, और इस प्रकार बेचारी अरैक्नी एक मकड़ी के रूप में लटकती रही, सदा के लिए इस अभिशाप से बँधी कि वह बुनती रहे, मानो उसी कौशल का उपहास कर रही हो जिसने ऐसी ईर्ष्या जगाई थी।"—'द क्लासिक मिथ ऐंड लेजेंड' (The Classic Myth and Legend), ए. आर. होप मॉनक्रीफ़ (A. R. Hope Moncrieff) कृत।**

यह है ज्ञान की देवी और उनकी मर्त्य प्रतिद्वन्द्विनी के बीच की प्रतिस्पर्धा की कथा, जो 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' (Encyclopedia Britannica) (लेख 'अरैक्नी') के अनुसार 'सम्भवतः वस्त्र-कलाओं में यूनान पर एशिया की श्रेष्ठता का सूचक है।'

> सम्पादकीय टिप्पणी
>
> यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, शास्त्रीय विद्वत्ता अरैक्नी-कथा को अहंकार विषयक एक हेतुमूलक एवं नैतिक आख्यान मानती है, न कि यूनान-एशिया की वास्तविक वस्त्र-प्रतिस्पर्धा का अभिलेख, और पुराकथाओं को ऐतिहासिक घटनाओं की जन-स्मृति मानने वाली यह व्याख्या-पद्धति अब स्वीकार्य नहीं है।

तिरछे अक्षर हमारे हैं, जो 'पाण्डित्यपूर्ण' दृष्टिकोण और इस आख्यान की उस आध्यात्मिक व्याख्या के बीच के अन्तर को चिह्नित करने के लिए दिए गए हैं, जिसे अब हम प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

ये दोनों प्रतिद्वन्द्विनियाँ आत्मा की उन दो शक्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनमें एक सर्वज्ञता है, जो दिव्यता से संयुक्त होने के कारण ज्ञान की देवी के रूप में मानवीकृत की गई है, और दूसरी बुद्धि की वह सीमित शक्ति है जो अपनी अमुक्त अवस्था में मानव आत्मा से सम्बद्ध रहती है। ज्ञान के इन दोनों रूपों—

मानवीय और दैवी—का अन्तर उन आकृतियों में भली-भाँति प्रकट होता है जो दोनों प्रतियोगिनियों ने क्रमशः बुनीं; एक तो विद्वानों की सर्वाधिक अनुमोदित और अद्यतन शैली के अनुसार जीवन-जगत् की केवल एक अनादरपूर्ण कल्पना प्रस्तुत करती है, किन्तु दूसरी वस्तुओं के—आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों के—यथार्थ स्वरूप का, और अनादर एवं मूर्खतापूर्ण बकवाद से उत्पन्न होने वाले परिणामों का वर्णन करती है। अपनी 'स्वच्छन्द-चिन्तन' की प्रवृत्तियों के कारण बुद्धि इस धारणा से रुष्ट हुए बिना नहीं रह सकती कि उसकी कारीगरी की उत्कृष्टता देवी की प्रेरणा का फल है; यद्यपि ज्ञान का एक ही स्रोत है, जो अपनी सामर्थ्य और विस्तार में अनन्त है, अतः ससीम विचार अपने अस्तित्व का तैल उसी मूल और इसीलिए ओलम्पियन कूपों से लिए बिना नहीं रह सकता। अतः इस प्रसंग में सत्य केवल लोक-मत (vox populi) के अनुरूप ही है। पुनः, जहाँ तक ज्ञान को यथार्थ-जगत् की एक प्रस्तुति कहा जा सकता है, वह चेतना के पट पर इन्द्रधनुष के समस्त विविध रंगों में बुनी हुई एक समृद्ध आकृति के समान है, जिससे अरैक्नी के नाम की व्युत्पत्ति के साथ-साथ यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रतियोगिता बुनाई की कला में ही हुई। अरैक्नी का वंश—वह बैंजनी रंग के एक प्रसिद्ध रंगरेज़ की पुत्री है—इच्छा के साथ उसके सम्बन्ध को सूचित करता है; और इच्छा ही, अपनी उच्च आकांक्षाओं तथा अपने लक्ष्य को सिद्ध करने की शक्ति के कारण, वह एकमात्र तत्त्व है जिसे सत्यतः राजाओं का निर्माता कहा जा सकता है, क्योंकि वही रंगहीन, उदासीन जन-साधारण के 'श्वेत' को राजत्व और शक्ति के 'बैंजनी' में परिणत करती है।

रही अरैक्नी के दण्ड की बात, तो उसका अभिप्राय ससीम 'विचार' की शक्ति के यथार्थ स्वरूप का वर्णन करना है, जो अपने कतिपय प्रशंसकों के अतिरेकपूर्ण उत्साह द्वारा उस पर आरोपित मिथ्या गौरव के अतिशेष से वंचित कर दिए जाने पर, चेतना के ताने-बाने में 'प्रस्तुतियों' की एक साधारण-सी बुनकर मात्र रह जाती है। यही वह शक्ति है जिसे आधुनिक चिन्तन में बुद्धि अथवा प्रज्ञा कहा जाता है; यद्यपि उत्तम यही होगा कि उसका कार्य 'अदीक्षित' जन-समुदाय को प्रोफ़ेसर डॉयसन (Prof. Deussen) ही समझाएँ। विद्वान् प्रोफ़ेसर लिखते हैं ('एलिमेंट्स ऑफ़ मेटाफ़िज़िक्स'—Elements of Metaphysics, पृ. २५—२९):—

> **"प्रत्येक प्रस्तुति (representation) में, ऐसी होने के नाते, दो पूरक अर्धांश निहित रहते हैं—एक प्रस्तुत करने वाला कर्ता (विषयी) और एक प्रस्तुत किया गया विषय। ये दोनों प्रस्तुति के साथ मिलकर तीन नहीं (जैसा शिलर (Schiller) की एक व्यंग्यपूर्ण सूक्ति कहती है), अपितु एक ही बनते हैं। कोई प्रस्तुति विषयी के बिना नहीं होती, और न कोई विषय के बिना। अब, मेरे लिए प्रस्तुतियों के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, अतः विषय के बिना कोई विषयी नहीं, और विषयी के बिना कोई विषय नहीं। मेरे विषयी के समस्त विषय या तो साक्षात् हैं अथवा परम्परया। साक्षात् विषयों के रूप में मैं अपने अहं के**

विकारों के अतिरिक्त और कुछ कभी नहीं पा सकता, अर्थात् अपने भीतर की संवेदनाएँ (जो शरीर-क्रिया-विज्ञान की दृष्टि से इन्द्रिय-अंगों में विस्तृत ज्ञानवाही स्नायुओं की कतिपय विशिष्ट उत्तेजनाओं के रूप में निरूपित होती हैं)। शेष समस्त विषय—समग्र बाह्य जगत् और यहाँ तक कि मेरा अपना शरीर भी, जहाँ तक मैं उसे बाहर से देखता हूँ—मुझे केवल परम्परया विषयों के रूप में ज्ञात हैं: इन स्नायविक उत्तेजनाओं के माध्यम से ही मैं उनके सम्पर्क में आता हूँ। इस प्रकार वे समस्त आँकड़े, जिनके द्वारा मैं बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करता हूँ, स्नायुओं के इन्हीं विकारों तक सीमित हैं, जो साक्षात् विषयों के रूप में दिए गए हैं। यही एकमात्र वस्तु है जो मेरी बुद्धि के पास बाहर से आती है, अर्थात् उससे स्वतन्त्र रूप से। फलतः शेष सब कुछ, वह सब जो अपनी अपरिमेय समृद्धि सहित विस्तीर्ण प्रकृति को स्नायुओं के उन अल्प विकारों से पृथक् करता है, भीतर से ही आना चाहिए, अर्थात् उसका उद्गम मेरी बुद्धि में ही होना चाहिए। यदि हम प्रत्यक्ष-जगत् की, जो हमारी प्रस्तुति है, तुलना एक बुने हुए वस्त्र से करें, जिसमें विषयीगत और विषयगत तन्तु ताने-बाने के रूप में परस्पर गुँथे हुए हैं, तो वह सब जो विषयगत है, मुझसे स्वतन्त्र है, आनुभविक रूप से (a posteriori) दिया गया है, स्नायुओं के उन विकारों तक ही सीमित है और उसकी तुलना ढरकी के पतले, पृथक्-पृथक् तन्तुओं से की जा सकती है। इसके विपरीत ताना, जो पहले से, अर्थात् प्रागनुभविक रूप से (a priori), इसलिए तान दिया गया है कि इन बुने जाने वाले तन्तुओं को धीरे-धीरे ग्रहण करके उन्हें एक वस्त्र में परिणत कर दे, विषयी का स्वाभाविक, सहज रूप है, जिसकी समग्रता ही वह है जिसे हम प्रज्ञा अथवा मस्तिष्क कहते हैं। तत्त्वमीमांसा का कार्य यह खोज निकालना है कि वस्तुएँ स्वयं में क्या हैं, अर्थात् हमारी बुद्धि से स्वतन्त्र रूप में क्या हैं। अतः हमें सर्वप्रथम वस्तुओं में से वह घटा देना चाहिए जो हमारी बुद्धि उनमें जोड़ती है, अर्थात् वे रूप जो उसमें मूलतः, अर्थात् प्रागनुभविक रूप से, अन्तर्निहित हैं और जिनमें वह बाहर से प्राप्त समस्त सामग्री को इस प्रकार व्यवस्थित करती है कि उन्हें अनुभव में बुन सके। निम्नलिखित छह कसौटियाँ ज्ञान के इन प्रागनुभविक तत्त्वों अथवा प्रज्ञा के सहज कार्यों को उन तत्त्वों से पृथक् करने में सहायक हो सकती हैं जो उसे आनुभविक रूप से, अथवा प्रत्यक्ष के द्वारा, प्राप्त होते हैं। ये हमारे लिए वही हैं जो रसायनज्ञ के लिए अभिकारक होते हैं। इन्हें छह चुम्बकों के रूप में भी देखा जा सकता है, जिनके द्वारा हम अनुभव के मिश्रित अयस्क में से अपने प्रागनुभविक ज्ञान का लोहा खींच निकालते हैं। (१) जो कुछ भी विकार के रूप में दिए गए प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष-प्रस्तुति में रूपान्तरित करने के लिए आवश्यक है, और फलतः समस्त अनुभव से पूर्ववर्ती है, उसकी सम्भावना की शर्त होने के नाते, वह अनुभव से उत्पन्न नहीं हो सकता, अपितु केवल हमारे भीतर से ही। (२) जो कुछ बुद्धि के पास बाहर से आता है, उसमें आकस्मिकता का लक्षण होता है—वह अन्यथा भी हो सकता था, अथवा हो ही न सकता था; अर्थात् मैं उसे अविद्यमान रूप में कल्पित कर सकता हूँ। अब, मेरी प्रस्तुति में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें शेष सबकी भाँति हटाकर सोचा नहीं जा सकता, जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे उसके अन्तर्गत नहीं आते जो मुझसे स्वतन्त्र रूप में विद्यमान है, अपितु उन्हें

> **स्वयं बुद्धि से ही लगा होना चाहिए। (३) इसी कारण से, बाहर से दिए गए समस्त आँकड़े केवल यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि क्या है, किन्तु यह नहीं कि कोई वस्तु अनिवार्यतः ऐसी ही है और अन्यथा नहीं। प्रत्यक्ष के पास 'अनिवार्यता' शब्द के लिए कोई जिह्वा नहीं; अतः वस्तुओं के वे समस्त निर्धारण, जिनके साथ अनिवार्यता की चेतना जुड़ी होती है, प्रत्यक्ष में नहीं, अपितु मेरे ही भीतर उत्पन्न होने चाहिए। (४) इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिन विज्ञानों के सिद्धान्तों में अकाट्य निश्चितता है, वे उसे प्रत्यक्ष से प्राप्त नहीं कर सकते थे, और फलतः प्रत्यक्ष-जगत् का वह भाग, जिसकी ओर वे संकेत करते हैं, उन तत्त्वों के अन्तर्गत आना चाहिए जो मूलतः मेरी बुद्धि में ही अन्तर्निहित हैं। (५) प्रत्यक्ष मुझे केवल संवेदनाएँ ही दे सकता है। ये, ऐसी होने के नाते, पृथक्-पृथक् और खण्डशः हैं; क्योंकि, प्रथम दृष्टि में इसे समझना कितना ही कठिन क्यों न हो, बाहर से दी गई संवेदना की सामग्री में केवल संवेदनाएँ ही निहित रहती हैं, उनके बीच का कोई सम्बन्ध नहीं; क्योंकि ऐसा सम्बन्ध तो भिन्न-भिन्न संवेदनाओं के बीच की कड़ी मात्र है और इसलिए स्वयं संवेदना नहीं। फलतः वह शक्ति, जो प्रत्यक्ष की विविधता को एकता में बदल देती है और इस प्रकार मेरी प्रस्तुतियों के बीच संगति उत्पन्न करती है, मुझमें प्रागनुभविक रूप से ही होनी चाहिए। अतः जो कुछ भी प्रकृति की सातत्यता स्थापित करने में सहायक है, वह मेरी बुद्धि के सहज कार्यों के अन्तर्गत आता है। (६) प्रत्यक्ष कभी अनन्तता को अपने में समेट नहीं सकता। अब यदि मैं वस्तुओं की अपनी प्रस्तुतियों में ऐसे तत्त्व पाता हूँ जिन्हें मैं अनन्त रूप में जानता हूँ, तो यह निश्चयपूर्वक सिद्ध होता है कि मैंने उन्हें प्रत्यक्ष से नहीं लिया, अपितु वे बुद्धि के रूपों के रूप में मेरे पास अवश्य होने चाहिए; और इसीलिए, प्रस्तुत करने में मैं कितना ही आगे क्यों न बढ़ूँ, मैं उनसे परे कभी नहीं जा सकता—और उन्हीं में उनकी अनन्तता निहित है।"**

यह है प्रज्ञा की वह धारणा, जो अरैक्नी नामक मानवीकरण का मूल है, और जिसे हमारी जाति के किसी 'शिशु' पूर्वज ने—और ऐसे पूर्वज ने जिसके विषय में यह ज्ञात नहीं कि वह उस वानर-सदृश मनुष्य अथवा मनुष्य-सदृश कपि की जाति का कोई असामान्य या अतिसामान्य प्रकार रहा हो, जिससे हमारे सर्वाधिक 'प्रामाणिक' मतों के अनुसार वह अवश्य सम्बद्ध रहा होगा—ओलम्पियन ज्ञान-अधिष्ठात्री और एक अभिमानिनी मर्त्य कन्या के बीच की प्रतिस्पर्धा की कथा के रूप में हमें विरासत में दिया है। सम्भव है कि नार्सिसस अन्ततः मरा ही न हो, क्योंकि उसकी आत्मा की प्रतिध्वनि आज भी आधुनिक ज्ञान और चातुर्य के अथाह जल के ऊपर विचरण करती हुई पाई जाती है।

अब हमें उस पतन के आख्यान के विचार की ओर बढ़ना चाहिए, जो प्रस्तुत अध्याय का विषय है और जो पौराणिक विद्या के कठिनतम प्रकार का है। किन्तु सर्वप्रथम हम, अपनी वर्तमान आवश्यकताओं के लिए जितना अपेक्षित है उतना, सुझाव की—और विशेषतः आत्म-सुझाव की—अस्तित्व की परिस्थितियों को प्रभावित करने की शक्ति को स्थापित करके भूमि स्वच्छ कर लेंगे।

अब यह सुविदित है कि विचार एक अपार सामर्थ्य वाला बल है और उसमें यह शक्ति है कि वह समस्त मानसिक विश्वासों और भावों को इस मांस-शरीर में मूर्त कर दे। यह सिद्धान्त इतना सुविदित और प्रतिष्ठित है कि इसके समर्थन में उपलब्ध प्रमाणों के स्वरूप में प्रवेश करना समय का अपव्यय मात्र होगा। सन्देहवादी को उत्तम यह होगा कि वह डॉ. जे. एच. हडसन (Dr. J. H. Hudson) तथा अन्यों की कृतियों का अध्ययन करे, जहाँ उसे हमारे कथन का प्रचुर प्रमाण मिलेगा। हमारे वर्तमान प्रयोजन के लिए इतना संकेत कर देना पर्याप्त है कि जीवित कोशिका मानसिक आवेगों से संचालित और मानसिक उद्दीपनों से प्रेरित होती है। सूक्ष्मदर्शी यह सब प्रकट करता है, और वह कोशिका से कोशिका के बीच तथा केन्द्रीय नियन्त्रक बुद्धि और प्रत्येक विशिष्ट कोशिका के बीच सम्पर्क की संरचनात्मक रेखाओं को भी प्रकट करता है (हडसन)। ये कोशिकाएँ अन्तर्मन द्वारा नियन्त्रित होती हैं, जिसका शरीर की क्रियाओं, संवेदनाओं और अवस्थाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। अन्तर्मन, अपनी बारी में, 'सुझाव' द्वारा नियन्त्रित होने योग्य है, जिसकी परिभाषा सम्मोहन-विद्या के आचार्यों ने इस प्रकार की है—'किसी भी साधन द्वारा, जैसे शब्दों या संकेतों द्वारा, और प्रायः बलपूर्वक घोषणाओं द्वारा, मन में किसी विश्वास अथवा आवेग का प्रवेश करा देना।' अब इन तथ्यों से, अथवा उन निष्कर्षों से जिन तक ये ले जाते हैं, और अधिक इनकार करना सम्भव नहीं। सुझाव का नियम पश्चिम के राष्ट्रों के लिए उन्नीसवीं शताब्दी की महानतम खोज है, यद्यपि उससे बहुत पूर्व ही यह प्राच्य जनों को भली-भाँति ज्ञात था। अन्तर्मन उसे दिए गए सुझाव का पालन करता है और उसे अपने अधीन कोशिकाओं के समुदाय तक पहुँचा देता है, और ये नन्ही-नन्ही सत्ताएँ, मानो, अपने प्रधान के आदेशों का, जहाँ तक सम्भव हो, निष्ठापूर्वक पालन करती हैं। सुझाव बाहर से आ सकता है, जैसे सम्मोहनकर्ता से उसके पात्र को, अथवा वह वह हो सकता है जिसे आत्म-सुझाव कहते हैं, अर्थात् वह सुझाव जो कोई व्यक्ति स्वयं को देता है। अन्तर्मन सुझाव की सत्यता या असत्यता की जाँच नहीं करता, अपितु बिना किसी अन्वेषण के उसे सही मानकर स्वीकार कर लेता है। अतः वह कोई भी भाव धारण कर लेगा, चाहे वह कितना ही मिथ्या क्यों न हो, जो उसे सुझाया जाए। इस प्रकार, यदि किसी सम्मोहित व्यक्ति को यह सुझाया जाए कि वह एक कुत्ता है, तो वह तत्काल कुत्ते के अनुरूप भाव धारण कर लेगा और उसके लक्षणात्मक कार्य करेगा, जहाँ तक उसके लिए शारीरिक रूप से सम्भव हो। संक्षेप में, कोई भी चरित्र सुझाया जाए—चाहे वह मूर्ख का हो या दार्शनिक का, देवदूत का या शैतान का, वक्ता का या नीलामकर्ता का—वह मूल के प्रति अद्भुत निष्ठा के साथ अभिनीत किया जाएगा, ठीक उतना ही जितना उस व्यक्ति का ज्ञान विस्तृत हो। सम्मोहित व्यक्तियों द्वारा सुझाए गए चरित्रों को अभिनीत करने में प्रदर्शित अद्भुत नाट्य-कौशल पर प्रायः टिप्पणी की जाती रही है। किन्तु यह कोई भूमिका का अभिनय नहीं है। यह अभिनय से कहीं अधिक है, क्योंकि वह व्यक्ति स्वयं को वस्तुतः वही सुझाया गया व्यक्तित्व मानने लगता है। जिस सुझाव को वह व्यक्ति अपनी सामान्य अवस्था में

सर्वथा मिथ्या जानता हो, वह सदैव कम-से-कम क्षणिक विरोध अवश्य उत्पन्न करेगा; क्योंकि सुझाव न्यूनतम प्रतिरोध की रेखाओं पर ही सर्वाधिक प्रभावी होता है। तथापि पुनरावृत्ति समस्त प्रतिरोध पर विजय पा लेती है, अतः जब अन्तर्मन के सम्मुख दो विरोधी सुझाव आते हैं, तो अनिवार्यतः प्रबलतर की ही विजय होती है। इसका आवश्यक उपसिद्धान्त यह है कि सुझाव तभी सर्वाधिक प्रभावी होता है जब उस व्यक्ति को अपनी सामान्य अवस्था में ही उसकी सत्यता पर विश्वास करने के लिए प्रेरित कर दिया जाए। अब निम्नलिखित दो प्रतिज्ञाएँ स्थापित करने में हमें कोई कठिनाई नहीं, अर्थात्:—

(१) कि जैसा कोई सोचता है, वैसा ही वह हो जाता है; और

(२) कि सुझाई गई अवस्था के मूर्तीकरण अथवा अभिव्यक्ति को सुगम बनाने में विश्वास अथवा श्रद्धा ही सबसे बड़ा तत्त्व है।

समस्त मानसिक व्यापार अपार शक्ति वाले बल हैं, और गतिमान हो जाने पर उन्हें अपने अनुरूप परिणाम उत्पन्न करने ही होंगे, जब तक कि उच्चतर और सूक्ष्मतर कोटि के वैसे ही व्यापारों द्वारा उनका प्रतिरोध न कर दिया जाए। इसमें कुछ भी विचित्र नहीं, क्योंकि, जैसा कि श्रीमती बेसेंट (Mrs. Besant) संकेत करती हैं, अपने चारों ओर हम विचार की आदतों को अपने भौतिक शरीरों के स्थूल पदार्थ को गढ़ते और जाति के मुख पर चरित्र की छाप अंकित करते देखते हैं; सद्गुण स्वास्थ्य और सौन्दर्य को अभिव्यक्ति में लाते हैं, और दुर्गुण मुखाकृति पर रोग तथा कुरूपता की रेखाएँ खोद देता है। संकेत इस प्रकार किया गया है:—

> **"यह तथ्य इतना सामान्य है कि हम पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, और फिर भी यह पर्याप्त अर्थपूर्ण है; क्योंकि यदि पदार्थ का स्थूल शरीर विचार के बलों द्वारा इस प्रकार गढ़ा जाता है, तो इस विचार में अविश्वसनीय अथवा विचित्र भी क्या है कि पदार्थ के सूक्ष्मतर रूप भी उतने ही लचीले हों, और उन आकृतियों को विनम्रतापूर्वक धारण कर लें जिनमें अमर कलाकार—विचारशील मनुष्य—की कुशल अँगुलियाँ उन्हें ढालती हैं?"**

पाश्चात्य चिन्तन भी धीरे-धीरे इस तथ्य को स्वीकार करने की ओर आ रहा है। प्रोफ़ेसर विलियम जेम्स (Professor William James) लिखते हैं:—

> **"मानसिक अवस्थाएँ रुधिर-वाहिकाओं के व्यास में भी परिवर्तन उत्पन्न करती हैं, अथवा हृदय-स्पन्दन में परिवर्तन, अथवा ग्रन्थियों और आन्तरिक अवयवों में उससे भी सूक्ष्मतर व्यापार। यदि इन्हें भी ध्यान में रखा जाए, तथा उन कार्यों को भी जो किसी दूरवर्ती काल में इसलिए घटित होते हैं कि वह मानसिक अवस्था कभी वहाँ थी, तो यह सामान्य नियम स्थापित करना निरापद होगा कि कोई भी मानसिक परिवर्तन ऐसा नहीं होता जिसके साथ अथवा जिसके पश्चात् कोई शारीरिक परिवर्तन न हो।"**

आत्मा अथवा जीव पर, जो सारतः विशुद्‌ध चैतन्य है, सुझाव का प्रभाव तो और भी अधिक उल्लेखनीय है, क्योंकि विचार मात्र ही मन की तत्काल अवसन्नता आदि उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त होता है।

जहाँ तक श्रद्‌धा का सम्बन्ध है, नियम यह है कि उत्पन्न किए जाने वाले प्रभाव की पूर्णता तथा उसे उत्पन्न होने में लगने वाला समय विचार की सामर्थ्य में विश्वास की मात्रा पर निर्भर करते हैं; और नियम यह है कि मनुष्य जिस पर विश्वास करता है, वही हो जाता है। यही कारण है कि ईसा (Jesus) तथा हमारी जाति के अन्य आचार्यों ने सदैव श्रद्‌धा पर बल दिया। श्रद्‌धा के बिना हम चाहे जितनी मानसिक धारणाएँ और प्रतिमाएँ गढ़ते चले जाएँ, वे कभी किसी परिणाम को उत्पन्न न करेंगी; क्योंकि विचार को स्थिरता प्रदान करने के लिए श्रद्‌धा आवश्यक है, और विचार की स्थिरता मानसिक भावों और धारणाओं के मूर्तीकरण की अनिवार्य शर्त है।

श्रद्‌धा की सामर्थ्य के विषय में, मानसिक चिकित्सा, क्रिश्चियन साइंस (Christian Science) तथा इसी प्रकार की अन्य पद्‌धतियाँ मन की उस शक्ति के उदाहरण हैं जो अद्भुत परिघटनाएँ उत्पन्न कर सकती है। जब कोई यह विचार करने लगता है कि किसी जीवित प्राणी और शव के बीच एकमात्र अन्तर मन का ही है, तो वह उन प्रतीत होने वाले अविश्वसनीय दावों पर आश्चर्य करना छोड़ देता है जो प्राचीन सिद्‌धों ने उसके विषय में किए हैं। ईसा ने घोषित किया कि यदि किसी को उनकी शिक्षा में इतनी भी श्रद्‌धा हो जितनी एक राई के दाने के सम्बन्ध में सोची जा सकती है, तो वह अत्यन्त आश्चर्यजनक चमत्कार कर सकता है। बाइबिल में ऐसे अनेक अंश हैं जिनमें सामर्थ्य का वचन निहित है, जिनमें मरकुस ११:१६—२० एक उल्लेखनीय उदाहरण है।

इन अंशों को अब सामान्यतः या तो निरर्थक प्रक्षेप, मूल पाठ के अशुद्‌ध अनुवाद, अथवा धार्मिक उन्मादियों का प्रलाप माना जाता है। जो लोग धार्मिक प्रवृत्ति के हैं और अपने धर्मग्रन्थों को अभ्रान्त मानने के लिए उत्सुक हैं, किन्तु फिर भी उस पाठ को जीवन की कठोर वास्तविकताओं से मेल नहीं बिठा पाते, वे अपनी बुद्‌धि को इस विचार से सन्तुष्ट कर लेते हैं कि वह 'वचन' केवल बीते हुए युगों के लिए ही अभिप्रेत था। किन्तु सत्य इसके विपरीत है; क्योंकि वह वचन न तो मिथ्या है और न किसी विशेष

कालखण्ड तक सीमित, अपितु एक यथार्थ जीवन्त सत्य है, जिसमें आज भी उतनी ही प्राणशक्ति है जितनी उसके उच्चारण के समय थी। हम उसे नहीं समझते, और उसकी सत्यता में हमारी कोई श्रद्धा नहीं, क्योंकि हम मानसिक शक्ति के उस विज्ञान से अनभिज्ञ हैं जिसे हमने अब तक 'अभौतिक, हवाई तत्त्वमीमांसा' मानकर किसी विद्वान् अथवा वैज्ञानिक व्यक्ति के अध्ययन के योग्य गरिमा से नीचे समझा है। हमारे पास तो एकमात्र 'भौतिक तत्त्वमीमांसा' धन-लोलुपता, लम्बे चोगे, ऊँचे आसन, कपटपूर्ण अभिवादन और मगरमच्छी आँसू ही हैं, जिन पर ईसा निरन्तर टिप्पणी किया करते थे। तब भला हमारे बीच त्राता के वचन की सत्यता की कोई अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है? समझिए कि ईसा का श्रद्धा से क्या अभिप्राय था, और जब तक आप उसे पा न लें तब तक विश्राम न कीजिए; क्योंकि वही एकमात्र रहस्यमय शक्ति है जो भीतर से ही ईश्वर के राज्य की उपलब्धि करा देती है।

इसे हृदय में धारण कीजिए। श्रद्धा जो कर सकती है, वह और कुछ भी नहीं कर सकता। समस्त धर्मों के पवित्र साहित्य में श्रद्धा को सिद्धि की सर्वाधिक अनिवार्य अपेक्षा माना गया है। कोई भी शिष्य तब तक न बनाया जाता था और न स्वीकार किया जाता था जब तक वह परीक्षा-काल को — जो प्रायः अनेक वर्षों का होता था — सफलतापूर्वक पार न कर ले, जिसका अर्थ यही था कि उसमें श्रद्धा की क्षमता विकसित हो चुकी है। क्योंकि श्रद्धा का महान् गुण यही है कि वह मन को क्षोभ से मुक्ति दिलाती है और विचार के लिए एक स्थिर आधार प्रस्तुत करती है। श्रद्धा का आज के मनुष्य की शब्दाडम्बरपूर्ण और वायवीय घोषणाओं से कोई सम्बन्ध नहीं; वह तो मन का किसी सिद्धान्त अथवा भाव से पूर्णतया आप्लावित हो जाना है; वह विश्वास की वह अवस्था है जो दृढ़ प्रतीति के तुल्य है। यदि आपकी किसी वस्तु में श्रद्धा है, तो आपका मन उसके विपरीत स्थिति को मन में लाने में सर्वथा असमर्थ होना चाहिए। श्रद्धा प्रतीति को पूर्वमान लेकर चलती है, और यदि वह एक बार नष्ट हो जाए तो प्रज्ञा के द्वारा उसे पुनः अर्जित करना ही होगा। श्रद्धा का यही मूलभूत सिद्धान्त है, जिसे न समझ पाने के कारण ही संसार में समस्त दुष्टता, ईश्वरविमुखता और पाप उत्पन्न हुए हैं।

अब हम यह अन्वेषण करेंगे कि मनुष्य के पतन से क्या अभिप्राय है, तथा वह किस प्रकार और क्यों हुआ। इसका अत्यन्त सजीव और शिक्षाप्रद वृत्तान्त मूसा की प्रथम पुस्तक में, जिसे उत्पत्ति (Genesis) कहते हैं, दिया गया है, और हम में से बहुत-से उससे पहले ही परिचित हैं। जिन्होंने वह वृत्तान्त पढ़ा है, वे सहज ही स्वीकार कर लेंगे कि उससे उनके मन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, और वे उसे केवल एक बाल-कथा के रूप में स्मरण रखते हैं, जिसमें कथा के नायक आदम (Adam) को प्रभु परमेश्वर ने अवज्ञा के एक प्रतीत होने में तुच्छ और नगण्य कार्य के लिए (सम्भवतः कुछ अधिक ही कठोरता से) दण्ड दिया, और उस कार्य को असाधारण महत्त्व दिया गया। किन्तु वस्तुतः यह उस कथा के वास्तविक अभिप्राय से

ठीक विपरीत है। हमें इस आख्यान को यों ही संक्षेप में टाल नहीं देना चाहिए। स्मरण रखिए, इस भूल-भुलैया में कहीं एक द्वार है जिससे होकर अन्धकार की शक्तियाँ एक बार हमारी जाति के विनाश के लिए भीतर प्रविष्ट हुईं और पाप की विरासत छोड़ गईं। इस विषय के महत्त्व का अनुमान उस गम्भीरता से लगाया जा सकता है जिसके साथ परमेश्वर ने अवज्ञा के उस कार्य पर ध्यान दिया, ऐसा कहा जाता है। अपराधियों को ऐसी कठोरता से दण्डित करके भी, जो प्रथम दृष्टि में उनके द्वारा किए गए दोष की तुच्छता के सर्वथा अनुपात-रहित प्रतीत होती है, वे सन्तुष्ट न हुए; उन्होंने तो उनकी समस्त सन्तति को अनन्त काल के लिए पृथ्वी पर दुःख और शोक के जीवन का दण्ड दे डाला। ऐसे विषय को किसी भी प्रकार बाल-कथा नहीं माना जा सकता, और वह हमारी ओर से पूर्ण अवधान का अधिकारी है। यह न देख पाना कि मानवीय दुर्दशा और पाप का समस्त रहस्य आदम के पतन के इस प्रतीत होने में निरर्थक और पौराणिक वृत्तान्त में ही छिपा हुआ है, वही कारण रहा है जिसने सत्य के आविष्कार को इतने लम्बे समय तक विलम्बित किया और प्रतिदिन मनुष्य तथा सुख के बीच की दूरी को बढ़ाया।

उस त्रासदी से सम्बद्ध परिस्थितियों का विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में, आदम सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कृपा से अपनी सहचरी हव्वा (Eve) के साथ अदन (Eden) की वाटिका में निवास करते थे। अब, अदन की वाटिका में दो असाधारण वृक्ष थे जो हमारे लिए विशेष रुचि के हैं। इनमें से एक, जो वाटिका के मध्य में खड़ा था, जीवन का वृक्ष कहलाता था, और दूसरा भले-बुरे के ज्ञान का वृक्ष। इस लघु नाटक में मुख्य रूप से रुचि इसी दूसरे वृक्ष के चारों ओर केन्द्रित रही। प्रभु परमेश्वर ने आदम को यह आज्ञा दी थी :—

> **"तू वाटिका के सब वृक्षों का फल बिना खटके खा सकता है; पर भले और बुरे के ज्ञान का जो वृक्ष है, उसका फल तू कभी न खाना; क्योंकि जिस दिन तू उसका फल खाए, उसी दिन अवश्य मर जाएगा।"**

बहुत समय तक न तो आदम ने और न हव्वा ने उस निषिद्ध वृक्ष का फल खाने का विचार किया, और आख्यान आगे कहता है :—

> **"और आदम और उसकी पत्नी दोनों नंगे थे, पर वे लजाते न थे।"**

तब प्रलोभन आया। सर्प स्त्री के समीप पहुँचा और उसने उसे उस वृक्ष का फल खाने के लिए ललचाया। उसने पहले तो यह कहकर मना कर दिया :—

> **"परमेश्वर ने कहा है, तुम न तो उसका फल खाना और न उसे छूना, नहीं तो मर जाओगे।"**

और अधिक समझाने-बुझाने पर वह झुक गई, क्योंकि उसने देखा कि वह खाने के लिए अच्छा है, आँखों को भाता है, और ऐसा वृक्ष है जिसकी अभिलाषा मनुष्य को बुद्धिमान् बनाने के लिए करनी चाहिए। इस अपराध का तत्काल परिणाम यह हुआ कि उनकी आँखें खुल गईं। उन्होंने जाना कि वे नंगे हैं, और परमेश्वर के सम्मुख नग्न प्रकट होने से डरकर उन्होंने अपने को छिपा लिया। परिणाम यह हुआ कि जब परमेश्वर को इसका पता चला, तो उन्होंने तीनों को — पुरुष को, स्त्री को और सर्प को — दण्ड दिया। आदम से उन्होंने कहा, "तू अपने मुँह के पसीने की रोटी खाएगा, जब तक कि तू मिट्टी में न मिल जाए; क्योंकि तू उसी में से निकाला गया है : तू मिट्टी ही है और मिट्टी ही में फिर मिल जाएगा।" और प्रभु परमेश्वर ने अपने मन में कहा, "देखो, मनुष्य भले-बुरे का ज्ञान पाकर हम में से एक के समान हो गया है"; और यह सोचकर कि "कहीं ऐसा न हो कि वह हाथ बढ़ाकर जीवन के वृक्ष का फल भी तोड़कर खा ले और सदा जीवित रहे", उन्होंने उसे अदन की वाटिका से निकाल बाहर किया, और जीवन के वृक्ष तक पहुँचने के मार्गों की रक्षा के लिए करूब तथा चारों ओर घूमती हुई ज्वालामय तलवार नियुक्त कर दी। संक्षेप में यही उस महाविपत्ति का वृत्तान्त है। हम इसकी सर्वोत्तम व्याख्या उन परिणामों का निरीक्षण करके कर सकते हैं जो उस अपराध से उत्पन्न हुए कहे जाते हैं। आदम ने भले-बुरे के ज्ञान के वृक्ष का फल खाया, किन्तु वह अज्ञानी हो गया!* यह एक परिणाम हुआ।

* कि मानवता की सामान्य दशा अज्ञान की ही है, इसे आज कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा।

दूसरा परिणाम यह हुआ कि निषिद्ध फल खाने के पश्चात् उसे पहली बार अपनी नग्नता का अनुभव हुआ। वह दृष्टि का वृक्ष नहीं था, फिर भी अपराधियों को ऐसा लगा मानो उनकी आँखें खुल गई हों, और उन्होंने अपने जीवन में पहली बार अपनी नग्नता देखी। उस अपराध से उत्पन्न एक और परिणाम था भय। आदम प्रभु परमेश्वर के साथ निर्भय होकर मित्र के समान विचरण किया करता था, किन्तु अवज्ञा के उस कार्य के पश्चात् पहली बार उसे उनके सम्मुख जाने में भय लगा। किन्तु सबसे अधिक घातक परिणाम था अमरत्व का लोप। पाप करने से पूर्व मनुष्य को जीवन के वृक्ष का फल खाने से मना नहीं किया गया था, परन्तु उसके पश्चात् उसे उस वाटिका में, जहाँ वह वृक्ष खड़ा था, प्रवेश ही नहीं करने दिया गया।

अब, साधारणतया उस अपराध का उन परिणामों से कोई सम्बन्ध जोड़ पाना असम्भव है जो उससे उत्पन्न हुए कहे जाते हैं। कितना विचित्र है कि आप ज्ञान खाएँ और अज्ञानी हो जाएँ, और साथ ही अपना अमरत्व भी खो बैठें! अतएव इस आख्यान का सच्चा अर्थ उसके प्रत्यक्ष अर्थ से भिन्न ही होना चाहिए। जब हम शब्दों की सतह के नीचे उतरते हैं, तब समस्त बात तत्काल स्पष्ट और बोधगम्य हो जाती है। इस कथा का वास्तविक अभिप्राय यह है : आदम तब तक सुखी और अमर था जब तक वह अपने को परमेश्वर के साथ

एक मानता रहा; प्रभु के साथ उस एकत्व की अवस्था में उसके हृदय में अपनी काल्पनिक नग्नता का अनुभव करने के लिए कोई स्थान ही न था। अपने सच्चे आत्मा के साथ एक होने के भाव से उत्पन्न उस उमड़ते हुए आनन्द ने उसे दिव्य निष्पापता की अवस्था में सुरक्षित रखा था, और परिघटनात्मक द्वैत तथा भेद की समस्त धारणाओं को उसकी निर्मल दृष्टि पर आवरण डालने से रोके रखा था। नग्नता और हीनता की धारणाओं ने तब तक उसके हृदय की पवित्रता को कलुषित नहीं किया था। तब वह सर्प, जो कुटिलता का प्रतीक और उस वासना का मूर्त रूप है जो अज्ञान तथा अन्य समस्त क्लेशों का मूल है, उसके सम्मुख प्रकट हुआ और उसने उसकी पत्नी के द्वारा उसे ललचाया, और उसे यह विश्वास कराया कि वह निषिद्ध फल 'ऐसा वृक्ष है जिसकी अभिलाषा मनुष्य को बुद्धिमान् बनाने के लिए करनी चाहिए।' आदम की मानसिक वृत्ति में हुए इस परिवर्तन का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि अपनी पूर्व सुख-अवस्था में उसकी श्रद्धा जाती रही, और उसे लगा कि भले-बुरे के ज्ञान के वृक्ष का फल खाकर प्राप्त होने वाले अतिरिक्त ज्ञान के साथ वह अधिक सुखी होगा। इस वृत्ति का तात्पर्य यह था कि अब उसे अपने ही सुख और अपनी ही प्रज्ञा में विश्वास नहीं रहा। यह अज्ञानी और दुःखी होने की स्वीकारोक्ति थी, क्योंकि उसमें देवताओं के समान बनने की कामना विद्यमान थी। परिणाम यह हुआ कि मानसिक स्तर की शक्तियों का शासन करने वाले अपरिवर्तनीय, अटल नियमों के बल से, दुःख और अज्ञान की इस आन्तरिक प्रतीति की अवस्था बाह्य परिघटनात्मक रूप में मूर्त हो उठी। मनुष्य भले-बुरे के ज्ञान के वृक्ष का फल खाना चाहेगा, किन्तु उसे पहले उसका मूल्य चुकाना होगा! मात्र यह परिस्थिति कि आप में ज्ञान की कामना है, आपके अज्ञान की स्पष्ट स्वीकृति है। यह स्वीकृति आपकी दशा को आपके ही शब्दों में व्यक्त कर देती है, और श्रद्धा का वह नियम, जो मानसिक संस्कारों को मूर्त रूप देता है, तत्काल गतिशील हो उठता है और शेष कार्य पूरा कर देता है। यही कारण है कि मनुष्य सर्वप्रथम अज्ञानी हो गया; यही कारण है कि भले-बुरे के ज्ञान के वृक्ष से थोड़ा-सा खा लेने का तत्काल परिणाम अज्ञान हुआ।

हम पहले ही देख चुके हैं कि मनुष्य के लिए सुख की सच्ची अवस्था इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती कि वह अपने को सत्-चित्-आनन्द ही अनुभव करे, अर्थात् अपने ही ईश्वरत्व की चेतना में स्थित रहे। आदम की यही दशा तब तक थी जब तक उसने निषिद्ध वृक्ष का फल नहीं खाया। उसकी अज्ञान की स्वीकारोक्ति ने उसे तत्काल सत्ता के एक निम्नतर स्तर पर गिरा दिया, क्योंकि सत्-चित्-आनन्द की अवस्था अपने भीतर अज्ञान को स्थान नहीं देती। वह वस्तुतः ईश्वरत्व से गिरकर दुर्दशा और दुःख में आ पड़ना था। आदम ने अनुभव किया कि वह ईश्वर नहीं है, और उसने विश्वास किया कि उस वृक्ष का फल खाकर वह बुद्धिमान् हो जाएगा और देवताओं के पद तक उठ जाएगा। उसने मन ही मन अपने को देवताओं से बहुत नीचे रख लिया, और इस प्रकार उनका सहचर न रहा। जो अपने को देवता नहीं मानते,

उनके निवास के लिए देवताओं का धाम उपयुक्त स्थान न था, और आदम के अपने ही मन की प्रवृत्ति ने विचार की गति से उसे नीचे गिरा दिया। यही कारण है कि निषिद्ध फल खाने के पश्चात् आदम ने पहली बार अपनी नग्नता जानी और भय अनुभव किया। वह रूपान्तर वैसा न था जैसी उसने आशा की थी। उसने सहज ही अनुभव किया कि कहीं कोई महान् भूल हो गई है, किन्तु वह यह न देख सका कि वह कहाँ और किस बात में है। भय, जो अज्ञान की सन्तान तथा मृत्यु का कारण और अग्रदूत है, अस्तित्व में आ गया। मनुष्य ने एक ही आघात में अपना ईश्वरत्व और अमरत्व दोनों खो दिए, और मरणधर्मा हो गया।

अब हम देखते हैं कि मनुष्य को भले-बुरे के ज्ञान के वृक्ष का फल खाने से क्यों मना किया गया था। वह कोई मनमानी अथवा स्वेच्छाचारी आज्ञा न थी, वरन् ऐसी थी जिसकी अवज्ञा के, यह ज्ञात था, इस जाति के लिए ऐसे भयंकर परिणाम होंगे। आप भले और बुरे में भेद क्यों करना चाहते हैं? भेद करने को है ही क्या? केवल आत्मा ही शाश्वत और नित्य है; और आत्मा ही है जिसका मूल्य है। शेष सब नाम और रूप का भ्रम है। भले-बुरे के आपके ज्ञान से क्या लाभ, जब न भला है और न बुरा? इस प्रकार वह निषेध मनुष्य के लिए महान् महत्त्व का था; भीतर के परमेश्वर ने उस सर्वाधिक घातक विश्वास की ओर संकेत किया था जो मन में धारण किया जा सकता था — अर्थात् इस धारणा की ओर कि शरीर ही मनुष्य है। जीवन आत्मपर्याप्त और आनन्दमय है; वह भले और बुरे दोनों से ऊपर है, और उसे नग्नता अथवा वस्त्र की कोई कल्पना ही नहीं। नग्नता का अनुभव तभी होता है जब आप आत्मा पर सीमाएँ लगा देते हैं, उसे पदार्थ के शरीर के साथ एक कर लेते हैं, और अपने को ईश्वर से भिन्न मान बैठते हैं। जब आप वस्तुओं के बाह्य आकारों और प्रतीतियों में भेद और अन्तर करने लगते हैं, और अपनी आन्तरिक यथार्थ सत्ता को दृष्टि से ओझल कर देते हैं, तब आपको ऐसा लगता है मानो आपके वस्त्र छीन लिए गए हों, मानो आपका वैभव आपसे विदा हो गया हो, अथवा मानो आपको प्रेम के महासागर में से उठाकर निर्दय हाथों से एक उजाड़, निर्जल मरुभूमि में फेंक दिया गया हो, जहाँ रोना और दाँत पीसना है। ईश्वर से विच्छेद के भाव के पीछे ये भयंकर परिणाम अनिवार्य रूप से आते ही हैं, क्योंकि यही नियम है। कहा गया है :—

> **"जैसे दुर्गम पर्वत-शिखर पर गिरा हुआ जल ढालों पर बिखरकर नीचे बह जाता है, वैसे ही जो प्रभु के गुणों (धर्मों) को पृथक्-पृथक् देखता है, वह उन्हीं के पीछे दौड़ता हुआ अन्धकार में गिर जाता है।" — (कठोपनिषद्, ४:१४)**

इसी बात को दूसरे शब्दों में कहें तो, यह न समझ पाना कि आत्मन्, अर्थात् जीवात्मा ही सच्चा परमेश्वर है, हमारी 'नग्नता' का कारण है। हमने अपना ईश्वरत्व छोड़ दिया है और उसके स्थान पर पदार्थ के इस क्षुद्र शरीर को प्रतिष्ठित कर लिया है। जो वस्तुतः महासागर है, वह अब अपने को एक बूँद मानता है, और तब

तक बूँद ही बना रहेगा जब तक वह फिर से अपने को सम्पूर्ण महासागर न मानने लगे, क्योंकि नियम यही है कि 'जो जैसा सोचता है, वह वैसा ही हो जाता है।'

चमड़े के जो वस्त्र प्रभु परमेश्वर ने आदम और हव्वा के लिए बनाए कहे जाते हैं, वे उन सीमाओं के द्योतक हैं जो उनकी व्यक्तित्व-बुद्धि पर लगा दी गईं, जिसे वे अपनी बाहरी त्वचा तक ही विस्तृत मानने लगे, उससे आगे नहीं। सीमा के इसी भाव के परिणामस्वरूप मनुष्य अपने को त्वचा से आवृत भौतिक शरीर के साथ अभिन्न मानता है; और व्यक्तित्व का यही मिथ्या और भ्रान्त भाव ईश्वर और मनुष्य के बीच द्वैत की समस्त धारणाओं का मूल है, तथा यही वह स्वार्थी, लोलुप, हड़पने वाला, अपने ऊपर स्वत्व जताने वाला अहं है — अर्थात् प्रतीयमान मनुष्य।

रही भय की बात, तो हम पहले ही देख चुके हैं कि वह अज्ञान के साथ ही अस्तित्व में आया। देवताओं के समान बनने की उस घातक कामना के फलस्वरूप ईश्वर-चेतना के लोप से उत्पन्न उस विनाशकारी रूपान्तर से अपराधियों के मन में अपनी सर्वथा असहायता और अधोगति की प्रतीति उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती थी। उन्होंने देवताओं की प्रज्ञा प्राप्त करने की आशा की थी, किन्तु जिस सर्वप्रथम वस्तु के प्रति वे सचेत हुए वह प्रज्ञा नहीं, वरन् उसका विपरीत, अर्थात् अज्ञान था। भय ने उनकी आत्माओं को जकड़ लिया, और उन प्रकृति की शक्तियों के सम्मुख, जिन्हें वे अभी धुँधले रूप में ही जान पाए थे, अपनी सुरक्षा के लिए उन्हें काँपने पर विवश कर दिया। अमरत्व में विश्वास जाता रहा, और उसका स्थान असामर्थ्य तथा आतंक के भाव ने ले लिया। वह मिथ्या अहंकार अज्ञान और वासना की सन्तान था, और परमेश्वर ने उसका पालन-पोषण करने से इन्कार कर दिया। मनुष्य के पास स्वयं ही उसे पालने के अतिरिक्त कोई विकल्प न बचा। तब से उसका पालन-पोषण और अनिष्ट से उसकी रक्षा ही मनुष्य की एकमात्र चिन्ता बन गई, और इसी ने उसे हर प्रकार का कल्पनीय क्लेश और उद्वेग दिया।

अब केवल भय के शारीरिक प्रभाव की ओर संकेत करना शेष है। वह स्वस्थ क्रिया को पंगु कर देता है, चिन्ता उत्पन्न करता है, और जीवन के लिए अत्यन्त हानिकर है। चिन्ता शरीर-यन्त्र को क्षीण करती और गिरा देती है; भय और चिन्ता अन्ततः शरीर को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। भय आत्म-स्थिरता का विपरीत है, तथा कायरता और आतंक का कारण है। उसके प्रभाव में मुख विवर्ण हो जाता है, चेहरा लटक जाता है और छाती भीतर की ओर सिकुड़ जाती है। वह शरीर की समस्त पेशियों को शिथिल कर देता है और प्राण-शक्ति को खा जाता है। जब कोई यह स्मरण करता है कि मृत्यु का भय मानव-जाति के साथ निरन्तर लगा हुआ आतंक है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या कि मृत्यु वस्तुतः आ उपस्थित हो?

भय के आवेग के प्रभाव के विषय में डार्विन (Darwin) कहते हैं ('द एक्सप्रेशन ऑफ़ द इमोशंस इन मैन ऐंड एनिमल्स' — The Expression of the Emotions in Man and Animals, पृष्ठ ३०६ से ३०९) :—

> **"भयभीत मनुष्य पहले तो प्रतिमा के समान निश्चल और श्वासहीन खड़ा रह जाता है, अथवा मानो सहज-प्रवृत्ति से दृष्टि में आने से बचने के लिए दुबक जाता है। हृदय शीघ्रता और प्रचण्डता से धड़कता है, यहाँ तक कि वह स्पन्दित होता या पसलियों से टकराता प्रतीत होता है... त्वचा तत्क्षण पीली पड़ जाती है, जैसे मूर्च्छा के आरम्भ में होता है। ... त्वचा पर रोएँ भी खड़े हो जाते हैं, और ऊपरी पेशियाँ काँपने लगती हैं। हृदय की इस विक्षुब्ध क्रिया के साथ ही श्वास तीव्र हो जाता है। लार-ग्रन्थियाँ अपूर्ण रूप से कार्य करती हैं; मुख सूख जाता है और बार-बार खुलता-बन्द होता है... सर्वाधिक स्पष्ट लक्षणों में एक है शरीर की समस्त पेशियों का कम्पन; और यह प्रायः ओठों में देखा जाता है। इसी कारण से तथा मुख की शुष्कता से स्वर कर्कश या अस्पष्ट हो जाता है, अथवा सर्वथा बैठ जाता है। ज्यों-ज्यों भय बढ़कर आतंक की व्यथा बन जाता है, त्यों-त्यों हम, जैसा समस्त प्रचण्ड आवेगों में होता है, नाना प्रकार के परिणाम देखते हैं। हृदय उन्मत्त होकर धड़कता है, अथवा क्रिया करना बन्द कर सकता है और मूर्च्छा आ जाती है; मृत्यु-सदृश पाण्डुरता छा जाती है; श्वास कष्टसाध्य हो जाता है; नासिका-पुट पूरी तरह फैल जाते हैं; 'ओठों में हाँफने जैसी और ऐंठनयुक्त गति होती है, धँसे हुए कपोलों पर कम्पन होता है, कण्ठ में घुटन और अटकन होती है।'... शरीर की समस्त पेशियाँ कठोर हो सकती हैं, अथवा ऐंठनयुक्त गतियों में पड़ सकती हैं। ... ज्यों ही भय अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है, आतंक की भयावह चीख सुनाई देती है। त्वचा पर पसीने की बड़ी-बड़ी बूँदें उभर आती हैं। शरीर की समस्त पेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं। शीघ्र ही पूर्ण निःसत्त्वता आ जाती है, और मानसिक शक्तियाँ जवाब दे जाती हैं। आँतें प्रभावित होती हैं। संकोचक पेशियाँ कार्य करना छोड़ देती हैं और शरीर के भीतर की वस्तुओं को और अधिक धारण नहीं करतीं।"**

मृत्यु का निरन्तर भय, जो मर्मस्थलों को कुतरता रहता है और शरीर की स्वस्थ क्रिया में निरन्तर बाधा डालता रहता है, यदि उससे मृत्यु हो जाए तो इसमें तनिक भी विचित्रता नहीं; वरन् मनुष्य के जीवन में विचित्र बात तो यह है कि वह साठ वर्ष जितना भी जीवित रह पाता है। महाशय ज्याँ फ़िनो (M. Jean Finot) मृत्यु के कारणों का विश्लेषण करते हुए 'द फिलॉसफी ऑफ़ लॉन्ग लाइफ़' (The Philosophy of Long Life, पृष्ठ १०६ और १०७) में कहते हैं :—

> "हम शतायु होकर भी नहीं मरते। यह अकाल मृत्यु क्यों? हम मरते क्यों हैं? यही वह शाश्वत विवाद है जिसने हमें पहले ही इतने व्याख्या-ग्रन्थ दिए हैं जो कुछ भी व्याख्या नहीं करते। धर्मशास्त्रियों से लेकर जीवविज्ञानियों तक के लेखकों ने हमें जो कारण बताए हैं, उनका सारांश देने का प्रयत्न सैकड़ों खण्डों की माँग करने वाला कार्य होगा, और साथ ही सर्वथा निष्फल भी। ... अतएव आइए, हम अपने पूर्ववर्तियों द्वारा गिनाए गए उन सहस्र कारणों को एक ओर रख दें, और एक ऐसा कारण प्रस्तुत करें जो सामान्यतः दिए जाने वाले सम्मान से अधिक का अधिकारी है। वह उपेक्षित कारण है मृत्यु का भय। मनुष्य, एक विशेष मानसिक अवस्था पर पहुँचकर, मृत्यु के एक प्रकार के आत्म-सम्मोहन से ग्रस्त हो जाता है। तब वह विश्वास कर लेता है कि उसके दिन पूरे हो चुके हैं, और शारीरिक आहार के समान ही मृत्यु के भय पर भी पलता है। इस क्षण से मृत्यु उसे सम्मोहित करने लगती है। वह सर्वत्र और सदा आतंक के साथ उसकी पुकार सुनता है। परलोक की दार्शनिक और कल्याणकारी चेतना का स्थान जीवन से विच्छेद का कायर और स्नायविक भय ले लेता है। वह अभागा इसी भय पर पलता है, इसी से उन्मत्त होता है, और इसी से मर जाता है। इस विचार से ग्रस्त मनुष्य ठीक से खा नहीं पाता और पचा तो और भी बुरी तरह पाता है। उसका स्नायु-तन्त्र अव्यवस्थित हो जाता है और उसका शरीर बाह्य जीवन की उत्तेजनाओं के प्रति बहरा बना रहता है। जिस जीवन को वह मुरझाता हुआ मानता है, उसके लिए शोक उससे उसके शरीर के प्राण-साधनों को असीम विषाद और अनामी रोगों में नष्ट करवा देता है।"

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, जरा (वृद्धावस्था) कोशिकीय एवं आनुवंशिक क्रियाविधियों का परिणाम मानी जाती है और मृत्यु-भय को अकाल मृत्यु का प्रमुख कारण नहीं माना जाता, यद्यपि तनाव का स्वास्थ्य पर प्रभाव स्वीकार किया जाता है।

इस सरल विषय पर और प्रमाण उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं, जिसे कोई भी इस आवेग के प्रभाव का स्वयं अपने ऊपर तथा अपने सम्पर्क में आने वालों पर अध्ययन करके देख सकता है; इतना कह देना पर्याप्त है कि उसकी पराकाष्ठा तब आती है जब व्यक्ति की इच्छा पूर्णतया पंगु हो जाती है और शरीर-यन्त्र अपने स्वाभाविक शत्रुओं की दया पर छोड़ दिया जाता है, जो शीघ्र ही उसका विघटन कर डालते हैं। शरीर पर इच्छा की क्रिया तथा उस क्रिया के प्रभाव पर हम आगे अमरत्व के प्रश्न पर विचार करते समय, जब कर्म के सिद्धान्त की चर्चा करेंगे, विवेचन करेंगे। इस बीच आइए, हम 'पतन' की अपनी व्याख्या पूरी कर लें।

अपराध के पश्चात् प्रभु परमेश्वर ने उस भूल करने वाले दम्पति और प्रलोभक पर जो शाप उच्चारित किया, वह मनोवैज्ञानिक अर्थ से भरा हुआ है। यदि हम अपना अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि हम दो कार्यों अथवा मानसिक शक्तियों से सम्पन्न हैं — इच्छा और बुद्धि — जो अहं अथवा आत्मा में मिलकर उसे एक पूर्ण इकाई बनाती हैं। हमें यह भी लक्षित करना चाहिए कि न अहं और न बुद्धि ही बाह्य जगत् से सीधा व्यवहार करती है, तथा मनस्, जो संवेदन का केन्द्रीय अंग है, वही वह साधन अथवा वाहन है जिसके द्वारा वे उससे सम्पर्क में आते हैं। पतन के इस रूपक में आदम अहं अथवा व्यक्तित्व-प्राप्त इच्छा का प्रतिनिधि है; हव्वा बुद्धि (संस्कृत का बुद्धि) की प्रतीक है; और सर्प मनस् (निम्नतर अथवा विषयोन्मुख मन) के लिए खड़ा है। अब, बुद्धि इच्छा की परिचारिका अथवा सेविका है, और साथ ही उसकी उपदेशिका भी। वह सेविका इसलिए है कि उसका इसके अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं कि वह इच्छा के — जो अपनी विषयगत अभिव्यक्ति, अर्थात् शरीर में व्यक्तित्व धारण किए हुए है — सम्बन्धों को अन्य शरीरों के साथ, तथा अपने उच्चतर अर्थात् दिव्य पक्ष के साथ भी, खोजे, निश्चित करे और समायोजित करे; और वह उसकी उपदेशिका इस अर्थ में है कि वह उसकी क्रियाशीलता को नियन्त्रित करके उचित मार्गों में प्रवाहित करती है, और उसे शिक्षित करके उच्चतम कोटि की आत्म-अनुभूति तक ले जाती है, जो शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है। किन्तु बुद्धि का प्राथमिक कार्य केवल इतना ही है कि वह प्रत्यक्षों को प्रस्तुत करे, जिन्हें वह मन (मनस्) द्वारा जुटाई गई संवेदनाओं के कच्चे माल से बुनकर तैयार करती है। इसी से 'वुमन' (woman) शब्द, जो सैक्सन 'विफ़ मैन' (wif man) से बना है (सैक्सन में wif और जर्मन में weib, जो weben अर्थात् बुनना से आया है), उसका द्योतक है जो बुनती है, और इसलिए बुद्धि की शक्ति का पूर्ण प्रतीक है। मनस् भी कभी सीधे आत्मा के सम्पर्क में नहीं आता, वरन् बुद्धि के द्वारा ही उसे प्रभावित करता है; अतएव पतन के रूपक में सर्प पहले हव्वा को ललचाता है, और फिर वह अपनी बारी में अहं को ललचाती है। पंचग्रन्थ (Pentateuch) के संकलनकर्ता ने, अहं और बुद्धि के बीच उस अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध से प्रभावित होकर, जो बालक और उसकी शिक्षिका के बीच के सम्बन्ध से कहीं अधिक निकट है, उसकी उपमा पति और पत्नी के सम्बन्ध से दी। अहं बुद्धि पर वैसे ही निर्भर रहता है जैसे पति गृहस्थी के कार्यों में अपनी पत्नी पर निर्भर रहता है, और बुद्धि उसकी आवश्यकताओं और सुख-सुविधाओं का ध्यान रखती है तथा उससे वैसे ही लिपटी रहती है जैसे स्त्री अपने पति से।

इस आवश्यक भूमिका के पश्चात् अब हम उस भयंकर शाप के स्वरूप को स्पष्ट करने की ओर बढ़ सकते हैं जो परमेश्वर ने अपराधियों पर उच्चारित किया। आदम, जब अन्तःप्रेरणा की 'मन्द, धीमी वाणी' द्वारा अवज्ञा का अभियुक्त ठहराया जाता है, तत्काल दोष स्त्री, अर्थात् बुद्धि पर डाल देता है; और वह अपनी

बारी में भूल तथा प्रलोभन के कारण के रूप में सर्प की ओर संकेत करती है। प्रभु का क्रोध सर्वप्रथम मनस् (सर्प) पर भड़क उठता है और वह भयंकर शाप उच्चारित होता है : "तू अपने पेट के बल चलेगा, और जीवन भर मिट्टी चाटता रहेगा।" अतएव मनस् 'अपने पेट के बल चलता है', अर्थात् धूल में ही जीता और चलता है, अथवा दूसरे शब्दों में, परिघटनात्मक तक ही सीमित है, और इसलिए पदार्थ से बँधा हुआ है। मनस् का आहार वे स्पन्दन हैं जो इन्द्रियों के माध्यम से उस तक पहुँचते हैं; इसलिए वह स्पन्दनों को ही खाने के लिए अभिशप्त है, और स्पन्दन, जैसा कि वे हैं, पदार्थ की अविभाज्य इकाइयाँ माने जाते हैं, अतएव धूल हैं। स्त्री और सर्प के बीच रखा गया वैर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बुद्धि और मनस् के सम्बन्ध का प्रतीक है। मनस् को स्थान-स्थान भटकना प्रिय है और वह इधर-उधर विचरण करने में ही अपने तत्त्व में रहता है; किन्तु बुद्धि को अपने उच्चतर कार्य के लिए — अर्थात् प्रत्यय और निर्णय बनाने के लिए — विश्राम चाहिए, और इसलिए वह उसकी उग्र प्रकृति को रोकने और उसे एक बिन्दु पर टिकाए रखने का प्रयत्न करती है। इसी से मनस् बुद्धि की एड़ी काटता है कि वह नाचती रहे, और बुद्धि उसका सिर कुचलती है कि उसकी उछल-कूद रुके। यह बात बुद्धि के बीज की दशा में और भी अधिक स्पष्ट है, जो निर्णय है और उच्चतम अर्थ में प्रज्ञा है। प्रज्ञा, बुद्धि की सन्तान, जो निष्कलंक रीति से गर्भ में आई, मनस् से मुक्त होकर अपना खोया हुआ ईश्वरत्व पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। किन्तु मनस्, जब तक उसका सिर कुचला नहीं जाता, हर बार जब वह आत्म-अनुभूति के लिए उससे ऊपर उड़ने का प्रयत्न करती है, उसकी एड़ी काटकर उसे इन्द्रियों के जगत् में नीचे खींच लाता है। इसका सर्वोत्तम दृष्टान्त बालक कृष्ण की वह कथा है जिसमें उन्होंने यमुना नदी (रूपक में, चित्त अथवा मन-द्रव्य) में सर्पराज कालिय का सिर कुचलकर उसे वश में किया। इस कथा से जो शिक्षा ग्रहण करनी है वह यह है कि निर्वाण प्राप्त करने के लिए, अथवा ईसाई शब्दावली में उद्धार अथवा त्राण पाने के लिए, मनुष्य को अपने मन के 'अग्नि-सर्प' को, अर्थात् कामनामय मनस्* को, जीवन में यथासम्भव शीघ्र वश में करना ही चाहिए।

* मनस् यूनानी पुराकथाओं का मिनोटौर (Minotaur) है (आधा मनुष्य, आधा पशु), जिसका मानवीय अंश तर्क अर्थात् विचार-शक्ति का प्रतिनिधि है और वृषभ-अंश शुद्ध पशुत्व का, अर्थात् अनियन्त्रित इन्द्रिय-लोलुपता का।

स्त्री पर उच्चारित शाप भी बुद्धि के उसी स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसकी वह पार्थिव प्रतीक है। गर्भधारण और शोक ही उसका भाग्य हैं, चाहे हम उन्हें उनके शाब्दिक अर्थ में लें या मनोवैज्ञानिक अर्थ में; क्योंकि बुद्धि प्रत्ययों के अपने विपुल उत्पादन के लिए प्रसिद्ध है, और साथ ही शोक अर्थात् उद्वेग के लिए भी, जो निर्णयों के विकास में, अर्थात् उन्हें बनाने और प्रसव करने में होता है। वह अपने पति अहं की परिचारिका है, और अतएव उसे उसकी इच्छा और रुचि के अनुसार अपने को उसे समर्पित करना और उसके लिए गर्भ धारण करना ही होगा। हव्वा और बुद्धि की अभिन्नता को उत्पत्ति ३:२० सन्देह से परे

कर देता है : आदम ने अपनी पत्नी का नाम हव्वा रखा, क्योंकि वह सब जीवितों की माता थी। यह वर्णन किसी भी प्रकार मानवी स्त्री पर लागू नहीं हो सकता, क्योंकि उसे किसी भी अर्थ में 'सब जीवितों की माता' नहीं माना जा सकता; किन्तु वह बुद्धि पर पूर्ण रूप से और यथोचित रूप से लागू होता है, क्योंकि चेतना के ताने-बाने में प्रस्तुतियों की बुनकर के रूप में उसी के कार्य पर समस्त रूपों का प्रत्यक्ष, और अतएव एक अर्थ में उनका अस्तित्व, आश्रित है।

आदम का दण्ड भी उस अहं के लिए उतना ही स्वाभाविक है जो अपनी बुद्धि को केवल परिघटनाओं के भले-बुरे में भेद करने में ही लगाता है। चूँकि परिघटनात्मक के पीछे दौड़ने से द्वैत की, अर्थात् ईश्वर और मनुष्य के बीच पार्थक्य की धारणा उत्पन्न होती है, और भय तथा उद्वेग जन्म लेते हैं, अतएव आदम के रूप में मूर्त उस पतित अहं को अनिवार्यतः अपने माथे के पसीने की रोटी खानी ही पड़ती है। काँटे और झाड़-झंखाड़, शोक और अश्रु ही उसका भाग्य हैं; क्योंकि, जैसा पहले कहा जा चुका है, जो इन्द्रिय-लालसा में डूबा हुआ है उसके लिए कोई सुख हो ही नहीं सकता।

प्रभु द्वारा उच्चारित शाप ने इन्द्रियासक्त अहं की नश्वर प्रकृति का भी पूर्वाभास दिया; फिर भी वह अहं की मृत्यु नहीं, केवल शरीर की मृत्यु है।

शुद्ध आत्मा के रूप में जीव अजन्मा और अमर है, क्योंकि वह नित्य है और अकृत है; किन्तु पाप की उन मलिनताओं के संसर्ग में, जो भाँति-भाँति के पौद्गलिक आवरणों के रूप में उससे चिपकी रहती हैं, वह जन्म और मरण दोनों के अधीन हो जाता है। इसी में उस चेतावनी का मर्म निहित है — "जिस दिन तू उसमें से खाएगा, उसी दिन तू निश्चय मर जाएगा।" आप देखेंगे कि बल मृत्यु के दिन पर नहीं है, क्योंकि आदम उस दिन नहीं मरा जिस दिन उसने वर्जित फल खाया था, अपितु उस मरणशीलता पर है जो पदार्थ के साहचर्य से समस्त अमुक्त आत्माओं पर लाद दी जाती है। पदार्थ चूँकि परमाणुरूप है और निरन्तर गतिशील है, अतः उससे बने किसी भी शरीर की कल्पना स्थायी रूप में की ही नहीं जा सकती। तथापि प्रकृति में जो घटित होता है वह आत्मा का नहीं, केवल शरीर का ही अन्त है; जीव उसे अपनी ही मृत्यु मान बैठता है, क्योंकि उसने अपने को अपने शरीर के साथ अत्यन्त घनिष्ठ रूप से एक कर लिया है। किन्तु यह विषय आगे के लिए है।

नग्नता का विचार भी देहधारी अस्तित्व के सन्दर्भ में ही उठता है; क्योंकि शुद्ध तेजःस्वरूप होने के कारण आत्मा न तो वस्त्र धारण करती है और न उसे उनकी आवश्यकता ही है।

इस प्रकार पतन की यह कथा हमारी आँखें उन महान् भेदों की ओर खोलने के लिए है जो एक शुद्ध, पूर्ण आत्मा और वासनाओं से आबद्ध जीव के बीच विद्यमान हैं: पहली आनन्दमयी और अमर है और महिमा का वस्त्र धारण किए हुए है, किन्तु दूसरा नग्न है, दुःखी है, और मृत्यु के पंजों में दृढ़ता से जकड़ा हुआ है। ये भेद देखने में चाहे कितने ही महान् और अलंघ्य क्यों न प्रतीत हों, तथापि ऐसे हैं कि सरलता से मिटाए जा सकते हैं, क्योंकि वे केवल और केवल वासना के तत्त्व के कारण हैं, जिसके उन्मूलन से देवत्व की अवस्था अनायास ही प्राप्त की जा सकती है।

हिन्दू पुराणों में वर्णित ब्रह्मा के पतन की कथा, जो बाइबिल की गाथा से कहीं अधिक विस्तृत क्षेत्र को समेटती है, वह भी आत्मा के मानसिक व्यापारों का एक रूपकात्मक वर्णन ही है। किन्तु वह इतनी लम्बी है कि उसे यहाँ सम्पूर्ण रूप में उद्धृत नहीं किया जा सकता; फिर भी पुराण-कथाओं का अध्येता उसकी व्याख्या सहज ही कर लेगा, यदि वह उन अनेक मनोवैज्ञानिक रूपों को ध्यान में रखे जिनमें आत्मा पदार्थ के संयोग में प्रकट होती है और जिन्हें पुराणों में देवताओं और देवियों के रूप में मूर्त किया गया है। तथापि बुद्धि के यथार्थ स्वरूप को समझाने के लिए हम इस कथा के अन्तिम भाग को कुछ संक्षिप्त रूप में यहाँ देते हैं। 'पतन' का बाइबिल-वर्णन, जो वेदान्त-दृष्टि पर आधारित है, शापों के उच्चारण पर ही रुक जाता है और इसलिए बुद्धि की वास्तविक स्थिति के विषय में भ्रम उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि वहाँ उसे उसके निकृष्टतम रूप में चित्रित किया गया है। वस्तुतः तो उसके मार्गदर्शन के बिना उद्धार अथवा मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि 'पतन' की अवस्था में वही ज्ञान का एकमात्र साधन है।

किन्तु बुद्धि की दुर्बलता इस तथ्य में निहित है कि उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती, और वह जीव की किसी भी रुचि के अनुसार सेवा करने से इनकार नहीं कर सकती। इसी कारण बाइबिल की कथा में स्त्री वर्जित फल तभी खाती है जब उसका पति ऐसा चाहता है, यद्यपि उसे स्वयं पहले ही ऐसा करने का अवसर प्राप्त था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार में उपद्रव करने वाली बुद्धि नहीं है, अपितु वह चयन-शक्ति है जो यह निर्धारित करती है कि इच्छा के लिए बुद्धि से किस प्रकार का कार्य लिया जाएगा। विवेक-शक्ति के रूप में उसका कार्य केवल जीव को, अथवा इच्छा को, ज्ञान प्रदान करना है; किन्तु वह किस प्रकार का ज्ञान प्रदान करे, इसका चयन वह स्वयं नहीं करती, बल्कि इच्छा करती है। जैसे हम एक लालटेन का उपयोग अपने पगों को पूजा-स्थल की ओर आलोकित करने के लिए भी कर सकते हैं और जुए के अड्डे की ओर भी, वैसे ही हम अपनी बुद्धि का उपयोग उस प्रज्ञा को प्राप्त करने के लिए कर सकते हैं जो आनन्द की ओर ले जाती है, अथवा उन विषयों का बोध कराने के लिए जिनका ज्ञान केवल क्लेश और पीड़ा से भरा है। वस्तुतः जब और जहाँ भी बुद्धि का प्रयोग सम्यक् दिशा में हुआ है, वह जीव को महिमा और सामर्थ्य के उच्चतम शिखरों तक और अन्ततः निर्वाण तक ले जाने में कभी असफल नहीं हुई।

उसका प्रभाव तभी घातक और हानिकर होता है जब जीव उसका प्रयोग केवल इसी में करता है कि वह अपने शरीर के सम्बन्धों को संसार के अन्य शरीरों के साथ परिभाषित और निर्धारित करे। अतएव बाइबिल की इस गम्भीर शिक्षा से जो पाठ ग्रहण करना है वह यह है कि यदि यथार्थ मनुष्य के स्थान पर शरीर को प्रतिष्ठित करने की भूल से बचा जाए, और बुद्धि का प्रयोग इच्छा की चाटुकारिता के बदले आत्मा की उन्नति के लिए किया जाए, तो उसका दुष्प्रभाव समाप्त हो जाता है और वह कल्याण का सर्वाधिक समर्थ साधन बन जाती है।

यह बात कितने ही परिश्रम से क्यों न हो, समझ लेने योग्य है कि बुद्धि के समुचित प्रयोग के बिना श्रद्धा की प्राप्ति सम्भव ही नहीं, क्योंकि तर्क के अतिरिक्त और कुछ भी हमारे सन्देहों का नाश करने में समर्थ नहीं है। यह सत्य है कि आप्त-वचन भी एक प्रकार का अस्थायी सन्तोष दे सकता है; किन्तु चूँकि उसके लिए समस्त सम्भव प्रश्नों को समेट लेना असम्भव है, और चूँकि उसे स्वीकार करने से पूर्व उसका मूल्य, उसकी विश्वसनीयता और उसका अर्थ निर्धारित करना पड़ता है, अतः समस्त सन्देहों का निवारण उसकी सीमा के भीतर नहीं है। इसलिए जो आप्त-वचन के सहारे रहता है वह उस मनुष्य के समान है जो अपना घर बालू पर बनाता है। यही कारण है कि जब लोग विवेकपूर्ण चिन्तन को छोड़कर अपने धर्म-संस्थापकों के मुख-वचन पर ही निर्भर होने लगते हैं, तब मतभेदों और सम्प्रदायों का अन्तहीन सिलसिला उठ खड़ा होता है। इसके अतिरिक्त, आप्त-वचन से जो सन्तोष मिलता प्रतीत होता है वह यथार्थ से अधिक आभासमात्र है, क्योंकि ज्ञान भोजन के समान है, जिसे अपना बनाने के लिए पचाना अनिवार्य है। यदि भोजन कोई दूसरा खा ले तो वह हमारे किसी काम का नहीं, चाहे वह ब्राह्मण की भाँति ही क्यों न खाया गया हो — किसी अन्य के नाम पर और उसी के हित के लिए। ज्ञान के साथ भी ठीक यही बात है। आप्त-वचन न केवल श्रद्धा के लिए ठोस आधार देने में असमर्थ है, अपितु वह भ्रान्ति को और भी अधिक उलझा देता है, क्योंकि वह तत्काल ही प्रश्नों की एक पूरी सेना का द्वार खोल देता है कि कथित वचनों का सम्भावित अर्थ और स्पष्टीकरण क्या हो — फिर उन साक्षियों की विश्वसनीयता और प्रामाणिकता का तो कहना ही क्या, जिनसे वे वचन निःसृत हुए हैं। और चूँकि वस्तुओं के स्वभाव तथा प्रकृति के नियमों की खोज के बिना मतभेदों का निर्णायक निपटारा सम्भव नहीं, अतएव प्रथमतः बुद्धि, और केवल बुद्धि ही, मनुष्यों के विवादों की अन्तिम न्यायाधीश और एकमात्र मध्यस्थ है।

अब हम पौराणिक कथा का अनुसरण बिना किसी कठिनाई के कर सकते हैं। कथा इस प्रकार है कि किसी समय ब्रह्मा ने यज्ञ करने की इच्छा से पुष्कर की ओर प्रस्थान किया और आवश्यक तैयारियाँ कीं। किन्तु उनकी दिव्य पत्नी सावित्री के आने में विलम्ब हुआ, और यद्यपि यज्ञ का मुहूर्त निकट आ पहुँचा, तथापि वे अपने स्वामी के पार्श्व में उपस्थित न थीं। उनके इस आचरण से रुष्ट होकर देव ने इन्द्र से कहा कि

वे उनके लिए दूसरी वधू ले आएँ, और इन्द्र तत्काल ही गायत्री नाम की सुन्दर गोपकन्या को ले आए, जो अपने हाथ में घृत का पात्र लिए हुए थी। ब्रह्मा ने उसे वेदों की माता कहा और उसके साथ विवाह-सूत्र में बँध गए। ठीक उसी समय सावित्री वहाँ आ पहुँचीं, और अपनी मुस्कुराती सपत्नी को देखकर क्रोध से भर उठीं तथा उन समस्त देवताओं को नाना प्रकार के शाप दिए जिन्होंने उस अनुष्ठान में भाग लिया था। तत्पश्चात् वे देवताओं को स्तब्ध छोड़कर वहाँ से चली गईं। तब उस तरुण वधू ने स्वयं ही अपनी दिव्य सपत्नी के शापों को संशोधित कर दिया और अपने स्वामी के समस्त उपासकों को सब प्रकार के वरदान देने का वचन दिया, जिनमें उनमें अन्तिम लय भी सम्मिलित था। अन्ततः विष्णु और लक्ष्मी क्रुद्ध सावित्री को लौटा लाए, और गायत्री उनके चरणों में गिर पड़ीं। इस पर सावित्री ने उन्हें उठाकर, गले लगाते हुए कहा —

> **"चूँकि पतिव्रता स्त्री ऐसा कुछ नहीं करती जिससे उसके पति को अप्रसन्नता हो, अतएव हम दोनों ही ब्रह्मा के प्रति अनुरक्त रहें।"**

गायत्री ने भी लज्जा से भरकर उत्तर में मन्द स्वर में कहा —

> **"मैं सदा तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगी और तुम्हारी मैत्री को अपने प्राणों के समान मूल्यवान् मानूँगी; हे देवि! मैं तुम्हारी पुत्री हूँ, मेरी रक्षा करने की कृपा करो।"**

इस कथा का स्पष्टीकरण इच्छा के उन मनोवैज्ञानिक व्यापारों में निहित है जिन्हें पुराणों में देवताओं और देवियों के रूप में मूर्त किया गया है। इच्छा में दो प्रवृत्तियाँ हैं जो अन्तर्ज्ञान और बुद्धि के रूप में प्रकट होती हैं। जैसा कि बर्गसाँ (Bergson) कहते हैं —

> **"दोनों प्रवृत्तियाँ, जो प्रारम्भ में एक-दूसरे में अन्तर्निहित थीं, विकसित होने के लिए पृथक् होने को विवश थीं। दोनों ही संसार में अपना भाग्य खोजने निकल पड़ीं, और अन्ततः वे सहजवृत्ति तथा बुद्धि के रूप में सामने आईं...... जीवन, अर्थात् पदार्थ में उतरी हुई चेतना, ने अपना ध्यान या तो अपनी ही गतियों पर केन्द्रित किया, या उस पदार्थ पर जिसमें से वह गुज़र रही थी; और इस प्रकार वह या तो अन्तर्ज्ञान की दिशा में मुड़ गई, या बुद्धि की दिशा में।" ('क्रिएटिव एवोल्यूशन' — The Creative Evolution)**

अन्तर्ज्ञान वह शक्ति है जिससे तत्काल आत्म-बोध उत्पन्न होता है, और उच्चतम अर्थ में उसका तात्पर्य विशुद्ध सर्वज्ञता से है; किन्तु बुद्धि वह क्षमता है जो आकारों से व्यवहार करती है। पुराणों में प्रथम को देवी के रूप में और द्वितीय को गोपकन्या के रूप में मूर्त किया गया है। गायत्री जो घृत का पात्र अपने हाथ में लिए हुए हैं, वह उनके स्वभाव का सूचक है, क्योंकि बुद्धि अनुभव में से सिद्धान्तों को वैसे ही निकाल लेती है जैसे कोई दूध में से मक्खन निकालता है। इच्छा की (जिसे ब्रह्मा के रूप में मूर्त किया गया है) ये दो पृथक् प्रवृत्तियाँ होने के कारण, इन्हें उस देव की दो पत्नियों के रूप में वर्णित किया गया है। किन्तु चूँकि अन्तर्ज्ञान को बुद्धि पर वरीयता प्राप्त है, अतएव गायत्री को अपनी दिव्य सपत्नी के चरणों में गिरते हुए दिखाया गया है। तथापि, चूँकि 'पतन' की अवस्था में बुद्धि ही ज्ञान का एकमात्र साधन है, इसलिए उसके मूर्त रूप को वेदों की (अर्थात् शब्दशः, ज्ञान की) माता कहा गया है।

पुनः, चूँकि बुद्धि ही आत्मा के देवत्व को सिद्ध करती है और उसी के द्वारा उसे आत्म-साक्षात्कार तक ले जाती है, और चूँकि आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है आत्मा की बन्धन तथा पीड़ा से मुक्ति, अतएव यह कहा गया है कि बुद्धि ने ही अपनी सपत्नी के शापों को संशोधित किया।

नीचे हम उन शापों को देते हैं जो सावित्री ने उस अनुष्ठान में भाग लेने वाले कतिपय देवों को दिए, तथा उनकी सपत्नी द्वारा किए गए उनके संशोधन, और साथ ही उनकी व्याख्या भी। यदि इन व्याख्याओं में कोई कठिनाई अनुभव हो, तो उन्हें नवें, दसवें और ग्यारहवें अध्याय के अध्ययन के पश्चात् पुनः पढ़ना चाहिए।

ब्रह्मा। — शाप का स्वरूप: किसी मन्दिर अथवा पवित्र स्थान में उनकी पूजा न हो। संशोधन का स्वरूप: ब्रह्मा की पूजा भले ही बन्द हो जाए, किन्तु उनके उपासक सब प्रकार के वरदान प्राप्त करेंगे, जिनमें उनमें अन्तिम लय भी सम्मिलित है। व्याख्या: ब्रह्मा उस अव्यक्त का व्यक्त पक्ष हैं, अतः वे व्यक्तित्व अर्थात् आत्मा के मूर्त रूप हैं, जो अन्तर्ज्ञान और बुद्धि — इन दोनों शक्तियों से सम्पन्न है। अतएव सावित्री अर्थात् अन्तर्ज्ञानात्मक प्रज्ञा, और गायत्री अर्थात् तर्कबुद्धि, ब्रह्मा की दो पत्नियाँ हैं। तर्क प्रारम्भ में मनुष्य को अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान से वंचित करता है और इस प्रकार पतन का कारण बनता है। अतएव ब्रह्मा की उपासना एक विश्व-देवता के रूप में नहीं की जा सकती; किन्तु चूँकि आत्मा स्वयं ही सच्ची उद्धारक है, इसलिए जो अपने ही स्वरूप की उपासना करते हैं वे सब प्रकार के वरदान प्राप्त करते हैं, जिनमें संसार से अन्तिम मुक्ति भी सम्मिलित है।

इन्द्र। — शाप का स्वरूप: शत्रुओं द्वारा शृंखलाओं में बाँधे जाएँ और किसी परदेश में बन्दी रखे जाएँ। साथ ही वे अपनी नगरी तथा पद से भी वंचित हों। संशोधन का स्वरूप: वे सदा के लिए बन्धन में न रहेंगे, और उनका पुत्र उन्हें मुक्त कराएगा। व्याख्या: इन्द्र जीवन है, जिसका सामर्थ्य परिस्थितियों और मान्यताओं के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। उसके शत्रु भाँति-भाँति की कार्मिक शक्तियाँ अर्थात् वासनाएँ हैं। परदेश पदार्थ का लोक है; और नगरी तथा पद का लोप बन्धन की अवस्था का सूचक है। आत्मा का, अर्थात् जीवन या जीव का, मुक्तिदाता प्रज्ञा है, जिसे उस देव के पुत्र के रूप में मूर्त किया गया है।

अग्नि। — शाप का स्वरूप: वे शुद्ध और अशुद्ध — सभी वस्तुओं के भक्षक हों। संशोधन का स्वरूप: अशुद्ध वस्तुएँ उनके स्पर्शमात्र से पवित्र हो जाएँगी। व्याख्या: अग्नि तप की उस अनल का मूर्त रूप है जो समस्त वस्तुओं को शुद्ध कर देती है। अतएव यह शाप और उसका संशोधन।

विष्णु। — शाप का स्वरूप: वे मनुष्यों के बीच जन्म लें, और यह वेदना भी सहें कि उनके शत्रु उनकी पत्नी का अपहरण कर लें। संशोधन का स्वरूप: वे अन्ततः अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त कर लेंगे। व्याख्या: विष्णु धर्म अथवा ज्ञान के मूर्त रूप हैं, जो मनुष्यों के बीच अवतरित होता है। उनका शत्रु अज्ञान है, जो इन्द्रियों के द्वारों से होकर उनकी पत्नी (अर्थात् ज्ञान, अपने विषयगत रूप में) को चुरा ले जाता है। किन्तु चूँकि ज्ञाता और ज्ञान के बीच वास्तविक पार्थक्य यथार्थतः सम्भव नहीं है, और साथ ही चूँकि आत्मा निर्वाण की प्राप्ति से पूर्व ही ज्ञान में पूर्णता प्राप्त कर लेती है, अतएव विष्णु को अपनी पत्नी अन्ततः पुनः प्राप्त हो जानी है।

शिव। — शाप का स्वरूप: वे अपने पुरुषत्व से वंचित हों। संशोधन का स्वरूप: पुरुषत्व का लोप उस देव के प्रतीक-रूप लिंग की उपासना में बाधक न होगा। व्याख्या: शिव इच्छा के, अर्थात् उस 'वस्तु-स्वरूप' के प्रतिनिधि हैं, जो स्वभावतः स्वतन्त्र और अप्रतिहत है। पदार्थ में उसका प्रवेश उसे उसकी स्वतन्त्रता और अप्रतिहतता से बहुत अंशों में वंचित कर देता है; अतएव उस देव को अपने पुरुषत्व से वंचित होना है। लिंग सृजन-शक्ति का प्रतीक है, जो इच्छा का ही कार्य है; अतएव मनुष्यों द्वारा उसकी उपासना। शिव वैराग्य के भी मूर्त रूप हैं, और उस दृष्टि से उनका स्वभाव सावित्री के शाप के पूर्णतः अनुरूप है।

लक्ष्मी। — शाप का स्वरूप: वे कहीं एक स्थान पर स्थिर न रहें; और सदा नीचों, चंचलों, तिरस्कृतों, मूढ़ों, क्रूरों, मूर्खों तथा बर्बरों के पास ही निवास करें। व्याख्या: यह देवी समृद्धि अथवा धन की मूर्त रूप हैं, और उनका स्वभाव सावित्री के शाप में इतनी भली-भाँति परिभाषित है कि किसी और स्पष्टीकरण की

आवश्यकता ही नहीं।

देवताओं की पत्नियाँ, सामूहिक रूप से। — शाप का स्वरूप: वे बन्ध्या रहें, और सन्तान का सुख कभी न भोगें। संशोधन का स्वरूप: सन्तान उत्पन्न करने की असमर्थता का कोई शोक न होगा। व्याख्या: ये देवियाँ कतिपय अमूर्त गुणों, शक्तियों तथा सद्वृत्तियों के मूर्त रूप हैं, और इस रूप में वे न तो सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ हैं और न अपने वन्ध्यत्व पर शोक करने में।

अग्नि को यहाँ शुद्ध और अशुद्ध — सभी वस्तुओं का भक्षक इसलिए कहा गया है, क्योंकि जब आत्मा के शुभ और अशुभ कर्मों का फल वैराग्य की तपाग्नि में भस्म हो जाता है, तभी वह निर्वाण को प्राप्त करती है।

ब्रह्मा के विवाह और उसके परिणामस्वरूप हुए 'पतन' के इस पौराणिक वृत्तान्त की उपर्युक्त व्याख्या, यह ध्यान देने योग्य है, बुद्धि नामक शक्ति के स्वरूप का सम्पूर्ण स्पष्टीकरण प्रस्तुत करती है और यह बताती है कि उसके बिना मोक्ष किस प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता।

उत्पत्ति की पुस्तक के चौथे अध्याय में दिया गया आदम के पुत्रों का रूपकात्मक वृत्तान्त भी यह भली-भाँति स्पष्ट कर देता है कि बुद्धि के माध्यम के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। हव्वा, अर्थात् बुद्धि, गर्भ धारण करके हाबिल और कैन को जन्म देती है, जो स्वभाव से ही परस्पर विरुद्ध हैं — यहाँ तक कि अन्ततः पहले की हत्या उसके भाई द्वारा कर दी जाती है। अब, कैन वह तर्क है जो जड़ पदार्थ के साथ आगमन-प्रणाली की विच्छेदन, विश्लेषण और वर्गीकरण की क्रियाओं द्वारा व्यवहार करता है; अतएव उसे भूमि जोतने वाला कहा गया है, और भूमि पदार्थ का प्रतीक है। किन्तु हाबिल श्रद्धा है, जो स्वयं जीवन की ओर उन्मुख है। इसीलिए उसे भेड़ों का चरवाहा कहा गया है, जो पशुधन का, अतएव जीवन का प्रतीक है। प्रभु को श्रद्धा प्रिय है, किन्तु तर्क की ओर उनका झुकाव कम है, क्योंकि तर्क प्रधानतः उन्हें पदार्थ की उपज ही भेंट के रूप में अर्पित कर सकता है। अतएव हाबिल की भेंट प्रभु को कैन की भेंट की अपेक्षा स्वीकार्य होती है। इससे तर्क क्षुब्ध हो उठता है, और वह श्रद्धा का शीघ्र ही अन्त करके उसे नष्ट कर देता है। सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा दिया गया शाप अन्धश्रद्धा से भिन्न तर्क के प्रधान लक्षणों का ही वर्णन करता है। विश्व की पहेली तर्क के लिए चिन्ता का स्रोत है, अतएव भूमि उसे अपनी उपज न देगी। आगमन की एक और विशेषता है अनुभव की खोज में निरन्तर भटकना, अतएव कैन को भगोड़ा होना है। पुनः, चूँकि संसार में जितना भी उपद्रव है वह सब तर्क का ही परिणाम है, इसलिए उसे आवारा

भी कहा गया है। और अन्ततः, चूँकि निद्रा से केवल तर्क ही प्रभावित होता है, अतएव कहा गया है कि वह "नोद देश" का निवासी हो जाता है। प्रभु से की गई कैन की विनती भी तर्क के स्वभाव की प्रतीक है। उसका दण्ड उसकी सहन-शक्ति से अधिक है।

जो कोई उसके वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, वह उससे घृणा करने लगता है, क्योंकि वह क्लेश और बन्धन की ओर ले जाता है और मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र में उलझा देता है।

यह ध्यान देने योग्य रोचक तथ्य है कि, जैसा शोपेनहावर (Schopenhauer) संकेत करते हैं, किसी दोष को स्वीकार करते समय हम उसे हृदय के बजाय मस्तिष्क के मत्थे मढ़ने का प्रयत्न करते हैं, और इस प्रकार सद्भावना की रक्षा के लिए तर्क की बलि चढ़ा देते हैं।

इसलिए वह तिरस्कृत होने से डरता है। अतएव कैन (Cain) से यह कहलवाया गया है: "और ऐसा होगा कि जो कोई मुझे पाएगा, वही मुझे घात करेगा।" किन्तु चूँकि पतन के पश्चात्, तथा उसके परिणामस्वरूप अन्ध-श्रद्धा के विनाश के अनन्तर, यदि तर्क का सम्यक् प्रयोग किया जाए तो वही एकमात्र ऐसा साधन है जो आत्मा की दिव्यता को सिद्ध करके मनुष्य और ईश्वर के बीच पुनः एकत्व की अवस्था स्थापित कर सकता है, इसलिए जो पतन की दशा में तर्क के द्वारा निर्देशित होने से इनकार करता है, वह अपने यथार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ तथा जन्म-मरण के चक्र में उलझा हुआ ही रहेगा। इसी कारण प्रभु से यह कहलवाया गया है: "इसलिए जो कोई कैन को घात करेगा, उससे सात गुणा पलटा लिया जाएगा।" और अन्ततः यह कथन भी — "मैं तेरे मुख से छिपा रहूँगा" — तर्क के प्रतीक कैन के लिए पूर्णतया समुचित है। शाब्दिक अर्थ में लिया जाए तो यह कहना नितान्त असंगत है कि उस ईश्वर के मुख से, जिससे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता, कोई वस्तु छिपी रह सकती है; किन्तु दार्शनिक दृष्टि से सर्वज्ञता और तर्क एक ही वस्तु के, अर्थात् आत्मा के, दो परस्पर-विरोधी पक्ष हैं — प्रथम शुद्ध चैतन्य का कार्य है, और द्वितीय अशुद्धि में लिप्त अहं का गुण। इसी कारण, जब तक आत्मा अशुद्धि की अवस्था में रहती है तब तक वह अपने स्वाभाविक कार्य सर्वज्ञता का प्रयोग नहीं कर सकती; किन्तु जब अशुद्धियाँ दूर हो जाती हैं, तब तर्क का स्थान सर्वग्राही ज्ञान ले लेता है और ईश्वरत्व की प्राप्ति होती है। अतएव दिव्यता और तर्क साथ-साथ नहीं रह सकते, और इसी से कैन का वह कथन स्पष्ट हो जाता है।

आदम (Adam) का तृतीय पुत्र शेत (Seth) है, जिसका अर्थ है 'नियुक्त', अर्थात् वह जो मारे गये हाबिल (Abel) — अर्थात् अन्ध-श्रद्धा — के स्थान पर नियुक्त किया गया, और इस प्रकार वह प्रज्ञा है। परवर्ती यहूदी परम्परा में शेत मसीह के रूप में प्रकट होता है (एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, ११वाँ

संस्करण, लेख 'शेत'); और एनोश (Enos), जिसका अर्थ 'मनुष्य' है, शेत का वह पुत्र है जो स्वयं को (प्रभु के नाम से) प्रभु कहकर पुकारता है।*

* देखिए उत्पत्ति ४:२० पर हाशिये की टिप्पणी।

अब क्षण भर रुककर हम बाइबिल में प्रयुक्त 'भले और बुरे के ज्ञान' इस पद के अभिप्राय को स्पष्ट कर लें। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि भला और बुरा† केवल सापेक्ष शब्द हैं, जिनमें से कोई भी अपने आप में किसी विशेष वस्तु का बोध नहीं कराता; किन्तु जब वे किसी विशिष्ट वस्तु के सम्बन्ध में लिये जाते हैं, तब एक में उपयोगिता, हित अथवा लाभ का, और दूसरे में निरर्थकता, अहित अथवा हानि का भाव व्यक्त करते हैं। किसी विशेष समय पर किसी विशेष वस्तु के भले या बुरे होने का निर्णय सर्वप्रथम हमारे अपने शरीर अथवा व्यक्तित्व के द्वारा होता है; अतः जब कोई वस्तु हमारे व्यक्तित्व अथवा शरीर पर हितकर या लाभप्रद रीति से कार्य करती है, अथवा करने की सम्भावना रखती है, तब हम उसे भला कहते हैं, और विपरीत स्थिति में बुरा। अतएव 'भले और बुरे का ज्ञान' का अर्थ है उन सम्बन्धों का ज्ञान जिनमें हमारा शरीर अथवा व्यक्तित्व संसार के शेष शरीरों के साथ स्थित है; दूसरे शब्दों में, परिघटनाओं का ज्ञान। और चूँकि परिघटनाओं का ज्ञान केवल इन्द्रियों के द्वारा ही सम्भव है, इसलिए भले और बुरे का ज्ञान, अपने अन्तिम विश्लेषण में, सुख और दुःख के ऐन्द्रिय अनुभवों से अधिक कुछ नहीं है। जैसा कि मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है, 'दो विद्याएँ जाननी चाहिए — परा और अपरा'; इनमें परा वह विद्या है जिसका विषय परम आत्मा है, और अपरा वह जिसका प्रयोजन पुण्य और पाप के कारणों तथा उनके फलों को दिखाना है (शंकर)।

† तुलना कीजिए: "बुरी वे वस्तुएँ हैं जो अपने स्थान पर नहीं हैं; स्वयं वस्तुएँ बुरी नहीं होतीं। समस्त बुराई सापेक्ष है, और उसका सम्बन्ध भलाई के उच्चतर रूपों से है।" — 'रीज़न ऐंड बिलीफ़' (Reason and Belief), सर ऑलिवर लॉज (Sir Oliver Lodge), पृष्ठ १४०।

अब यह स्पष्ट हो जाएगा कि बाइबिल बुद्धि की स्वयं निन्दा नहीं करती, अपितु केवल ऐन्द्रिय वासना की तृप्ति के लिए उसके एकनिष्ठ प्रयोग की निन्दा करती है। उत्पत्ति ग्रन्थ के तृतीय और चतुर्थ अध्याय, एक साथ लिये जाने पर, ऊपर दी गयी पौराणिक कथा के समस्त क्षेत्र को आवृत कर लेते हैं, और यह संकेत करते हैं कि बुद्धि में स्वयं, सम्यक् प्रयुक्त होने पर, पतित मानवता को उठा खड़ा करने की शक्ति है।

> **'पतन' के सिद्धान्त से जो शिक्षा ग्रहण करनी है वह यह है कि जो ईश्वर के पद को प्राप्त करने और शाश्वत आनन्द का उपभोग करने की आकांक्षा रखते हैं, उन्हें अपने वासनामय मनस् के अग्निमय सर्प को वश में करने का दृढ़ संकल्प करना होगा। उन्हें यह भी देखना होगा कि वे अपनी बुद्धि की समस्त ऊर्जा को उस भौतिक शरीर की, जो मिथ्या व्यक्तित्व का आसन है, विलासिताओं, कषायों और रुचियों की चाकरी में न लगा दें, अपितु उसे आत्मा की — अर्थात् यथार्थ, अमर मनुष्य की — आवश्यकताओं के अध्ययन में लगायें।**

इस संसार के समस्त प्राणियों में केवल मनुष्य ही उस सामर्थ्य से सम्पन्न है और उस अवसर का उपभोग करता है कि वह अपनी नियति पर विचार कर सके। केवल वही अपने भविष्य को, भले या बुरे के लिए, जैसा चाहे वैसा गढ़ने की शक्ति रखता है। किन्तु यह सामर्थ्य उसकी मिथ्या वासनाओं से इतनी निराशाजनक रीति से पंगु हो चुकी है — जिनमें सबसे निकृष्ट है परिघटनात्मक जगत् के भले और बुरे के ऐन्द्रिय ज्ञान की वासना — कि जब तक वह अपने वासनामय मनस् रूपी हाइड्रा (Hydra) के मस्तक को कुचल न डाले, तब तक उसे मुक्ति की आशा करने का कोई अधिकार नहीं।

मनुष्य के भौतिक सरोकार भौतिक मृत्यु के साथ समाप्त हो सकते हैं, और वस्तुतः हो ही जाते हैं; किन्तु मृत्यु के पश्चात् आत्मा की जो निरन्तरता है, वह यह अपेक्षा करती है कि उसके विचारों में केवल भौतिक सरोकारों को ही सर्वोपरि स्थान न लेने दिया जाए। सर ऑलिवर लॉज प्रथम यूरोपीय हैं जिन्हें पतन के सिद्धान्त की सत्यता का आंशिक आभास हुआ है; किन्तु वे 'आत्म-विजय' के स्थान पर 'जगत् के प्रबन्ध' पर बल देते प्रतीत होते हैं। आत्म-चेतना की उत्पत्ति के विषय में वे लिखते हैं: —

> **"यह सब कैसे उत्पन्न हुआ, यह आनुवंशिक मनोविज्ञान के लिए एक वैध समस्या है, किन्तु साधारण मनुष्य के लिए यह एक पहेली है; हमारे पूर्वजों ने इसका लेखा देने के लिए कथाएँ गढ़ीं — सेबों और सर्पों आदि की कथाएँ; परन्तु तथ्य तो वहाँ है ही, चाहे उसका लेखा जैसे भी दिया जाए। उत्पत्ति की उस प्राचीन कथा में निहित सत्य गहन है; वह मनुष्य के केवल पशु-जीवन से जागकर भले और बुरे की चेतना में आने की कथा है — जब वह अब निर्विचारता और निर्दोषता की अवस्था में अपनी आदिम मूल-प्रवृत्तियों का पालन करने वाला नहीं रहा — ऐसी अवस्था जिसमें सोच-समझकर किया गया पाप असम्भव था और इसलिए उच्चतर तथा सोद्देश्य भलाई भी असम्भव थी — वह संसार में एक नये बोध का प्रवेश था, अन्तःकरण का बोध, सोच-समझकर चुनाव करने की शक्ति; और साथ ही सचेत मार्गदर्शन की शक्ति, अपने से बाहर की वस्तुओं और व्यक्तियों को पूर्व-निर्धारित प्रयोजनों के लिए प्रबन्धित करने की शक्ति। मनुष्य ने इस ग्रह पर केवल एक यात्री, बाहरी बलों से नियन्त्रित, होना**

> **छोड़ना आरम्भ कर दिया था; मानो तब पहली बार लगाम उसके हाथों में दी जा रही थी, मानो उसे यह अनुमति मिल गयी थी कि वह पतवार सँभाले, अपने भाग्य और नियति पर शासन करे, और जगत् के प्रबन्ध का कुछ पर्याप्त भाग अपने ऊपर ले ले।" ('लाइफ़ ऐंड मैटर' — Life and Matter)**

निस्सन्देह, सांसारिक राजनीति से परिपूर्ण वातावरण में पला-बढ़ा मनुष्य 'जगत् के प्रबन्ध' पर बल दिये बिना नहीं रह सकता; किन्तु धर्म केवल उन्हीं को स्वीकार करता है जो आत्म-विजय के निमित्त सांसारिक राजनीति का त्याग करने को उद्यत हैं। अल्प-विकसित आत्माओं के लिए धर्म राजनीतिक क्रिया-कलाप का सर्वथा निषेध नहीं करता, किन्तु उसे आध्यात्मिक विकास के अधीन कर देता है, जिससे जगत्-विजय निम्न स्वरूप की विजय में बाधक न बने।

इस तथ्य को नकारने से कोई लाभ नहीं कि जगत् के प्रबन्ध में हमारा तथाकथित भाग लेना अब तक अत्यन्त असन्तोषजनक ही रहा है; और हम अपनी अथवा अपनी सभ्यता की चाहे जितनी प्रशंसा कर लें, यह पूर्णतया स्पष्ट है कि ऐसी कोई प्रशंसा हमारे योग्य नहीं है — यदि पशुओं के प्रति, और अनेक स्थलों पर स्वयं अपनी ही जाति के प्रति, हमारे आचरण के लिए हम कठोर निन्दा के पात्र न भी हों। यह सत्य है कि हम अपनी भौतिक उपलब्धियाँ प्रकृति माता को विनम्र गर्व के साथ दिखा सकते हैं; किन्तु वह सदैव यह उत्तर दे सकती है कि हमारी सभ्यता की बीसवीं शताब्दी में भी उन प्राकृतिक बलों और साधनों से हम प्रायः पूर्णतया अनभिज्ञ हैं। हमारी आत्माओं के भीतर सुप्त पड़ी दूर-संवेदन तथा दूर-दर्शन की शक्तियों के समक्ष हमारे रेल और तार क्या हैं? उन्होंने जाति को, अथवा किसी एक व्यक्ति को भी, कौन-सा सुख दिया है? हमारी समस्त डींगें अन्ततः इसी पर आकर सिमट जाती हैं कि हम व्यक्तियों के रूप में तथा राष्ट्रों के रूप में भी विपुल सम्पत्ति एकत्र करने में, और उसे महँगे होटलों तथा ताश की मेज़ों पर, पशुओं के घिनौने शवों पर और मादक पेयों पर उड़ाने के नाना उपाय गढ़ने में सफल हुए हैं — और जीवन के उन अन्य पतित रूपों की तो चर्चा ही क्या, जो नाम लेने योग्य भी नहीं, इतने वितृष्णाजनक हैं। व्यावहारिक रूप से यही हमारी संस्कृति की सीमाएँ हैं, चाहे हम उसे छोटे अक्षर से लिखें या बड़े। किन्तु निश्चय ही यह केवल अर्थ और भाषा की विकृति ही है कि कोई आधुनिक सभ्यता को गिरि-प्रवचन का परिणाम बताये। वास्तव में तो प्रभु के दर्शन का प्रत्येक मूल बिन्दु पर उल्लंघन ही है जिसने आधुनिक युग की उस पराकाष्ठा को जन्म दिया है जिसे सभ्यता कहना हमें रुचिकर लगता है। मसीह की उस आज्ञा का — "परन्तु जो कोई तेरे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी ओर दूसरा भी फेर दे" — शब्दतः तथा भावतः उल्लंघन किये बिना कोई भी संसार के राष्ट्रों को अधीन करने का स्वप्न तक नहीं देख सकता था; और न ही उस समान बलवती आज्ञा को — "अपने लिए पृथ्वी पर धन इकट्ठा मत करो" — पैरों तले रौंदे बिना कोई सम्पत्ति संचित कर सकता था। सत्य यह है कि मनुष्य की वाक्-शक्ति उसे न केवल अपने

सहजीवियों से, अपितु प्रायः उतनी ही बार स्वयं अपने आपसे भी, अपनी वास्तविक भावनाओं को छिपाने में समर्थ बनाती है। धर्म के महान् प्रवर्तकों ने संसार के समक्ष जो आदर्श रखा था, उसके स्वरूप को न समझ पाने के कारण आधुनिक मनुष्य अपने हृदय में स्थित दुःख के नासूर को निष्प्राण भावुकता तथा अपने महत्त्व और नैतिकता के आत्म-वंचक विचारों से ढाँपना चाहता है। पृथ्वी का सबसे धनी राष्ट्र चाहे विपुलतम सम्पत्ति का स्वामी हो, उसका देश देखने में अत्यन्त सुन्दर हो, और वह जीवन की उन समस्त विलासिताओं पर गर्व करता हो जो मनुष्य की चतुरता ने कभी धन के अधीन की हों, फिर भी यह प्रश्न उठता है और पूछा ही जाना चाहिए कि उसे बनाने वाली जनता को कौन-सा वैयक्तिक सुख प्रदान किया गया है? इसका नकारात्मक उत्तर इतना स्वतःसिद्ध है कि उसे लिखने का कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। ऐसा नहीं कि हम विद्यालय, चिकित्सालय और अनाथालय जैसी संस्थाओं के महान् लाभों को अस्वीकार करते हों; किन्तु वस्तुतः ये ही संस्थाएँ हमारी सभ्यता के विरुद्ध निन्दात्मक प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। हमारे विद्यालय शिक्षा देते हैं, यह सत्य है; किन्तु यह भी सत्य है कि वे जो शिक्षा देते हैं वह वैयक्तिक सुख के हेतु को आगे बढ़ाने की ओर प्रवृत्त नहीं होती, अपितु नास्तिकता, अश्रद्धा और ईश्वर-विमुखता की ओर ले जाती है। चिकित्सालयों और अनाथालयों की बढ़ती हुई आवश्यकता यह संकेत करती है कि लोग प्रकृति के साथ सामंजस्य में नहीं रहते, और परिणामतः दरिद्रता तथा रोग से पीड़ित होते हैं।

मनुष्य और ईश्वर के गुणों की तुलना इस विषय में कोई सन्देह नहीं छोड़तीं कि मानव-आत्मा समस्त ईश्वरीय गुणों का भण्डार है, जिन्हें पूर्णता में विकसित होने के लिए केवल उद्घाटन की आवश्यकता है। किन्तु मानव-जाति का अत्यधिक विशाल बहुमत अपनी आत्माओं की इन ईश्वरीय शक्तियों से सर्वथा अनभिज्ञ है, और इसीलिए उस पूर्णता को प्राप्त करने में असमर्थ है जो उसकी पहुँच के भीतर ही है — क्योंकि आध्यात्मिक विकास के लिए सचेत प्रयत्न आवश्यक है, और सचेत प्रयत्न केवल उन्हीं वस्तुओं के विषय में किया जा सकता है जो ज्ञात हों। आत्मा की इन महान् शक्तियों और गुणों के विषय में हमारी अनभिज्ञता का कारण, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, बुद्धि का ऐन्द्रिय वासना की चाकरी में प्रयोग है। तर्क ही वह आधार है जिसके बल पर मनुष्य अपनी स्वतन्त्र नैतिक कर्तृत्व-शक्ति को धारण करता है, और वही वह शक्ति है जो उसे भले या बुरे के लिए अपनी आत्मा को प्रशिक्षित करने में समर्थ बनाती है; अतएव यह समझना कठिन नहीं कि इच्छा की कुटनी के रूप में उसके प्रयोग को उत्पत्ति की उस प्राचीन कथा में पतन क्यों कहा गया है।

जो लोग प्राचीन भारतीय सभ्यता का उपहास करते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि वह अत्यन्त उपहासित सभ्यता व्यक्तिगत जीवन तथा समाज की आध्यात्मिक अपेक्षाओं और आवश्यकताओं पर आधारित थी, और ऐसी थी कि एक ओर वह मानव-आत्मा के आध्यात्मिक विकास में न केवल कोई बाधा नहीं डालती थी, अपितु उसकी प्रगति को वस्तुतः आगे बढ़ाती और सुगम बनाती थी; और दूसरी ओर वह भौतिक शान्ति तथा समृद्धि के विषय में भी अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम हित को सुनिश्चित करती थी, जहाँ तक कि ये यथार्थ मनुष्य की आध्यात्मिक आकांक्षाओं के अनुकूल हों। आधुनिक सभ्यता के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती, जो यदि कुछ है तो अपनी प्रवृत्ति में आध्यात्मिकता-विरोधी है। वर्तमान सभ्यता मनुष्यों की आत्माओं पर जो प्रभाव डाल रही है, उसकी घातक और हानिकारक प्रकृति को घटाकर आँकने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि वह उन्हें धर्म की उस शिक्षा की उपेक्षा करने की ओर प्रवृत्त करती है जो अकेली ही 'जीवन में प्रवेश करने' का मार्ग कही गयी है। उसकी फ़ैशनों और रूढ़ियों, उसकी अनुज्ञप्त मदिरालयों और मद्यशालाओं, भोजन, वस्त्र आदि में उसकी सूक्ष्मताओं और नवीनताओं को देखते हुए — और उन सहस्त्रों अन्य आध्यात्मिकता-विरोधी व्यवसायों तथा प्रवृत्तियों की तो चर्चा ही क्या जो वह अपने उपासकों को उपलब्ध कराती है — आधुनिक सभ्यता केवल इसी योग्य है कि आत्मा के आध्यात्मिक पोषण की कीमत पर ऐन्द्रियता का लाड़ करे। दोनों प्रकार की सभ्यताओं में, प्राचीन और आधुनिक में, भेद का सबसे स्पष्ट लक्षण जीवन-निर्वाह के व्यय के विषय में है, जो दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है और जिसे जुटाने में अपना समस्त समय-श्रम लगा देने पर भी अधिकांश मनुष्य कठिनाई अनुभव करते हैं। ऐसी स्थिति में यह आश्चर्य की बात नहीं कि लोगों के पास धर्म के अध्ययन के लिए न समय हो न रुचि, उन विधियों और साधनों के अभ्यास की तो बात ही क्या जो अकेले ही आत्मा के आदर्श की प्राप्ति की ओर ले जाते हैं। ऐन्द्रियता का मार्ग — जो पशुता का ही कुछ कम घृणित नाम है — आध्यात्मिकता के मार्ग के सर्वथा विपरीत है, और यह भविष्यवाणी करने के लिए तर्कशास्त्र के नियमों से किसी विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं कि यदि उत्तरार्द्ध ही देवताओं की पूर्णता प्राप्त करने का एकमात्र साधन है, तो पूर्वार्द्ध कष्ट और पीड़ा के अतिरिक्त और किसी वस्तु की ओर ले ही नहीं जा सकता। प्राचीन लोग निस्सन्देह हमें अपनी जैसी ही सभ्यता दे सकते थे, किन्तु वे भली-भाँति जानते थे कि जिस क्षण इन्द्रियों के भोग को प्रधानता दी जाएगी, उसी क्षण गाड़ी अनिवार्यतः घोड़े के आगे आ जाएगी; और इसीलिए उन्होंने बुद्धिमत्तापूर्वक मनुष्यों की उन समस्त ऐन्द्रिय प्रवृत्तियों को दबाये रखा जो विकास और संस्कृति के नाम पर निरन्तर उच्छृंखल होने का प्रयत्न करती हैं। हम ऐन्द्रियता को चाहे जितना परिष्कृत कर लें, वह और कुछ कभी न होगी। जैसे काले रंग पर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता, वैसे ही ऐन्द्रियता अपनी घिनौनी प्रकृति को छिपाने के लिए हम जिस परिष्कृत संस्कार का लेप निरन्तर चढ़ाते रहते हैं, उसके बावजूद अपनी वितृष्णाजनकता बनाये रखती है।

अन्ततः, पतन की कथा के इस विवेचन ने हमें दिखा दिया है कि वह मानव-जाति के किसी आदिम आदि-दम्पति के वास्तविक कृत्यों का ऐतिहासिक अभिलेख नहीं है, अपितु कतिपय महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक नियमों की क्रिया का दृष्टान्त है, जिनकी उपेक्षा अमरता और आनन्द की कामना करने वाला कोई भी व्यक्ति नहीं कर सकता। उस प्राचीन आचार्य का प्रयोजन, जिसने अपने विचारों का अभिलेख पीछे छोड़ जाने का कष्ट उठाया, न तो हमें किसी बाल-कथा से बहलाना था, और न ही हमें यह अवसर देना था कि हम उसकी 'कच्ची और बालसुलभ सरलता' पर मुस्करायें; अपितु हमें धर्म के — समस्त विज्ञानों के विज्ञान के — कुछ अत्यन्त मूल्यवान् रहस्य सौंप जाना था। सुख की प्यास समस्त प्राणियों की स्वाभाविक अभिलाषा है; और वह मनुष्य अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ जो जाने या अनजाने देवताओं के आनन्द की लालसा न रखता हो। प्राचीन ऋषि यह भली-भाँति जानते थे, और उन्होंने हमारे मार्गदर्शन के लिए इस विषय पर अपने विचारों का अभिलेख छोड़ा। जिसे हम आदम की अवज्ञा और दण्ड का ऐतिहासिक वृत्तान्त मानते आये हैं, वह इस प्रकार कष्ट और पीड़ा के उस सार्वजनीन रोग की औषधि-विधि है जिससे बचने के लिए सभी उत्सुक हैं। यह उपचार, जैसा कि इस अध्याय में सिद्ध किया गया है, श्रद्धा के उस महान् सूत्र की अनुभूति में निहित है — वेदान्त के 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) में।

अब उस ज्वालामय खड्ग और उन करूबों (cherubim) के स्वरूप के विषय में कुछ कह लें जो मनुष्य का मार्ग जीवन-वृक्ष तक जाने से रोकते हैं, और तत्पश्चात् हम मुक्ति के सिद्धान्त के विचार की ओर बढ़ेंगे। पूर्वोक्त निम्न मन का प्रतीक है — वह वासनाओं और लालसाओं का अहं जिन्हें वह बाह्य जगत् से प्राप्त ऐन्द्रिय उद्दीपन से तृप्त करना चाहता है। चूँकि वासनाओं का आसन होने के कारण चंचलता इस मन का लक्षण है, इसलिए उसे प्रत्येक दिशा में घूमता हुआ कहा गया है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि जो भाव व्यक्त करना अभीष्ट है, उसके लिए 'माइंड' (mind) एक भोंडा शब्द है। इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए संस्कृत का 'मनस्' सर्वाधिक उपयुक्त शब्द है। इसका अर्थ है वह इन्द्रिय जो ज्ञान को एक साथ अर्जित होने से रोकती है, और जो किसी तमाशे के द्वारपाल* की भाँति कार्य करती है, जो एक समय में केवल एक को ही भीतर आने देता है।

* अंग्रेज़ी में मनस् का निकटतम पर्याय 'अवधान' (attention) है, जो वस्तुओं के हमारे प्रत्यक्ष को एक बार में केवल एक तक सीमित कर देता है — दूसरे शब्दों में, जो हमें वस्तुओं का एक साथ ग्रहण करने से रोकता है। यदि हम अवधान की स्थिति में स्वयं का अध्ययन करें, तो हम देखेंगे कि हमारी इन्द्रियाँ एक साथ और मिलकर कार्य नहीं करतीं; अतः जब मन किसी एक इन्द्रिय से जुड़ जाता है, तब वह संवेदन के शेष मार्गों से कार्य करना बन्द कर देता है। यही स्थिति चिन्तन की भी है, जो अपने विषय पर एकनिष्ठ अवधान दिये जाने की अपेक्षा करता है; और सुख-दुःख के अनुभव भी इस नियम के अपवाद नहीं। तब

अवधान ही ज्ञान के बहिष्कार का उपकरण है। आत्मा उस दर्पण के समान है जो एक ही समय में विद्यमान समस्त वस्तुओं को प्रतिबिम्बित करता है; किन्तु अवधान ही है जो हमें उन सबका एक साथ ग्रहण करने से रोकता है, और प्रत्यक्ष के कार्य को उसी वस्तु तक सीमित रखता है जिसमें उस समय हमारी सबसे अधिक रुचि होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हमारी रुचियाँ ही प्रत्यक्ष के व्यापार का निर्धारण करती हैं और हमें सर्वज्ञ होने से रोकती हैं।

हमने कहा कि अवधान का अर्थ रुचि है; किन्तु रुचि स्वयं वासना के अतिरिक्त और कुछ नहीं, क्योंकि हमारी रुचि केवल उन्हीं वस्तुओं में होती है जिन्हें हम प्राप्त करने या भोगने की इच्छा रखते हैं, अथवा जिनसे बचना चाहते हैं। तब अवधान से अभिप्राय वासना के बल से ही है, अर्थात् मनस् से।

यह देखना भी सरल है कि वासनाएँ विविध प्रकार के बलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं, क्योंकि वे हमें अपने विषयों के पीछे घसीटती हैं — प्रायः हमारे उत्तम विवेक के विरुद्ध। वे सर्वथा अभौतिक नहीं हो सकतीं, क्योंकि यह कल्पना कि कोई अवस्तु आत्मा पर क्रिया करे और उसे कतिपय दिशाओं में घसीटे, इस प्रकार उसके प्रत्यक्ष को पंगु बनाये और उसके ज्ञान-क्षेत्र को संकुचित करे, स्वतःविरोधी विचार है। यह ऐसा है मानो आत्मा के पास जगत् का निरीक्षण करने के लिए कोई प्रत्यक्षकारी उपकरण अथवा शलाका हो — एक प्रकार का मानसिक एकनेत्र-काच। यह मानसिक एकनेत्र-काच ही मनस् है; और चूँकि वह वासनाओं का तीक्ष्ण अग्रभाग-मात्र है, इसलिए उसके भौतिक आकार की उपमा किरणों के उस पुंज से दी जा सकती है जो पतला होकर एक बिन्दु पर तीक्ष्ण कर दिया गया हो। तब अवधान का अर्थ है वासना के विविध प्रकार के बलों की वह धारा जो एक बिन्दु पर लाकर अन्वेषण के विषय पर केन्द्रित कर दी गयी हो। इसी कारण उत्पत्ति ग्रन्थ में उसे सर्प कहा गया है। अतएव जो सर्वज्ञता प्राप्त करना चाहे, उसे अपनी वासनाओं का दमन करना होगा, जिससे उसकी आत्मा प्रत्यक्ष के उस ज्ञान-अवरोधक उपकरण को त्याग सके जिस पर वह इस समय मुग्ध है।

करूब प्रकट रूप से इन्द्रिय-आकर्षणों के लिए खड़े हैं और उन्हीं का प्रतिनिधित्व करते हैं।* इस प्रकार मनस् और जगत् के आकर्षण ही हैं जो उस अमूल्य जीवन-वृक्ष की रखवाली कर रहे हैं। अमरता उसी का पुरस्कार है जो इन दोनों को परास्त करके जीवनदायी वृक्ष तक पहुँचता है।

---

* करूब, जो अपने ज्ञान के द्वारा उन सराफ़ों (seraphs) से पृथक् पहचाने जाते हैं जिनका विशिष्ट गुण प्रेम है, सम्भवतः वस्तुओं के भले और बुरे के विवेकात्मक ज्ञान का प्रतिनिधित्व करते हैं, और इस प्रकार इन्द्रिय-आकर्षणों के प्रतीक हैं।

६

मुक्ति

REDEMPTION

“प्रत्येक व्यक्ति का उद्धार ईश्वर के ज्ञान और उसकी स्वीकृति पर ही निर्भर है।”

—स्वीडनबॉर्ग (SWEDENBORG)।

“यह महान्, अजन्मा, अजर, अमर, अभय आत्मा ही ब्रह्म है; ब्रह्म निश्चय ही अभय है; जो ऐसा जानता है, वह अभय ब्रह्म हो जाता है।”

—बृहदारण्यक उपनिषद् ४:४:२५।

जिस समाज पर ऐसे ईश्वरवादी चिन्तन का प्रभुत्व हो, जो ईश्वर और मनुष्य के बीच एक अलंघ्य खाई खड़ी कर देता है, वहाँ यदि मुक्ति की धारणा इससे अधिक व्यापक अथवा पूर्ण न हो कि किसी ऐसे व्यक्ति की कृपा से पाप की क्षमा प्राप्त हो जाए जो मनुष्य की अपेक्षा प्रभु के अधिक निकट और अधिक प्रिय है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मुक्ति की ईसाई धारणा इसी प्रकार की आस्था का प्रतिनिधि रूप है। उसका चाहे जो भी अर्थ लिया जाए—चाहे यह कि मसीह के कष्ट और मृत्यु के द्वारा ईश्वर की कृपा मोल ली गई, अथवा यह कि ईसा के प्रायश्चित्त द्वारा पापियों को पाप के बन्धन से तथा ईश्वरीय विधानों के उल्लंघन के फलस्वरूप दण्ड के उत्तरदायित्व से मुक्ति और छुटकारा मिला—आधुनिक ईसाई चर्च में उद्धार का भाव इससे ऊँची उड़ान नहीं भरता कि मनुष्य के लिए, उसकी अपनी आत्मा से बाहर की किसी सत्ता की कृपा, करुणा और दया के द्वारा, स्वर्ग सुरक्षित कर दिया जाए; और इसका परिणाम यह होता है कि वह मनुष्य को न केवल पहले की भाँति ही ससीम, परिमित और दूसरे की इच्छा पर आश्रित छोड़ देता है, अपितु ‘मुक्ति’ और ‘उद्धार’ जैसे जिन शब्दों से उसे व्यक्त किया जाता है, उनके सच्चे अर्थ के साथ भी सर्वथा असंगत है। यदि ईसा का वह रक्त, जो लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व बहाया गया था, मुक्ति का एकमात्र माध्यम और साधन है, तो जिनके लिए वह बहाया गया, तथा जो उसके बहाए जाने का लाभ

माँगते हैं, उन्हें तो उसी क्षण से उद्धार-प्राप्त की स्थिति का सुख भोगना चाहिए जिस क्षण वे उसके कर्तृत्व को स्वीकार करने का निश्चय कर लें। तथापि इस विषय पर प्रचलित रूढ़िवादी पुरोहितीय मतों के अनुयायियों की ओर से ऐसा दावा कोई उन्मत्त ही कर सकता है।

वस्तुतः धर्म में उद्धार की सच्ची धारणा पाप की क्षमा अथवा दण्ड के उत्तरदायित्व से बच निकलने मात्र से समाप्त नहीं हो जाती, अपितु उसकी चतुःसीमा के भीतर यह अतिरिक्त भाव भी निहित है कि अब तक बन्धक रखी हुई शक्तियों और गुणों की पुनःप्राप्ति के द्वारा आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विस्तार हो। अतः उद्धार की धारणा में अनिवार्यतः ऐसे जीवन का भाव सम्मिलित होना चाहिए जो उस जीवन से अधिक पूर्ण, अधिक महिमामय और अधिक समृद्ध हो, जो पाप की अवस्था में मनुष्य के भाग्य में आता है। 'मुक्ति' शब्द अपने सच्चे अर्थ में ठीक यही भाव देता है, क्योंकि उसका अर्थ है स्वास्थ्य, सुरक्षा और पूर्णता।

यह देखना कठिन नहीं कि उस त्राता की सच्ची शिक्षा उसके अनुयायियों के हाथों में पड़कर कितनी लँगड़ी और कितनी दरिद्र हो गई। जिस चेतना की अवस्था को आनन्दमय कहा जाता है, उसका स्पष्ट भाव बना पाने में असमर्थ रहकर ईसा के अनुयायियों ने उनकी स्वर्ग-सम्बन्धी धारणा को घटाकर एक स्थान-विशेष का रूप दे दिया है, जहाँ किसी निश्चित दिन, भौतिक शरीर की मृत्यु के पश्चात्, मनुष्य माँस के शरीरों में उठ खड़े होंगे और अपना जीवन ओलम्पस-सदृश विलासों के उपभोग में बिताएँगे। वे यह देख नहीं पाते कि उनकी धर्मशास्त्रीय कल्पना की ऊँची-से-ऊँची उड़ान भी इन्द्रिय-तृप्ति के भाव से ऊपर नहीं जाती, और बाह्य परिवेश तथा प्रभावों से इससे अधिक कुछ मिल भी नहीं सकता।

चर्च के उपदेशकों का स्वर्ग चाहे कितना ही सुरुचिपूर्ण और सुन्दर हो, उसका वैभव चाहे कितना ही प्रभावशाली हो, उसके निवासी चाहे कितने ही मनोहर हों—वह यह सब हो और इससे भी अधिक हो—तथापि क्या यह धारणा की जा सकती है, अथवा किसी भी प्रकार कल्पना की जा सकती है, कि ओलम्पस में निवास से आत्मा को सच्चा आनन्द प्राप्त हो सकता है? जो कुछ भी आत्मा से बाहर से आता है, वह इन्द्रियों के माध्यम से ही भीतर प्रवेश कर सकता है, और इसी कारण वह संवेदन से न कुछ अधिक हो सकता है, न कुछ कम। किन्तु चूँकि संवेदन सदैव सुखद नहीं होते, और चूँकि उनमें से सबसे अधिक रुचिकर भी बार-बार दुहराए जाने पर उबाने और सताने लगते हैं, अतः स्वर्ग-लोक में पुनरुत्थान के पश्चात् भौतिक मनुष्य की अवस्था उसे पीड़ा भोगने के उत्तरदायित्व से मुक्ति तक न दिला सकेगी। आनन्द एक भाव है, और जैसा कि हम पहले ही दिखा चुके हैं, वह अपने ही अस्तित्व की परिपूर्णता और पूर्णता की चेतना से उत्पन्न होने वाला, समस्त इच्छाओं से मुक्ति का अनुभव है, जो परिवेश, वातावरण और

स्थान सम्बन्धी सब विचारों से सर्वथा स्वतन्त्र है। अतएव कोई भी बाहरी सत्ता, चाहे वह आध्यात्मिक हो अथवा भौतिक, आत्मा को वह प्रदान नहीं कर सकती, यदि वह स्वयं अपने भीतर उस सम्यक् भाव से रहित हो।

इस प्रश्न के व्यावहारिक पक्ष से भी, यह देखते हुए कि धर्मशास्त्री का वचन किसी अन्य विचारशील प्राणी के वचन से अधिक विश्वास का अधिकारी नहीं है, सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि आधुनिक चर्च द्वारा उपदिष्ट उद्धार के सिद्धान्त का प्रमाण क्या है। जब कोई मनुष्य बन्धक चुका देता है, तब वह तत्काल ही बन्धक रखी वस्तु के अधिकार और उपभोग का अधिकारी हो जाता है, और आग्रह कर सकता है कि वह उसे तुरन्त लौटा दी जाए। आध्यात्मिक अर्थ में उद्धार के विषय में भी ऐसा ही होना चाहिए। यदि इस सिद्धान्त की धर्मशास्त्रीय व्याख्या ठीक है, तो ऐसा क्यों है कि ईसा को स्वीकार करने से उत्पन्न होने वाले लाभों का उपभोग भविष्य के किसी अनिश्चित काल-बिन्दु तक स्थगित रखना पड़ता है? हम पुनः पूछते हैं, ऐसा क्यों है कि हम उद्धार के उस आनन्द की अनुभूति में यहीं और अभी तत्काल नहीं आ जाते? जैसा कि टेनिसन (Tennyson) कहते हैं,—

> **"जिसके लिए हम तरसते हैं, वह जीवन है, मृत्यु नहीं; / और जो हम चाहते हैं, वह है अधिक जीवन, और अधिक पूर्ण जीवन।"**

इसके अतिरिक्त, सामान्य बुद्धि यह दर्शाती है कि उद्धार केवल बन्धक चुकाने से ही सम्भव है, न कि बन्धक-ग्राहक अथवा उसके पुत्र को जगत्-त्राता के रूप में स्वीकार कर लेने से; और जहाँ जो दायित्व चुकाना है वह इसी में निहित हो कि मनुष्य परिघटनाओं के भले-बुरे के ज्ञान में, अर्थात् इन्द्रिय-लालसाओं में, अपने को डुबोने से विरत रहे, वहाँ यह सर्वथा अकल्पनीय है कि बन्धक रखने वाले के अतिरिक्त और कोई उसे इस ऋण से उऋण कर सके। सत्य यह है कि चर्च को 'पतन' और 'उद्धार' के सिद्धान्तों के सच्चे अभिप्राय का कोई भान नहीं है, और इसीलिए वह हमें उद्धार-प्राप्ति के आनन्द का वह पूर्वास्वाद नहीं करा पाता, जो प्रत्येक व्यावहारिक धर्म को कराने में समर्थ होना चाहिए।

पतन के रहस्य की व्याख्या ने हमें व्यावहारिक रूप से उद्धार के सिद्धान्त को समझने योग्य बना दिया है। क्योंकि जिस प्रकार पतन का अर्थ मानव-जाति के लिए मरणधर्मिता, अपूर्णता और दुःख है, उसी प्रकार उद्धार अमरता, पूर्णता और आनन्द का द्वार है। पहला अस्तित्व की उस अवस्था का सूचक है जिसमें शरीर रूपी मन्दिर में निवास करने वाले देवत्व के सच्चे गुण इस सर्वग्रासी भाव के कारण दबे रहते हैं कि अमर 'किरायेदार' और उसका किराये का घर, अर्थात् माँस का यह नश्वर आवास, एक ही हैं; और

दूसरा उस अवस्था का, जिसमें वह 'किरायेदार' अपने को न केवल अपने आवास से भिन्न जानता है, अपितु पूर्ण परमात्मा—सर्वज्ञ, अमर और आनन्दमय—के रूप में भी जानता है। पतन की अवस्था में फँसे होने के फलस्वरूप मनुष्य अपने भौतिक शरीर पर—जो पदार्थ का एक नाशवान् संयोग है—जितना बल दे सकता है, देता है, और भीतर के ईश्वर की उपेक्षा करता है, और इस प्रकार मानो अनन्त को उसका सिंहासन छोड़ने पर विवश कर देता है और उसके स्थान पर ससीम, शारीरिक कठपुतली को बैठा देता है। उद्धार का अभिप्राय है इस दुर्बल करने वाली मानसिक वृत्ति का परिवर्तन, जिससे आत्मा अपने दिव्य गुणों को परिपूर्णता और पूर्णता में विकसित कर सके।

हम देख चुके हैं कि आत्मा शुद्ध चैतन्य से बनी है—वह द्रव्य जो सोचता और जानता है; और विचार तथा विश्वास के बीच सम्बन्ध यह है कि विश्वास विचार के रूप को स्थिर करने वाला साँचा बनता है। इसी कारण आत्मा शीघ्र ही वही बन जाती है, जो वह वस्तुतः अपने को मानती है। इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि यदि वह शरीर के साथ अपनी तादात्म्य-बुद्धि के स्थान पर अपने ही ईश्वरत्व की बुद्धि रख ले, तो जैसे ही सम्यक् प्रकार का विश्वास उसकी चेतना में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाएगा, वह वस्तुतः ईश्वर बन जाएगी। अतः मुख्य बात यह है कि अपने ही देवत्व में विश्वास प्राप्त किया जाए। किन्तु यह किसी भी दृष्टि से सरल कार्य नहीं है। इस फल की प्राप्ति के लिए ऊपर जो कहा गया है, उसमें श्रद्धा होनी चाहिए। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि इस सिद्धान्त के विषय में तनिक भी सन्देह न रहे, और उसकी सत्यता की प्रतीति मन को आर-पार सराबोर कर दे; क्योंकि तनिक-सा भी सन्देह भीतर घुस आया तो आत्मा ने जो थोड़ी-बहुत श्रद्धा अर्जित की है, उसे भी वह निष्फल कर देगा। हमें यह भाव कि आत्मा ही परमात्मा है, निरन्तर मन के सम्मुख रखना चाहिए, और दैनिक जीवन में मन, वचन तथा कर्म से हर सम्भव प्रकार से उसे दृढ़ करने का यत्न करना चाहिए। आप शीघ्र ही साहस और प्रसन्नता प्राप्त करेंगे, क्योंकि यह नियम कि प्रकृति—अलंकार की भाषा में, ईश्वर—उन्हीं की सहायता करती है जो अपनी सहायता आप करते हैं, कहीं भी उतने शीघ्र क्रियाशील नहीं होता जितना मानसिक धरातल पर। इसी बात को रहस्यवाद की रूपकमयी भाषा में कहें तो, जब आप ईश्वर के साथ अपनी एकता स्थापित करने का यत्न करते हैं, तब वह भी वैसा ही करता है, और जिस मात्रा में आप इस विषय में अपनी उत्कण्ठा प्रकट करते हैं, उसी मात्रा में वह भी अपनी ओर से उत्कण्ठा प्रकट करता है। मुहम्मद ठीक इसी भाव को व्यक्त करते हैं, जब वे ईश्वर से यह घोषणा कराते हैं:—

> **"जो मेरे निकट एक बालिश्त आने का यत्न करता है, मैं उसके निकट एक हाथ आने का यत्न करता हूँ; और जो मेरे निकट एक हाथ आने का यत्न करता है, मैं उसके निकट दो पुरुष-प्रमाण आने का यत्न करता हूँ; और जो मेरी ओर चलकर आता है, मैं उसकी ओर दौड़कर जाता हूँ।" ('सेइंग्स ऑफ़**

मुहम्मद'—Sayings of Muhammad)

मानो अदृश्य हाथ आपको दुर्गम और पथरीली पगडंडियों के पार हाथ पकड़कर ले चलेंगे, अदृश्य मन आपको अपना अनुभव उधार देंगे और अपना ज्ञान आपकी सेवा में प्रस्तुत करेंगे, चारों ओर शुभ चिह्न और शकुन प्रकट होंगे, और आप समस्त प्रकृति को इसके लिए उद्यत और उत्सुक पाएँगे कि वह बन्धन से लौटते हुए अपने स्वामी का स्वागत करे और हर्ष तथा उत्सव के बीच संसार के समक्ष उसकी घोषणा करे। किन्तु आपको डगमगाना नहीं चाहिए। यह तो केवल आपकी ओर से मन की वृत्ति का प्रश्न है। मुक्त होने का निश्चय कीजिए, अज्ञान के गढ़े हुए बन्धनों को झटक देने का संकल्प कीजिए, और जैसे ही आप अपनी अन्तर्ज्योति के मार्ग में खड़े होना छोड़ देंगे, वह प्रकाशित हो उठेगी। कठिनाई तभी तक अनुभव होती है जब तक आप मनुष्यों के उस संसार में उलझे हुए हैं, जहाँ धन ही उपासना का विषय है, और जहाँ आप अपने को नाना प्रकार के बन्धनों और पाशों से बँधा हुआ बन्दी अनुभव करते हैं। जिस क्षण आप संसार से ऊपर उठ जाते हैं, जिस क्षण आप यह अनुभव कर लेते हैं कि आप वह क्षुद्र, दीन, परिमित मनुष्य नहीं, अपितु वास्तविक जीवन्त सत्ता, सच्चिदानन्द हैं, उसी क्षण आप ऐसे आनन्दों का अनुभव करेंगे जो मनुष्यों की अत्यन्त उत्कट कल्पनाओं से भी परे हैं।

पूर्णता ही विकास का लक्ष्य है। यद्यपि आप माया के जाल में उलझे हुए हैं, तथापि आप स्वयं ही वह पूर्ण ईश्वर हैं, और आपकी स्वाभाविक पूर्णता भीतर से प्रकट होने के लिए संघर्ष कर रही है। जिस क्षण आप उसका मार्ग रोकना छोड़ देंगे, जिस क्षण आप उसे अभिव्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील होंगे, वह अपनी समस्त महिमा और वैभव के साथ प्रकाशित होने लगेगी। तब आपकी अग्रगति प्रकाश और प्रेम से देदीप्यमान होगी, और प्रतिदिन अपने लक्ष्य के निकट से निकटतर आते हुए आप अन्ततः मुक्ति में प्रवेश करेंगे—मुक्त और स्वतन्त्र, और सच्चिदानन्द होने की पूर्ण चेतना से युक्त।

उद्धार का यही सच्चा भाव है। जिस प्रकार भले और बुरे के फल को चखने की इच्छा के अन्तर्निहित गुण से मनुष्य अपने देवत्व से वंचित होता है, उसी प्रकार अपने ईश्वरत्व में श्रद्धा के लौट आने से वह पूर्णता और महिमा को प्राप्त होगा। हमारे पतन का कारण हमारी दिव्य, ईश्वरीय प्रकृति का हमारा अपना अज्ञान है; समस्त उपद्रव की जड़ में शारीरिक व्यक्तित्व है। यदि हम पीड़ा और कष्ट से बचना चाहते हैं, यदि हम अपने निजस्व को प्राप्त करना और अपनी दिव्य प्रकृति का साक्षात्कार करना चाहते हैं, तो हमें अपनी दूषित धारणाएँ और इच्छाएँ त्यागकर उनके स्थान पर सम्यक् विश्वास और वैराग्य को स्थापित करना होगा। जैसा कि स्वामी राम तीर्थ (Swami Rama Tirtha) कहते हैं:

> "यदि आप अपनी श्रद्धा को इस विश्वास तक ले आएँ कि आप उद्धार-प्राप्त हैं, तो आप ही विश्व के त्राता हैं। यदि आप यह विश्वास करें कि आप कभी शरीर थे ही नहीं, कि आप कभी बन्धन में थे ही नहीं, यदि आप प्रौढ़ पुरुषों के समान हों, न कि नादान बालकों के समान, यदि आप वेदान्त के साथ यह अनुभव कर लें कि आप ही वह त्राण करने वाली ऊर्जा हैं, तो आप ही समस्त संसार के त्राता हैं। अब बालक न रहिए। अपने को उद्धार-प्राप्त अनुभव कीजिए, और आप उद्धार-प्राप्त हैं।......हे मनुष्य, आपमें कुछ ऐसा है जो शुद्ध है, जो शरीर के दोषों, पापों और दुर्बलताओं से कलंकित नहीं होता; पाप और प्रमाद के इस संसार में भी वह शुद्ध बना रहता है।......आपके भीतर शुद्धों में भी शुद्ध विराजमान है, आपके भीतर वह निष्पाप आत्मा है, जो अपने अस्तित्व का अनुभव कराता है, जिसका नाश नहीं किया जा सकता, जिसके बिना काम नहीं चल सकता, जिसे मिटाया नहीं जा सकता। शरीर चाहे कितना ही दोषपूर्ण हो, कितना ही पापमय हो, वह वहाँ है ही; वास्तविक आत्मा, वास्तविक आत्मा की निष्पापता अवश्य वहाँ है; वह अपने को अवश्य अनुभव कराएगी; वह वहाँ है, उसका नाश नहीं हो सकता।......आपमें दिव्य ईश्वर विद्यमान है, और आपमें यह तुच्छ शरीर भी विद्यमान है; किन्तु आपने इनके स्थान बदल दिए हैं। आपने वस्तुओं को उलट-पुलट कर दिया है; अत्यन्त विपरीत ढंग से आपने उन्हें रखा है। आपने गाड़ी को घोड़े के आगे जोत दिया है; और इसी प्रकार आप इस संसार को अपने लिए नरक बना लेते हैं।......संसार से समस्त दुःख को सचमुच मिटा देने का एकमात्र उपाय—लटके हुए मुँह और उदास, खिन्न स्वभाव से बात नहीं बनेगी—समस्त पापों से छूटने का एकमात्र उपाय, समस्त प्रलोभनों से ऊपर उठ खड़े होने का एकमात्र उपाय यही है कि सच्चे आत्मा का साक्षात्कार किया जाए।" —'इन द वुड्स ऑफ़ गॉड-रियलाइज़ेशन' (In the Woods of God-Realization), खण्ड १।

इस प्रकार उद्धार का भाव, किसी भी दृष्टिकोण से उसका अध्ययन किया जाए, परिपूर्णता और पूर्णता का ही भाव है, और ये शारीरिक मनुष्य के लक्षण नहीं, अपितु सच्चे आत्मा का सार हैं। सुख के विषय में भी यही बात है; क्योंकि किसी बाहरी सत्ता के लिए आत्मा को सच्चा आनन्द प्रदान करना सर्वथा असम्भव है, चूँकि वह तो भीतर से ही उत्पन्न हो सकता है। अमरता भी उन्हीं वस्तुओं की कोटि में आती है जो बाहर से प्राप्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि प्रत्येक आत्मा स्वभाव से ही अमर है।

अतएव यह स्पष्ट है कि स्वर्गीय पिता से जीवन और आनन्द की भिक्षा माँगना—और हमारी समस्त प्रार्थनाएँ किसी न किसी रूप में इन्हीं दोनों में से एक की ओर संकेत करती हैं—ऐसी प्रक्रिया है जो न केवल निरर्थक है, अपितु आत्मा के लिए अपमानजनक और हानिकर भी है। अतः जो अपनी भक्ति के बदले में हमें मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में निवास, सुन्दर अप्सराओं का सहवास तथा अन्य समस्त सुखदायी वस्तुएँ देने का वचन देता है, वह आत्मा का मित्र नहीं हो सकता; क्योंकि आत्मा का आन्तरिक देवत्व तब

तक किसी प्रकार प्रकाशित नहीं हो सकता, जब तक वह इन्द्रिय-आकर्षणों के उपभोग में लीन रहती है, चाहे वे इस लोक के हों अथवा स्वर्गलोक के। तब उद्धार पूर्णता का सिद्धान्त है, न कि किसी अन्य के द्वारा पाप की क्षमा का; और सच्चा उद्धारक स्वयं व्यक्तिगत आत्मा है, न कि कोई बाहरी सत्ता, चाहे वह कितनी ही महान् अथवा उदात्त क्यों न हो।

अब हमें स्वयं बाइबिल की ओर मुड़ना चाहिए, यह देखने के लिए कि वह उद्धार के विषय में हमें क्या सिखाती है; किन्तु हम अपनी जाँच का आरम्भ ईसाई धर्म के संस्थापक के जीवन के अध्ययन से करेंगे, जिनकी शिक्षाएँ नये नियम (New Testament) का प्रमुख भाग हैं।

बाइबिल के सम्बन्ध में सर्वप्रथम जो प्रश्न उठता है, वह अतीत में घटित घटनाओं के सच्चे विवरण के रूप में उसकी प्रामाणिकता से सम्बन्धित है। जहाँ तक पुराने नियम (Old Testament) का प्रश्न है, कम से कम उत्पत्ति-ग्रन्थ के तीसरे और चौथे अध्यायों के विषय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि उनमें अंकित तथ्य इतिहास की घटनाएँ नहीं, अपितु ऐसी घटनाएँ हैं जिन्हें मनुष्य की कल्पना ने अपने कुछ अत्यन्त गूढ़ मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों को वस्त्र पहनाने के लिए गढ़ा है। फ़ाइलो (Philo) (३० ई. पू.—५० ई.) तथा ओरिजन (Origen) (१८५—२५४ ई.) ने भी ऐसा ही मत रखा प्रतीत होता है। 'द हिस्ट्री ऑफ़ द न्यू टेस्टामेंट क्रिटिसिज़्म' (The History of The New Testament Criticism) से उद्धृत निम्नलिखित अंश बाइबिल की ऐतिहासिक व्याख्या के विरुद्ध ओरिजन के तर्क का प्रशंसनीय सार-संग्रह है:

> "वे पहले तो यह मानकर चलते हैं कि पुराना नियम ईश्वर-प्रेरित है, क्योंकि उसकी भविष्यवाणियाँ मसीह का पूर्वाभास देती हैं; और दूसरे यह कि पुराने अथवा नये नियम में एक भी अक्षर ऐसा नहीं जो दिव्य अर्थ और आशय से रहित हो। किन्तु वे पूछते हैं कि उनकी सम्पूर्ण ईश्वर-प्रेरितता के इस सिद्धान्त के साथ हम बाइबिल में ऐसी कथाओं के अस्तित्व का मेल कैसे बिठाएँ, जैसे लूत और उसकी पुत्रियों की कथा, अब्राहम द्वारा पहले एक पत्नी और फिर दूसरी को समर्पित कर देने की कथा, अथवा सूर्य की सृष्टि से पूर्व ही कम से कम तीन दिन-रात के बीत जाने की कथा? वे पूछते हैं, ऐसा मूर्ख कौन मिलेगा जो यह विश्वास करे कि ईश्वर ने किसी कृषक की भाँति स्वर्ग-वाटिका में वृक्ष लगाए; कि उसने वहाँ दृश्य और स्पर्श्य वृक्ष-तने खड़े किए और एक पर 'जीवन का वृक्ष' तथा दूसरे पर 'भले-बुरे के ज्ञान का वृक्ष' की चिट लगा दी, और दोनों में सचमुच ऐसे फल लगे जिन्हें शरीर के दाँतों से चबाया जा सके; कि वह वाटिका में इधर-उधर टहलने लगा; कि आदम एक वृक्ष के नीचे छिप गया; कि कैन ईश्वर के मुख से भाग गया? वे कहते हैं कि बुद्धिमान् पाठक भली भाँति पूछ सकता है कि ईश्वर का मुख क्या है, और कोई उससे दूर कैसे जा सकता है? वे आगे कहते हैं कि ऐसी घटनाओं से केवल पुराना नियम

> **ही भरा हुआ नहीं है, जिनके विषय में सद्बुद्धि और तर्क का ध्यान रखने वाला कोई भी व्यक्ति यह नहीं मान सकता कि वे वस्तुतः घटित हुई थीं अथवा वे संयत इतिहास हैं। वे घोषित करते हैं कि सुसमाचारों में भी ऐसे वृत्तान्त उतने ही भरे पड़े हैं; और उदाहरण के रूप में वे उस कथा का उल्लेख करते हैं जिसमें शैतान ईसा को एक ऊँचे पर्वत की चोटी पर पटक देता है, और वहाँ से उन्हें पृथ्वी के समस्त राज्य और उनका वैभव दिखाता है। वे पूछते हैं, यह अक्षरशः सत्य कैसे हो सकता है, यह ऐतिहासिक तथ्य कैसे हो सकता है कि एक ही पर्वत-शिखर से माँस की आँखों द्वारा फ़ारस, सीथिया और भारत के समस्त राज्य एक साथ और पास-पास दीख जाएँ? वे कहते हैं कि सावधान पाठक सुसमाचारों में उपर्युक्त के समान अनगिनत उदाहरण पाएगा।"**

तथापि ओरिजन यह विश्वास करते थे कि बाइबिल के एक बड़े भाग को इतिहास के रूप में प्रामाणिक माना जा सकता है। उन्होंने कहा:—

> **"धर्मग्रन्थ के जिन अंशों का आध्यात्मिक अर्थ ही है और अन्य कोई नहीं, उनकी संख्या उन अंशों से कहीं कम है जो इतिहास के रूप में खरे उतरते हैं। कोई हम पर यह सन्देह न करे कि हम यह कहते हैं कि धर्मग्रन्थ का कोई भी वृत्तान्त ऐतिहासिक रूप से सत्य नहीं है, केवल इसलिए कि हमें कुछ वर्णित घटनाओं के विषय में यह सन्देह है कि वे वस्तुतः कभी घटित ही नहीं हुईं।"**

किन्तु सत्य यह प्रतीत होता है कि वास्तविक धर्म की शिक्षा में इतिहास की कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं है, क्योंकि वह तो किसी जाति के जीवन की घटनाओं का अभिलेख मात्र है, और क्योंकि धर्म का प्रधान सम्बन्ध जातियों से नहीं, अपितु व्यक्तियों से है। निःसन्देह, एक सीमित सीमा तक इतिहास भी एक मूल्यवान् मार्गदर्शक है, क्योंकि उसके द्वारा हम उसे क्रियाशील देख पाते हैं जिसे व्यक्तिगत कर्म से भिन्न राष्ट्रीय नियति कहा जा सकता है, तथा अतीत के राजनयिकों और राजनीतिज्ञों की भूलों को समझ पाते हैं; किन्तु इन दोनों में जीवनचरित अधिक मूल्यवान् है, क्योंकि उसकी सहायता से हम मनुष्यों की आत्माओं पर धार्मिक अनुशीलन के प्रभावों को देख सकते हैं और यह निर्धारित कर सकते हैं कि भिन्न-भिन्न पैगम्बरों और सन्तों ने आध्यात्मिक उन्मीलन की कितनी मात्रा प्राप्त की थी। अतएव धर्म इतिहास और जीवनचरित का उतना ही अंश अपने में समाविष्ट करता है, जितना अध्यात्म-विद्या के अध्ययन में हमारे लिए उपयोगी हो सके।

यदि हम पुराने नियम को पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से इतिहास की कोटि का मान भी लें, तो भी जो कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं, वे ऐसी हैं जिन्हें सहज ही झटककर हटाया नहीं जा सकता। अब यह दिखाया जा चुका है कि उसके प्राचीनतम भाग भी ४४४ ई. पू. से पहले संकलित नहीं हुए, और इसलिए वे

ऐसे मनुष्यों की कृति हैं जो, किसी भी अर्थ में, उन घटनाओं के प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे जिनका वे वर्णन करते हैं। इसके अतिरिक्त, बाइबिल के संकलनकर्ताओं ने इतिहास के प्रति आदर अथवा श्रद्धा के भाव को कभी इस बात में बाधक नहीं बनने दिया कि जब भी उनका मन हो, वे तथ्यों के सादे वृत्तान्तों में अपनी ओर से वृद्धि कर लें। जैसा कि 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' (Encyclopedia Britannica) बताता है (देखिए लेख 'बाइबिल'):—

> "पुराने नियम की ऐतिहासिक पुस्तकें दो शृंखलाएँ बनाती हैं; एक में उत्पत्ति से लेकर २ राजा तक की पुस्तकें हैं (रूत को छोड़कर), जो सृष्टि से लेकर ५८६ ई. पू. में कसदियों द्वारा यरूशलेम के विध्वंस तक के काल को समेटती हैं; दूसरी में इतिहास (क्रॉनिकल्स), एज्रा और नहेम्याह की पुस्तकें हैं, जो आदम से आरम्भ होकर ४३२ ई. पू. में नहेम्याह की यरूशलेम-यात्रा के दूसरे अवसर पर समाप्त होती हैं। ये दोनों शृंखलाएँ अपने विस्तार और दृष्टिकोण में एक-दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं, किन्तु एक बात में दोनों ही समान योजना पर रची गई हैं; किसी भी शृंखला की कोई भी पूरी पुस्तक एक ही मौलिक कृति नहीं है; अपितु प्राचीनतर लेखों अथवा स्रोतों को किसी संकलनकर्ता ने—अथवा कभी-कभी क्रमशः अनेक संकलनकर्ताओं ने—इस प्रकार जोड़ा है कि जोड़ के स्थान प्रायः स्पष्ट रूप से पहचाने जा सकते हैं, और फलतः स्रोतों को एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। इब्रानी ऐतिहासिक पुस्तकों के लेखक, जिस रूप में वे आज हमें उपलब्ध हैं, सामान्यतः वैसा नहीं करते जैसा कोई आधुनिक लेखक करता—अर्थात् वे सामग्री को अपनी भाषा में फिर से नहीं लिखते; वे पहले से विद्यमान लेखों में से अपने प्रयोजन के अनुकूल अंश उद्धृत कर लेते हैं और उन्हें अपनी कृति में समाविष्ट कर लेते हैं, और साथ ही कभी-कभी अपनी ओर से भी कुछ सामग्री जोड़ देते हैं।......उदाहरणार्थ, कभी प्राचीनतर लेखों से लिए गए अंश लम्बे और पूर्ण वृत्तान्त बनाते हैं; अन्य अवसरों पर (जैसे जलप्रलय के वर्णन में) वे अनेक छोटे-छोटे अंशों से बने होते हैं, जो दो प्राचीनतर वृत्तान्तों से बारी-बारी लेकर एक अविच्छिन्न कथा बनाने के लिए परस्पर जोड़ दिए गए हैं; न्यायियों और राजाओं की पुस्तकों में संकलनकर्ता ने प्राचीनतर वृत्तान्तों की एक शृंखला को अपने ही बनाए हुए ढाँचे में बिठा दिया है; पंचग्रन्थ (पेंटाट्यूक) तथा यहोशू की पुस्तक (जो एक साहित्यिक इकाई बनाती हैं और जिन्हें अब प्रायः एक साथ 'षड्ग्रन्थ'—हेक्साट्यूक—कहा जाता है) अभी उल्लिखित पुस्तकों की अपेक्षा अधिक अवस्थाओं से होकर गुज़री हैं, और उनकी साहित्यिक संरचना अधिक जटिल है।"

अब जो प्रश्न उठता है वह यह है: प्राचीन इतिहासकारों ने ऐसा किया ही क्यों? पुराने नियम को सरसरी दृष्टि से भी पढ़ने वाले किसी व्यक्ति के मन पर यह भाव नहीं बैठ सकता कि वर्णनकर्ता ऐतिहासिक घटनाओं को इतिहासकार की सत्यनिष्ठा के साथ अंकित करने को उत्सुक थे। उनके लेखन में एक निश्चित प्रयोजन दृष्टिगोचर होता है, और वह यह प्रतीत होता है कि इतिहास का उपयोग केवल उतना ही किया जाए

जितना पुराकथा और रूपक की आवश्यकताओं के लिए उपयोगी हो सके, और ये दोनों उनके युग में स्पष्टतः रहस्यमय धर्मशास्त्र की स्वीकृत भाषा बन चुके थे। यदि हमारा अनुमान ठीक है, तो इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि पुराने नियम के अभिलेखों में अधिकांशतः रहस्यवाद के गुप्त और गोपनीय सिद्धान्त ही इतिहास के वेश में दिए गए हैं, जिससे उनका अभिप्राय उन्हीं पर स्पष्ट हो जो आध्यात्मिक विज्ञान के रहस्यों में दीक्षित हो चुके हैं, और शेष के लिए अज्ञात बना रहे।

यही स्थिति नये नियम की भी है, जिसके भिन्न-भिन्न भाग पुरानी बाइबिल के भागों से कम असंगत और परस्पर विरोधी नहीं हैं। प्रकटतः कोई भी सुसमाचार प्रेरितों की कृति नहीं था; मत्ती और लूका के अनुसार लिखे गए सुसमाचार मरकुस के विस्तृत रूपान्तर प्रतीत होते हैं, और मरकुस स्वयं सम्भवतः किसी अज्ञात और सरलतर लेख पर आधारित था, जिसे समालोचकों ने 'क्यू' (Q) नाम दिया है। मरकुस का काल ७० ई. के कुछ पश्चात् माना गया है; और मत्ती तथा लूका के विषय में कहा जा सकता है कि वे ८० और १०० ई. के बीच प्रकाशित हुए। चौथे सुसमाचार के विषय में अब स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जाता है कि वह इतिहास के अतिरिक्त और कुछ भी है; तथा मत्ती और लूका दोनों के विषय में यह माना जाता है कि उन्होंने जिन घटनाओं का वर्णन किया है, उनके सम्बन्ध में उन्होंने बहुत कुछ अपनी कल्पना से लिया है।

प्रोफ़ेसर एफ़. सी. बर्किट (F. C. Burkitt) 'द एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड एथिक्स' (The Encyclopedia of Religion and Ethics) में (लेख 'गॉस्पेल्स') लिखते हैं: "जो प्रमाण तीसरे सुसमाचार-लेखक को 'एण्टिक्विटीज़' (Antiquities) का उपयोग करने का (और वह भी सदा पूर्ण यथार्थता के साथ नहीं) दोषी सिद्ध करता है, उसे श्मीडेल ने बहुत ही भली भाँति एकत्र किया है।"

> **"तीसरे सुसमाचार-लेखक को दोषी ठहराने वाला प्रमाण," प्रो० एफ० सी० बर्किट (Prof. F. C. Burkitt) 'द एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रिलिजन एण्ड एथिक्स' (The Encyclopedia of Religion and Ethics) में (लेख — गॉस्पेल्स) लिखते हैं, "अर्थात् यह कि उसने 'एण्टिक्विटीज़' (Antiquities) का उपयोग किया है (और सदा पूर्ण यथार्थता के साथ नहीं), श्मीडेल (Schmiedel) ने भली-भाँति एकत्र किया है। ... मुख्य बिन्दु ये हैं : (१) गमलीएल के भाषण में थ्यूदास का उल्लेख (प्रेरितों के काम ५:३६) न केवल कालक्रम-दोष है, अपितु यदि 'प्रेरितों के काम' का लेखक अपनी सूचना योसेफ़स (Josephus) से लेता, तो वह और भी अस्पष्ट रह जाता; (२) लूका ३:१ में अबिलेने के लुसानियास का तिबिरियुस के पन्द्रहवें वर्ष (ई० २९) का समकालीन बताकर प्रस्तुत किया जाना भी 'एण्ट०' २०:७:१ के इसी प्रकार के अयथार्थ उपयोग का परिणाम प्रतीत होता है।"**

नये नियम में सम्मिलित अनेक पत्रियों में से कितनी ही अब विशुद्ध कूट-रचनाएँ मानी जाने लगी हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' (Encyclopedia Britannica) स्वीकार करता है (लेख — बाइबिल) :—

> **"समग्र रूप से यही सर्वाधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है कि २ पतरस कोई प्रामाणिक रचना नहीं है, अपितु वह उसी कारखाने से निकली है जहाँ से पतरस के नाम पर गढ़ी गई वे छद्मनामी रचनाएँ निकलीं, जिनमें उसी नाम को धारण करने वाला 'प्रकाशित-वाक्य' भी है; यद्यपि इनमें से एक को धर्मग्रन्थ-सूची (कैनन) में स्थान मिल गया और दूसरे को नहीं। इस पत्री पर आरम्भ से ही प्रश्न उठाया गया, और उसने अपना स्थान बहुत हिचक के साथ पाया — प्रमाण की किसी निर्णायकता के कारण नहीं, वरन् विरोध की शिथिलता के कारण।...... यहाँ तक कि उन दो अधिक महत्त्वपूर्ण पत्रियों — १ पतरस और याकूब — के विषय में भी हमें यह शर्त जोड़नी पड़ती है : 'यदि वे प्रामाणिक हों।'"**

हम डॉ० रेमॉन्ड वान मार्ल (Dr. Raimond Van Marle) का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिन्होंने सौ वर्ष की वैज्ञानिक समालोचना के परिणाम का सार 'द थियोसॉफ़िस्ट' (The Theosophist), खण्ड ३५, पृ० ३९६ में इस प्रकार दिया है :—

> **"सुसमाचार निरन्तर एक-दूसरे का खण्डन करते हैं, और सन्त यूहन्ना का सुसमाचार शेष तीनों से इतना भिन्न है कि समस्त विद्वानों ने उसके तथा उन तीनों के बीच, जिन्हें समदर्शी (सिनॉप्टिक) सुसमाचार कहा जाता है, एक विभाजन कर रखा है। तथापि द्वितीय शताब्दी के अन्त में सन्त यूहन्ना को भी उन्हीं तीनों के साथ-साथ प्रामाणिक घोषित कर दिया गया। इस तथ्य के अतिरिक्त कि सन्त यूहन्ना का ईसा-विषयक कथन-प्रकार समदर्शियों से बहुत भिन्न है, वे प्रभु-भोज का उल्लेख नहीं करते, प्रभु की मृत्यु का दिन दूसरा बताते हैं, फ़सह के तीन पर्वों की चर्चा करते हैं जहाँ अन्य केवल एक की करते हैं, और ईसा के जीवन की प्रायः समस्त घटनाओं को यरूशलेम में घटित हुआ बताते हैं, जबकि समदर्शियों के अनुसार उनके जीवन का केवल अन्तिम भाग ही वहाँ व्यतीत हुआ। सन्त यूहन्ना के वृत्तान्त में यूहन्ना बपतिस्मा-दाता का चरित्र अपना प्रायः समस्त महत्त्व खो देता है; चमत्कार सर्वथा भिन्न हैं, अधिक विस्मयकारी और साथ ही अधिक प्रतीकात्मक हो जाते हैं; यीशु का समूचा चरित्र समदर्शियों की अपेक्षा कहीं अधिक दिव्य है और लोगोस (LOGOS) के किसी पक्ष-सा प्रतीत होता है; किन्तु साथ ही वे यीशु को यूसुफ़ का पुत्र कहते हैं और कुँआरी से जन्म का उल्लेख नहीं करते। सन्त यूहन्ना में दो स्थल ऐसे हैं जो स्पष्ट दिखाते हैं कि लेखक ईसा के जीवन का प्रत्यक्षदर्शी साक्षी नहीं था, अर्थात् १९:३५, जहाँ वह कहता है : 'और जिसने यह देखा, उसी ने गवाही दी है, इत्यादि,' तथा २१:२४ : 'यही वह चेला है जो इन बातों की गवाही देता है ...... और हम जानते हैं कि उसकी गवाही सच्ची**

है।' अनेक विद्वानों को यह सम्भाव्य प्रतीत हुआ है कि सन्त यूहन्ना के अनुसार लिखे सुसमाचार का लेखक सिकन्दरिया के फ़ाइलो (Philo) के सम्प्रदाय का कोई यहूदी था, जो सुसमाचारों से परिचित था, किन्तु जिसने उनके कहे वृत्तान्त में सिकन्दरियाई दर्शन का समावेश कर दिया।

"किन्तु तथाकथित समदर्शी भी परस्पर सहमत नहीं हैं। आरम्भ ही से लीजिए — यीशु के जन्म की तिथि मत्ती के अनुसार अधिक-से-अधिक हमारे संवत् से चार वर्ष पूर्व (हेरोदेस के समय) पड़ती है। लूका उसे दस वर्ष पश्चात् (नाम-लिखाई के समय), अर्थात् ६ ई० में रखता है, फिर भी आगे चलकर कहता है कि तिबिरियुस के पन्द्रहवें वर्ष में — हमारे २९ ई० में — ईसा लगभग तीस वर्ष के थे। सन्त यूहन्ना की तिथियाँ इन दोनों के सर्वथा विरुद्ध हैं और यीशु की मृत्यु को कहीं अधिक पीछे ले जाती हैं। चमत्कारपूर्ण जन्म का वर्णन सन्त मरकुस नहीं करते; सन्त मत्ती और सन्त लूका, यूसुफ़ के द्वारा राजा दाऊद से ईसा की वंश-परम्परा की दो सर्वथा भिन्न वंशावलियाँ देते हैं, और ये वंशावलियाँ यद्यपि इस यहूदी परम्परा को पूरा करती हैं कि मसीह दाऊद का वंशज होगा (मरकुस १२:३६), तथापि कुँआरी से जन्म की कथा के विरुद्ध पड़ती हैं। यदि मरियम और यूसुफ़ उस चमत्कारपूर्ण जन्म से परिचित होते, तो क्या वे तब चकित होते जब ईसा ने मन्दिर में अपने पिता के काम की चर्चा की (लूका २:५०) ? समदर्शियों द्वारा वर्णित चमत्कार बहुत कुछ एक-से हैं, किन्तु जिन परिस्थितियों में वे घटित बताए गए हैं, वे अत्यन्त भिन्न हैं, और इससे यह प्रकट हो सकता है कि लेखकों को केवल घटनाएँ ही ज्ञात थीं, इससे अधिक कुछ नहीं। सबसे बड़ा चमत्कार — लाज़र का पुनर्जीवन — केवल सन्त यूहन्ना ही कहते हैं। शेष चमत्कार रोग-निवारण, भूत-निष्कासन तथा प्रायः रूपक हैं (रोटियों का बहुगुणन, जल का दाखरस में परिवर्तन, इत्यादि)। क्रूस के नीचे उपस्थित व्यक्तियों के नाम दो स्थानों पर एक-से नहीं दिए गए। पुनरुत्थान के विषय में समदर्शियों में पर्याप्त मतभेद है। मरकुस १६:९-२० में जो कहा गया है, वह पीछे से जोड़ा गया परिशिष्ट है। लूका अपनी प्रस्तावना में ईसा के जीवन का ऐतिहासिक वृत्तान्त देने का बीड़ा उठाते हैं, किन्तु एक भी तिथि देने में असमर्थ रहते हैं, और निरन्तर 'सब्त के दिन,' 'उसी समय' जैसे संकेतों से ही सन्तोष कर लेते हैं। उनके ऐतिहासिक संकेत मिथ्या हैं। हेरोदेस कभी राजा नहीं था, वरन् एक शासनाधिकारी था। क्विरिनियुस, जिसे वे यीशु के इतिहास में ले आते हैं, ७ ई० से ११ ई० तक शासन करता रहा, और अतएव इस कथा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। वे लुसानियास का नाम भी लेते हैं, यद्यपि उसकी मृत्यु यीशु के जन्म से चौंतीस वर्ष पूर्व हो चुकी थी। सुसमाचार-लेखक फ़िलिस्तीन के यहूदियों की रीतियों से परिचित नहीं हो सकते थे, क्योंकि वे नदी में — और विशेषतः यरदन में — बपतिस्मा देने की बात कहते हैं, जहाँ स्नान तक निषिद्ध था। लूका में हम एक ही समय दो महायाजक, कैफ़ा और हन्ना, पाते हैं, जो असम्भव है। हम यीशु को मन्दिर में उपदेश देते पाते हैं, जहाँ केवल बलि होती थी, उपदेश के लिए तो सभा-गृह था। योसेफ़स के द्वारा (एण्टिक्विटीज़ १८:२:२) हम जानते हैं कि फ़सह की रात्रि में याजकों की यह रीति थी कि वे अर्धरात्रि के

> **कुछ पश्चात् मन्दिर के द्वार खोल देते थे, जब सब लोग मन्दिर में एकत्र हो जाते थे; अतः उस समय ईसा की गिरफ़्तारी से बड़ा उपद्रव होना अवश्यम्भावी था, जिसे यहूदी याजक चाहते ही न थे (अन्यथा उन्हें रात्रि में गिरफ़्तार क्यों करते ?)। साक्षियों का तो कभी कोई प्रश्न ही न था, जो ईसा के न्याय-विचार के समय तत्काल प्रकट हो जाते हैं, जैसा भजन संहिता २८:१२ में पूर्वकथित है। प्राणदण्ड पाए अपराधी एक सार्वजनिक खाई में फेंक दिए जाते थे, अतः उस कब्र की कथा, जो पुनरुत्थान के पश्चात् रिक्त पाई गई, अत्यन्त असम्भाव्य प्रतीत होती है। ... यदि हम यहूदी विधि-संहिता की तुलना सुसमाचारों की कथाओं से करें, तो हमें बड़े विचित्र विरोध मिलते हैं। पर्व के दिनों में न्यायिक कार्यवाही करना कठोरतापूर्वक निषिद्ध था, अतः यीशु का न्याय-विचार फ़सह के दिन कभी हो ही नहीं सकता था। ऐसे दिनों में शस्त्र धारण करना भी वर्जित था, अतः प्रधान याजक ईसा को पकड़ने के लिए मन्दिर के पहरुओं को कभी न भेजते, और पतरस निश्चय ही तलवार धारण न करता।"**

डॉ० मार्ल के ये प्रेक्षण श्लाइरमाखर (Schleiermacher), श्ट्राउस (Strauss), बाउअर (Bauer), रेनाँ (Renan), लोइज़ी (Loisy) आदि विद्वानों के मत को ही मूर्त करते हैं; और अंग्रेज़ी तथा जर्मन सम्प्रदायों के अनेक अग्रगामी धर्मशास्त्री भी उनसे पूर्णतः सहमत हैं। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि यदि नये नियम की रचनाएँ केवल उसी का वर्णन करती हैं जो भौतिक जगत् में वस्तुतः और यथार्थतः घटित हुआ, तो उनके लेखकों को ऐसी परस्पर-विरोधी कथाएँ लिखने के लिए किसी विक्षिप्तालय से ही छुट्टी मिली होगी। किन्तु हमारा अनुमान यह है कि ये विरोध किसी मिथ्या-भाषण अथवा अत्युक्ति की प्रवृत्ति का नहीं, वरन् एक सुविचारित प्रयत्न का परिणाम हैं।

जो कुछ ऐतिहासिक अर्थ में प्रकृति के क्रम के विरुद्ध पड़ता है, उसकी प्रतीकात्मक व्याख्या के महत्त्व पर कितना ही बल दिया जाए, कितनी ही अतिशयोक्ति की जाए, वह अधिक नहीं है। पाठक को चाहिए कि वह इस तथ्य को अपने मन पर अंकित करने का प्रयत्न करे कि प्राचीनों ने इतिहास का विकृतीकरण कभी निष्प्रयोजन और बिना किसी कारण के नहीं किया। जिसने भी इस तथ्य को दृष्टि से ओझल किया, वह अन्ततः सदैव यही खोज कर बैठा कि धर्मग्रन्थों का पाठ जाति के अपरिपक्व मस्तिष्क का उच्छ्वास मात्र है; जब कि वास्तव में सत्य इसके ठीक विपरीत है। तथ्य यह है कि हमारे धर्मग्रन्थों के रचयिता अत्यन्त प्रखर बुद्धि के पुरुष थे, और उन्हें उन वस्तुओं का कहीं अधिक गम्भीर ज्ञान था जिनसे हम, अपनी बहु-प्रशंसित अनुसन्धान-प्रणालियों के होते हुए भी, प्रायः पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। जब आधुनिक वैज्ञानिक उस हिन्दू के घोर अज्ञान तथा भोंडी, अन्धविश्वासपूर्ण श्रद्धा पर मुसकराता है, जो यह मानता है कि विश्व कच्छप की पीठ पर टिका हुआ है, तब वह वस्तुतः अपने ही अज्ञान पर मुसकराता है, यद्यपि इस तथ्य से वह सर्वथा अनजान रहता है। सत्य यह है कि यह कथन कभी भी अपने शब्दशः अर्थ में समझे जाने

के लिए अभिप्रेत नहीं था। कच्छप जीवन का प्रतीक है, जो अपने को पाँच इन्द्रिय-छिद्रों, अर्थात् संवेदन के अंगों के द्वारा अभिव्यक्त करता अथवा उनके द्वारा कार्य करता है, ठीक जैसे कच्छप अपने कवच के छिद्रों में से अपने अंग बाहर निकालता है। इसके अतिरिक्त कच्छप में संकोच और विस्तार की वह शक्ति भी है, जो सजीव द्रव्य अथवा आत्मा का भी लक्षण है। जीवन के व्यापारों तथा कच्छप के अस्थि-आवरण के छिद्रों में इस सादृश्य से प्रभावित होकर उक्त कथन के प्रवर्तक ने उस प्राणी को आत्मा के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया। इस प्रकार उस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि जगत्, अर्थात् हमारा यह छोटा-सा गोलक, वस्तुतः किसी विशालकाय कच्छप की पीठ पर टिका है, वरन् यह कि पदार्थ और रूप का समस्त विश्व जीवन के अधिष्ठान पर आश्रित है। इसी प्रकार यह अंश भी (मत्ती २७:५१ और ५२) —

> **"और देखो, मन्दिर का परदा ऊपर से नीचे तक फटकर दो टुकड़े हो गया, और कब्रें खुल गईं, और बहुत-से सोए हुए पवित्र लोगों की देह जी उठीं, और वे कब्रों में से निकलकर बहुतों को दिखाई दिए [यीशु के क्रूसारोहण के पश्चात्]" —**

अपने साधारण अर्थ में पढ़े जाने के लिए अभिप्रेत नहीं था। जो परदा ऊपर से नीचे तक फाड़ा गया, वह पत्थर, गारे अथवा चूने से बने किसी भौतिक भवन का परदा नहीं था, वरन् वह आवरण था जो उच्चतर दृष्टि को रोके रखता है; और जो कब्रें खोली गईं, वे मनुष्यों की किसी श्मशान-भूमि की कब्रें नहीं थीं, वरन् स्मृति के कब्रिस्तान की कब्रें थीं। यदि यह ऐतिहासिक तथ्य होता कि उस अवसर पर कब्रों ने अपने शव उगल दिए, तो इससे उस दृश्य के साक्षी लोगों में से अधिकांश ईसाई मत की शरण में दौड़ पड़ते, और यह बात समकालीन इतिहासकार योसेफ़स* की दृष्टि से भी न बचती। अभिप्राय यह है कि आत्मा (यीशु) के पूर्व जन्मों की स्मृतियों की पुनःप्राप्ति हुई, न कि यह कि मृतकों के कुछ सड़े-गले और कीड़ों के खाए शरीर प्रकट हो गए। स्मृति की क्रिया-विधि का स्वरूप आगे किसी अध्याय में समझाया जाएगा; इतना अभी स्पष्ट है कि ऐतिहासिक धरातल पर चलने वाली आधुनिक अनुसन्धान-प्रणालियों को बाइबिल के पाठ से भ्रान्ति और विरोध के अतिरिक्त कुछ हाथ लगने की सम्भावना नहीं है।

* देखिए 'द हिस्टोरियन्स हिस्ट्री ऑफ़ द वर्ल्ड' (The Historian's History of the World), खण्ड २, पृ० १६९।

आगामी पृष्ठों में हम पाठक के समक्ष यीशु के जीवन का धर्म की दृष्टि से पुनर्निर्मित रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे, और साथ ही उन कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण विरोधों के कारण भी बताएँगे, जो, जैसा कि ऊपर कहा गया, ऐतिहासिक व्याख्या का खण्डन करने के सुविचारित प्रयत्न के परिणाम हैं।

नासरत के यीशु का जीवन में एक ध्येय था, जैसा कि प्रत्येक ज्ञान-प्राप्त पुरुष का होता है। सत्य को जानकर उसे दूसरों तक न फैलाना सदा से सबसे बड़ा पाप माना गया है। हिन्दू धर्मग्रन्थों में कहा है :—

> **"जो अविद्या की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं; और उससे भी निःसन्देह अधिक अन्धकार में वे जाते हैं जो केवल विद्या में ही रत हैं, अर्थात् जो दूसरों की मिथ्या धारणाओं का संशोधन नहीं करते।" — (ईशावास्य उपनिषद्)**

मनुष्य-जाति के साथ सदा से ऐसा ही रहा है। अपने ज्ञान को अपने पड़ोसियों के साथ बाँटकर अपने परिवेश को आलोकित करना मनुष्य के स्वभाव का ही एक अंग है। वह सहज-प्रवृत्ति से ऐसा करने को विवश है, जिसे कहने का दूसरा ढंग यह है कि यही उसका अन्तःस्वभाव है। स्वभाव की दृष्टि से यही उसे कुत्ते से पृथक् करता है। मनुष्य का स्वभाव उसे विवश करता है कि वह उन सबकी सहायता करे जो विपत्ति में हैं; वह इसी प्रकार बना है कि अपना सुख अपनी जाति के शेष लोगों के साथ बाँटे। किन्तु कुत्ता जो पाता है उसे स्वयं ही खा जाना चाहता है, और यदि भोजन उसकी आवश्यकता से अधिक भी हो, तो वह किसी दूसरे को उसमें से लेने न देगा। कुत्ते को इससे कोई प्रयोजन नहीं कि उसका परिवेश सुखी है या दुःखी, सुन्दर है या कुरूप, स्वस्थ है या रोगग्रस्त; जब तक वह स्वयं व्यक्तिगत रूप से भला-चंगा है, वह सुखी है, और चाहता है कि दूसरों के कारण उसे न तो कष्ट हो, न चिन्ता। किन्तु मनुष्य को कुरूप, रोगग्रस्त अथवा अस्वस्थ परिवेश में सुख नहीं मिलता। वह किसी बुरे अथवा घृणाजनक दृश्य से उड़कर भाग नहीं सकता; क्योंकि जो उसकी भौतिक आँख से ओझल हो जाए, वह उसके मन से इतनी सरलता से नहीं हटता। और चूँकि समस्त अस्वस्थ दृश्य मनुष्य में विरक्ति का भाव उत्पन्न करते हैं, अतः उसके लिए उस घृणा के कारणों को दूर करना आवश्यक हो जाता है। एक समय था जब इस नियम का कोई अपवाद न था, जब लोग सबको ज्ञान देने के लिए उत्सुक रहते थे, बशर्ते कि पात्र उसके योग्य पाए जाएँ; किन्तु अब, जब से लोगों के हृदयों पर धन-देवता का अधिक प्रभुत्व हो गया है, हमें कभी-कभी ऐसे मनुष्य मिल जाते हैं जो प्रत्येक वस्तु को — ज्ञान को भी — चाँदी और सोने में बदल देने पर तुले रहते हैं। इस प्रकार ज्ञान के आलोक का प्रसार मानवता द्वारा सदैव एक दिव्य ध्येय माना जाता रहा है। यीशु भी इस नियम का अपवाद न थे।

महावीर, बुद्ध तथा अन्य समस्त तारकों और सन्तों के समान उन्होंने भी अपने जीवन का एकमात्र प्रयोजन यही समझा कि संसार को आलोक से आप्लावित कर अज्ञान का अन्धकार दूर करें — शक्ति के शब्द, श्रद्धा के सुसमाचार से अन्धविश्वास के पिशाच का निष्कासन करें। किन्तु लोगों ने उनकी बातों पर तनिक भी ध्यान न दिया, वरन् वे इससे परिचालित होते रहे कि उन्होंने क्या कर दिखाया। उनके हृदयों में

भलाई के लिए पर्याप्त स्थान न था, और वह बीज, जो अच्छी भूमि में बोया जाता तो तीस गुना, साठ गुना अथवा सौ गुना फल देता, मार्ग के किनारे या पथरीली भूमि पर गिरा और फलवान् न हो सका। तारक का सिद्धान्त उनकी सभा के कानों पर अनसुना ही पड़ा रहा; उन्हें दर्शन से कुछ प्रयोजन न था, किन्तु वे उस पुरुष की पूजा करने को उद्यत और उत्सुक थे जो रोगियों को चंगा करता, मृतकों को जिलाता और अन्य चमत्कार दिखाता था। पंचम काल के आरम्भ से, जो लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ, किसी दूसरे के पुण्य से मुक्ति प्राप्त करने की धारणा विश्वव्यापी हो गई है। अपने ही पुरुषार्थ से अपनी मुक्ति साधने में धन-देवता की उपासना के लिए समय ही नहीं बचता, और यह मान लेना निश्चय ही सुविधाजनक है कि किसी दूसरे के अनुग्रह से — जो चापलूसी अथवा खोखली स्तुति से प्राप्त किया जा सके — वही उद्देश्य सुगमता से सिद्ध हो सकता है। 'अन्ध-भक्ति' द्वारा मुक्ति के सिद्धान्त से इस मिथ्या धारणा का जन्म हुआ। सिद्धान्त स्वयं में पूर्णतः निर्दोष है, त्रुटि उसकी व्याख्या में है। इस विधि से मुक्ति तभी सम्भव है जब उपासना ही भक्त के जीवन का एकमात्र प्रयोजन बन जाए, जब वह मजनूँ (एक प्राच्य प्रेम-कथा के नायक) के समान अपने हृदय से प्रियतमा 'लैला' (उसी कथा की नायिका) की छवि के अतिरिक्त और सब कुछ निर्वासित कर दे — अर्थात् जब वह सम्पूर्ण हृदय से आदर्श की साधना में लीन हो जाए। 'भक्तियोग द्वारा मुक्ति' के सिद्धान्त का यही वास्तविक अर्थ था, और भक्ति 'उपासना' से भिन्न कुछ नहीं। किन्तु लोगों के पास इस सबके लिए समय न था, क्योंकि यदि वे इसमें लगते तो धन-देवता की उपेक्षा हो जाती; और उनकी सांसारिक दृष्टि से धन-देवता का रुष्ट होना सूर्य के नीचे की किसी भी वस्तु से बड़ी विपत्ति थी। ज्यों-ज्यों धन और अन्य सांसारिक वस्तुओं का प्रेम मनुष्यों के हृदयों पर छाता गया, त्यों-त्यों उपासना के सच्चे सिद्धान्त की कठोरता शिथिल पड़ती गई, यहाँ तक कि जिस समय यीशु संसार में प्रकट हुए, उस समय तक अधिकांश लोग उपासना द्वारा मुक्ति के सिद्धान्त का अर्थ केवल इतना ही समझने लगे थे कि दिन में लगभग एक बार प्रार्थना कर लेना, समय मिले तो ईश्वर नामक किसी अज्ञात, अदृश्य सत्ता की थोड़ी-सी खोखली स्तुति कर देना, और कभी-कभार कोई भेंट चढ़ा देना जिससे वह क्रुद्ध न हो जाए। वस्तुतः उपासना का सिद्धान्त पतित होकर एक ऐसी सामान्य धारणा बन गया था, जिसमें प्रायः समस्त जाति भागी थी, कि इतना ही पर्याप्त है कि कुछ ऐसा कर दिया जाए जिससे उनके ईश्वर को अपनी उपेक्षा का अनुभव न हो; अतः यदि मनुष्य उसे प्रार्थना और भोजन अर्पित कर दे और कभी-कभी उसकी चापलूसी कर ले, तो प्रभु परमेश्वर न्याय और युक्ति की दृष्टि से खिन्न अथवा शिकायती नहीं हो सकता। इस प्रकार यीशु ने अपनी सभाओं को अपने उपदेश को समझने अथवा उस पर चलने में असमर्थ पाया। यहाँ तक कि उनके चुने हुए शिष्य भी उनका अभिप्राय ग्रहण करने की अपेक्षा प्रायः अधिक बार चूकते ही रहे। उनके सम्पर्क में आने वाले शेष लोगों के समान उनके भी कान और आँखें केवल उन आश्चर्यजनक कार्यों के लिए थीं जो वे करते थे, और उनके उपदेश के मूल में निहित दर्शन में

उनकी रुचि नहीं के बराबर थी। वे सस्ती मुक्ति चाहते थे, और पुत्रत्व का सिद्धान्त उन्हें व्यक्तिगत पुरुषार्थ अथवा परिश्रम के बिना ही स्वर्ग तक पहुँचने का सबसे छोटा मार्ग प्रतीत हुआ। इस प्रकार वे यीशु के चमत्कारों के कारण उनके साथ रहने में ही पूर्णतः सन्तुष्ट थे, और उनके ईश्वर-पुत्रत्व के दावे पर विवाद करने अथवा उसे समझने में उन्हें कोई रुचि न थी।

अनपढ़ जन-समूह के साथ सदैव यही होता आया है कि वे धर्म का 'कैसे' अथवा 'क्यों' नहीं पूछते, वरन् कोई चिह्न माँगते हैं, और जब उन्हें कुछ असाधारण दिखा दिया जाता है, तब वे आँख मूँदकर श्रद्धा अर्पित कर देते हैं। दूसरी ओर, शिक्षित वर्ग ने अपने को विधान के उस अक्षर से बाँध रखा है जो उन्हें अपने पूर्वजों से मिला, और वे उसे किसी अन्य आलोक में देखने से इनकार करते हैं। मनुष्य-जाति की यह भी रीति है कि वह समस्त मृत पूर्वजों को अभ्रान्त माने, और नवीनता तथा सुधार के विरुद्ध पूर्वग्रह इतना प्रबल है कि जो अपरिचित हमारी त्रुटियाँ दिखाता है, हम तत्काल उस पर हाथ उठा बैठते हैं। अब हम समझ सकते हैं कि यीशु चुंगी लेने वालों और पापियों के प्रिय क्यों थे, किन्तु फ़रीसियों और विधि के पण्डितों के द्वारा तिरस्कृत और घृणित क्यों। उनमें पहले वर्ग ने उनमें एक मित्र, एक सान्त्वना-दाता, एक देवता पाया, जो उनके रोग दूर कर सकता था और उन्हें विस्मय तथा भक्ति की सामग्री दे सकता था; जब कि दूसरे वर्ग ने उनमें केवल विधान का उल्लंघन करने वाला और उन परम्पराओं का विनाशक देखा जिन्हें वे अपने हृदयों में स्नेहपूर्वक सँजोए हुए थे। ऐसी ही एक स्नेह-संचित परम्परा सब्त का पालन थी, जिसे पुण्य कर्म माना जाता था। किन्तु पुण्य का मर्म यीशु के आगमन से बहुत पहले ही दृष्टि से ओझल हो चुका था, और आध्यात्मिक विश्राम का अवसर होने के स्थान पर सब्त शारीरिक आलस्य का दिन बनकर मनाया जाने लगा था। चूँकि यीशु उसके पालन की उनकी रीति के अनुरूप नहीं चले, अतः यहूदी उन पर क्रुद्ध हुए और उनसे पूछा कि उन्होंने उनके विधान का उल्लंघन क्यों किया। किन्तु उन्होंने उनसे इस विषय पर तर्क नहीं किया, वरन् केवल दाऊद के निषिद्ध भेंट-रोटी खाने का उल्लेख किया, और यह जोड़ दिया, 'इसलिये मनुष्य का पुत्र सब्त के दिन का भी प्रभु है।' उनका निष्कर्ष यह था कि सब्त मनुष्य के लिए बना है, मनुष्य सब्त के लिए नहीं। वे मानो अपने ही मुँह से दोषी सिद्ध हो गए, और लिखा है कि उन्होंने उनके प्रति कोई बहुत सौम्य भाव नहीं रखे। यह पुरुष कौन था जो इस्राएल के विद्वान् विधि-पण्डितों से इस ढंग से बात करे ? इसका क्या साहस, जो नीच कुल और साधारण उद्भव का होकर सत्य के रक्षकों को सुधारने का अधिकार अपने ऊपर ले ? क्या उसकी बहनें उन्हीं के बीच नहीं थीं ? क्या वह बढ़ई का बेटा नहीं था ? उसकी सामाजिक स्थिति पर विचार करते ही यीशु का अपराध और भी अक्षम्य प्रतीत हुआ। ऐसे लोगों के साथ, जो अपने अहंकार और पूर्वग्रहों से अन्धे हैं, निष्कर्ष सदैव एक ही होता है,

अर्थात् अपराधी का वध कर दिया जाए। जो पुरुष विधि के समस्त पण्डितों और रक्षकों की गरिमा के विरुद्ध इस अनादरपूर्ण ढंग से अपराध करे, उसके लिए मृत्यु से कम कोई दण्ड उपयुक्त नहीं। अतः फ़रीसी अवसर मिलते ही उन्हें मार डालने की ताक में रहने लगे।

दूसरी ओर यीशु का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था। विद्वान् वर्गों से सहानुभूति पाने में असफल होकर उन्होंने स्वयं को दोष-दर्शक की स्थिति में रख लिया और वाद-विवाद में उन्हें निरुत्तर करने में मानो आनन्द लेने लगे। तारक का अधिकांश सच्चा दर्शन उनके द्वारा अव्याख्यात ही रह गया, क्योंकि जहाँ चुंगी लेने वाले और पापी उन पर 'कार्यों के कारण' विश्वास कर के ही प्रसन्न थे और उनकी प्रणाली का 'क्यों' और 'किसलिए' जानने-समझने की परवाह न करते थे, वहाँ जनता का वह एकमात्र वर्ग, जो किसी सिद्धान्त की माँग कर सकता था, सहानुभूति में उनसे विमुख हो चुका था। उन्हें उनकी प्रणाली से कुछ प्रयोजन न था, और वे सदा उनसे उलझते रहते थे; जब कि यदि उनका दृष्टिकोण उत्सुक जिज्ञासु का होता, तो उनके धर्म के वास्तविक दर्शन तक पहुँचना इतना कठिन न होता। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों पक्ष एक-दूसरे को परास्त करने में आनन्द लेते थे, किन्तु चमत्कार करने की शक्ति सदा यीशु के पक्ष में निर्णय कर देती थी। वे फ़रीसियों की परम्पराओं का उल्लंघन करने में आनन्द लेते थे — बिना हाथ धोए भोजन करना, सब्त के दिन काम करना, उपवास का पालन न करना, इत्यादि; और उनके तथा उनके शिष्यों के कार्यों पर की गई फ़रीसियों की प्रतिकूल टिप्पणियों के उत्तर में उन्होंने जो कहा, उसमें अनुपम गुण और मूल्य के अनेक सत्य-वचन निहित हैं। यदि भोजन पर बैठते समय आप हाथ न धोएँ तो क्या हुआ ? मनुष्य को बाहर की वस्तुएँ अशुद्ध नहीं करतीं, वरन् वे जो भीतर से निकलती हैं। यदि हृदय शुद्ध और निर्भीक है, तो भोजन 'बिना धोए' हाथों से दूषित नहीं हो सकता, न मन भोजन से। किन्तु जहाँ हृदय ही भ्रष्ट और मलिन है, वहाँ हाथों की बाह्य स्वच्छता की चर्चा व्यर्थ है। उपवास के विषय में, तथापि, उनके वास्तविक विचार वे थे जो उन्होंने अपने शिष्यों से तब कहे, जब एक दुष्टात्मा के सम्बन्ध में, जिसे अन्ततः उन्हें ही निकालना पड़ा, शिष्यों ने उनसे पूछा कि वे उसे निकालने में क्यों असफल रहे। तब उन्होंने कहा :—

> **"यह जाति बिना प्रार्थना और उपवास के किसी और उपाय से नहीं निकल सकती।"**

इस प्रकार, फ़रीसियों तथा अन्य लोगों के साथ हुए वार्तालापों के प्रसंग में यीशु ने जो प्रेक्षण किए, उनसे जो सहायता मिल सकती है वह खण्ड-खण्ड ही हो सकती है। तथापि ये प्रेक्षण एक अर्थ में हमारे लिए अपार सहायक हैं, क्योंकि वे हमें उन निष्कर्षों की यथार्थता परखने में समर्थ बनाते हैं जो शेष उपलब्ध सामग्री से निकाले जाने हैं; और कहीं-कहीं तो वे इतने पूर्ण और स्पष्ट हैं कि स्वयं ही प्रयुक्त किए जा सकते हैं।

सहायता का एक अन्य स्रोत, जिससे स्वभावतः गुरु के उपदेश पर बहुत प्रकाश पड़ने की आशा की जाती, परीक्षा करने पर अल्प मूल्य का ही सिद्‌ध होता है। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, उनके शिष्य अत्यन्त निम्न कोटि की बुद्‌धि के पुरुष थे, और ऐसा प्रतीत होता है कि अपने गुरु को न समझने की उनमें विलक्षण क्षमता थी। हम यीशु को प्रायः उनकी बुद्‌धि और श्रद्‌धा की न्यूनता पर टिप्पणी करते हुए पाते हैं। वे चुने हुए बारह इस भाव में ही प्रसन्न थे कि वे 'चुने हुए' हैं, और कम-से-कम जब तक यीशु उनके साथ रहे, उनका एकमात्र लक्ष्य इसी पद का उपभोग करना ही प्रतीत होता है।

इस शक्ति-बोध में वे इतने लीन थे कि वे वस्तुतः यह निर्णय करना चाहते थे कि उनमें सबसे बड़ा कौन है, और इस पर आपस में झगड़ पड़े। यह विषय यीशु के समक्ष ले जाना पड़ा, जिन्होंने कुछ दार्शनिक उपदेश देकर उन्हें सन्तुष्ट कर दिया प्रतीत होता है। उन बारहों में से एक विश्वासघाती था। पतरस में इतना नैतिक साहस न था कि संकट की घड़ी में अपने गुरु को स्वीकार कर सके, और उसने अपनी बहुमूल्य खाल बचाने के लिए जान-बूझकर झूठ बोला। संक्षेप में, बाइबिल का अध्ययन मनुष्य को कष्टपूर्वक इस तथ्य के प्रति सचेत कर देता है कि यीशु के बारहों शिष्य बुद्‌धिपूर्ण समझ और श्रद्‌धा में निरन्तर अपूर्ण ही पाए गए। नये धर्म के सिद्‌धान्त की दृष्टि से उनकी स्थिति उस विश्वासपात्र सेवक से कुछ ही उत्तम थी, जिसे स्वामी ने कुछ शक्तियाँ प्रदान कर रखी हों। यह सत्य है कि यूहन्ना की रचनाओं में बहुत कुछ ऐसा है जिसे 'रहस्य' कहा जा सकता है; किन्तु उनमें न तो कोई प्रणाली है, न विचार की सूक्ष्मता, और वे दार्शनिक ज्ञान के छिटपुट अंशों के संग्रह से कुछ ही अच्छे हैं। ऐसी स्थिति में इस दिशा से अधिक सहायता की आशा कठिन ही है। न ही हम परवर्ती जीवनी-लेखकों पर भरोसा कर सकते हैं; वे धर्म का कुछ भी अथवा नाममात्र समझते थे और स्वच्छन्दतापूर्वक जो चाहा लिख गए।

यह सत्य है कि यूहन्ना के लेखों में उस वस्तु की बहुतायत है जिसे 'रहस्य' कहा जा सकता है; किन्तु उनमें न तो कोई व्यवस्था है और न विचार की सूक्ष्मता, और वे दार्शनिक विद्या के फुटकर टुकड़ों के संग्रह से कुछ ही अधिक हैं। ऐसी स्थिति में इस दिशा से अधिक सहायता की आशा कठिनाई से ही की जा सकती है। न ही हम परवर्ती जीवनी-लेखकों पर निर्भर रह सकते हैं; वे धर्म का बहुत थोड़ा अथवा कुछ भी नहीं समझते थे और जो चाहा सो स्वच्छन्द होकर लिख गये। इसमें उस भ्रान्ति को भी जोड़ लीजिए जो अति-उत्साही मन की उस शोचनीय प्रवृत्ति से उत्पन्न होती है कि वह अपने उपास्य को मिथ्या और अतिरंजित महिमा से मण्डित कर दे, उसके वचनों में उनका मूल्य बढ़ाने के लिए प्रक्षेप और नये अंश जोड़ दे, तथा जो उद्‌धरण असंगत, अनावश्यक अथवा आपत्तिजनक प्रतीत हों उन्हें छोड़ दे और हटा दे, और यहाँ तक कि

उस बात को भी साक्ष्य से पुष्ट करे जो या तो कल्पना की विशुद्ध उपज है, अथवा जिसमें अधिक से अधिक सत्य का एक अत्यन्त लघु अंश ही है; और तब इतनी अल्प सामग्री से किसी सिद्धान्त का निर्माण करने का कार्य अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।

अगली कठिनाई पाठक की मानसिक वृत्ति में निहित है। जो उस मत के अनुयायी नहीं हैं, वे सदैव उस प्रत्येक बात पर विश्वास करने को उद्यत और उत्सुक रहते हैं जो उसके विरुद्ध कही जा सके, और यह प्रतीक्षा भी नहीं करते कि किये गये कथनों की सत्यता स्वयं जाँच लें; जबकि जो उसके अनुयायी हैं वे प्रायः सत्य तक पहुँचने के समस्त प्रयत्नों पर रुष्ट होते हैं, और प्रत्येक आक्षेप का — वह चाहे कितना ही सुदृढ़ आधार पर टिका हो — खण्डन करना अपना कर्तव्य समझते हैं। इन विषयों में जो उचित वृत्ति धारण करनी चाहिए वह यह है कि जब तक हम स्वयं सत्य को खोज न लें और पा न लें, तब तक हम सब अपना निर्णय स्थगित रखें। अतः हमें अपनी साम्प्रदायिक ईर्ष्याओं तथा 'बिना धोए हाथों' जैसे क्षुद्र पूर्वग्रहों से ऊपर उठना चाहिए, और स्वयं धर्म के मूल सिद्धान्तों को समझने में अपने को लगाना तथा परिश्रम करना चाहिए। हमें यह विस्मृत नहीं करना चाहिए कि धर्म का सच्चा लक्ष्य अपने उपासकों की पहुँच के भीतर सुख का सर्वोच्च रूप ले आना है, न कि किसी भी मूल्य पर सामूहिक या थोक धर्मान्तरण कराना। जो मानवता के सच्चे गुरु हैं वे किसी को किसी विशेष मत में दीक्षित करने की चिन्ता नहीं करते, अपितु केवल प्रकाश और सुख फैलाने की; क्योंकि वह घड़ी आती है, और अब है, जब सच्चे उपासक पिता की आराधना आत्मा और सच्चाई से करेंगे। केवल वही मनुष्य कुछ सीखेगा जो उसे त्यागने को उद्यत है जो शुभ और सारवान् नहीं है; पूर्वग्रह और कट्टरता ने न कभी सत्य पाया है और न कभी पाएँगे।

अब हम मसीह के व्यक्तित्व और उपदेशों की मुख्य विशेषताओं को एक-एक करके लेंगे, और प्रत्येक का गुण तथा मूल्य पृथक् रूप से एवं समग्र रूप से भी स्वयं परखेंगे। यीशु के व्यक्तित्व से आरम्भ करें तो जिस बिन्दु पर उनके अनुयायियों की समस्त अभिरुचि केन्द्रित है, वह वह रहस्य है जो उनके जन्म को घेरे हुए कहा जाता है। उस कथा को यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं; वह सुविदित है। यूरोपीय ख्याति के कतिपय प्रमुख विद्वानों और वैज्ञानिकों ने इस विषय की पूर्ण छानबीन की है; और जिन निष्कर्षों पर वे पहुँचे हैं उन्हें यों ही हलके से नहीं झटका जा सकता। समस्त साक्ष्य एक ही दिशा में है और निष्कलंक गर्भाधान की मान्यता के विरुद्ध है। जिन्होंने अपनी सामान्य बुद्धि की वाणी का गला घोंटने से इनकार किया, उनमें श्री एवैन्सन (Evanson) नामक एक पादरी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनकी यीशु के चमत्कारपूर्ण गर्भाधान की 'बुतपरस्त गाथा' पर की गई निष्कपट समालोचना अन्ततः उन्हें चर्च से संघर्ष में ले आई। उन्होंने लिखा (देखिए 'द हिस्ट्री ऑफ द न्यू टेस्टामेण्ट क्रिटिसिज़्म' (The History of the New Testament Criticism), पृष्ठ ९१ तथा ९२) :—

> “किसी एक भी प्रेरितीय पत्री में, प्रेरितों के काम में अभिलिखित किसी एक भी प्रवचन में, यूहन्ना के बपतिस्मा से पूर्व के यीशु के इतिहास का दूर से भी संकेत नहीं है। इसके विपरीत, उस बपतिस्मा का बार-बार उल्लेख होता है और उसे सुसमाचार-सम्बन्धी शिक्षा का यथोचित आरम्भ कहा जाता है; और जब ग्यारह प्रेरितों ने यहूदा का स्थान भरने के लिए बारहवें का चुनाव किया, तब अभ्यर्थियों में एकमात्र अनिवार्य योग्यता यही मानी गई कि वे यूहन्ना के बपतिस्मा से लेकर प्रभु के स्वर्गारोहण तक उनकी सेवकाई के प्रत्यक्षदर्शी रहे हों। लूका के ये दोनों [प्रथम दो] अध्याय दूसरी शताब्दी के आरम्भ के उन सुगमता से काम करने वाले प्रक्षेपकर्ताओं की — जैसा ऑरिजन (Origen) उन्हें कहते हैं — दुस्साहसपूर्ण कल्पना हैं, जो बुतपरस्ती से धर्मान्तरित हुए थे और जो, अपने नवगृहीत धर्म के प्रवर्तक का सम्मान करने के लिए, जैसा वे समझते थे, यह चाहते थे कि उसका जन्म अपनी अद्भुत परिस्थितियों और उच्च वंशावली में कम से कम बुतपरस्त वीरों और अर्धदेवताओं, बैकस (Bacchus) और हरक्यूलिस (Hercules), के जन्म के समान तो हो; और इस प्रकार उन्होंने मनुष्य यीशु के उस परवर्ती परम्परावादी देवत्वारोपण की नींव रखी, जो ईश-निन्दात्मक असंगति की मात्रा में बुतपरस्त अन्धविश्वास की स्थूल गाथाओं से भी बढ़ जाता है।”

अपेक्षाकृत हाल के लेखकों में से प्रोफेसर हेकल (Haeckel) इस विषय पर अपने निष्कर्षों का सार इन शब्दों में देते हैं (‘द रिडल ऑफ द यूनिवर्स’ (The Riddle of the Universe), अध्याय १७) :—

> “मसीह की मृत्यु के एक शताब्दी से भी अधिक काल पश्चात् तक सुसमाचार-वृत्तान्तों के समर्थन में हमारे पास कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। जो कोई प्राच्य वातावरण में किंवदन्तियों की वृद्धि से परिचित है, वह इतने परवर्ती काल के दस्तावेज़ों पर रंचमात्र भी भरोसा नहीं कर सकता। ईसाई परम्परा की सर्वाधिक प्रिय मान्यताएँ पूर्णतः त्यागी जा रही हैं। मसीह के चमत्कारपूर्ण जन्म की कथा को जर्मनी के प्रमुख ईसाई विद्वानों द्वारा, तथा इंग्लैण्ड के निरन्तर बढ़ते हुए विद्वानों द्वारा, बाइबिल-वृत्तान्त के अन्तिम और सबसे कम विश्वसनीय स्तर से सम्बद्ध मानकर अस्वीकार किया जा रहा है — दूसरे शब्दों में, एक परवर्ती और निरर्थक प्रक्षेप के रूप में। पुनरुत्थान और स्वर्गारोहण की भी अब यही गति हो रही है। नया नियम पुराने नियम की भाँति खण्ड-खण्ड हो रहा है, और यीशु की मूर्ति द्रुत गति से विलीन होती जा रही है।”

तथापि हम इस विषय पर प्रो॰ हेकल के प्रत्येक शब्द को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं हैं। किन्तु जब प्रत्येक सभ्य देश के सुसंस्कृत लेखकों का विशाल बहुमत उनकी मान्यता में सहभागी है, जब हम पाते हैं कि स्वयं कतिपय प्रमुख ईसाई पादरी भी उनके साथ इसी मत के हैं, जब डॉ॰ लूफ्स (Loofs) जैसे पुरुष यीशु के स्वाभाविक मानवीय माता-पिता की बात निष्कपट भाव से मानते हैं, और जब ईसाई मत के

प्रगतिशील धर्मशास्त्री कुँआरी-जन्म के चमत्कार में विश्वास के आरोप पर क्रुद्ध होकर आपत्ति करते हैं, तब इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि यीशु के निष्कलंक गर्भाधान की कथा या तो इतिहास के आवरण में दिया गया महान् मूल्य का कोई रहस्यमय उपदेश है, अथवा एक परवर्ती और निरर्थक प्रक्षेप है, जैसा हेकल उसे कहते हैं, जो किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया जिसने सोचा कि इससे उसके मत की केन्द्रीय विभूति पर पवित्रता का एक अतिरिक्त मण्डल चढ़ जाएगा। ऐसी किंवदन्तियाँ संसार के प्रायः समस्त अन्य धर्मों में भी पाई जाती हैं; और हिन्दू धर्म में तो इनकी भरमार ही है। इनकी सच्ची व्याख्या आध्यात्मिक विज्ञान के क्षेत्र में खोजनी चाहिए, न कि भौतिक जगत् में। कुँआरी-जन्म के विचार की व्याख्या आगे किसी अध्याय में की जाएगी; अभी हम इतने से ही सन्तोष करेंगे कि यह दिखा दें कि परम्परावादी दृष्टि विचारशील पुरुषों को रुचिकर होने की सम्भावना नहीं रखती। इस विषय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साक्षी — और उन दो में से एक जिनके वृत्तान्त पर यह समस्त विवाद उठा है — लूका हैं, जो तीसरे सुसमाचार के अभिमत रचयिता हैं, और जो लिखते हैं (लूका ३:२३) :—

> **"और यीशु आप उपदेश करते समय लगभग तीस वर्ष के थे, और (जैसा समझा जाता था) यूसुफ के पुत्र थे, जो एली का पुत्र था।"**

तिरछे अक्षर हमारे हैं; किन्तु भाषा के लिए इससे अधिक बलपूर्ण और असन्दिग्ध होना असम्भव है। लूका यहाँ वस्तुतः अपने नाम से प्रचलित सुसमाचार के पूर्ववर्ती अंशों का खण्डन करते हैं, और यदि उनके सुसमाचार के प्रथम दो अध्यायों के विषय में जालसाज़ी का आरोप टालना है, तो उन्हें जान-बूझकर ऐसा करता हुआ मानना पड़ेगा। परम्परावादी दृष्टि पर यह विरोध किसी भी प्रकार टाला नहीं जा सकता, किन्तु प्रतीकात्मक विचार की परिकल्पना पर उसका सहज समाधान हो जाता है। इस प्रकार यीशु का जन्म स्वाभाविक मानवीय होगा, जबकि मसीह का गर्भाधान आत्मा से हुआ माना जाएगा। यीशु ने स्वयं अपने भौतिक स्वरूप के लिए कभी निष्कलंक गर्भाधान का दावा नहीं किया; इसके विपरीत उन्होंने अपने विरोधियों से कहा :—

> **"तुम शरीर के अनुसार न्याय करते हो; मैं किसी का न्याय नहीं करता" (यूहन्ना ८:१५)।**

इसका अर्थ यदि कुछ है तो यही कि जहाँ तक मांस के मन्दिर का सम्बन्ध था, वहाँ तक वे अपने निर्णय में भूल नहीं कर रहे थे। इससे ठीक पहले का पद, जो इस प्रकार है—

> **"मैं जानता हूँ कि मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ को जाता हूँ; परन्तु तुम नहीं जानते कि मैं कहाँ से आता**

> **हूँ या कहाँ को जाता हूँ।”—**

उनकी स्थिति को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। मनुष्य भौतिक शरीर और आत्मा से बना है, यद्यपि विचारहीन भौतिकवाद उसे केवल मांस और अस्थियों का एक पुलिन्दा ही जानता है। यीशु भौतिकवादी की दृष्टि की भर्त्सना इसलिए नहीं करते कि वह स्वयं शरीर की उत्पत्ति के विषय में असत्य है, अपितु इसलिए कि वह आत्मा की उपेक्षा करती है। सरल भाषा में रखें तो वे कहते हैं : ‘मैं अपने सच्चे स्व अर्थात् आत्मा के विषय में जानता हूँ कि वह कहाँ से आया और कहाँ को जाता है; परन्तु तुम यह नहीं बता सकते। तुम्हारी बुद्धि मांस के शरीर पर ही समाप्त हो जाती है। मैं यह नहीं कहता कि उसकी उत्पत्ति आदि के विषय में तुम्हारी धारणाओं में तुम वहाँ ग़लत हो, किन्तु मैं यह अवश्य कहता हूँ कि तुमने द्रव्य को फेंक दिया है और मात्र छाया से जूझ रहे हो।’

यह उससे बहुत भिन्न है जिसकी अपेक्षा यीशु से की जाती यदि वे अपने लिए कुँआरी-जन्म स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे होते। यूहन्ना ने यहूदियों के एक वर्ग और यीशु के बीच का एक और छोटा-सा संवाद सुरक्षित रखा है, जो भी इस स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। वे यहूदी, जो क्रोध से आपे से बाहर थे, उन्हें उकसाने का प्रयत्न करते हुए बोले :—

> **“हम व्यभिचार से उत्पन्न नहीं हुए; हमारा एक ही पिता है, अर्थात् परमेश्वर” (यूहन्ना ८:४१)।**

यहाँ यीशु के लिए अपने चमत्कारपूर्ण जन्म को प्रतिपादित करने का अवसर था, किन्तु उन्होंने केवल इतना उत्तर दिया :—

> **“यदि परमेश्वर तुम्हारा पिता होता तो तुम मुझ से प्रेम रखते; क्योंकि मैं परमेश्वर में से निकलकर आया हूँ; मैं आप से नहीं आया, वरन् उसी ने मुझे भेजा है। तुम मेरी बात क्यों नहीं समझते?”— (यूहन्ना ८:४२-४३)।**

यह ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने उनसे यह नहीं कहा कि वे ही अकेले परमेश्वर के पुत्र हैं; न ही उन्होंने यहूदियों द्वारा उछाले गये अवैध जन्म के संकेत पर कोई ध्यान दिया। उन्होंने उनसे केवल इतना कहा कि यह विषय समझ की अपेक्षा रखता है। सरल भाषा में उनका आशय था : ‘यदि तुम परमेश्वर को अपना पिता मानते हो, तो तुम्हें उसे सबका पिता स्वीकार करना होगा, यहाँ तक कि व्यभिचार से उत्पन्न सन्तान का भी। तथाकथित व्यभिचारजात सन्तान की आत्मा इसलिए तनिक भी न्यून सम्भाव्य दिव्यता नहीं है

कि वह विधिसम्मत विवाह से उत्पन्न नहीं हुई। यह केवल इसलिए है कि तुम मुझे नहीं समझते, कि तुम्हें मेरे अपने को परमेश्वर का पुत्र कहने पर आपत्ति है।' यहाँ भी कुँआरी-जन्म के प्रतिपादन का अवसर छूट जाता है, और यह तथ्य स्वयं ही बोलता है।

यदि यह तथ्य होता कि यीशु के जन्म के अवसर पर प्रकृति के किन्हीं नियमों का उल्लंघन हुआ था, तो हमें उस घटना का कोई ऐतिहासिक प्रमाण मिलता। इसके विपरीत, उसके विषय में सबसे उल्लेखनीय तथ्य यह है कि स्वयं यीशु के वचनों में उसका सर्वथा कोई उल्लेख नहीं है। यदि यह तथ्य होता कि पूर्व के ज्ञानी जन 'दिव्य शिशु' को नमन करने के लिए अपनी जन्मभूमि से इतनी दूर यात्रा करने का कष्ट उठाकर आये थे, तो हमने उनके विषय में और भी बहुत कुछ सुना होता। किन्तु उन्होंने उनमें अथवा उनके कार्यों में फिर कभी कोई रुचि नहीं ली, और ऐसे वायु में विलीन हो गये मानो वे पहले कभी थे ही नहीं। निश्चय ही, हेरोदेस द्वारा मसीह के हाथों अपनी सत्ता के नष्ट होने के भय से अपने राज्य के समस्त बालकों को मरवा डालने जैसा ऐतिहासिक तथ्य (यदि वह तथ्य रहा होता) समकालीन इतिहासकार द्वारा उपेक्षित नहीं रह सकता था। ये कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो उस किंवदन्ती में विश्वास को सर्वथा असम्भव बना देती हैं। सभ्यता की प्रगति तथा प्राकृतिक विज्ञानों की विराट् उन्नति ने मनुष्य के लिए यह अनिवार्य कर दिया है कि वह अपने धर्म को ज्ञान की चट्टान पर खड़ा करे। अन्धविश्वास और रहस्यमय अनुष्ठान की विपरीत पद्धति, यद्यपि कभी-कभी प्रभावशाली और श्रद्धा को दृढ़ करने में बहुत उपयोगी होती है, तथापि उसे वैज्ञानिक और दार्शनिक आधार पर पूर्ण परिष्कार और परिवर्तन से गुज़रना होगा। आधुनिक मनुष्य की प्रवृत्ति यह है कि किसी उद्यम में प्रवृत्त होने से पूर्व वह उसका कारण जान ले; और कौन कह सकता है कि इस बात पर आग्रह करने में वह ग़लत है। हम धार्मिक विषयों में कितने अविवेकी हैं, यह उसी क्षण प्रकट हो जाता है जब हम धर्म के प्रति अपनी वृत्ति की तुलना 'व्यापार' के प्रति अपनी वृत्ति से करते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी उद्यम में थोड़ी-सी धनराशि भी तब तक नहीं लगाता जब तक वह उस व्यापार की सुरक्षा और स्थिरता के विषय में अपने को सन्तुष्ट न कर ले; फिर भी वही मनुष्य कभी यह जानने का कष्ट नहीं उठाता कि जिस उद्यम में वह अपना समस्त आध्यात्मिक कल्याण लगा रहा है, उसमें कोई सुरक्षा है भी या नहीं!

अपने पास उपलब्ध इस अल्प स्थान में यीशु के चमत्कारपूर्ण जन्म के विरुद्ध तर्क के विस्तार में और आगे जाना असम्भव है; ऐसा प्रतीत होता है कि यह वृत्तान्त हिन्दू धर्म में विष्णु के अवतारों में से एक, कृष्ण, के जन्म-सम्बन्धी किंवदन्ती का ही एक परिवर्तित रूप है। यह न समझा जाए कि हमारी जाति के एक वर्ग की चिरकाल से प्रेमपूर्वक सँजोई गई मान्यताओं को नष्ट करने में हमें कोई आनन्द आता है; यह बिन्दु किसी भी दृष्टि से नगण्य अथवा अनावश्यक नहीं है, क्योंकि जब तक हम अन्धविश्वास और मिथक में

विश्वास करते हैं तब तक हम सत्य के मार्ग में बाधक बने रहते हैं और उसे संसार में प्रकाशित होने से रोकते हैं। जिज्ञासु बुद्धि के लिए उचित प्रश्न यह नहीं होना चाहिए कि यीशु अथवा बुद्ध अथवा कोई और कौन था या क्या था, और न यह कि उन्होंने क्या उपदेश दिया, अपितु यह कि सत्य क्या है? जब हम सत्य तक पहुँचने के दृढ़ संकल्प के साथ अपने कल्याण-साधन में प्रवृत्त होते हैं, तब जाति और मत, अन्धविश्वास और मिथक, तथा भावुकता और पूर्वग्रह के समस्त भेद हमारे मार्ग से लुप्त हो जाते हैं, और तथाकथित प्राकृतिक विज्ञान पास खड़े उपहास करने के स्थान पर हमारे मशालची बन जाते हैं और हमारा मार्ग आलोकित करते हैं। सत्य की कसौटी यह है कि वह तत्काल, निश्चित और अपरिवर्तनीय परिणाम उत्पन्न करे। ठीक यही स्थिति धर्म की भी होनी चाहिए, जिससे जो व्यवस्था प्रत्यक्ष और तात्कालिक परिणाम देने में विफल रहती है वह किसी भी अर्थ में सच्चा धर्म नहीं है।

जहाँ तक चारों सुसमाचारों में अभिलिखित मसीह के कार्यों के ऐतिहासिक पाठ का प्रश्न है, इसमें सन्देह कम ही है कि विरोध से बचने के लिए उसका बहुत-सा भाग अस्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार के उदाहरण के रूप में मत्ती ४:१८-२० तथा यूहन्ना १:३५-४० के वृत्तान्तों का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्हें हम यहाँ उद्धृत करते हैं :—

मत्ती (अध्याय ४)। — १८ और यीशु ने गलील की झील के किनारे फिरते हुए दो भाइयों को, अर्थात् शमौन को जो पतरस कहलाता है और उसके भाई अन्द्रियास को, झील में जाल डालते देखा; क्योंकि वे मछुए थे। १९ और उसने उनसे कहा, मेरे पीछे चले आओ, तो मैं तुम को मनुष्यों के पकड़ने वाले बनाऊँगा। २० वे तुरन्त जालों को छोड़कर उसके पीछे हो लिए।

यूहन्ना (अध्याय १)। — ३५ दूसरे दिन फिर यूहन्ना और उसके चेलों में से दो जन खड़े हुए थे; ३६ और उसने यीशु पर, जो जा रहा था, दृष्टि करके कहा, देखो, यह परमेश्वर का मेम्ना है! ३७ तब वे दोनों चेले उसे बोलते हुए सुनकर यीशु के पीछे हो लिए। ३८ यीशु ने फिरकर और उन्हें पीछे आते देखकर उनसे कहा, तुम क्या ढूँढ़ते हो? उन्होंने उससे कहा, हे रब्बी, (अर्थात् अनुवाद करने पर, हे गुरु), आप कहाँ रहते हैं? ३९ उसने उनसे कहा, चलकर देख लो। तब उन्होंने आकर उसके रहने का स्थान देखा, और उस दिन उसी के साथ रहे; क्योंकि दसवाँ घण्टा था। ४० उन दोनों में से, जो यूहन्ना की बात सुनकर उसके पीछे हो लिए थे, एक शमौन पतरस का भाई अन्द्रियास था। ४१ उसने पहले अपने सगे भाई शमौन से मिलकर उससे कहा, हम को मसीहा अर्थात् (अनुवाद करने पर) ख्रीष्ट मिल गया। ४२ और वह उसे यीशु के पास लाया। यीशु ने उस पर दृष्टि करके कहा, तू यूहन्ना का पुत्र शमौन है; तू कैफा अर्थात् (अनुवाद करने पर) पतरस कहलाएगा।

इसी प्रकार, यीशु और यूहन्ना की भेंट के विषय में, तथा यीशु के विषय में यूहन्ना के मत के विषय में भी, बड़ी भ्रान्ति है। इस विषय से सम्बद्ध भिन्न-भिन्न वृत्तान्त इन स्थलों पर मिलते हैं :—

मत्ती ३:१३, १४ और १५। — मत्ती ११:२ और ३। — यूहन्ना १:४१ से ४४। — यूहन्ना १:२९ से ३६। — यूहन्ना ३:२५ से ३६।

> **"अब यह सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है," एवैन्सन लिखते हैं, "कि यूहन्ना, जो अपने शैशव से ही यीशु से व्यक्तिगत रूप से परिचित थे, और जिनके पास न केवल उनके विषय की वह समस्त जानकारी थी जो उन्होंने दोनों कुटुम्बों से अवश्य सीखी होगी, अपितु जो उनके प्रति स्नेह और श्रद्धा से इतने चमत्कारिक रूप से आविष्ट थे कि गर्भ में भ्रूण मात्र होते हुए भी उनकी माता के स्वर की ध्वनि मात्र से आनन्द से उछल पड़े — वे कभी भी इस विषय में रंचमात्र भी सन्देह कर सकते थे कि यीशु ही मसीहा हैं।"—('द हिस्ट्री ऑफ द न्यू टेस्टामेण्ट क्रिटिसिज़्म', पृष्ठ ९१)।**

यीशु के मुख में ऐसे शब्द तक रख दिये गये हैं जो सब सम्भावनाओं में उन्होंने कभी उच्चारित ही नहीं किये। यहाँ एक ऐसा उदाहरण है जो, यदि अक्षरशः समझा जाए, तो बहुत अनर्थ करने में समर्थ है :—

> **"जो कुकर्मी लटकाए गये थे, उनमें से एक ने उसकी निन्दा करके कहा, क्या तू मसीह नहीं? तो फिर अपने आप को और हम को बचा। इस पर दूसरे ने उसे डाँटकर उत्तर दिया, क्या तू परमेश्वर से भी नहीं डरता? तू भी तो वही दण्ड पा रहा है। और हम तो न्यायानुसार दण्ड पा रहे हैं, क्योंकि हम अपने कामों का ठीक फल पा रहे हैं; परन्तु इस मनुष्य ने कोई अनुचित काम नहीं किया। तब उसने यीशु से कहा, हे प्रभु, जब तू अपने राज्य में आए, तो मेरी सुधि लेना। उसने उससे कहा, मैं तुझ से सच कहता हूँ कि आज ही तू मेरे साथ स्वर्गलोक में होगा।"— लूका २३:३९ से ४३।**

तिरछे अक्षर हमारे हैं। कोई अन्य सुसमाचार यह वृत्तान्त नहीं देता। इसके विपरीत, मरकुस कहते हैं :—

> **"और जो उसके साथ क्रूसों पर चढ़ाए गये थे, वे भी उसकी निन्दा करते थे।"**

मत्ती भी कहते हैं कि डाकुओं ने भी उसे वही ताने मारे जो यहूदियों ने कहे थे। अब, यदि दोनों ही डाकुओं ने उसकी निन्दा की थी, तो यह विचित्र है कि उसने उनमें से एक को कुछ वचन दिया हो। यह ध्यान देने योग्य है कि मत्ती और मरकुस द्वारा प्रयुक्त संख्या बहुवचन है, जो स्पष्टतः दोनों डाकुओं पर लागू होती है। उपर्युक्त जैसा कथन, जो यीशु के मुख में रख दिया गया है, बहुत हानि पहुँचा सकता है, क्योंकि यह उनके उपदेशों की व्याख्या में मनुष्य को भ्रमित करने में समर्थ है। और भी कई बातें हैं जिन पर ऐसी ही

आपत्तियाँ की जा सकती हैं; किन्तु चूँकि यहाँ हमारा उद्देश्य विरोधों की ओर संकेत करना नहीं, अपितु यह देखना है कि यीशु ने क्या उपदेश दिया, अतः हमें उन्हें ढूँढ़ निकालने का कार्य पाठक पर ही छोड़ देना होगा।

सुसमाचारों की व्याख्या करते समय यह स्मरण रखना महत्त्वपूर्ण है कि जिन सुसमाचार-लेखकों ने यीशु के जीवन की घटनाओं का लेखा रखा और उनके वचन अभिलिखित किये, उन सबने न्यूनाधिक रूप से अपने-अपने व्यक्तित्व और विचार अपने अभिलेखों में मिला दिये। अनेक स्थलों पर यह दिखाई देगा कि वृत्तान्त तथ्यों के उस रूप के अभिलेख नहीं हैं जैसे वे घटित हुए, अपितु घटनाओं के उस रूप के हैं जैसे उन्हें घटित होना चाहिए था। उदाहरणार्थ, यूहन्ना लिखते हैं कि यीशु ने अपना क्रूस स्वयं उठाया (यूहन्ना १९:१७), जबकि शेष तीनों सुसमाचार-लेखक एकमत होकर घोषित करते हैं कि शमौन नामक एक कुरेनी ने उसे उनके लिए उठाया (लूका २३:२६; मरकुस १५:२१; मत्ती २७:३२)। क्रूसारोहण को ऐतिहासिक तथ्य मान लें, तो इस विरोध की एकमात्र सम्भव व्याख्या यही प्रतीत होती है कि यूहन्ना, जो सुसमाचार-लेखकों में सर्वाधिक दार्शनिक प्रवृत्ति के हैं, इस विश्वास के वशीभूत होकर सत्य से विचलित हो गये कि मसीह के लिए अपना क्रूस स्वयं वहन करना ही शोभनीय था; जबकि अन्य लोगों ने उस विश्वास से अप्रभावित रहकर घटना को केवल वैसे ही अभिलिखित किया जैसे वह घटी थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि मत्ती और लूका पुराण-कथा की ओर प्रवृत्त थे, जिसे दोनों ने अपने लेखों में समाविष्ट करने का प्रयत्न किया। तुलनात्मक पुराण-विद्या का विद्यार्थी जानता है कि 'कुँआरी-जन्म', 'यूखरिस्त' (Eucharist), 'परदे का फटना', तथा इसी प्रकार के अन्य विचार पवित्र भूमि में यीशु के प्रकट होने से बहुत पूर्व ही संसार के प्राचीनतर धर्मों में प्रचलित थे। इन बातों को ऐतिहासिक तथ्य नहीं मानना चाहिए, अपितु ऐसे रूपक और उपमान मानना चाहिए जिनके नीचे श्रद्धा के सर्वाधिक मूल्यवान् सिद्धान्त साधारण दृष्टि से छिपे हुए पड़े हैं। ऐसा होने से यीशु के जीवन के अभिलेखों पर स्वभावतः स्वयं लेखकों के मतों का कुछ रंग चढ़ जाता, जिनमें से कुछ अवश्य ही उन असंख्य गुह्य संस्थाओं — एसीनियों (Essenes), नाज़रीनों (Nazarenes) तथा इसी प्रकार के अन्य संघों — की शिक्षाओं के निकट सम्पर्क में रहे होंगे, जो उस काल में विद्यमान प्रतीत होती हैं।

६

ईश्वर का राज्य

THE KINGDOM OF GOD

“हरि ॐ! अब, ब्रह्म के इस निवास (मानव-देह) के भीतर एक छोटा-सा कमल-रूपी कोष्ठ है, और उसके भीतर एक सूक्ष्म रिक्तता (अन्तराकाश) है। जो कुछ उस रिक्तता के भीतर है, वही खोजने योग्य है; उसी की, निश्चय ही, जिज्ञासा करनी चाहिए।”—छान्दोग्य उपनिषद् ८:१:१।

“यहाँ हृदय में एक गुहा है, जिसमें वे निवास करते हैं—विश्व के स्वामी, विश्व के शासक, विश्व के अधिपति।”—बृहदारण्यक उपनिषद् ४:४:२२।

इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि जो ‘सन्देश’ नासरत के यीशु संसार तक पहुँचाना चाहते थे, वह उस रूप में संसार तक पहुँचाया नहीं गया; और इसमें भी उतना ही कम सन्देह हो सकता है कि इस दोष का विभाजन करते समय उसका बड़ा भाग उनके शिष्यों के हिस्से में आता है। क्योंकि दर्शन के लिए विचार की सूक्ष्मता और संगति अनिवार्य है; और यीशु के शिष्य ठीक इन्हीं दोनों में सदा न्यून पाए गए, यद्यपि रहस्यवाद के सिद्धान्तों और मतों से उनका सामान्य परिचय था और उन्होंने उन्हें अपने लेखों में उदारतापूर्वक समाविष्ट भी किया है। अर्नेस्ट रेनाँ (Ernest Renan) का कथन है:—

> “स्वयं वे सुसमाचार-लेखक, जिन्होंने हमें यीशु का चित्र सौंपा है, उस पुरुष से इतने नीचे हैं जिसका वे वर्णन करते हैं कि वे निरन्तर उसकी ऊँचाइयों तक पहुँच पाने की असमर्थता के कारण उसका रूप विकृत कर देते हैं। उनके लेख भ्रान्तियों और मिथ्या धारणाओं से भरे हुए हैं। हम प्रत्येक पंक्ति में दिव्य सौन्दर्य से युक्त एक प्रवचन का अनुभव करते हैं, जिसे ऐसे वर्णनकर्ताओं ने उतारा है जो उसे समझते नहीं, और जो जिन बातों को उन्होंने आधा ही समझा है, उनके स्थान पर अपने ही विचार रख देते हैं। कुल मिलाकर, यीशु का चरित्र अपने जीवनी-लेखकों द्वारा अलंकृत होने के स्थान पर उनके द्वारा नीचा किया गया है। समालोचना को, यह जानने के लिए कि वे वस्तुतः क्या थे, शिष्यों की न्यूनता

> **से उत्पन्न मिथ्या धारणाओं की एक शृंखला को त्यागना पड़ता है। इन लोगों ने उन्हें वैसा ही चित्रित किया जैसा वे उन्हें समझते थे, और प्रायः उन्हें ऊँचा उठाने के विचार से उन्होंने वस्तुतः उन्हें नीचा ही किया है।"—(लाइफ़ ऑफ़ जीसस)।**

तथ्य यह है कि जब तक वे अपने गुरु के साथ रहे, यीशु के शिष्यों ने 'नवीन धर्म' के सिद्धान्त को न तो समझा और न समझने की चिन्ता ही की; और उनसे पृथक् हो जाने के पश्चात् उनके खण्ड-खण्ड सूत्रों की पंक्तियों के बीच का अर्थ पढ़ लेना, उनके असंख्य वचनों को छाँटना और वर्गीकृत करना, तथा उन्हें दार्शनिक विचार की एक सुसंगत प्रणाली में ढाल देना, उनके सामर्थ्य से कहीं अधिक था। वे ऐसा करने के इच्छुक ही न थे, यही नहीं, उनमें इस कार्य की क्षमता भी न थी। उनकी महत्त्वाकांक्षा—यह उनके श्रेय में कहा जाए—कभी उनकी बुद्धि से ऊपर न उड़ी; और इस प्रकार जो वस्तु व्यवस्थित चिन्तन के अभ्यासी लोगों के हाथों में तत्काल स्पष्ट हो जाती, वह अन्धकार में दब गई और भ्रान्ति में खो गई। परवर्ती काल के जीवनी-लेखकों ने अन्धविश्वास के जाले हटाने और वास्तविक सत्य को खोज निकालने का प्रयत्न किया; किन्तु वे उस सामग्री के स्वरूप को न समझ पाने के कारण असफल रहे जिससे मुक्तिदाता की शिक्षाएँ रची गई हैं। इस प्रकार, आध्यात्मिकता के उच्चतर सत्यों का भौतिक विश्व-सम्बन्धी अपने सीमित ज्ञान के साथ मेल न बिठा पाने से उनका मानसिक सन्तुलन बिगड़ गया और अन्ततः उन्हें 'नवीन धर्म' के प्रवर्तक के वचनों में केवल 'ग्राम्य सरलता' और 'निष्कपट निश्छलता' ही दिखाई दी। दूसरी ओर, पादरी-वर्ग कभी इस विषय पर निष्पक्ष निर्णय लगा ही न सका, और लोगों से यह मनवाने पर तुला रहा कि काला ही श्वेत है। इस प्रकार सूचना के समस्त स्रोत छलपूर्ण और भ्रामक हैं, और मुक्तिदाता की शिक्षाओं का सत्य खोजनेवाले के पास इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं कि वह सीधे मूल स्रोत तक, अर्थात् स्वयं उन वचनों तक, पहुँचे। इन वचनों को, तथापि, पूर्ववर्ती अध्याय में की गई टिप्पणियों के अधीन ही ग्रहण करना होगा।

हम यह मानने से इनकार करते हैं कि यीशु में ऐसा कुछ भी न था जो उन्हें एक साधारण बालक, ईश्वर के किसी स्वप्नदर्शी, अथवा भावी स्वर्ग-राज्य के कल्पना-स्वप्न देखनेवाले से पृथक् करता हो। हम यह मानने से भी इनकार करते हैं कि उनके ईश्वर-राज्य का किसी दरिद्रालय, कुष्ठाश्रम, अथवा किसी सामान्य चिकित्सालय या औषधालय से कोई साम्य था, अथवा यह कि वह किसी महान् सामाजिक क्रान्ति के रूप में अभिप्रेत था जिसका लक्ष्य सत्ता का उन्मूलन, पद-प्रतिष्ठा का अपमान और स्थिति की सार्वभौम समानता हो। हमें यह मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि कोई साधारण दिवास्वप्नदर्शी, जिसके पास जीवन की कतिपय महत्त्वपूर्ण समस्याओं—यथा आत्मा की अमरता—पर कोई निश्चित धारणा तक न हो, प्रबल शास्त्रार्थियों के सम्मुख कभी अपना पक्ष टिका सकता। हम अपने उस स्वप्नदर्शी को सुरुचिपूर्ण

शब्दों और मनोहर वाक्यांशों के समस्त गौरवमय वस्त्रों से सज्जित कर सकते हैं, हम उसे जितना चाहें उतना रम्य और सौम्य स्वभाव प्रदान कर सकते हैं, हम उसे उस अनिर्वचनीय माधुर्य की दृष्टि तक दे सकते हैं जिससे एक विशेष प्रकार का उच्चस्वर किन्तु निरर्थक साहित्य बौद्धिक नेत्र को अपनी रिक्त कल्पनाओं में झाँकने से रोकने का प्रयत्न करता है—हम यह सब कर सकते हैं, फिर भी हम उसे कभी किसी यीशु, किसी बुद्ध, अथवा किसी ज़रथुस्त्र में रूपान्तरित हुआ न पाएँगे। क्योंकि वे सब महापुरुष थे, यद्यपि भ्रान्तियों से मुक्त नहीं, और न ज्ञान या आचरण में पूर्ण ही। उनका स्वप्न देखना गम्भीर और सोद्देश्य था, जैसे उनका उन्माद भी विधिपूर्ण था। हम, निस्सन्देह, उनका अन्धानुकरण नहीं कर सकते; किन्तु हम उन्हें भ्रान्त ग्रामीण या निरर्थक भोले-भाले जन भी नहीं कह सकते। हम खोखले विशेषणों और शब्दों के बुलबुलों को अपनी दृष्टि धूमिल नहीं करने देंगे। यीशु की कुछ जीवनियाँ तो अन्ततः केवल यही सिद्ध करती हैं कि लेखक ने यदि पुस्तक लिखने से सर्वथा विरत रहना स्वीकार किया होता तो अच्छा करता। इनमें से कुछ पुस्तकें, निस्सन्देह, अलंकृत शैली और सुन्दर भाषा की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं, किन्तु जिस व्यक्ति की जीवनी वे कहती मानी जाती हैं उसके जीवन के 'सत्य, शिव और सुन्दर' पर कोई प्रकाश डालने की दृष्टि से वे सर्वथा निरर्थक और भ्रामक हैं।

हम यह नहीं मानते कि यीशु के विषय में यह कहा जा सके कि उन्हें संसार की सामान्य दशा का कोई ज्ञान न था; वे निरक्षर न थे। जीवन के अत्यन्त प्रारम्भिक काल में ही वे 'पण्डितों' के मध्य बैठे हुए, उनकी बातें सुनते और उनसे प्रश्न करते पाए गए, जिससे वहाँ उपस्थित सभी लोग विस्मित हो गए। बाइबिल हमें आश्वस्त करती है कि वे ज्ञानी पुरुष थे; लूका लिखते हैं:—

> **"और यीशु बुद्धि में बढ़ता गया" (लूका २:५२)।**

वे लिख सकते थे, यह चारों सुसमाचारों से स्पष्ट है। एक-दो बार कहा गया है कि उन्होंने अपने सम्मुख रखे गए प्रश्नों का उत्तर देने से पूर्व भूमि पर कुछ लिखा। यह हो सकता है कि यह केवल समय पाने का उपाय रहा हो, किन्तु जिसे लिखने का अभ्यास न हो, उसे ऐसा सूझता ही कठिनाई से। लूका (४:१६-२०) उनके यशायाह की पुस्तक पढ़ने की साक्षी देते हैं, और इस प्रकार यह विषय विवाद से परे कर देते हैं। इसके अतिरिक्त, यीशु ने आसपास के देशों के एक बड़े भाग में यात्रा की थी, और वस्तुतः कुछ वर्ष मिस्र में रहे भी थे, यद्यपि बालक के रूप में। अपने जीवन के बारहवें और तीसवें वर्ष के बीच के काल में उन्होंने क्या किया, यह रहस्य के आवरण में छिपा है। कुछ विचारकों के अनुसार उनके तिब्बत और भारत जाने के पुष्ट प्रमाण विद्यमान हैं और खोजे जा चुके हैं। यह भी कहा जाता है कि कश्मीर में उनकी एक समाधि है, जहाँ वे युवावस्था में गए थे और जहाँ वे "पुनरुत्थान" के पश्चात् बस गए। स्वामी रामतीर्थ तथा अन्य

यात्रियों ने कश्मीर के कतिपय स्थानों के नामों और फ़िलिस्तीन के स्थानों के नामों में उल्लेखनीय साम्य पाया है (देखिए 'प्रोसीडिंग्स ऑफ़ द कन्वेंशन ऑफ़ रिलीजन्स' (Proceedings of the Convention of Religions), १९०९, पृ. १९७-२०१)। यहाँ तक कि तिब्बत के एक मठ से एक प्राचीन पाण्डुलिपि तक प्राप्त हुई है जिसमें फ़िलिस्तीन से आए एक यात्री के रूप में यीशु के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वृत्तान्त है। तथ्यों की इस लम्बी पंक्ति में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह जोड़ लीजिए कि उनकी शिक्षाएँ निस्सन्देह हिन्दू दर्शन के सुदृढ़ आधार पर टिकी हुई हैं और भारत के अनेक सम्प्रदायों तथा विचार-शाखाओं में उस समय प्रचलित विभिन्न मतों के सावधानीपूर्वक छाने हुए तथा भलीभाँति आत्मसात् किए हुए ज्ञान के परिणामों को अपने में समेटे हुए हैं। उपवास तथा अन्य प्रकार की तपश्चर्याओं के पालन के लिए चालीस दिन तक उनका वन में जाकर एकान्तवास करना इस्राएलियों में अपने-आपमें एक अश्रुतपूर्व घटना थी, किन्तु भारत में एक सामान्य बात (वस्तुतः उन आश्रमों, अर्थात् कालखण्डों, में से एक, जिनमें हिन्दुओं के तीन द्विज वर्णों के लिए ऐहिक जीवन की अवधि विभाजित की गई है) थी, जिसका शास्त्रों में—विशेषतः जैन और योग विचार-शाखाओं के शास्त्रों में—विधान है। न केवल उनकी शिक्षाएँ—कहीं-कहीं तो लगभग शब्दशः—वही हैं जो हिन्दू धर्म तथा भारत के अन्य धर्मों में मिलती हैं, अपितु मसीहा के रूप में उनका सम्पूर्ण जीवन भी वही है जिसका विधान एक योगी के लिए किया गया है, और जिसका कोई समानान्तर उदाहरण सम्पूर्ण पुराने नियम में कहीं नहीं मिलता। इनमें यह महत्त्वपूर्ण तथ्य और जोड़ना चाहिए कि दृष्टान्तों के माध्यम से समझाने और व्याख्या करने की पद्धति पुराने नियम के काल के बाइबिल-लेखों में नहीं मिलती; किन्तु भारत में वह सदा से प्रचलित रही है। ये अत्यन्त महत्त्व के विषय हैं और सावधानीपूर्ण विवेचन की अपेक्षा रखते हैं। किसी पूर्वग्रह के कारण इनके भार को अस्वीकार करना अनुचित होगा, यद्यपि यीशु ने अपना ज्ञान भारतीयों से प्राप्त किया—इस विचार के विरुद्ध रूढ़िवादी मन में स्वभावतः बहुत प्रबल पूर्वग्रह रहेगा। यह न समझा जाए कि हम यहाँ हिन्दू धर्म अथवा किसी अन्य भारतीय धर्म के लिए, या सामान्यतः भारतीय दर्शन के लिए, ईसाई धर्म अथवा किसी अन्य मत पर कोई श्रेष्ठता का दावा करने में लगे हैं। वह समाधि मिथ्या हो सकती है, स्थानों के नामों का साम्य आकस्मिक, और वह ग्रन्थ एक जालसाजी—और वस्तुतः हम उन्हें ऐसा ही मानते हैं—इसके होते हुए भी हम यह मानते हैं कि यीशु ने अपना ज्ञान भारतीय स्रोतों से प्राप्त किया। इन स्रोतों से मिलने के लिए उन्हें भारत तक की सारी यात्रा करने की आवश्यकता न थी, क्योंकि वे अपने तथा पड़ोसी देशों में, घर के निकट ही, उपलब्ध थे। जो भी हो, हमारे पास इस विषय पर समय गँवाने का अवकाश नहीं; हम तो केवल सत्य का पता लगाने के लिए उत्सुक हैं, चाहे वह हिन्दुओं से आए या किसी अन्य स्रोत से। अतः यह सर्वथा अप्रासंगिक है कि यीशु ने जो बाद में उपदेश किया वह भारतीयों से सीखा, अथवा इसके विपरीत हुआ, अथवा वह स्वतन्त्र रूप से उन्हें प्राप्त हुआ।

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, नोतोविच की ‘अननोन लाइफ़ ऑफ़ जीसस क्राइस्ट’ वाली तिब्बती पाण्डुलिपि एक गढ़ी हुई रचना मानी जाती है, क्योंकि नोतोविच ने उसे कभी स्वतन्त्र परीक्षण के लिए प्रस्तुत नहीं किया और बाद में उस मठ में गए यात्रियों को वहाँ ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिला, तथा यीशु की तिब्बत-भारत यात्रा या कश्मीर में उनकी समाधि का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

विचाराधीन विषय पर लौटें तो, यीशु के प्रति आरोपित असंख्य दृष्टान्त सब उनकी बुद्धि की उर्वर प्रकृति की साक्षी देते हैं। हम इसे असम्भव मानते हैं कि ज्ञानी और विद्वान् पुरुष के अतिरिक्त कोई और दृष्टान्तों के प्रयोग से अपने तर्क को पुष्ट कर सके। यदि किसी को इसमें सन्देह हो, तो वह स्वयं प्रयत्न करके देख ले कि वह कितने दृष्टान्त गढ़ या उद्धृत कर सकता है। यीशु के पास ऐसी कथाओं और आख्यायिकाओं का पर्याप्त भण्डार अवश्य रहा होगा, तभी वे उसे बुद्धिमत्तापूर्ण और सुसंगत ऐसी प्रणाली चला सके जिसे दृष्टान्त-प्रधान शिक्षा कहा जा सकता है। उनके संवादों में पाण्डित्य-प्रदर्शन का लेश भी न था; वे छोटे-छोटे सरल वाक्यों में बोलते थे, जो तथापि अपने भीतर निहित बल और वाग्वैभव के कारण उल्लेखनीय रूप से तीक्ष्ण हैं। न उनकी वक्तृता में, न उनकी वाणी में, न उनके प्रत्युत्तर में कुछ भी ग्राम्य था; इसके विपरीत, उनसे परिष्कृत विनोद और प्रज्ञा की एक स्पष्ट सुगन्ध निकलती है। इस प्रकार हम अपने-आपको उनके कुछ जीवनी-लेखकों के इस कथन का समर्थन करने में सर्वथा असमर्थ पाते हैं कि वे और कुछ होने की अपेक्षा एक सरल अज्ञानी ग्रामीण अधिक थे। जो पुरुष अपने युग के विद्वान् शास्त्रार्थियों के सम्मुख न केवल अपना पक्ष टिका सका, अपितु उन्हीं की भूमि पर उन्हें मात दे सका; जो उन सूक्ष्म जालों और तर्क-फंदों को भाँप सका जिन्हें उस समय की श्रेष्ठतम बुद्धियाँ उन्हें फँसाने के लिए निरन्तर बिछाया करती थीं; और जो उनका सामना ऐसे उत्तरों से कर सका जो विरोध का मुँह बन्द भी कर देते थे, फंदे से बचा भी ले जाते थे, और साथ ही उनके अपने सिद्धान्त को पुष्ट या उदाहरणों से स्पष्ट भी कर देते थे—उसे युक्तिपूर्वक ऐसा युवा ग्रामीण नहीं कहा जा सकता जो संसार को अपनी सरलता के काँच से देखता हो। यीशु सिद्धान्त और मनुष्यों की आज्ञाओं के भेद को भलीभाँति समझते थे। जब भी उनसे यह कहा जाता कि वे आस्था के मूल सिद्धान्तों की अपेक्षा मनुष्यों की परम्पराओं का पालन करें, तब वे धर्ममय क्रोध से भर उठते थे। हम यह निष्कर्ष निकालने को विवश हैं कि यहाँ समस्त साक्ष्य एक ही दिशा में जाता है, और वह असन्दिग्ध रूप से यह तथ्य स्थापित करता है कि यीशु सामान्य से कहीं अधिक विद्वत्ता और प्रज्ञा के पुरुष थे।

यह स्थापित हो जाने पर कि यीशु एक ज्ञानी पुरुष थे, विचारणीय अगला विषय उनकी प्रणाली है, जिसमें सर्वप्रमुख स्थान ईश्वर के राज्य के सिद्धान्त का है। प्रश्न यह है: स्वर्ग के जिस राज्य का वे निरन्तर उपदेश देते थे और अपने वचनों में जिसका उल्लेख करते थे, उससे उनका अभिप्राय क्या था? क्या उनका अभिप्राय उस प्रकार के किसी राज्य से था जिससे हम मनुष्यों के राष्ट्रों के बीच परिचित हैं? उनके शिष्यों ने, उस समय के अनेक अन्य लोगों की भाँति, यह समझा कि वे ईश्वर के संरक्षण और आधिपत्य में इस्राएल के राज्य की बात कर रहे हैं, और यह विचार उनके मन पर इतनी गहराई से अंकित था कि उन्होंने पुनरुत्थान के पश्चात् भी उनसे पूछा, 'हे प्रभु, क्या आप इसी समय इस्राएल को राज्य फेर देंगे?' (प्रेरितों के काम १:६)। किन्तु यीशु ने इन धारणाओं को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया, और एक अवसर पर उन्होंने स्वयं समझाया कि स्वर्ग के राज्य से उनका क्या अभिप्राय है। उन्होंने कहा:—

> **"परमेश्वर का राज्य प्रगट रूप में नहीं आता; और लोग यह भी न कहेंगे कि देखो, यहाँ है! या वहाँ है! क्योंकि देखिए, परमेश्वर का राज्य आप के भीतर है" (लूका १७:२० और २१)।**

ये शब्द उन समस्त धारणाओं का स्पष्ट निषेध करते हैं जो शिष्यों के मन में थीं। जिस राज्य का यीशु उपदेश दे रहे थे, वह ऐसा न था जो प्रगट रूप में आनेवाला हो; वह कोई ऐतिहासिक घटना न था और न होना ही था, जिसका आगमन जन-सामान्य द्वारा देखा जा सके। न ही वह किसी विशेष स्थान तक सीमित विषय होना था, क्योंकि कोई उसकी ओर संकेत करके यह न कह सकता था कि वह यहाँ है, या वहाँ है, या संसार में कहीं भी है। वह तो कठोरता से मनुष्यों के 'भीतर' तक सीमित विषय था।

एक अन्य अवसर पर यीशु ने उसकी उपमा राई के दाने से दी, जो आकार में अत्यन्त सूक्ष्म है, फिर भी अनन्त विस्तार और वृद्धि में समर्थ है। वे हमें आगे बताते हैं कि वह ऐसी वस्तु है जो खमीर की भाँति बढ़ती है। "जिसके पास है, उसे और दिया जाएगा; किन्तु जिसके पास थोड़ा है, उससे वह थोड़ा भी ले लिया जाएगा।" और फिर, यीशु ने उसकी उपमा उस मनुष्य से दी जिसने भूमि में बीज बो दिया और सो गया, और बीज उगा और बढ़ा, और वह मनुष्य न जान सका कि कैसे।

ये उस राज्य के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लक्षण हैं जिसमें प्रवेश करने का निमन्त्रण यीशु ने मानव-जाति को दिया; किन्तु प्रश्न यह है कि हमारे भीतर का यह विस्तार पाता और बढ़ता हुआ, और साथ ही प्रारम्भिक तथा अत्यन्त सूक्ष्म, साम्राज्य है क्या, जो इन्द्रियों से न देखा जा सकता है न जाना जा सकता है,

किन्तु जिसका बीज यदि हम बो दें तो वह खमीर की एक छोटी-सी मात्रा की भाँति तब तक बढ़ता जाएगा जब तक समस्त तन्त्र में व्याप्त न हो जाए, और जिससे बाहरवाले (आकाश के पक्षी) भी आश्रय और लाभ पा सकते हैं?

जब हम अपने-आपको भौतिक अथवा शरीर-क्रिया-विज्ञान की दृष्टि से देखते हैं तब हमें केवल रक्त, अस्थियाँ, वृक्क तथा वैसे ही अन्य शारीरिक अंग और वस्तुएँ मिलती हैं, जिनमें प्रतिज्ञात स्वर्ग-राज्य को खोजना मूर्खता की पराकाष्ठा होगी। किन्तु जब हम उच्चतर विवेक की दृष्टि से देखते हैं तब हमें अपने भीतर न केवल वह प्रतिज्ञात राज्य मिलता है, अपितु वास्तविक राजा, स्वयं ईश्वर भी मिलता है। अतः मुक्तिदाता का 'हमारे भीतर का राज्य' अवश्य ही दिव्यता की चिनगारी, ईश्वरत्व के बीज, तथा हमारे भीतर उस यथार्थ, उस पूर्ण, उस आनन्दस्वरूप की उपस्थिति का अर्थ रखता होगा। अब हम देखते हैं कि मुक्तिदाता का 'स्वर्ग-राज्य के सुसमाचार' से क्या अभिप्राय था। 'जाओ, संसार को राज्य का सुसमाचार सुनाओ'—यह आज भी उतनी ही आज्ञा है जितनी दो सहस्त्र वर्ष पूर्व थी। अब यह कैसा उदात्त मिशन प्रतीत होता है! 'जाओ, लोगों से कहो कि जिस ईश्वर को वे सर्वत्र व्यर्थ खोजते फिरे हैं, वह न तो अविद्यमान है, न उनसे दूर, अपितु वस्तुतः उन्हीं के भीतर उपस्थित है; उनसे कहो कि उसका राज्य उनके अपने ही गर्भगृह में है, क्योंकि जहाँ ईश्वर है वहाँ उसका राज्य भी अवश्य होगा।' यह वास्तव में मंगल-समाचार है! किसी बाह्य स्वर्ग की खोज न कीजिए; क्योंकि स्वर्गों का स्वर्ग, समस्त आनन्द और मंगल का स्रोत, भीतर ही है, बल्कि हममें से प्रत्येक के वास्तविक 'स्व' से भिन्न कुछ भी नहीं है। यदि आप उस स्वर्ग में निवास करना चाहते हैं जहाँ आप अविचल आनन्द भोग सकें, तो आपको उसके भीतर से ही विकास में सहायक होना होगा। आपको केवल इतना करना है कि श्रद्धा का वह नन्हा-सा बीज बो दीजिए, और फिर, दृष्टान्त के उस मनुष्य की भाँति, आप सो जा सकते हैं और जागकर उसे पूर्ण प्रस्फुटित पाएँगे। यह वस्तुतः किसी मसीहा के योग्य सुसमाचार है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वर्ग का राज्य एक मानसिक भाव-दशा है, अर्थात् एक भावावेग। यदि वह मानसिक भाव सुखमय और मंगलमय हो, तो प्रत्येक वस्तु अपने-आपको इस प्रकार व्यवस्थित कर लेगी कि उस मनुष्य को, जो अपने-आपको उस भाव-दशा में स्थित कर लेता है, आनन्द का अपना अंश अर्पित करे। आत्मा का सच्चा स्वभाव आनन्दमय है, यद्यपि वह वासनाओं और कामनाओं के मल तथा कूड़े के विशाल ढेर के नीचे दबा पड़ा है; अतः किसी को सुख की खोज में कहीं बाहर जाना नहीं पड़ता, अपितु केवल उस अमूल्य रत्न पर से, जो पहले ही भीतर पड़ा है, अशुद्धि की राशि हटानी होती है, जिससे उसका तेज दृष्टिगोचर हो जाए।

अपने ही दिव्य स्वभाव में विश्वास हीनता और अशुभ के सुझाव के विष का प्रतिकार करेगा, और क्रमशः निष्कामता और विरागता का ऐसा राज्य स्थापित करेगा जो मन को शान्ति और प्रशान्ति प्रदान करेगा। दुःख और भय के भावावेग मिथ्या सुझावों से उत्पन्न होते हैं, जिन्हें आत्मा स्वीकार कर लेती है और जिन पर आचरण करने लगती है। अब हमें यह संकल्प करना चाहिए कि हम विपरीत प्रकार के आत्म-सुझावों द्वारा अपनी चिकित्सा करें। श्रद्धा ही वह नन्हा बीज है जिसे बोना है, और शेष कार्य वह स्वयं कर देगी; क्योंकि विश्वास अपने-आपको कर्म में अनिवार्य रूप से परिणत करता है। हममें से प्रत्येक के भीतर ईश्वर की उपस्थिति में जो श्रद्धा है, वही उद्धार का कार्य करेगी; ईश्वर के एक ऐसे एकाकी सत्ता के रूप में अस्तित्व में विश्वास, जो ऊपर कहीं विराजमान है और संसार पर शासन करता है, किसी काम का न होगा; क्योंकि तब हीनता का सुझाव आत्मा के सम्मुख बना रहेगा और अपना अशुभ प्रभाव उत्पन्न करता रहेगा। मनुष्य को ईश्वर तक भीतर से पहुँचना चाहिए, बाहर से नहीं।

ईश्वर के राज्य की यही वह धारणा है जिसका उपदेश यीशु ने दिया। ईसाई सामान्यतः उसे परलोक का विषय मानते हैं, जहाँ एक भौगोलिक स्वर्ग है जिसमें इस्राएल के ईश्वर की उपासना करनेवाले सब लोग न्याय के दिन, इस पृथ्वी के नष्ट हो जाने के पश्चात्, प्रविष्ट किए जाएँगे। यह स्वयं यीशु की प्रतिज्ञा से कहाँ तक मेल खाता है, यह उनके एक महान् वचन के सन्दर्भ से देखा जा सकता है:—

> **"धन्य हैं वे जो नम्र हैं, क्योंकि वे पृथ्वी के अधिकारी होंगे।" (मत्ती ५:५।)**

अब, यदि पृथ्वी को अन्तिम न्याय के दिन से पूर्व ही नष्ट हो जाना है, तो नम्र जन किसके अधिकारी होंगे? सत्य यह है कि ईश्वर के राज्य के मंगल को तथा उन आशीषों को समझने और अनुभव करने में असमर्थ रहने के कारण, जो अपने ईश्वरत्व में विश्वास मनुष्यों को यहीं और अभी प्रदान कर सकता है, मुक्तिदाता के वचन के अज्ञानी व्याख्याताओं ने उसकी पूर्ति को एक अदृश्य, भावी लोक पर आरोपित कर दिया; और अपने दम्भ में वे इस धारणा से और भी बल पा गए कि उस कुहासे-भरी भूमि से, कम-से-कम, वे सहज ही हटाए न जा सकेंगे।

मृत्यु के पश्चात्वाले प्रतिज्ञात स्वर्ग में भी हमारे भोग को बिगाड़नेवाला बहुत कुछ रहेगा, यदि हमें वहाँ अपने समस्त भावावेगों और भावनाओं के, तथा उस सब शेष के, साथ प्रवेश दिया जाना है जिसे हम अपना व्यक्तित्व कहते हैं। हममें से बहुत-से इतने संकीर्ण-चित्त और अहंकारी हैं कि वे अपनी अमरता का परित्याग करना अधिक स्वीकार करेंगे, बजाय इसके कि यह मानें कि 'नीग्रो' और अश्वेत लोगों की जितनी भी भीड़ कभी हुई है और कभी होगी, वह स्वर्ग में उनके साथ समानता के आधार पर उसमें भागी

होगी। और फिर भी, यदि वे उस धर्म को अपना लें जो स्वर्ग तक ले जाता है, तो 'नीग्रो' लोगों से बचने का कोई उपाय नहीं! यहीं यह स्पष्ट हो जाता है कि सुख अपनी वृद्धि के लिए किसी विशेष स्थान पर निर्भर नहीं करता, अपितु वह एक ऐसा पौधा है जिसकी जड़ें उन हृदयों की मिट्टी में हैं जो पवित्रता और प्रेम के भावों से भलीभाँति सिंचित और संस्कारित हों।

स्वर्ग का राज्य अनिवार्यतः भविष्य की कोई घटना नहीं है; वह पहले से ही हमारे भीतर है, क्योंकि यीशु हमें आश्वस्त करते हैं:—

> **"यदि मैं परमेश्वर की उँगली से दुष्टात्माओं को निकालता हूँ, तो निस्सन्देह परमेश्वर का राज्य आप के पास आ पहुँचा है।" (लूका ११:२०)।**

यह न्याय-दिवस के पश्चात् की समस्त भविष्य-सम्बन्धी धारणाओं के लिए घातक है। और न ये वचन—

> **"स्वर्ग का राज्य निकट [पहुँच के भीतर] है" (मत्ती ३:२);**

> **"व्यवस्था और भविष्यद्वक्ता यूहन्ना तक थे; उस समय से परमेश्वर के राज्य का सुसमाचार सुनाया जा रहा है, और हर कोई उसमें प्रवेश करने के लिए ज़ोर मारता है" (लूका १६:१६); तथा**

> **"यूहन्ना बपतिस्मा देनेवाले के दिनों से अब तक स्वर्ग का राज्य बल सहता आया है, और बलवान [अध्यवसायी] लोग उसे [इच्छा-शक्ति के] बल से छीन लेते हैं।" (मत्ती ११:१२);—**

—ही ईसाई धर्मशास्त्री द्वारा प्रतिपादित स्वर्ग-सम्बन्धी सिद्धान्त को किसी प्रकार का समर्थन देते हैं।

स्वर्ग को भोग का स्थान और नरक को दुःख तथा पीड़ा का स्थान माननेवाली धारणा कोई नई नहीं है; वह मानवता को उस प्राचीनतम काल से ज्ञात रही है जब मनुष्यों में सर्वप्रथम धर्म की स्थापना हुई। किन्तु यह कभी अभिप्रेत न था कि इनमें से किसी भी लोक में आत्मा का निवास शाश्वत हो, अथवा वह मृतकों के सार्वभौम न्याय-दिवस पर सामान्य उत्थान के पश्चात् हो। नरक की शाश्वतता का पर्याप्त खण्डन भजनकार तब कर देते हैं जब वे गाते हैं:

> **"आप मेरे प्राण को अधोलोक में न छोड़ेंगे।"—(भजन संहिता १६:१०);**

और शारीरिक पुनरुत्थान की धारणा को न प्रमाण का समर्थन प्राप्त है न तर्क का। निम्नलिखित अंश, जिसका सहारा सामान्यतः इस धारणा के समर्थन में लिया जाता है, यदि कुछ है तो उस मत के विरुद्ध ही है:

> "इसलिए यदि आपका हाथ या आपका पाँव आपके लिए ठोकर का कारण हो, तो उसे काटकर फेंक दीजिए; टुण्डे या लँगड़े होकर जीवन में प्रवेश करना आपके लिए इससे भला है कि दो हाथ या दो पाँव रहते हुए आप अनन्त आग में डाले जाएँ। और यदि आपकी आँख आपके लिए ठोकर का कारण हो, तो उसे निकालकर फेंक दीजिए; काना होकर जीवन में प्रवेश करना आपके लिए इससे भला है कि दो आँखें रहते हुए आप नरक की आग में डाले जाएँ" (मत्ती १८:८ और ९)।

इस महत्त्वपूर्ण अंश की व्याख्या के विषय में श्री बी. एफ. बैरेट (B. F. Barret) का कथन है ('लेक्चर्स ऑन न्यू डिस्पेन्सेशन' (Lectures on New Dispensation), पृ. २६०-२६१):—

> "कहा जाता है कि यहाँ समूचे शरीर के नरक में डाले जाने का उल्लेख है। किन्तु यदि हम इसे इसके शाब्दिक अर्थ में, अर्थात् भौतिक शरीर के अर्थ में, समझें, तो हमें दाहिनी आँख और दाहिने हाथ के विषय में जो कहा गया है उसे भी शाब्दिक रूप में ही समझना होगा। और क्या हमें यह मानना चाहिए कि सचमुच दाहिनी आँख निकाल देने अथवा दाहिना हाथ काट डालने से किसी का स्वर्ग में प्रवेश सुगम हो सकता है? और यह कि कुछ लोग वस्तुतः टुण्डे, लँगड़े और एक ही आँखवाले होकर स्वर्ग जाते हैं, जैसा कि मरकुस (९:४३, ४५, ४७) के समानान्तर अंश से प्रतीत होगा? क्योंकि यदि हम इस धर्मवचन की व्याख्या कठोरतापूर्वक शाब्दिक अर्थ में करें और समूचे शरीर से भौतिक शरीर समझें, तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। नहीं: समूचे शरीर का अर्थ है समूचा मनुष्य—वास्तविक, आध्यात्मिक मनुष्य। यहाँ जिस ठोकर खिलानेवाली आँख और हाथ का उल्लेख है, वे मानव-मन की कतिपय विकृत प्रवृत्तियों को सूचित करते हैं, जो समूचे मनुष्य पर शासन करती हैं। अतः जब तक ये प्रवृत्तियाँ त्यागी या वश में न की जाएँ (आँख निकालने और हाथ काटने का यही अभिप्राय है), तब तक समूचा मन, अर्थात् सम्पूर्ण और वास्तविक मनुष्य, अन्ततः नारकीय अवस्था में पहुँचा दिया जाता है। समूचे शरीर के नरक में डाले जाने का यही अभिप्राय है।"

> 'जीवन में प्रवेश करने' का अर्थ है अमरता प्राप्त करना, जिसके बिना स्वर्ग भी, चाहे वह अन्यथा कितना ही आकर्षक क्यों न हो, सदा के लिए इस धरती माता से थोड़ा ही अच्छा रहेगा, जिसकी सतह पर मानवता के भाग्य में वे सब क्लेश और दुःख बदे हैं। 'नरक' शब्द, अपने स्वीकृत अर्थ के अतिरिक्त, दुःख की एक अवस्था, मन की एक शोचनीय, दयनीय दशा, तथा मृत्यु और समाधि का भी

> **संकेत करता है। पाप ही आरम्भ हुआ नरक है। पूर्व में लोग सामान्यतः कहते हैं कि स्वर्ग और नरक दोनों इसी पृथ्वी पर हैं: अपने कर्मों के अनुसार मनुष्य इसी जीवन में, यहीं और अभी, इनमें से किसी एक में निवास करता है। बाइबिल में भी यह शब्द बारम्बार समाधि और मृत्यु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।**

विचाराधीन अंश का सच्चा अर्थ, जो स्वर्ग और नरक सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं के निराकरण के पश्चात् स्पष्ट हो जाता है, स्पष्टतः यह है कि आनन्दमय अमरता उनका पुरस्कार है जो मंगलमय धर्ममय जीवन जीते हैं, किन्तु दुःख और पीड़ा उनका जो दुष्ट हैं; और चूँकि वास्तविक 'स्व' शारीरिक, अर्थात् प्रतीयमान, मनुष्य नहीं है, अतः पूर्व के सुख को उत्तर की उन ठोकर खिलानेवाली आँखों और हाथों से बिगड़ने नहीं देना चाहिए, जिन्हें, यदि वे अन्य किसी प्रकार से नियन्त्रण और सुधार के वश में न आएँ, निकाल फेंकना या काट डालना चाहिए। अमरता को यहीं और अभी, इसी संसार में, आरम्भ होना चाहिए, यदि उसे पाना ही है; उसे किसी अनिश्चित और धुँधले भविष्य पर टाल देना, जिसकी धारणा में ही उसकी परिभाषा के भीतर एक से अधिक विरोधाभास निहित हैं, केवल प्रश्न को टालना है। विचाराधीन अंश में ऐसा कुछ भी नहीं जिससे यह सूझे कि काटा हुआ अंग कभी अपने शरीर को लौटा दिया जाएगा—जो स्वर्ग को भी ऐसा स्थान बना देगा जहाँ न केवल वह मिलेगा जो शुभ, प्रिय और सुन्दर है, अपितु वह भी जो कुरूप, विकलांग और लँगड़ा है।

जहाँ तक भोग की अनुभूति का प्रश्न है, कोई भौगोलिक स्वर्ग हमारी पृथ्वी की अपेक्षा केवल कम पीड़ा तथा अधिक और अधिक परिष्कृत सुख ही दे सकता है; किन्तु वस्तुतः सच्चे सुख का केन्द्र केवल सत्-चित्-आनन्द रूपी रत्न में, अर्थात् स्वयं आत्मा में ही है। यदि शारीरिक प्रवृत्तियाँ, अर्थात् रूपक रूप में शरीर के अंग, उसके प्राकट्य का विरोध करें, तो उन्हें हटा देना चाहिए। जहाँ सत्-चित्-आनन्द प्रकाशित है, वहाँ आनन्द है और 'जीवन में प्रवेश' है, अर्थात् 'स्वर्ग' है; जहाँ वे प्रकाशित नहीं, वहाँ अन्धकार और दुःख है, अर्थात् नरक है।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जब तक सुख मनुष्य का स्वभाव न हो, तब तक उसके लिए उसे शाश्वत रूप से भोगना असम्भव होगा, क्योंकि अन्यथा वह भौतिक संसार के भोगों की भाँति परिवर्तन के अधीन होगा। यीशु ने इसी विचार को व्यक्त किया जब उन्होंने कहाः—

> **"और कोई स्वर्ग पर नहीं चढ़ा, केवल वही जो स्वर्ग से उतरा, अर्थात् मनुष्य का पुत्र जो स्वर्ग में है" (यूहन्ना ३:१३)।**

किसी मानसिक भावावेग की कोई धारणा, और निश्चय ही उसकी कोई लालसा, किसी को तब तक नहीं हो सकती जब तक उसकी सिद्धि की सम्भावना न हो। आनन्द का भाव इस नियम का अपवाद नहीं है, और आत्मा की सुख के लिए निरन्तर बनी रहनेवाली उत्कण्ठा इस तथ्य की साक्षी देती है कि वह अपने लिए आनन्द को अनुभव करने और भोगने में समर्थ है। इस प्रकार मनुष्य की सुख की खोज किसी छिपी हुई वस्तु की खोज है, किसी नई वस्तु की नहीं। क्योंकि हम अपने-आपको मिथ्या विचारों और धारणाओं से कितना ही क्यों न छलें, हम अपनी वास्तविक, स्वाभाविक अन्तःप्रेरणाओं को संसार के क्षणभंगुर भोगों के मद में कितना ही क्यों न डुबा दें, ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो, जब कभी उसे गम्भीर चिन्तन के लिए अपने साथ एक क्षण मिल जाए, निर्मल आनन्द की तीव्र उत्कण्ठा न अनुभव करता हो। उसे शुद्ध आनन्द का यह विचार कहाँ से मिला, यदि अपने वास्तविक आनन्दमय 'स्व' के अन्तरतम कोषों से नहीं, जो पाप की अशुद्धियों के नीचे छिपा पड़ा है? यह अन्तर्वर्ती या वास्तविक मनुष्य ही है जिसे स्वर्ग में, अर्थात् मंगल और आनन्द की अवस्था में, स्थित कहा गया है। यदि हम इस प्रसंग में 'मनुष्य के पुत्र' पद को केवल यीशु पर ही लागू करें, तब भी हमें उसी निष्कर्ष पर पहुँचना होगा, क्योंकि वह शारीरिक यीशु की ओर संकेत नहीं करता, जो, हम जानते हैं, जिस समय उन्होंने यह महान् सत्य उच्चारित किया उस समय पवित्र भूमि में खड़े थे, स्वर्ग में नहीं। अतः इस दृष्टिकोण से भी हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, अर्थात् यह कि जिस समय शारीरिक या भौतिक यीशु इस संसार में थे, उसी समय वास्तविक यीशु निरन्तर आत्मा के स्वाभाविक मंगल को भोग रहे थे, अर्थात् रूपक भाषा में स्वर्ग में थे। 'उद्धार' शब्द ही इतना अर्थ रखता है। वह उस वस्तु पर से, जो हमारी अपनी है, भार का उतारा जाना है, किसी नई वस्तु का क्रय नहीं। बाइबिल के अनुसार मनुष्य को 'स्व' के ज्ञान और वस्तुओं के शुभ-अशुभ के ज्ञान के बीच चुनाव की स्वतन्त्रता दी गई थी, किन्तु दुर्भाग्य से उसने दूसरे का अनुसरण करना चुना, और उन परिणामों का तनिक भी विचार न किया जो उस मार्ग पर चलने से उत्पन्न होते हैं, यद्यपि उसे स्पष्ट शब्दों में इसके विरुद्ध चेतावनी दी गई थी। परिणाम यह हुआ कि वह आनन्द की अवस्था से गिर पड़ा, और साथ ही अपनी अमरता भी खो बैठा। किन्तु प्रकृति अब भी ये निधियाँ उसके लिए न्यास में रखे हुए है, और जिस क्षण वह उस मिथ्या मार्ग का अनुसरण छोड़ दे जो दुःख और मृत्यु की ओर ले जाता है, उसी क्षण उन्हें लौटा देने को उद्यत है। बाइबिल में 'उद्धार' का यही सच्चा अभिप्राय है।

यीशु शायद ही यह घोर भूल कर सकते थे कि एक ओर तो भावी ईश्वर-राज्य का उपदेश दें और साथ ही निरन्तर यह भी कहते रहें कि संसार उनका (ईश्वर का) पाद-पीठ है। क्या जो वस्तु पाद-पीठ है, वह उसके राज्य का अंग नहीं जिसका वह पाद-पीठ है? सन्त यूहन्ना का समूचा सुसमाचार ऐसे अंशों से भरा

है जो जीवन और मसीह के बीच अभेद स्थापित करते हैं। यीशु ने स्वयं इस मत का समर्थन ऐसे वचनों से किया:—

> **"मुझे उसे (जीवन को) त्यागने का अधिकार है, और उसे फिर ले लेने का भी अधिकार है" (यूहन्ना १०:१८)।**

> **"पुनरुत्थान और जीवन मैं ही हूँ" (यूहन्ना ११:२५)।**

> **"जो कोई जीवित है और मुझ पर विश्वास करता है, वह अनन्तकाल तक न मरेगा। क्या आप इस बात पर विश्वास करते हैं?"—(यूहन्ना ११:२६)।**

अब आइए, हम 'मुझ' के स्थान पर 'जीवन' रख दें, तब जो प्रतिज्ञा की गई है वह इस प्रकार पढ़ी जाएगी:—

> **"जो कोई जीवित है और जीवन पर विश्वास करता है, वह अनन्तकाल तक कभी न मरेगा।"**

हम यह पहले ही जान चुके हैं कि एकमात्र जीवन्त द्रव्य अथवा वस्तु आत्मा ही है, जो जीवन का स्रोत है। स्वयं यहोवा ने भी इतना ही कहा था, जब उसने घोषित किया:—

> **"कि आप अपने परमेश्वर यहोवा से प्रेम रखें, और उसकी वाणी मानें, और उससे लिपटे रहें; क्योंकि आपका जीवन वही है।" (व्यवस्थाविवरण २०:२०)।**

यह भीतर विराजमान सत्-चित्-आनन्द के अस्तित्व में विश्वास ही है, जो इसी पृथ्वी को स्वर्ग में परिणत कर देगा; क्योंकि यहोवा यह आदेश देता है:—

> **"मैं आज आकाश और पृथ्वी दोनों को आपके विरुद्ध इस बात का साक्षी बनाता हूँ, कि मैंने जीवन और मरण, आशीष और शाप को आपके सामने रख दिया है; इसलिए आप जीवन ही को चुन लें, जिससे आप और आपका वंश दोनों जीवित रहें" (व्यवस्थाविवरण ३०:१९)।**

यहाँ चुनाव स्पष्ट रूप से 'जीवन' और 'मृत्यु' के बीच में है; और इसका अभिप्राय उसी क्षण प्रकट हो जाता है जब हम इस वचन को समझ लेते हैं: 'क्योंकि जिस दिन आप उसका फल खाएँगे, उसी दिन अवश्य मर जाएँगे' (उत्पत्ति २:१७)। आत्मा स्वभाव से ही आनन्दमय और अमर है; किन्तु जब वह अपने

आपको अपने शरीर के साथ, जो नाशवान् है, पूर्णतया एकाकार कर लेती है, तब यह अनिवार्य है कि वह शरीर के विघटन को अपनी ही मृत्यु समझे।

अब, चूँकि वस्तुओं के भले और बुरे का ज्ञान केवल उनके प्रभाव को अपने ही शरीर पर देखकर सम्भव होता है, अतः इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति यही होती है कि आत्मा की हानि करके शरीर को 'लाड़-प्यार' से पाला जाए। इसी कारण, जो व्यक्ति स्वयं को इन्द्रिय-भोग के हवाले कर देता है, उसे अवश्य ही शरीर की मृत्यु को अपनी मृत्यु मानना पड़ता है, और इसी अर्थ में उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह मरता है। तब स्पष्ट है कि जो अपने आपको अमर आत्मा जानता है, वही मृतकों में से पुनरुत्थान प्राप्त करता है।

इस प्रकार, उद्धार के सच्चे अर्थ का उस कल्पना से कोई सम्बन्ध नहीं है, जिसके अनुसार किसी भावी सार्वभौम न्याय-दिवस पर मृतक उठ खड़े होंगे।

मनुष्य-जाति इतनी व्याकुलता से पुनरुत्थान की धारणा से क्यों चिपटी रहती है, इसका कारण यह है कि—

> **"अमरत्ववाद के लिए सर्वोत्तम और सर्वाधिक प्रतीतिकर आधार उस आशा में मिलता है कि अमरता हमें उन प्रिय मित्रों से पुनः मिला देगी, जिन्हें किसी क्रूर दुर्घटना ने असमय ही हमसे छीन लिया था। किन्तु निकट से जाँचने पर यह कल्पित सौभाग्य भी एक भ्रम ही सिद्ध होता है; और किसी भी दशा में यह उन कम रुचिकर परिचितों तथा उन शत्रुओं से भेंट होने की सम्भावना से बिगड़ जाएगा, जिन्होंने यहाँ नीचे हमारे जीवन को कष्ट दिया था। यहाँ तक कि निकटतम पारिवारिक सम्बन्ध भी अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देंगे। ऐसे पुरुषों की कमी नहीं जो स्वर्ग के समस्त वैभव को सहर्ष त्याग देंगे, यदि उसका अर्थ अपनी 'अर्धांगिनी' तथा सास के साथ शाश्वत सहवास हो। यह अत्यन्त सन्देहास्पद है कि हेनरी अष्टम (Henry VIII) को अपनी छहों पत्नियों के साथ अनन्तकाल तक रहने की सम्भावना रुचिकर लगेगी; अथवा पोलैंड के ऑगस्टस दि स्ट्रॉन्ग (Augustus, the Strong) को, जिसकी सौ रखैलें और तीन सौ बावन सन्तानें थीं।" —(हेकल)।**

अमरत्ववाद आत्मा से आखिर पा क्या सकता है, यदि वह अपने सांसारिक व्यक्तित्व को बनाए न रखे; क्योंकि उसकी दृष्टि में भौतिक व्यक्तित्व से रहित समस्त अवस्थाएँ सर्वनाश के ही तुल्य होंगी? और फिर भी, दुष्कर्मों तथा कुत्सित आचरणों से जन्मा हुआ व्यक्तित्व किसी भी प्रकार सुरक्षित रखने योग्य वस्तु नहीं माना जा सकता। यह कहने का साहस भी कठिनाई से ही किया जा सकता है कि समस्त अशुभ

प्रवृत्तियाँ मिटा दी जाएँगी और पुनरुत्थान में अहं के साथ केवल भौतिक जीवन के सुखद और रुचिकर चिह्न ही चिपके रह जाएँगे। और यदि ऐसा ही हो, तो दो में से एक बात अवश्य होगी—या तो उस व्यक्ति के लिए स्वर्ग स्वयं नरक बन जाएगा, अथवा उसे बाहर निकाल दिया जाएगा कि वह कहीं अन्यत्र उन दुःखद अनुभवों और संवेदनाओं को भोगे, जो बुरे विचारों और प्रवृत्तियों से उत्पन्न होती हैं। इसी सन्दर्भ में जिज्ञासु मन में एक और प्रश्न उठता है, और वह यह है: व्यक्ति किस विकास-अवस्था में 'उठ खड़े' होंगे और अपना अनन्त जीवन बिताएँगे? क्या उस दूसरे लोक में भी विकास की वैसी ही विविधताएँ होंगी जैसी यहाँ हैं? क्या गोद का शिशु अपनी सुप्त मानसिक शक्तियों को कभी विकसित न कर सकेगा? क्या वह दुर्बल, बालबुद्धि वृद्ध, जिसने अपनी परिपक्व अवस्था में अपने कार्यों की कीर्ति से संसार को भर दिया था, सदा के लिए मानसिक जड़ता में ही जीवित रहेगा? किन्तु ईश्वरवादी के पास इन तथा ऐसे ही अन्य प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है।

अनन्त दण्ड अथवा अनन्त पुरस्कार की धारणा का यदि विश्लेषण किया जाए, तो वह समस्त सिद्धान्त को एक प्रहसन बना देगी। सर्वप्रथम तो, ईश्वर के लिए यह कठिन होगा कि वह समस्त मानवता को दो वर्गों में—एक स्वर्ग के लिए और दूसरा नरक के लिए—इस प्रकार बाँटे कि कहीं भी मनोमालिन्य और असन्तोष उत्पन्न न हो। क्योंकि मनुष्य अपने स्वभाव, वासनाओं, भावनाओं, सद्गुणों अथवा पापों की दृष्टि से एक-से नहीं होते। इस रंग-बिरंगी मानवता को, पुरस्कार अथवा दण्ड के स्वरूप और अवधि में मात्रा-भेद किए बिना, दो ही वर्गों में समेट देने के लिए एक ऐसी समीकरण-प्रक्रिया अपेक्षित होगी जिसे मानव-बुद्धि स्वीकार करने से इनकार कर देती है। और यदि यह कल्पना की जाए कि उस दूसरे लोक में पुरस्कार और दण्ड में तथा उनकी अवधि में भेद और मात्राएँ होंगी, तो हमारे सामने अपने ही संसार-जैसा दृश्य उपस्थित हो जाएगा, और इसलिए स्वर्ग में भी दुःख अज्ञात न रहेगा। स्वर्ग में भी सबसे कम अनुगृहीत को कम अनुगृहीत से, और उसे अपनी बारी में सर्वाधिक अनुगृहीत से ईर्ष्या करने का अवसर मिलेगा। यदि न्याय-दिवस पर पुरस्कार अथवा दण्ड के वितरण और समायोजन की यही विधि है, तो हमारे संसार में स्वर्ग और नरक पर्याप्त मात्रा में पहले से ही विद्यमान हैं, और जैसा भौतिकवादी कहता है, यह संसार तिरस्कार के योग्य नहीं है; क्योंकि यहाँ तो कब्र पार्थिव जीवन के दुःख और दुर्दशा का, आज नहीं तो कल, अन्त कर देती है।

दूसरे स्थान पर, न्याय की माँग यह है कि दण्ड का विभाजन पाप की मात्रा के अनुसार हो, जिससे जिन्होंने थोड़े पाप किए हैं उन्हें वही दण्ड न भोगना पड़े जो उन्हें भोगना है जिन्होंने आजीवन पाप ही किए हैं। किन्तु रूढ़िगत विश्वास इस बात की सर्वथा उपेक्षा कर देता है, और बिना भेद-भाव के समस्त पापियों

को, उनके पापों की संख्या और स्वरूप का ध्यान किए बिना, एक ही नरक में अनन्त दण्ड के लिए अभिशप्त कर देता है। किन्तु यह स्पष्ट रूप से असंगत है।

तीसरे स्थान पर, भूल करने वाली मानवता को प्रायश्चित्त का अवसर देने से वंचित करना और उसे उसके पापों के स्वरूप तथा परिणामों से सर्वथा अनुपात-रहित अनन्त यातना के जीवन के लिए अभिशप्त कर देना, नरक के राजा के स्वभाव के अनुकूल भले ही हो; किन्तु वह उस स्वर्गीय पिता की दया और गरिमा के—न्याय की तो बात ही छोड़ दीजिए—सर्वथा प्रतिकूल है, जैसा कि न्याय-दिवस के ईश्वर को कहा जाता है।

जो लोग यह आशा बड़े प्रेम से पालते रहे हैं कि वे स्वर्ग की प्रतिज्ञात भूमि में अपनी पत्नियों, सन्तानों और मित्रों से पुनः मिलेंगे, वे स्वयं अपने धर्म के प्रवर्तक जैसे महान् प्रमाण द्वारा ही अपने पैरों के नीचे से भूमि खिसकती हुई पाएँगे। सदूकियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने पुनरुत्थान के विषय में (लूका २०:२७; मरकुस १२:१८) उस काल्पनिक स्त्री के प्रसंग में जिसने इस पृथ्वी पर क्रमशः कई भाइयों से विवाह किया था, जो कुछ कहा, वह ऐसे समस्त विश्वासों का सिर कुचल देने के लिए पर्याप्त निश्चित है। उन्होंने तब यह कहा था:—

> **"इस युग की सन्तानें ब्याह करती हैं और ब्याह में दी जाती हैं; परन्तु जो इस योग्य ठहरेंगे कि उस युग को और मरे हुओं में से जी उठने को प्राप्त करें, वे न तो ब्याह करेंगे और न ब्याह में दिए जाएँगे; और वे फिर मर भी नहीं सकते, क्योंकि वे स्वर्गदूतों के समान हैं, और पुनरुत्थान की सन्तान होने के कारण परमेश्वर की सन्तान हैं। और इस विषय में कि मुर्दे जी उठते हैं, क्या आपने मूसा की पुस्तक में झाड़ी की कथा में नहीं पढ़ा, कि परमेश्वर ने उससे कहा, मैं अब्राहम का परमेश्वर, और इसहाक का परमेश्वर, और याकूब का परमेश्वर हूँ? वह मुर्दों का नहीं, वरन् जीवितों का परमेश्वर है: इसलिए आप बड़ी भूल में पड़े हैं।"**

इस वचन में हमें पुनरुत्थान में विश्वास का न केवल कोई चिह्न नहीं मिलता, वरन् इसके विपरीत ऐसी समस्त धारणाओं का सीधा खण्डन मिलता है। पुनरुत्थान का सिद्धान्त यहूदियों के लिए अज्ञात न था, और फरीसी तो वस्तुतः उसमें विश्वास करते ही थे। उनसे भी पहले वह मिस्रवासियों को भलीभाँति ज्ञात था (देखिए 'बुक ऑफ़ द डेड' — Book of the Dead), जिन्होंने सम्भवतः उसे पारसियों से लिया था। किन्तु न्याय-दिवस के स्वामी का मूल रूप हिन्दू पुराण-कथा के यमराज नामक देवता में मिलता है,

जो प्राणियों की मृत्यु पर उनके पुण्य और पाप को तौलता है और तदनुसार उनका निपटारा करता है। ये महाशय, अर्थात् यमराज देवता, न्याय के मूर्तरूप हैं, इस अर्थ में कि वे दण्ड और पुरस्कार के निर्णय के सम्बन्ध में आत्माओं के तथा कर्म* के तत्सम्बन्धी पुण्य और पाप का न्याय करते हैं।

*वह प्रतिभाशाली हिन्दू काव्य-प्रतिभा, जिसकी हम यम के भव्य चरित्र के लिए—अर्थात् न्याय के, कहिए कि उस प्राकृतिक नियम के मूर्तरूप के लिए, जिससे अधिक अचूक और कुछ नहीं हो सकता—ऋणी हैं, उसी ने हमें उनकी जुड़वाँ बहिन यमी का भी उतना ही रोचक व्यक्तित्व दिया है, जो उनसे विवाह के लिए अपना हाथ स्वीकार करने की प्रार्थना करती है, किन्तु धर्ममय क्षोभ के साथ अस्वीकार कर दी जाती है। वह कर्म-फल की मूर्तरूपा है, जो कर्म से भिन्न है—कर्म, जिसे अमूर्त रूप में प्राणियों के कार्यों में अन्तर्निहित कारणता के सिद्धान्त के रूप में समझा जाता है। अब, चूँकि कर्म-फल का वास्तविक अर्थ आत्मा की अवस्था का परिवर्तन है, अतः उसे आत्मा से पृथक् नहीं सोचा जा सकता, अर्थात् वह मनुष्यों और अन्य प्राणियों के कार्यों में निवास करता हुआ नहीं माना जा सकता, यद्यपि वह कर्म के सम्बन्ध के बिना कभी अस्तित्व में आ भी नहीं सकता। इस प्रकार, कर्म और कर्म-फल के बीच का सम्बन्ध इससे अधिक घनिष्ठ नहीं है कि वे दोनों एक ही साथ उत्पन्न होते हैं। इसीलिए यम यमी के जुड़वाँ भाई हैं, पति नहीं। फिर, चूँकि कर्म और कर्म-फल आत्मा द्वारा तभी उत्पन्न होते हैं जब वह अशुद्धि की अवस्था में हो, और कभी नहीं जब अशुद्धि दूर हो जाए, अतः उन्हें सूर्य (सर्वज्ञता का प्रतीक, अतः शुद्ध चेतन) और सरण्यू (अशुद्धि, माया अथवा पदार्थ) की सन्तान कहा गया है—उस समय की, जब वह सूर्य के अत्यधिक तेज के कारण उससे भागने को विवश न हुई थी।

किसी निश्चित दिन, विश्व-चक्र के अन्त में, मृतकों के सामान्य रूप से उठ खड़े होने की धारणा, तथापि, इन प्राचीन मतों में से किसी में भी कभी अभिप्रेत न थी; यद्यपि बहिरंग उपदेश के कुछ वचन ऐसे हैं जिनसे, यदि उन्हें उनके कठोर अर्थ से मरोड़कर पाठक की सनक के अनुरूप बना दिया जाए, तो वह अर्थ निकल सकता है। अभिप्राय यह था कि ज्यों-ज्यों प्रत्येक व्यक्ति मरता गया, त्यों-त्यों उसका भविष्य कर्म के नियम के—जिसे मृत्यु के स्वामी के रूप में मूर्त किया गया—व्यापार द्वारा निर्धारित होता गया, और वह अपने द्वारा उपजाए गए भावों के अनुसार अपने निवास के लिए सर्वाधिक उपयुक्त क्षेत्र में भेज दिया गया। किसी विशेष क्षेत्र में आत्मा का निवास उसके उन कर्मों के स्वरूप पर निर्भर था, जो प्रवृत्तियों अथवा सूक्ष्म प्रकार के बलों के रूप में संचित रहते हैं; अतः जब वह विशेष प्रवृत्ति, जिसने उसके लिए किसी विशेष क्षेत्र में निवास सुरक्षित किया था, क्षीण हो जाती और दूसरी, जो अब तक सुप्त पड़ी थी, सक्रिय हो उठती, तब वह अपने विकास अथवा वृद्धि के लिए उपयुक्त अन्य क्षेत्रों में भेजे जाने की अधिकारिणी हो जाती। शाश्वत दण्ड अथवा पुरस्कार का विचार सर्वथा असम्भव था, केवल निर्वाण की दशा को छोड़कर;

क्योंकि उसका अर्थ था व्यक्तित्व के समस्त चिह्नों का स्वयं सत्ता की आनन्दमयता में विलय। आत्मा के मरणोत्तर अनुभवों की पौराणिक व्याख्या ऐसी थी। सदूकियों ने, तथापि, उसे उसी अर्थ में समझा जिस अर्थ में हेकल उस पर इतने आवेश के साथ प्रहार करता है, और उसे उस अर्थ में अयुक्तिसंगत पाकर उन्होंने उसे सर्वथा अस्वीकार कर दिया। यीशु की बुद्धि की परीक्षा लेने आकर उन्होंने सात क्रमिक पतियों वाली स्त्री की समस्या प्रस्तुत की, जो सम्भवतः पुनरुत्थान में उसके लोकप्रिय अर्थ में विश्वास करने वालों के विरुद्ध एक प्रिय और परखा हुआ 'अस्त्र' थी। यीशु अपने उत्तर में उन दोनों प्रश्नों से निपटते हैं जो उस प्रस्ताव में निहित थे, अर्थात् (१) पुनरुत्थान का अभिप्राय, और (२) ईश्वर-पुत्रों के लोक में वैवाहिक संस्था की सम्भावना। दूसरे बिन्दु को पहले लेते हुए उन्होंने घोषित किया कि उस क्षेत्र में विवाह अज्ञात है; क्योंकि जो लोग उस लोक को और मृतकों में से पुनरुत्थान को प्राप्त करने के योग्य समझे जाते हैं, वे अपनी ही योग्यता से स्वर्गदूतों अथवा ईश्वर-पुत्रों के समान हो जाते हैं [जिनमें लैंगिक क्रिया का अभाव ही उल्लेखनीय है]। अतः पति और पत्नी का वैवाहिक सम्बन्ध उन उच्चतर क्षेत्रों में सम्भव न था। यीशु के शब्द अत्यन्त अर्थपूर्ण हैं; क्योंकि इनसे प्रतीत होता है कि जिस पुनरुत्थान की वे बात कर रहे थे, वह सबके लिए बिना भेद-भाव के खुला हुआ न था, वरन् केवल उन्हीं तक सीमित था जो उसे प्राप्त करने के योग्य समझे गए। यह लोकप्रिय विश्वास नहीं है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति योग्यता का विचार किए बिना न्याय-दिवस पर उठ खड़ा किया जाएगा। अतः यह स्पष्ट है कि मसीह का अभिप्राय मृतकों के किसी सामान्य† उत्थान-जैसी बात से न था, वरन् उससे सर्वथा भिन्न किसी बात से था।

†सार्वभौम न्याय-दिवस पर मृतकों के सामान्य रूप से उठ खड़े होने की धारणा का खण्डन उस 'कर्मों' के सिद्धान्त से भी होता है जो इस प्रसिद्ध वचन में उपदिष्ट है:—

> **"और देखिए, कितने पिछले हैं जो प्रथम होंगे, और कितने प्रथम हैं जो पिछले होंगे" (लूका १३:३०)।**

क्योंकि यदि पुरस्कारों का वितरण एक ही दिन होना है, तो यह कहना कि प्रथम पिछले होंगे और पिछले प्रथम, शब्दों का दुरुपयोग करने के लगभग बराबर है। प्रयुक्त शब्दों का सीधा अर्थ केवल हमारी ही व्याख्या के अनुरूप है, और यह सूचित करता है कि साधकों में से जो अधिक परिश्रमी हैं, वे समय की दृष्टि में अपने उन अनेक कम परिश्रमी भाइयों से आगे निकल जाएँगे जिन्होंने सम्भवतः उनसे बहुत पहले ही मार्ग पर पग रखा था। इस प्रकार, जिन्होंने अन्त में आरम्भ किया उनमें से अनेक प्रथम होंगे, और जिन्होंने प्रथम आरम्भ किया उनमें से अनेक पिछले।

यीशु सर्वथा असंदिग्ध शब्दों में इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि पुनरुत्थान के लोक में लैंगिक क्रिया का कोई स्थान नहीं। लोग स्वर्गदूतों अथवा परमप्रधान के पुत्रों के रूप में 'उठ खड़े' होते हैं, जिन्हें सब कोई लिंग-रहित मानते हैं। लैंगिक प्राणियों का लिंग-रहित स्वर्गदूतों अथवा ईश्वर-पुत्रों में रूपान्तरण कैसे और कब होता है, इसका उत्तर लोकप्रिय धर्मशास्त्र नहीं दे सकता; और यदि सर्वशक्तिमान् की शक्ति की दुहाई देकर उसका उत्तर देना सम्भव भी हो, तो भी यह कठिन होगा कि उसके द्वारा मृतकों के उठे हुए शरीरों को लिंग-रहित बनाने का, अथवा स्वर्गदूतों या ईश्वर-पुत्रों के समूह को उनमें बाँट देने का कोई कारण खोजा जा सके जिन्हें स्वर्गों को बसाना है और उनमें जिन्हें नरक के निवासी बनना है। क्या यह अब स्पष्ट नहीं कि पुनरुत्थान के सच्चे अर्थ की अपनी धारणाओं में हम बड़ी भूल कर रहे हैं? यदि हम किसी भावी दिन, विश्व-चक्र के अन्त में, सार्वभौम शारीरिक पुनरुत्थान की धारणा को त्याग दें, तो सारी बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। आत्मा स्वभाव से लिंग-रहित है, किन्तु वह अपनी रुचियों और प्रवृत्तियों के अनुसार लिंग-अंगों से युक्त स्थूल पदार्थ के शरीर धारण करती है; अतः जब पुरुष-तत्त्व की प्रधानता होती है, तब शरीर पुरुष-लिंग विकसित करता है, और इसके विपरीत भी। इसीलिए पुनर्जन्मवादी यह विश्वास करते हैं कि वही आत्मा भिन्न-भिन्न जन्मों में भिन्न लिंग के साथ प्रकट होती है—कभी पुरुष-शरीर में, कभी स्त्री-शरीर में, और कभी नपुंसक लिंग की भी। अतः जो लोग मृतकों के पुनरुत्थान को प्राप्त करने के योग्य समझे जाते हैं, अर्थात् जो जन्म और मरण के चक्र से बाहर निकल जाते हैं, वे आत्मा की लिंग-रहितता के परिणामस्वरूप लिंग-रहित हो जाते हैं। तब पुनरुत्थान को उस अर्थ से भिन्न अर्थ में समझना चाहिए जो रूढ़िगत मत उसे देता है। चूँकि वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए बिना भेद-भाव के खुला नहीं है, वरन् केवल उन्हीं के द्वारा प्राप्य है जो उसके योग्य समझे जाते हैं, और इसलिए भी कि वह योग्य जनों को स्वर्गदूतों अथवा ईश्वर-पुत्रों के समान उठ खड़े होने में समर्थ बनाता है, अतः वह स्वयं मृत्यु पर विजय है, न कि पदार्थ के स्थूल शरीर का पुनरुत्थान। अतः जो अपने ही पुण्य के बल पर मृत्यु से ऊपर उठने में समर्थ हैं, केवल वे ही आनन्द-भूमि में प्रवेश पाने के अधिकारी हैं। किन्तु यह तो पुनः वही प्राचीन भारतीय पुनर्जन्म का सिद्धान्त है!

जहाँ तक दूसरे बिन्दु का, अर्थात् सामान्य पुनरुत्थान की सम्भावना का प्रश्न है, जिसके विषय में यीशु ने कहा—

> **"और इस विषय में कि मुर्दे जी उठते हैं; क्या आपने मूसा की पुस्तक में नहीं पढ़ा, कि परमेश्वर ने झाड़ी में से उससे कहाः मैं अब्राहम का परमेश्वर, और इसहाक का परमेश्वर, और याकूब का परमेश्वर हूँ? वह मुर्दों का नहीं, वरन् जीवितों का परमेश्वर है: इसलिए आप बड़ी भूल में पड़े हैं"—**

क्या यह भी स्पष्ट नहीं कि उन्होंने सदूकियों के विश्वास का किसी भी प्रकार समर्थन नहीं किया? यदि उनके शब्दों में कोई गहरा अर्थ न होता, तो इस अत्यन्त रहस्यमय और अस्पष्ट भाषा की, और अन्त में उस सर्वथा असंगत-सी उक्ति की, "इसलिए आप बड़ी भूल में पड़े हैं," क्या आवश्यकता थी? क्या उनका अभिप्राय स्पष्ट रूप से यह नहीं है कि ईश्वर, मृतकों का ईश्वर न होने के कारण [अर्थात् दिव्यता उस आत्मा का गुण है जो स्वभाव से अमर है], उन कुलपतियों का ईश्वर—अर्थात् उनके हृदयों में निवास करने वाला—नहीं माना जा सकता, जो उनके प्रश्नकर्ताओं के विश्वास के अनुसार मर चुके थे और अब न रहे थे? दूसरे शब्दों में, उन्होंने जिस बात का संकेत किया वह यह थी कि वे पूज्य कुलपति, जिनकी सौगन्ध यहूदी खाते थे, पदार्थ के मायावी रूप थे जो युगों पूर्व ही समाप्त हो चुके थे और जिन्हें स्वर्ग में अथवा मरणोत्तर लोक के किसी अन्य सुखद या दुःखद भाग में अब भी जीवित नहीं माना जा सकता।

यह ध्यान देने योग्य है कि बल, प्रथम दृष्टि में, कुलपतियों की मृत्यु पर है, न कि जीवन्त तत्त्व पर। इसके अतिरिक्त, पुनरुत्थान की उस सामान्य धारणा के अनुसार, जिसे किसी भावी दिन, संसार के अन्त में, घटित होना है, दिवंगत कुलपति अभी तक मृतकों में से उठ नहीं सकते। और फिर भी लूका बिना किसी हिचक के, प्रश्नगत वचन के अन्त में, सबसे अधिक प्रासंगिक शब्द जोड़ देता है—"क्योंकि उसके लिए सब जीवित हैं,"—जिससे अन्तिम वाक्य इस प्रकार पढ़ा जाता है:

> **"क्योंकि वह मुर्दों का परमेश्वर नहीं, वरन् जीवितों का है: क्योंकि उसके लिए सब जीवित हैं।" — (लूका २०:३८)।**

इसका उसका अभिप्राय इसके अतिरिक्त और क्या है कि कुलपतियों की आत्माएँ, यद्यपि अपने पुराने शरीरों में नहीं, तथापि विश्व में अब भी जीवित हैं? यदि ऐसा है, तो वे केवल स्वर्ग-लोक में अथवा हमारे ही लोक में जीवित रह सकती हैं; और प्रथम दशा में या तो पहले ही पुनरुत्थान पा चुकने के रूप में, अथवा आत्मा-विषयक भारतीय मरणोत्तर-शास्त्र के अर्थ में। किन्तु चूँकि पुनरुत्थान अभी हुआ ही नहीं और वह भविष्य की बात है, अतः वे ईसाई अर्थ में मृतकों में से उठ नहीं सकते थे। इसलिए उन्हें या तो इस संसार में पुनर्जन्म लेने से पूर्व इस समय स्वर्ग के निवासियों के रूप में आनन्द भोगते होना चाहिए, अथवा वे हमारे इस गोले पर रक्त-मांस में पहले ही पुनर्जन्म ले चुके होंगे। निर्वाण की एकमात्र दूसरी परिकल्पना पर विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि कोई भी उनके लिए उस विशेषाधिकार का दावा नहीं करता; यद्यपि, जहाँ तक हमें विपरीत का ज्ञान नहीं, हो सकता है कि उन्होंने उसे पहले ही प्राप्त कर लिया हो।

आइए, हम परमप्रधान के मृतकों का ईश्वर होने से इनकार पर कुछ और देर ठहरें। यह किसी भी प्रकार बाइबिल का एकमात्र वचन नहीं है जहाँ जीवन्त ईश्वर मृतकों से अपना सम्बन्ध अस्वीकार करता है। वह पूछता है (जकर्याह १:५):

> **"आपके पुरखा कहाँ हैं? और भविष्यद्वक्ता, क्या वे सदा जीवित रहते हैं?"**

यीशु ने भी कहा:—

> **"जैसे जीवते पिता ने मुझे भेजा और मैं पिता के कारण जीवित हूँ, वैसे ही जो मुझे खाएगा वह भी मेरे कारण जीवित रहेगा। यह वही रोटी है जो स्वर्ग से उतरी। जैसे आपके पुरखा मन्ना खाकर मर गए, वैसे यह नहीं: जो कोई यह रोटी खाएगा वह सर्वदा जीवित रहेगा।" —(यूहन्ना ७:५७ और ५८)।**

हमारे प्रयोजन के लिए एक और उदाहरण पर्याप्त होगा, यद्यपि स्वयं पवित्र बाइबिल में से चाहे जितने उदाहरण दिखाए जा सकते हैं:

> **"और मैं उसके (बाबुल के) हाकिमों को, और उसके पण्डितों को, उसके सेनापतियों को, उसके शासकों को, और उसके शूरवीरों को मतवाला कर दूँगा; और वे सदा की नींद सो जाएँगे और फिर न जागेंगे, उस राजा की यही वाणी है जिसका नाम सेनाओं का यहोवा है।" —(यिर्मयाह ५१:५७)।**

बाबुल सम्भवतः व्यापक अर्थ में संसार का प्रतीक है; किन्तु यदि हम उसे उसके संकुचित अर्थ में भी पढ़ें, तो भी यिर्मयाह का उपर्युक्त वचन असंदिग्ध रूप से लोकप्रिय अर्थ में पुनरुत्थान की असम्भवता की ओर संकेत करता है। और फिर भी लूका कहता है कि सब ईश्वर के लिए जीवित हैं, और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन परस्पर विरोधी दृष्टियों का समन्वय कहाँ है, यह प्रश्न भी ऐसा है जिसका उत्तर रूढ़िगत धर्मशास्त्र फिर नहीं दे सकता। किन्तु यदि हम पुनरुत्थान के सिद्धान्त के विषय में लोकप्रिय धारणाओं को त्याग दें, तो 'पिता' और 'पुत्र' दोनों की इन आपाततः विरोधी उक्तियों में निहित सत्य तक पहुँचना सरल है। आइए, आरम्भ करने के लिए हम प्रतिज्ञप्तियों को क्रमशः रख लें। हमें ये मिलती हैं:

(१) सब ईश्वर में जीवित हैं, जो जीवितों का ईश्वर है, मृतकों का नहीं।

(२) कुलपति मर चुके हैं।

(३) कुछ लोग सदा की नींद से नहीं जागते, और

(४) कुछ, जो पुनरुत्थान के योग्य समझे जाते हैं, ईश्वर-पुत्र हो जाते हैं और फिर मर नहीं सकते।

अब, इनमें से प्रथम प्रतिज्ञप्ति के विषय में यह देखना सरल है कि मृत्यु किसी भी अर्थ में सर्वथा उच्छेद को सूचित नहीं करती; क्योंकि प्रकृति के द्रव्य अपने ही स्वभाव से टिके रहते हैं, और उन्हें विनाश के अधीन कदापि नहीं सोचा जा सकता। इसी कारण आत्मा और पदार्थ के परमाणु दोनों अविनाशी हैं। अतः मृत्यु का विचार केवल उन शरीरों अथवा जीवधारी संगठनों पर लागू होता है, जो आत्मा की उपस्थिति से कुछ काल के लिए संयुक्त रखे जाते हैं और उसके चले जाने पर विघटित तथा छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। इसलिए, जहाँ तक मृत्यु का अर्थ उसका लोप है जो था और अब नहीं है, वहाँ तक उसका अर्थ केवल इतना ही है कि आत्मा उस पदार्थ-शरीर से निकल गई जिसमें वह बसी हुई थी। अतः वे कुलपति, जो थे और अब नहीं हैं, जहाँ तक उनके वैयक्तिक रूपों का प्रश्न है, मृत हैं; यद्यपि उनकी आत्माएँ, नाशवान् न होने के कारण, किसी न किसी रूप में अब भी जीवित हैं। सीधी भाषा में, कुलपति मर चुके हैं और अब्राहम, इसहाक, याकूब आदि के रूप में अब जीवित नहीं हैं; किन्तु उनकी आत्माएँ किसी न किसी रूप में विश्व में अब भी विद्यमान हैं।

जहाँ तक प्रतिज्ञप्ति के उत्तरार्ध का, अर्थात् इस बात का प्रश्न है कि ईश्वर मृतकों का ईश्वर नहीं है, उसका शाब्दिक अर्थ लेना असम्भव है; क्योंकि वक्ता का अभिप्राय निश्चय ही यह नहीं हो सकता था कि उसका ईश्वर किसी भक्त को उसके मरते ही अस्वीकार कर देने का अभ्यस्त है। उसका वास्तविक अर्थ यह है कि ईश्वरत्व, आत्मा के—जो स्वभाव से अमर और आनन्दमय है, अतः अमरता और आनन्द का सार ही है—सम्भावित गुणों की अभिव्यक्ति में पूर्णता होने के कारण, कभी उसका गुण नहीं हो सकता जो स्वभावतः नाशवान् है। इसलिए वह सब जो मृत्यु से लक्षित है, अर्थात् मृतकों के वैयक्तिक रूप, ईश्वर नहीं है; और विपरीत क्रम से, ईश्वरत्व मृतकों का लक्षण नहीं है, अतः ईश्वर मृतकों का ईश्वर नहीं—और इस पद में यहूदी कुलपति निश्चय ही सम्मिलित हैं।

तीसरी और चौथी प्रतिज्ञप्तियों के विषय में इतना बताना पर्याप्त है कि मानव-आत्मा के सम्बन्ध में मृत्यु की धारणा का क्या महत्त्व है। भौतिक शरीर के साथ, जिससे वह न्यूनाधिक पूर्णतया अपना तादात्म्य कर लेती है—जो 'मैं बूढ़ा हूँ,' 'मैं मर रहा हूँ,' आदि उक्तियों से प्रकट है—संसर्ग में रहकर आत्मा शरीर की अवस्थाओं को अपने ऊपर इस प्रकार आरोपित कर लेती है मानो दोनों में पूर्ण तादात्म्य हो। वस्तुतः आत्मा को, अमर और अविनाशी तथा क्षय और जरा से मुक्त होने के कारण, यह नहीं सोचना चाहिए कि 'मैं बूढ़ा हूँ,' आदि, वरन् यह कि 'मेरा शरीर बूढ़ा है,' इत्यादि। किन्तु कल्पना की शक्ति इतनी प्रबल है और उस 'पतन' के परिणाम इतने दूरगामी हैं कि मनुष्य-जाति का कहीं अधिक बड़ा भाग अपने आपको

शरीर से भिन्न कुछ और विरले ही समझता है। जब आत्मा अपने और अपने शरीर के बीच तादात्म्य के भ्रम से ग्रस्त हो जाती है, तब यह अनिवार्य है कि वह शरीर की मृत्यु की अपनी ही मृत्यु के रूप में कल्पना करे। अतः जब मृत्यु उस अमर निवासी और उसके नाशवान् आवास के बीच बलपूर्वक वियोग कराने को उद्यत होती है, तब वह अज्ञानी आत्मा, जिसकी जीवन की लालसा शरीर के क्षीण होने के साथ और भी प्रबल हो जाती है, पदार्थ के उस तेजी से विघटित होते हुए पिंड से डूबते हुए मनुष्य की-सी समस्त दृढ़ता के साथ चिपटी रहती है।

अपनी सच्ची व्यक्तित्व-सत्ता से, जो अमरता का उद्गम-स्रोत है, अनभिज्ञ, और शरीर के ही मनुष्य होने के मिथ्या विचार से भ्रमित, वह मृत्यु के आगमन से डरती है और उसे उस सबका सर्वथा उच्छेद कल्पित करती है जिसे वह अपना कहती थी। ज्यों-ज्यों मृत्यु के पाश शरीर पर कसते जाते हैं, ज्यों-ज्यों उच्छेद की निश्चितता उसके मन पर अधिकाधिक अंकित होती जाती है, और ज्यों-ज्यों अपनी सर्वथा असहायता का बोध उसकी चेतना में बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वह उस अवांछित किन्तु अनिवार्य विपत्ति पर, जो उसके सम्मुख आ खड़ी है, मानो निराशा में अपने हाथ मलती है। उसकी यातनाएँ तब तक चलती रहती हैं जब तक अन्ततः उसकी भीषण वेदना और चिन्ता के सम्मिलित दबाव से मानसिक सन्तुलन की डोरियाँ टूट नहीं जातीं, और वह अचेतनता के शून्य और उदास गर्त में नहीं गिरा दी जाती। तथापि, इस नश्वर आवरण को उतार देने पर आत्मा अधिक समय तक अचेत नहीं रहती; क्योंकि उसकी स्वाभाविक चेतना शीघ्र ही निराशा की उस शून्यता को दूर कर देती है और उसे उसके उस नए परिवेश का बोध करा देती है जो इस बीच उसके कर्मों के बल के व्यापार द्वारा यन्त्रवत् उत्पन्न हो चुका होता है। इस नियम का केवल एक अपवाद है, और वह उनसे मिलता है जो बाइबिल की भाषा में 'बाहर के अन्धकार' में जाते हैं। वे विश्व के उस क्षेत्र में उतरते हैं जो निम्नतम नरक से भी नीचे है, और अपने दिन ऐसी अवस्था में बिताते हैं, जो यद्यपि सर्वथा चेतना-रहित नहीं, तथापि जिसमें चेतना की अभिव्यक्ति इतनी थोड़ी है कि उसे अचेतन कहलाने योग्य ही समझा जाए। शेष या तो स्वर्ग‡ में, या नरक में जाते हैं, अथवा अपने कर्मों के अनुसार तुरन्त इसी संसार में पुनर्जन्म ले लेते हैं।

‡वेदान्त के अनुसार, स्वर्ग और नरक दोनों उतने ही माया के रूप हैं जितना कि जाग्रत् संसार, क्योंकि उनका साक्षात् ज्ञान केवल चेतना की अवस्थाओं में ही निहित है। यथार्थवादी दृष्टिकोण से, तथापि, स्वर्ग और नरक हमारे विश्व के समान ही यथार्थ हैं, और आकाश के पृथक् क्षेत्र हैं—पहला उस भाग के ऊपर स्थित है और दूसरा उसके नीचे, जिसे मध्यलोक कहते हैं, जिसका केन्द्रीय क्षेत्र जम्बू द्वीप है—न कि हमारी पृथ्वी का यह छोटा-सा गोला, जैसा कि आधुनिक प्राच्यविदों ने भ्रमवश समझ लिया है—और वह मनुष्यों से बसा हुआ एक महाद्वीप है। जैन ब्रह्माण्ड-विद्या के अनुसार सोलह स्वर्गों के नाम इस प्रकार हैं:

(१) सौधर्म, (२) ऐशान, (३) सानत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्मलोक, (६) ब्रह्मोत्तर, (७) लान्तक, (८) कापिष्ठ, (९) शुक्र, (१०) महाशुक्र, (११) शतार, (१२) सहस्रार, (१३) आनत, (१४) प्राणत, (१५) आरण, और (१६) अच्युत। सात नरक इन नामों से जाने जाते हैं: (१) रत्नप्रभा, (२) शर्कराप्रभा, (३) बालुकाप्रभा, (४) पंकप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा, और (७) महातमःप्रभा। सिद्ध आत्माओं का क्षेत्र स्वर्गों से भी ऊपर, लोक के शिखर पर है। यह नहीं समझना चाहिए कि स्वर्गों और नरकों के स्वरूप के विषय में वेदान्त और जैन धर्म के उपदेशों में कोई वास्तविक भेद है; क्योंकि यदि हम उन्हें विशुद्ध माया ही मान लें, तो भी यह स्वीकार करना ही होगा कि वह माया केवल कुछ विशिष्ट रूपों में ही प्रकट होती है। इस प्रकार, वस्तुओं के अस्तित्व की रीति के विषय में कोई विवाद नहीं, केवल उनके वर्णन के विषय में है। ईसाई धर्म और इस्लाम भी स्वर्गों और नरकों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, यद्यपि विशुद्ध भारतीय धर्मों के विपरीत वे यह मानते हैं कि उन क्षेत्रों में आत्मा का निवास शाश्वत है।

यह नहीं समझना चाहिए कि आत्माएँ स्वर्ग या नरक में जाकर पुनर्जन्म के चक्र से बाहर निकल जाती हैं; इसके विपरीत, वे उन क्षेत्रों में सुख अथवा दुःख के अनुभव भोगकर सब की सब संसार में पुनः जन्म लेती हैं, और जन्म-मरण के चक्र में तब तक भटकती रहती हैं जब तक वे निर्वाण प्राप्त करने योग्य पर्याप्त उत्कर्ष विकसित नहीं कर लेतीं। जहाँ तक स्वर्ग और नरक का प्रश्न है, पहला केवल उनके लिए खुला है जो इस जीवन में पवित्र और पुण्यमय कर्म (तप) करते हैं, और दूसरा उन सब शेष के लिए है जो क्रूर, दुराचारी अथवा निर्दय हैं। किन्तु चूँकि पवित्रता की परिभाषा में ईश्वर का ज्ञान, अर्थात् आत्म-चेतना, सम्मिलित है, और चूँकि आत्मा की अविनाशिता के ज्ञान के अभाव में पवित्र होना कठिन है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि स्वर्ग के द्वार साधारणतया 'अविश्वासियों' को प्रवेश देने के लिए नहीं खुलते। इस प्रकार, उन थोड़े-से व्यक्तियों को छोड़कर जो सम्भवतः तप (तपस्या) करने में, अर्थात् पवित्र या धार्मिक पुरुषों के योग्य व्रतों अथवा आचरण-नियमों का पालन करने में समर्थ हों, वे सब जिन्हें अपने सच्चे आत्म-स्वरूप का कोई बोध नहीं, स्वर्गों से अनिवार्यतः वंचित हैं—निर्वाण की तो बात ही क्या, जो संसार के उद्वेलित सागर के परे स्थित आनन्दमय धाम है।

अब, आइए, हम उस परिस्थिति-परिवर्तन को भी देखें जो अहं के एक पृथक् सत्ता के रूप में अस्तित्व में विश्वास आत्मा के जीवन में कर देगा। वह, प्रथमतः, मानो एक ओर खड़ी होकर शरीर को क्षीण और विघटित होते हुए देखेगी और उस दृश्य से अप्रभावित रहेगी। द्वितीयतः, वह शरीर-चेतना के स्थान पर, जिससे वह पहले भारग्रस्त थी, आत्म-चेतना का आनन्द लेगी; यद्यपि अपने ही स्वरूप के विषय में उसके विश्वास का रूप यहाँ भी पुनर्जन्म लेने वाले अहं के रूप में उसके आगामी जीवन-क्रम में उसकी स्थिति

को प्रभावित करेगा। यदि उसने अपने आपको श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र में पूर्ण कर लिया है, तो वह अपने भौतिक शरीर का साथ छोड़ते ही निर्वाण को प्राप्त हो जाएगी; अन्यथा वह जन्म-जन्मान्तर भटकती रहेगी, जब तक वह मुक्ति के योग्य न हो जाए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, जहाँ तक आत्मा का सम्बन्ध है, मृत्यु अपने भौतिक शरीर के साथ तादात्म्य के विश्वास से उत्पन्न एक मात्र भ्रम है। अतः मृत्यु का आतंक अपना डंक खो देता है, जब आत्मा अपने आपको उस पदार्थ-शरीर से भिन्न और पृथक् पहचान लेती है जिसमें वह बसी हुई है।

मृत्यु की धारणा के विषय में इतना ही; जहाँ तक स्वयं मृत्यु का प्रश्न है, यह पहले ही कहा जा चुका है कि देहावसान का सच्चा तात्पर्य आत्मा का शरीर से पृथक् होकर तत्काल अन्यत्र पुनर्जन्म लेने में है।

यह इस कारण से है कि मृत्यु उन अशुद्धियों का भी नाश नहीं कर देती जो आत्मा से लगी हुई हैं, और वे अशुद्धियाँ ही, फलस्वरूप, प्रकृति की रासायनिक बन्धुताओं तथा चुम्बकीय शक्तियों के अधीन करके उसे तत्काल एक नये 'गर्भ' में घसीट ले जाती हैं। जन्म और मृत्यु की यह अधीनता केवल उसी क्षण नष्ट होती है जब आत्मा निर्वाण में प्रवेश करती है, जहाँ से फिर लौटना नहीं होता।

जब आत्मा पूर्णता तक पूर्णरूपेण विकसित हो जाती है, तब उसके मोह का अन्त हो जाता है; और उसके संसरण के कारणभूत कार्मिक बल का विनाश हो जाने पर वह सदा के लिए पुनर्जन्म के जालों से परे कर दी जाती है। तब वह निद्रारहित आनन्द* और अमरत्व का उपभोग करती है। इसी कारण लूका (२०:३६) में कहा गया है: "वे फिर कभी मर भी नहीं सकते,"† जिसका समुचित अर्थ केवल पुनर्जन्म की परिकल्पना पर ही बनता है, और जिसका आशय है जन्म-मरण के चक्र से आत्मा की मुक्ति।

* निद्रा चेतना के स्वभाव के विरुद्ध है, अतः ईश्वर, जो शुद्ध चेतना है, अवश्य ही जड़ता, मूर्च्छा तथा निद्रालुता के उस स्तम्भन से मुक्त होगा।

† तुलना कीजिए: "जो नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है" (कठोपनिषद्, ४:१०)।

इस प्रकार ईश्वर के पुत्र वे शुद्ध और पूर्ण आत्माएँ हैं जिन्होंने अपने उच्च आदर्श को प्राप्त कर लिया है और ईश्वर बन गई हैं। उन्होंने अपने कर्मों के बन्धन को तथा उससे उत्पन्न जन्म-मरण की अधीनता को नष्ट कर दिया है, और अब वे अज्ञान रूपी अजगर तथा उसके प्रधान सहयोगी—मृत्यु—के विजेता के रूप में विश्व के शिखर पर विराजमान हैं। उन्हें ईश्वर के पुत्र इसलिए कहा जाता है कि वे, मानो, दिव्यता की उस विरासत के उत्तराधिकारी हैं, क्योंकि उन्होंने ईश्वर की उस पूर्णता को प्राप्त कर लिया है जो विकास का

लक्ष्य है। शुद्ध, पूर्ण सुख, अर्थात् शाश्वत, अक्षय आनन्द; मृत्यु को ललकारने की सामर्थ्य, अर्थात् अमरत्व; अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन—जिन्हें जैन शास्त्रों में अनन्त चतुष्टय कहा जाता है—उनकी दिव्य आत्माओं के गुण हैं। वे मनुष्यजाति के सच्चे गुरु हैं और पूर्ण प्रज्ञा के, अतएव धर्म के, उद्गम-स्रोत हैं। यीशु द्वारा बताए गए (लूका २०:३४-३८) उनके प्रधान लक्षण ये हैं: (१) उस आध्यात्मिक योग्यता का धारण जो उन्हें 'उस लोक' अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति का अधिकारी बनाती है, (२) लिंग-भेद से मुक्ति, अर्थात् समस्त भौतिक शरीरों का अभाव, (३) मृत्यु से अतीतता, और (४) ईश्वरीय पद का उपभोग।

लूका (२०:३६) द्वारा अभिलिखित उस मसीही उक्ति के 'फिर कभी' शब्दों पर जितना बल दिया जाए, थोड़ा है। यदि आत्माएँ अपने पूरे जीवन-क्रम में केवल एक ही बार जन्म लेतीं और मरतीं, तो इस कथन का सारा महत्त्व जाता रहता। यह तथ्य कि यह कथन केवल उन्हीं महान् आत्माओं के विषय में कहा गया था जो 'उस लोक' को तथा मृतकों में से पुनरुत्थान को प्राप्त करती हैं, यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि यह सब आत्माओं पर अविवेकपूर्वक लागू नहीं होता। इस प्रकार, जहाँ वे सब, जिन्होंने अपने को पूर्ण नहीं बनाया, अपने विकास-क्रम में बारम्बार जन्म और मृत्यु के अधीन बने रहते हैं, वहीं जो आध्यात्मिक उन्मीलन की परम मात्रा को प्राप्त कर लेते हैं, वे अनिवार्यतः फिर कभी मरने से मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार आत्माओं के पुनरुत्थान सम्बन्धी उस प्रसंग की सच्ची व्याख्या हमें उस निष्कर्ष से सर्वथा भिन्न निष्कर्ष तक ले जाती है जिस पर परम्परागत चर्च पहुँचा है। हमारी व्याख्या की एक कम सन्तोषजनक विशेषता यह नहीं है कि वह यीशु की शिक्षा का संसार के प्रायः समस्त अन्य प्राचीन धर्मों की शिक्षा के साथ तत्काल समन्वय कर देती है। पुनर्जन्म दर्शन का एक सत्य है, जैसा कि हम आगे देखेंगे जब हम कर्म के सिद्धान्त पर विचार करेंगे; और उसके सिद्धान्त को अस्वीकार करने का प्रयत्न केवल उन्हीं के लिए अपकीर्ति लाकर समाप्त हो सकता है जो उसके विरुद्ध अपना स्वर उठाते हैं।

तब पुनरुत्थान केवल उन्हीं के लिए है जो मृत्यु के विचार में निहित भ्रान्ति के स्वरूप को समझ लेते हैं, और जो संसार (संसरणशील अवस्था) तथा अपनी निम्न प्रकृति पर विजय पाने में स्वयं को लगा देते हैं। यही कारण है कि यीशु ने बार-बार अपने अनुयायियों को ईश्वर की पूर्णता प्राप्त करने का उपदेश दिया। वे यह न कह सकते: 'इसलिए आप सिद्ध बनें, जैसा आपका स्वर्गीय पिता सिद्ध है,' यदि उनके मन ने ईश्वर की पूर्णता तक पहुँचने की सम्भावना को पूर्णतया ग्रहण न कर लिया होता।

संसार पर विजय* के विचार का, यह स्मरण रखना चाहिए, मनुष्यजाति को अपने अधीन करने अथवा अपने सहजीवियों पर प्रभुत्व जमाने के विचार से कुछ भी साम्य नहीं है। सच्चा विजेता वह है जो अपनी निम्न प्रकृति को जीतता है, न कि वह जो स्वयं को विषयासक्ति, वासना, लोभ और इसी प्रकार की वृत्तियों से अभिभूत होने देता है। अतएव जो लोग वास्तविक अथवा काल्पनिक अधिकारों और शिकायतों की सिद्धि के लिए अपने सहमानवों से युद्ध में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें शब्द के सच्चे अर्थ में विजेता नहीं माना जा सकता। धर्म उस विजय का कोई मूल्य नहीं आँकता जो मनुष्य को उसके स्वाभाविक शत्रुओं, अर्थात् कषायों, वासनाओं आदि से मुक्ति नहीं दिलाती, और वह हमें उन सब प्रयासों तथा आदर्शों के विरुद्ध सचेत करता है जो केवल बन्धन का भार ही बढ़ाते हैं।

जब आत्मा ईश्वर बन जाती है और संसार से सम्बन्ध तोड़कर निर्वाण में प्रवेश करती है, तब वह इस वचन का बल अनुभव करती है: "कोई अकेला है, दूसरा कोई नहीं; उसके न पुत्र है, न भाई" (सभोपदेशक ४:८); और इन आनन्दमय शब्दों के साथ: "मैं, हाँ मैं ही, यहोवा हूँ; और मुझे छोड़ कोई उद्धारकर्ता नहीं" (यशायाह ४३:११), वह अपने ही भीतर शाश्वत मंगल और आनन्द के सागर में निमग्न हो जाती है।

---

* भाव यह है कि प्रत्येक आत्मा अपने आप में स्वयं पूर्ण है, और इसलिए स्वयं ही अपना ईश्वर है; कोई बाह्य उद्धारकर्ता अथवा ईश्वर नहीं है जो उसे पूर्णता प्रदान करे।

अमरत्व की प्राप्ति एक अथवा अधिक जन्मों के क्रम में प्रत्येक प्राणी के लिए सम्भव है। यदि ऐसा न होता, तो यह कभी न कहा जाता:

> **"अपने सब अपराधों को, जो आपने किए हैं, अपने से दूर फेंक दें, और अपना हृदय और अपनी आत्मा नई बना लें; हे इस्राएल के घराने, आप क्यों मरें? क्योंकि मरनेवाले की मृत्यु से मैं प्रसन्न नहीं होता, प्रभु यहोवा की यही वाणी है; इसलिए आप फिरें और जीवित रहें।"**

और न यह:

> **"यदि दुष्ट जन बन्धक फेर दे और लूटा हुआ माल लौटा दे, और बिना कुटिलता किए जीवन की विधियों पर चले, तो वह निश्चय जीवित रहेगा, वह न मरेगा।"**

जिस समय के आसपास मूसा को व्यवस्था दी गई, कहा जाता है कि यहोवा ने यह बात लोगों के सम्मुख इन शब्दों में रखी:

> **"मैं आज आपके विरुद्ध आकाश और पृथ्वी दोनों को साक्षी बनाकर कहता हूँ कि मैंने आपके सम्मुख जीवन और मृत्यु, आशीष और शाप रख दिए हैं; इसलिए आप जीवन को चुन लें, कि आप और आपका वंश जीवित रहे।"**

इसी आशय का निम्नलिखित वचन है:

> **"मैं उन्हें [धर्मात्माओं को] अधोलोक के वश से छुड़ा लूँगा, मैं उन्हें मृत्यु से मुक्त करूँगा; हे मृत्यु, मैं तेरी मारी होऊँगा; हे अधोलोक, मैं तेरा विनाश होऊँगा; पश्चात्ताप मेरी आँखों से छिपा रहेगा।"**

जहाँ तक दुष्टों का प्रश्न है, उनके मार्ग टेढ़े कर दिए जाते हैं, "वे शून्य में चले जाते हैं और नष्ट हो जाते हैं।" "जैसे समुद्र का जल घट जाता है, और जैसे नदी सूखते-सूखते सूख जाती है, वैसे ही मनुष्य लेट जाता है और फिर नहीं उठता; जब तक आकाश बना रहेगा तब तक वे न जागेंगे, और न अपनी नींद से जगाए जाएँगे।" निम्नलिखित वचन भी उतना ही बलपूर्ण है:

> **"सेनाओं का यहोवा यों कहता है: जिस प्रकार कोई कुम्हार के बर्तन को तोड़ डालता है और वह फिर बनाया नहीं जा सकता, उसी प्रकार मैं इस प्रजा और इस नगर को तोड़ डालूँगा।"**

यह स्पष्टतः उस शारीरिक व्यक्तित्व की ओर संकेत करता है जो फिर से पूर्ववत् नहीं बनाया जा सकता। और अधिक उद्धरणों की आवश्यकता नहीं; पुनरुत्थान-प्रसंग का हमारा विश्लेषण संसार के समस्त विद्यमान धर्मों के ऐसे सभी प्रसंगों की व्याख्या के लिए पर्याप्त है।

इनमें से कुछ वचनों के सत्य को समझना भौतिकवाद के लिए कितना कठिन है, इस पर टिप्पणी की आवश्यकता नहीं; और न ही यीशु के शिष्य, कुछ आदरणीय अपवादों को छोड़कर, इस दृष्टि से कुछ बेहतर थे। यूहन्ना अभिलिखित करते हैं कि स्वर्गीय रोटी के दृष्टान्त के तत्काल पश्चात्, जिसकी परिणति इस अत्यन्त रहस्यमय उक्ति में हुई—"जो मुझे खाता है, वह भी मेरे कारण जीवित रहेगा" (यूहन्ना ६:५७)—अनेक लोगों ने उनका अनुसरण छोड़ दिया, और तब यीशु ने उन्हें कुछ प्रकाश देते हुए कहा: "क्या इससे आपको ठोकर लगती है? आत्मा ही जीवनदायक है, माँस से कुछ लाभ नहीं; जो बातें मैंने आपसे कही हैं, वे आत्मा हैं और जीवन भी हैं।" (यूहन्ना ६:६३।) इस 'कठिन' वचन को समझना सरल है यदि हम यह स्मरण रखें कि "जो मुझे खाता है" इस पाठ में 'मुझे' शब्द का यीशु से कोई सम्बन्ध नहीं, अपितु स्वयं जीवन से है।

किन्तु कोई पूछ सकता है: हम जीवन को खाएँ कैसे? उत्तर यह है: ठीक उसी प्रकार जैसे हम ज्ञान को निगलते हैं। हम जीवन को उसमें 'प्रवेश' करके 'खा' सकते हैं, अर्थात् अपने भीतर उसके स्पन्दन को अनुभव करके, अथवा उसकी आत्मा को मुग्ध कर देनेवाली लय का उपभोग करने के लिए स्वयं को उसमें छोड़ देकर। यदि किसी को इसे अब भी समझना कठिन लगे, तो उसे इसे वास्तविक अभ्यास में परखना चाहिए; और यदि वह थोड़ा-सा धैर्य रखे, तो उसका समय व्यर्थ नहीं जाएगा। इस बीच, आइए हम यीशु के वचनों पर आगे बढ़ें।

गुरुदेव ने बारम्बार घोषित किया कि यदि कोई उनकी शिक्षा को धारण करे और उनके सिद्धान्त के अनुसार जिए, तो वह अनन्त जीवन का उपभोग करेगा। यही उनमें और फरीसियों में मतभेद का प्रधान कारण था। फरीसी यह कभी कल्पना ही न कर सके कि कोई उनके स्वर्गीय पूजनीय पूर्वजों से ज्ञान और सामर्थ्य में बढ़कर कैसे हो सकता है, और उन्होंने तत्काल उनसे कह दिया कि वे उनके विषय में क्या सोचते हैं:—

> **"क्या आप हमारे पिता अब्राहम से बड़े हैं, जो मर गया? और भविष्यद्वक्ता भी मर गए। आप अपने आपको क्या ठहराते हैं?"—(यूहन्ना ८:५३।)**

एक साधारण बढ़ई का यह पुत्र उनसे मृत्यु पर विजय की बात कैसे कर सकता था, जब उनके महान् पूर्वज, जिन्हें कभी कोई पार न कर सका, उसका सामना करने में असमर्थ रहे? यीशु ने उन्हें यह कहकर और भी अधिक विक्षोभ में डाल दिया कि उन्हें उनके पिता से सम्मान मिलता है, जो उन्हीं का ईश्वर है; और अब्राहम की कल्पित श्रेष्ठता के विषय में उन्होंने यह जोड़ा:—

> **"आपका पिता अब्राहम मेरा दिन देखने की आशा से बहुत प्रसन्न था, और उसने देखा और आनन्दित हुआ" (यूहन्ना ८:५६)।**

फरीसियों को यह सर्वथा उन्मत्तता प्रतीत हुई, जैसा कि निःसन्देह यीशु के कुछ परवर्ती जीवनी-लेखकों को भी प्रतीत हुआ; क्योंकि जो व्यक्ति पचास वर्ष का भी नहीं है, उसके विषय में यह कैसे कहा जा सकता है कि वह अब्राहम के समय में विद्यमान था? किन्तु यीशु ने शान्तभाव से अपने विरोधियों की पंक्तियों में एक और रहस्यमय गोला फेंक दिया, यह कहकर: "अब्राहम के होने से पहले से मैं हूँ" (यूहन्ना ८:५८)। अब फरीसियों ने अपने ऊपर से नियन्त्रण पूर्णतया खो दिया और उन पर फेंकने के लिए पत्थर उठा लिए; उस अवसर पर यीशु ने स्वयं को छिपा लेना ही उचित समझा। यह बड़े खेद की बात है कि दिव्य दर्शन के

सच्चे ज्ञान के अभाव में उद्धारकर्ता के उच्चतर चिन्तन और उपदेश का सौन्दर्य आज तक संसार से अज्ञात रह गया है। हमें ये प्रसंग किसी उन्मत्त के प्रलाप अथवा किसी भ्रान्त ग्रामीण के मनोविनोद प्रतीत नहीं होते, जिसने संसार को अपनी ही सरलता के काँच में से देखा हो। भगवद्गीता में कहा गया है:

> **"न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, न आप थे, न ये राजा लोग थे; और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।" (अध्याय २:१२।)**

अब हम जानते हैं कि 'मैं हूँ' का अर्थ है जीवन, जो शाश्वत है और काल की धारणा से स्वतन्त्र है; अतः 'अब्राहम के होने से पहले से मैं हूँ' इस पाठ का केवल इतना ही अर्थ है कि प्रत्येक आत्मा अमर है और अनन्त अतीत काल से विद्यमान रही है। रही यह उक्ति,—

> **"अब्राहम मेरा दिन देखने की आशा से प्रसन्न था, और उसने देखा और आनन्दित हुआ"—**

तो यह स्पष्ट है, विशेषतः 'मेरा दिन' शब्दों को देखते हुए, कि संकेत 'ईश्वर के पुत्र' के पद से सम्बद्ध महिमा की ओर है, न कि यीशु की ओर, जिनका 'दिन' अब्राहम तभी देख सकता था जब उन दोनों को एक-दूसरे से पृथक् करनेवाली लम्बी शताब्दियों का लोप कर देना सम्भव होता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यीशु के कथन का उनके अपने व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं था, और हम तब भूल करते हैं जब हम मसीह की, अथवा जैनधर्म में जिन (विजेता) की, आदर्श-रूप में उपासना करने के स्थान पर यीशु की मूर्ति-रूप में पूजा करने लगते हैं; क्योंकि जब तक हम इस मिथ्या धारणा को नहीं त्यागते कि यीशु अपने ही व्यक्ति के लिए हमारी श्रद्धांजलि चाहते थे, तब तक हम सत्य के मार्ग में बाधक बने रहते हैं और अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पा सकते। पुत्रत्व का सिद्धान्त दर्शन की एक प्रतिज्ञा है। किन्तु यह सम्पूर्ण मानवजाति पर लागू होता है, न कि केवल किसी एक विशेष व्यक्ति पर, क्योंकि प्रत्येक आत्मा उसी क्षण ईश्वर का पुत्र बनने की अधिकारिणी है जिस क्षण वह अपनी स्वाभाविक पूर्णता को विकसित कर लेती है। अतः वह मसीह ही था, यीशु नहीं, जिसका दिन देखकर अब्राहम आनन्दित हुआ था; और यीशु के कथन का सम्बन्ध उनके अपने भौतिक शरीर से नहीं, अपितु वास्तविक आत्मा से, अर्थात् उस क्राइस्टोस से था, जो आत्मा पूर्णता की प्राप्ति पर बन जाती है।

मसीह हिन्दू धर्म में भी कृष्ण के रूप में प्रकट होते हैं—जो वैष्णवों और उनके विरोधियों के बीच एक तीव्र विवाद के केन्द्र हैं; एक पक्ष उन्हें दिव्यता के आसन पर बैठाने का प्रयत्न करता है और दूसरा उन्हें वहाँ से नीचे उतारने का। किन्तु विवाद करनेवालों में से कोई भी कृष्ण से सम्बद्ध उस दिव्यता के वास्तविक स्वरूप को समझता प्रतीत नहीं होता, और वे अपनी शक्ति रिक्त शब्दों तथा धारणाओं के निष्फल विवाद

में व्यय कर रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कृष्ण नामक एक महापुरुष हुए थे, क्योंकि देवत्वारोपण के उपरिभवन के लिए आधार-रूप में एक नाभिक सदैव आवश्यक होता है; और यह तथ्य कि कुछ जैन पुराणों में उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं का सीधा-सादा वृत्तान्त मिलता है, उन्हें ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। यह वही ऐतिहासिक कृष्ण हैं जिन्हें विष्णुपुराण और भगवद्गीता ने मसीह के काव्यमय वस्त्रों से आवृत किया है। रात्रि के अन्धकार में गोपियों का उनके पतियों की शय्याओं से आकर्षित होकर आना, यमुना के तट पर वह उन्मत्त चाँदनी-नृत्य, वे चोरी के चुम्बन और आलिंगन, और इसी प्रकार की अन्य बातें—जो सब ऐतिहासिक कृष्ण पर आरोपित की जाएँ तो नैतिक दृष्टि से अत्यन्त निन्दनीय होंगी—मसीह अथवा क्राइस्टोस के लिए पूर्णतया समुचित हैं। इस रूप में कृष्ण वह दिव्य आदर्श हैं जिन पर आत्मा (गोपी) अपना समस्त अनुराग उँडेल दे। उसे रात्रि के एकान्त में (जब मन सांसारिक वस्तुओं में व्याप्त नहीं रहता), शान्त यमुना (चित्त-द्रव्य, अतएव मन) के तट पर, अपने पति के प्रति प्रेम (सांसारिक आसक्तियों) और समाज के भय—दोनों की उपेक्षा करके निकल पड़ना चाहिए। जब वह अपने प्रभु के सम्मुख वस्त्रहीन होकर खड़ी होती है (अर्थात् सांसारिक सम्पत्तियों से रहित), जब वह स्त्रीसुलभ लज्जा का अन्तिम अवशेष भी त्याग देती है और अपनी नग्नता तथा लौकिक शिष्टाचार के नियमों की उपेक्षा करती हुई सीधी खड़ी होकर अपने हाथ सिर के ऊपर जोड़ लेती है, तब प्रेमी और प्रेम के विषय के बीच का द्वैत-भाव मन से दूर हो जाता है और प्रेम का फल भोगा जाता है। प्रेम-विह्वल गोपियों की आशाएँ और आशंकाएँ, उनका गृहकार्यों के प्रति उपेक्षा-भाव, उनका अपने बच्चों और पतियों का परित्याग, प्रियतम की बाँहों में समा जाने की उनकी उत्कट अभिलाषा—ये सब शुद्ध रूपक हैं, जो उस पूर्णता के महान् आदर्श की—जिसे क्राइस्टोस अथवा कृष्ण, उद्धारक के रूप में मूर्त किया गया है—अनुभूति के लिए आवश्यक भक्ति अथवा उत्साह की मात्रा का वर्णन करते हैं। सुलैमान का श्रेष्ठगीत, जो सांसारिक दृष्टि से कुछ कम अनैतिक नहीं, आदर्श और व्यष्टि-आत्मा के बीच प्रेम का ऐसा ही एक रूपक है। यीशु ने भी दस कुँवारियों के दृष्टान्त में आत्मा की तुलना एक कन्या से की है (मत्ती २५:१-१३)।

विचार, सिद्धान्त और पद्धति की इस समानता की परिस्थितियाँ हमें यह सोचने के लिए प्रेरित करती हैं कि यीशु ने अवश्य ही अपना प्रारम्भिक प्रशिक्षण भारतीयों से प्राप्त किया होगा। यहूदी धर्म ने भी उनके चरित्र के निर्माण में कुछ कम भाग नहीं लिया प्रतीत होता, और मिस्र की संस्कृति का भी उनके प्रशिक्षण में अवश्य ही योगदान रहा होगा, यदि यह सत्य है कि उन्होंने बाल्यकाल में उस देश की यात्रा की थी। मिस्र सदैव अपने रहस्यमय कर्मकाण्ड के लिए विख्यात रहा है; और यद्यपि यीशु की यात्रा के समय के लगभग उसकी सभ्यता तीव्रता से ह्रासोन्मुख थी, फिर भी उस देश का वातावरण अवश्य ही रहस्यवाद और सैद्धान्तिक धर्मशास्त्र के तत्त्वों से पूर्णतया संतृप्त रहा होगा। यद्यपि उस समय यीशु बहुत छोटे थे,

तथापि ऐसे वातावरण के प्रारम्भिक संस्कार उस बालक के प्रभावग्राही मन से सहज ही मिट नहीं सकते थे, और भविष्य में उनका और आगे तथा और पूर्ण विकास केवल अनुकूल अवसर पर निर्भर था। यहूदी धर्म में उनकी अभिरुचि ठीक वैसी ही प्रेरणा थी जैसी उनके प्रारम्भिक संस्कारों को जीवित रखने के लिए आवश्यक थी, और उस चिनगारी को ज्वाला में बदलने के लिए केवल भारतीय दर्शन से आकस्मिक परिचय की आवश्यकता थी। इस प्रकार उनकी शिक्षाएँ दिव्य ज्ञान के उन विविध सम्प्रदायों के मतों का सार-संग्रह हैं, जो, मानो, उनके महान् मन से छनकर आए थे।

यह निःसन्देह सम्भव है कि यीशु ने अपनी पद्धति हिन्दुओं और अन्यों से स्वतन्त्र रूप से विकसित की हो, किन्तु इसके विपरीत की सम्भावना इतनी प्रबल है कि वह इस विषय में लगभग निर्णायक ही है। नए नियम की विषय-वस्तु पर एक दृष्टि डालना ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि वे न केवल पूर्ववर्ती मतों के सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति मात्र हैं, अपितु उनमें उन लक्षणों में से कोई भी नहीं है—तार्किक अनुमान, कारण-नियम का क्रम, व्यवस्थित प्रतिपादन आदि—जिनकी अपेक्षा कोई बुद्धिपूर्वक विचारित दर्शन-पद्धति में स्वभावतः करता है। उसके अधिकांश प्रसंग केवल हठधर्मों और पुराकथाओं से भरे हुए हैं। वस्तुओं के स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत करने के स्थान पर, वे स्वयं ही इस बात के अपेक्षी हैं कि उन्हें समझने के लिए उनकी व्याख्या की जाए। गोपनीयता पालन की नीति एक सीमा तक इन अपूर्णताओं के लिए उत्तरदायी हो सकती है, किन्तु यह कहना असम्भव है कि वह इन सबका कारण है। तथापि यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यीशु में महान् प्रज्ञा और अन्तर्दृष्टि नहीं थी, क्योंकि कोई व्यक्ति किसी दर्शन-पद्धति का प्रवर्तक हुए बिना भी ज्ञानी हो सकता है। उनके प्रवचन उनके मन की तत्पर प्रत्युत्पन्नमति और साधन-सम्पन्नता के भरपूर साक्षी हैं। उनकी शिक्षाओं को विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टि से पढ़ना उनके साथ सबसे बड़ा अन्याय करना है; उन्हें 'वेदान्त' के दीपक के प्रकाश में पढ़ना चाहिए—जिसका शाब्दिक अर्थ है अन्त, अर्थात् ज्ञान का अन्तिम वचन।

यीशु की शिक्षा पर लौटें: एक और बिन्दु जो 'ईश्वर के राज्य' के सिद्धान्त पर पर्याप्त प्रकाश डालता है, वह उन योग्यताओं का स्वरूप है जो स्वर्ग में प्रवेश के लिए आवश्यक हैं। इस विषय में यह जानकर प्रसन्नता होती है कि सामग्री की पर्याप्त प्रचुरता है, यद्यपि उसका अधिकांश उसी सिद्धान्त की बार-बार पुनरावृत्ति है। अनावश्यक विस्तार में गए बिना, उस युवा गुरु ने घोषित किया कि वह राज्य दीनों, नम्रों, दयावानों, मेल कराने वालों के लिए, तथा उनके लिए है जो शोक करते हैं, अथवा धार्मिकता के भूखे हैं, अथवा मन के शुद्ध हैं। भोज के दृष्टान्त में जो अतिथि अन्ततः बुलाए गए, वे कंगाल, टुण्डे, लँगड़े और अन्धे थे। इस सिद्धान्त का शाब्दिक अर्थ लगाना उस राज्य को किसी दरिद्रालय, औषधालय अथवा रुग्णालय के समकक्ष रख देना होगा, जहाँ दरिद्रता और चीथड़े और विकलांगता और रोग प्रवेश की सर्वप्रमुख

योग्यताएँ बन जाएँ। यह सोचना कि उद्धारकर्ता लोगों को यही विचार सिखा रहे थे, और इसी के लिए वे निरन्तर फरीसियों से झगड़ते रहते थे, संसार की और किसी भी वस्तु से बढ़कर स्वयं अपनी ही समझ का अपमान करना है। स्पष्ट है कि स्वर्ग का राज्य ऐसा स्थान होने के लिए नहीं था जहाँ दुर्दशा और अपूर्णता क्रीड़ा करें, अथवा रोग अपनी घिनौनी कुरूपता का प्रदर्शन करे।

> **'धन्य हैं वे जो मन के दीन हैं'—इसलिए नहीं कि वे भौतिक रूप से दरिद्र हैं, अपितु इसलिए कि उन्होंने आध्यात्मिक आधारों पर जान-बूझकर उस दरिद्रता को स्वीकार किया है। वे ही और केवल वे ही, जो मन के दीन हैं, उस राज्य में प्रवेश पाएँगे। वहाँ अविवेकपूर्वक दरिद्रता के लिए कोई स्थान नहीं; अपितु वे ही, जो अपने भाग्य से सन्तुष्ट रहते हैं, और जो मन के दीन हैं, अर्थात् जो अहंकारी नहीं वरन् शान्त हैं, जो सहज ही रुष्ट नहीं होते वरन् विनम्र हैं, और सबसे बढ़कर वे जो सुखी, प्रसन्नचित्त और सद्गुणी हैं —वे ही धन्य होने योग्य हैं। स्वर्ग पर दरिद्रों, भूखों और प्यासों का दावा तभी है जब वह भूख और प्यास धार्मिकता के लिए हो। वहाँ ऐसे किसी के लिए तनिक भी स्थान नहीं जिसकी प्रकृति कुड़कुड़ाने की हो। जो सिद्धान्त यहाँ उदाहृत है, वह यह है कि यदि कोई भौतिक वस्तुओं की लालसा न करे और स्वेच्छा से (न कि उन परिस्थितियों के बल से जो उसके वश में नहीं) उनका त्याग करे, तो वह धन्य है, क्योंकि सम्पत्ति का त्याग आनन्द के भाव तक पहुँचने का साधन है। धार्मिकता की खोज, यदि वह निष्कपट हो, शान्ति और वासना से मुक्ति दिलाती है, तथा आनन्द की प्रच्छन्न अवस्था को अभिव्यक्ति में आने देती है। क्योंकि, 'यदि आपकी धार्मिकता शास्त्रियों और फरीसियों की धार्मिकता से बढ़कर न हो, तो आप स्वर्ग के राज्य में कभी प्रवेश न कर पाएँगे।' जब से मनुष्य ने काल, देश और सत्ता के रहस्यों का अन्वेषण करने और उन्हें उद्घाटित करने में अपना मन लगाया, तब से त्याग ही मुक्ति का एकमात्र साधन माना जाता रहा है; और पर्वत का उपदेश इस बात का प्रचुर प्रमाण प्रस्तुत करता है कि यीशु की शिक्षा उन महान् भारतीय ऋषियों की शिक्षा से अभिन्न है जो उनके समय से पूर्व हुए और उपदेश दे चुके थे।**

यह सत्य है कि त्याग प्रथम दृष्टि में अत्यन्त अनाकर्षक और अप्रिय प्रतीत होता है, और वस्तुतः थोड़े ही ऐसे हैं जो उसके गुण को समझ सकते हैं अथवा समझते हैं; तथापि त्याग के बिना किसी भी क्षेत्र में—भौतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक—कोई प्रगति सम्भव नहीं। वह सदैव उन्हीं प्रवृत्तियों के परित्याग तक सीमित रहता है जो व्यक्ति की अग्रगामी प्रगति में बाधक होती हैं। जो बालक ज्ञान अर्जित करना चाहता है, उसे खिलौने छोड़कर विद्यालय जाना ही होगा; जो युवक धन कमाना चाहता है, उसे देर से उठने की आदत त्यागनी ही होगी; जो सेनापति शत्रु पर विजय पाना चाहता है, उसे अपने घर-आँगन से विदा लेनी ही होगी; और इसी प्रकार आगे भी। उसी प्रकार, जो उस मार्ग पर चलना चाहता है जो आनन्द

की ओर ले जाता है, उसे उस मार्ग से अपने पग लौटा लेने होंगे जो नरक की ओर जाता है, क्योंकि वे दोनों विपरीत दिशाओं में स्थित हैं। हर्ष के भाव का हमारा विश्लेषण यह दिखाने के लिए पर्याप्त होगा कि कुछ भौतिक लाभ अर्जित करने के लिए कुछ आदतों को छोड़ने में, और ईश्वर-साक्षात्कार के लिए त्याग का अभ्यास करने में एक स्पष्ट अन्तर है। पहली दशा में आत्मा अपने पुराने व्यापारों को छोड़ने के विचार पर आरम्भ से ही कुड़कुड़ाती है और उसे आह्लाद के सुखों का उपभोग करने नहीं दिया जाता, क्योंकि ज्यों ही उसकी पीठ से एक बोझ उतारा जाता है, त्यों ही उस पर दो और लाद दिए जाते हैं; किन्तु दूसरी दशा में प्रत्येक दायित्व का हटना उसे अधिकाधिक आनन्दित और स्वतन्त्र ही छोड़ता जाता है, क्योंकि उससे किसी अतिरिक्त दायित्व और कार्य का भार वहन नहीं कराया जाता। अतएव, जैसा पतंजलि कहते हैं, 'वैराग्य उस पुरुष की वशीकार-संज्ञा है जो दृष्ट और आनुश्रविक विषयों की तृष्णा से रहित है।'

एक और दृष्टिकोण से हमें 'ईश्वर के राज्य' के सिद्धान्त पर विचार करना शेष है। हमें यह देखना है कि स्वर्ग में प्रवेश पाने का इच्छुक व्यक्ति किस प्रकार अग्रसर हो। उद्धारकर्ता ने घोषित किया कि विश्वास से सब कुछ सम्भव है। किन्तु प्रश्न यह है: विश्वास से उनका तात्पर्य क्या था? क्या वे केवल अपने चमत्कारपूर्ण जन्म में मानसिक स्वीकृति ही चाहते थे? निश्चय ही नहीं, क्योंकि उन्होंने स्वयं कहीं ऐसा नहीं कहा। हमने यीशु की ऐसी किसी उक्ति की खोज में बाइबिल को बार-बार पढ़ा है जिससे यह प्रकट हो कि उन्होंने अपने निष्कलंक गर्भाधान के आधार पर अपने लिए किसी श्रेष्ठता का दावा किया, अथवा यह चाहा कि उनके व्यक्तित्व के लिए उनकी पूजा की जाए; किन्तु, कहने की आवश्यकता नहीं, यह खोज व्यर्थ रही। रहा यह आरोप कि वे परमप्रधान के पुत्र थे और इसी आधार पर उपासना के अधिकारी हैं, तो हम समझते हैं कि इस मत के पक्ष में कोई भी आधार सिद्ध नहीं होता। यीशु ने कहीं यह नहीं कहा कि वे ही अकेले ईश्वर के पुत्र हैं। इसके विपरीत, बार-बार हमें यह आश्वासन मिलता है कि यदि कोई मनुष्य उनके वचनों को धारण करे, तो वह भी ईश्वर का पुत्र बन जाएगा। पर्वत के उपदेश में उन्होंने घोषित किया (मत्ती ५:१६):—

> **"आपका उजियाला मनुष्यों के सामने ऐसा चमके कि वे आपके भले कामों को देखकर आपके स्वर्गीय पिता की महिमा करें।"**

उस स्मरणीय प्रवचन के क्रम में 'आपका स्वर्गीय पिता' यह अभिव्यक्ति कम से कम आधा दर्जन बार प्रयुक्त हुई है। किसी विशेष व्यक्ति के पक्ष में कोई भेद अथवा अपवाद नहीं किया गया है। यीशु ने दिव्य पुत्रत्व के पद का दावा सम्पूर्ण मानवजाति के लिए किया; जन्म के लौकिक भेद को उन्होंने न केवल स्वीकृति नहीं दी, अपितु उसकी वस्तुतः निन्दा की। ऐसे क्षुद्र, पाखण्डपूर्ण भेद महान् मनों के सम्मुख

विलीन हो जाते हैं। इस प्रकार जो दिव्य आज्ञाओं के अनुसार जीते थे, वे ही सच्चे रूप में ईश्वर के पुत्र थे, जबकि जो बुराई के सिद्धान्त का अनुसरण करते थे, अर्थात् जो ईश्वर की आज्ञाओं की अवहेलना करते हुए जीते थे, वे शैतान के पुत्र थे। सारी बात केवल इसी की थी कि कोई किस प्रकार जीता है।

> 'मनुष्य का पुत्र' यह अभिव्यक्ति बाइबिल में साधारणतः बड़े 'पु' के साथ छपती है। 'पुत्र' शब्द पर यह बल क्यों? जो कोई जातियों और व्यक्तियों के वर्णन की प्राच्य पद्धति से तनिक भी परिचित है, वह इसे कोई महत्त्व देने की बात कभी न सोचेगा। बहुत ही कम अवसरों पर यह अभिव्यक्ति स्वयं यीशु की ओर संकेत करती है। 'मनुष्य के पुत्र' में 'परी के पुत्र', 'देव के पुत्र' आदि से अधिक कोई अन्तर्निहित विशेषता नहीं है। फारसी भाषा में आदम-ज़ाद का अर्थ है मनुष्य का पुत्र, परी-ज़ाद का अर्थ परी का पुत्र, और देव-ज़ाद का अर्थ देव (दानव) का पुत्र। 'मनुष्य का पुत्र' (फारसी में आदम-ज़ाद) इस अभिव्यक्ति में ऐसा क्या है जो यीशु पर कोई विशिष्टता आरोपित करे? यीशु ने अपने लिए उत्तम पुरुष एकवचन का प्रयोग बहुत कम क्यों किया, इसका कारण उस किसी के लिए भी स्पष्ट है जिसने उनके जीवन और उपदेशों का अध्ययन किया है। वे भलीभाँति समझते थे कि सुख, आध्यात्मिकता और सामर्थ्य उसी के लिए हैं जो अपने अहंकार को मिटा देता है, और अपने क्षुद्र शारीरिक स्व को उस सर्वोच्च और एकमात्र सच्चे स्व की वेदी पर बलि के रूप में अर्पित कर देता है। जब तक मनुष्य 'मेरे' और 'तेरे' के भेद से चिपटा रहता है, तब तक वह पतित प्राणी बना रहता है; किन्तु जिस क्षण 'मेरा' और 'तेरा' विचार से बाहर हो जाते हैं, उसी क्षण वह देवताओं के बीच अपना स्थान ग्रहण कर लेता है। यह सार्वभौम प्रयोज्यता का आध्यात्मिक नियम है कि जो कोई अपने प्राण बचाना चाहेगा, वह उन्हें खोएगा; और जो कोई उन्हें खोएगा, वह उन्हें पाएगा। यीशु ने अपने प्राण खोए और क्राइस्टोस बन गए। वे यीशु बने रहकर साथ ही क्राइस्ट नहीं हो सकते थे, क्योंकि नियम यह है कि 'जो जैसा सोचता है, वह वैसा ही हो जाता है।' इस प्रकार, यदि आप स्वयं को एक अभागा पापी मानते हैं, तो आप सदा वैसे ही बने रहेंगे; इसके विपरीत, यदि आप अपने क्षुद्र स्व को, अर्थात् वासनाओं के अहं को भूल जाएँ और स्वयं को ईश्वर मानें, तो आप शीघ्र ही वस्तुतः ईश्वरत्व के पद के भोक्ता बन जाएँगे। किन्तु जब तक आपके मन में शारीरिक स्व की चेतना विद्यमान है, तब तक आपके लिए अपने उच्च आदर्श को साक्षात् करना असम्भव होगा। अतएव आपको अपने क्षुद्र स्व को उच्चतर स्व को प्रसन्न करने के लिए अर्घ्य-रूप में बलि करना होगा। यीशु ने अपने को बलि किया, क्राइस्ट बन गए, और तत्काल स्वयं को ईश्वर से एक घोषित किया। यही सफलता का रहस्य है; और इसी कारण वे उन्नत तपस्वी और सन्त, जिन्होंने इस सत्य को समझा और साक्षात् किया है, उत्तम पुरुष एकवचन की उपेक्षा करते हैं और अपनी वाणी में सदैव उस अवस्था को बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं जिसे अवैयक्तिकता कहा जा सकता है। यही विचार था जिसने यीशु को भी अपनी बातचीत में

> **‘अवैयक्तिक’ बनाया। इस छोटे-से सत्य को न समझ पाना ही इस बात का कारण रहा है कि बहुत-सी सुन्दर सूक्तियाँ और सूत्र, मानो, रद्दी की टोकरी में फेंक दिए गए। इस प्रकार का एक उदाहरण चौथे सुसमाचार का यह प्रसंग है:—**

> **“और यदि आप मनुष्य के पुत्र को वहाँ ऊपर जाते देखें जहाँ वह पहले था, तो क्या होगा?”**

यहाँ यदि इस अभिव्यक्ति को यीशु की ओर संकेत करता हुआ माना जाए, तो यह केवल दार्शनिक गुण की हानि पर ही सम्भव है। इसी प्रकार यह घोषणा—“मैं आपसे सच कहता हूँ कि जो यहाँ खड़े हैं, उनमें से कुछ ऐसे हैं जो जब तक मनुष्य के पुत्र को उसके राज्य में आते हुए न देख लेंगे, तब तक मृत्यु का स्वाद न चखेंगे” (मत्ती १६:२८)—यीशु से, मनुष्यजाति के एक सदस्य के रूप में के अतिरिक्त, कोई भी सम्बन्ध नहीं रख सकती। मरकुस भी इस कथन को अभिलिखित करते हैं, किन्तु वे उसे इस प्रकार देते हैं:—

> **“मैं आपसे सच कहता हूँ कि जो यहाँ खड़े हैं, उनमें से कुछ ऐसे हैं जो जब तक ईश्वर के राज्य को सामर्थ्य सहित आया हुआ न देख लेंगे, तब तक मृत्यु का स्वाद न चखेंगे।”—(मरकुस ९:१।)**

लूका भी ‘मनुष्य के पुत्र को उसके राज्य में’ के स्थान पर ‘ईश्वर का राज्य’ रखते हैं।

मरकुस भी इसी कथन को अंकित करता है, किन्तु वह इसे इस प्रकार देता है:—

> **“मैं आप से सच कहता हूँ, कि जो यहाँ खड़े हैं, उनमें से कोई ऐसे हैं कि जब तक परमेश्वर के राज्य को सामर्थ्य सहित आते हुए न देख लें, तब तक मृत्यु का स्वाद कदापि न चखेंगे।”—(मरकुस ९:१)**

लूका भी ‘मनुष्य के पुत्र के अपने राज्य में’ आने के स्थान पर ‘परमेश्वर का राज्य’ रखता है। यह मानना कि ‘मनुष्य का पुत्र’ का अर्थ यीशु है, और ‘परमेश्वर के राज्य’ का अर्थ पुनरुत्थान के पश्चात् किसी अन्य लोक का स्वर्ग है, हमें प्रकार-प्रकार की असंगतियों में डाल देता है। सच्चा और स्वाभाविक अर्थ यह है कि जिस प्रकार आदम के पतन से पतित होकर भ्रष्ट हो जाने की एक अवस्था समझी जाती है, उसी प्रकार ‘मनुष्य के पुत्र के अपने राज्य में आने’ से आत्मा के द्वारा ईश्वरत्व की प्राप्ति अभिप्रेत है। यीशु का संकेत इसी की ओर था, जब उसने कहा, “और यदि आप मनुष्य के पुत्र को, जहाँ वह पहले था, वहीं ऊपर चढ़ते हुए देखें, तो क्या होगा?” यहाँ जिसकी चर्चा है, वह मनुष्य के द्वारा अपने महिमामय, दिव्य स्वभाव का साक्षात्कार है।

स्वर्गारोहण का अर्थ शरीर-सहित स्वर्ग को चले जाना नहीं, अपितु कुछ अत्यन्त भिन्न ही है। तथापि हम इस सिद्धान्त के विचार को किसी परवर्ती एवं अधिक उपयुक्त अवसर के लिए सुरक्षित रखेंगे; इस समय इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त है कि यीशु का उस रीति से स्वर्ग को चढ़ जाना असम्भव है, जिसकी सूचना बाइबिल की शाब्दिक व्याख्या देती है। पौराणिक कल्पना के मिथ्या आधिक्य से मुक्त कर देने पर, 'मनुष्य के पुत्र के, जहाँ वह पहले था वहाँ ऊपर चढ़ जाने' तथा 'परमेश्वर के राज्य के आने' (जो अन्तिम, मत्ती के अनुसार, 'मनुष्य के पुत्र का अपने राज्य में आना' है) सम्बन्धी वे दोनों प्रसंग समस्त मानव-जाति की ओर संकेत करते हैं, और उनके द्वारा उन लोगों के द्वारा 'खोए हुए स्वर्ग' की पुनःप्राप्ति की भविष्यवाणी की गई है जो निरन्तर सच्ची शिक्षा के अनुसार जीवन बिताते हैं। वे उस 'अदन की वाटिका' में प्रवेश की ओर संकेत करते हैं, जिससे आदम अब बहिष्कृत है। वे उद्धार के सिद्धान्त का सार प्रस्तुत करते हैं, किन्तु यीशु की व्यक्तिगत उपासना के तत्त्व के लिए कोई अवकाश नहीं देते। स्वयं उस महान् गुरु के निम्नलिखित वचन इस विषय को विवाद से परे कर देते हैं:—

> **"और जब आप मेरा कहा नहीं मानते, तो क्यों मुझे 'हे प्रभु, हे प्रभु' कहते हैं?"**

> **"धन्य हैं वे, जो परमेश्वर का वचन सुनते और उसका पालन करते हैं।"**

> **"यदि आप मन न फिराएँ, तो आप सब भी इसी रीति से नष्ट होंगे।"**

> **"मैं मनुष्य की गवाही नहीं चाहता; तौभी मैं ये बातें इसलिए कहता हूँ कि आपका उद्धार हो।"**

> **"मैं मनुष्यों से आदर नहीं चाहता।"**

> **"मेरा उपदेश मेरा नहीं, वरन् मेरे भेजनेवाले का है। यदि कोई उसकी इच्छा पर चलना चाहे, तो वह इस उपदेश के विषय में जान जाएगा कि वह परमेश्वर की ओर से है, अथवा मैं अपनी ओर से कहता हूँ।"—(यूहन्ना ७:१६-१७)**

> **"यदि आप मेरे वचन में बने रहेंगे, तो सचमुच मेरे चेले ठहरेंगे। और आप सत्य को जानेंगे, और सत्य आपको स्वतंत्र करेगा।"—(यूहन्ना ८:३१-३२)**

> **"और मैं अपनी महिमा नहीं ढूँढ़ता।"—(यूहन्ना ८:५०)**

> "जो मुझ पर विश्वास करता है, वह मुझ पर नहीं, वरन् मेरे भेजनेवाले पर विश्वास करता है। और जो मुझे देखता है, वह मेरे भेजनेवाले को देखता है। मैं जगत् में ज्योति होकर आया हूँ, ताकि जो कोई मुझ पर विश्वास करे, वह अंधकार में न रहे। यदि कोई मेरी बातें सुनकर उन्हें न माने, तो मैं उसे दोषी नहीं ठहराता; क्योंकि मैं जगत् को दोषी ठहराने के लिए नहीं, परन्तु जगत् का उद्धार करने के लिए आया हूँ। जो मुझे तुच्छ जानता है और मेरी बातें ग्रहण नहीं करता, उसे दोषी ठहरानेवाला तो एक है: अर्थात् जो वचन मैंने कहा है, वही अन्तिम दिन में उसे दोषी ठहराएगा। क्योंकि मैंने अपनी ओर से नहीं कहा, परन्तु पिता ने, जिसने मुझे भेजा है, मुझे आज्ञा दी है कि क्या-क्या कहूँ और क्या-क्या बोलूँ। और मैं जानता हूँ कि उसकी आज्ञा अनन्त जीवन है: इसलिए मैं जो कुछ बोलता हूँ, वह जैसा पिता ने मुझसे कहा है, वैसा ही बोलता हूँ।"—(यूहन्ना १२:४४-५०)

जहाँ तक 'पिता' के विचार का सम्बन्ध है, उसे सबसे भली भाँति उन बारह शिष्यों में से एक, फिलिप्पुस (Philip) के भाव में अपने आपको रखकर समझा जा सकता है, जिसने यीशु से कहा था (यूहन्ना १४:८):

> "हे प्रभु, पिता को हमें दिखा दे, इतना ही हमारे लिए बहुत है।"

किन्तु यीशु ने फिलिप्पुस को पिता को 'सदेह' नहीं दिखाया, वरन् उसे केवल इसी बात पर छोड़ दिया कि वह निम्नलिखित कथन से अपना निष्कर्ष स्वयं निकाल ले:

> "यदि आपने मुझे देखा है तो पिता को देखा है, क्योंकि मैं पिता में हूँ और पिता मुझ में है। जो बातें मैं आपसे कहता हूँ, वे अपनी ओर से नहीं कहता; परन्तु पिता, जो मुझ में बना रहता है, वही ये काम करता है। मेरा विश्वास करें कि मैं पिता में हूँ और पिता मुझ में है।"—(यूहन्ना १४:९-११)

यह 'अनेक में एक और एक में अनेक' का वही पुरातन सिद्धान्त था, जिसकी शिक्षा यीशु ने अपने शिष्यों को दी। कुछ इसी से मिलता-जुलता सिद्धान्त भगवद्गीता में इन शब्दों में प्रतिपादित हुआ है:—

> "वह समस्त प्राणियों के बाहर और भीतर परिपूर्ण है, चर भी वही है और अचर भी; अपनी सूक्ष्मता के कारण वह अविज्ञेय है; तथा वही अत्यन्त समीप है और वही दूर भी। वह अविभक्त होते हुए भी प्राणियों में मानो विभक्त-सा स्थित है; वही प्राणियों का धारण-पोषण करनेवाला जानने योग्य है; वही संहार करता है और वही उत्पन्न भी करता है।" (अध्याय १३:१५-१६)

किन्तु यह साम्य केवल ऊपरी है; क्योंकि भगवद्गीता जहाँ दिव्य व्यापकता को निरपेक्ष और सार्वभौम बताती है, वहाँ यीशु ने उसे केवल सीमित और सोपाधिक ही माना। एक के अनुसार ईश्वर की व्याप्ति पहले से ही और सनातन रूप से पूर्ण है, किन्तु दूसरे के अनुसार उसे स्थापित करना होता है। सच्ची दाखलता के उस दृष्टान्त के प्रसंग में यह बात सहज ही देखी जा सकती है, जिसे यीशु ने इन शब्दों में प्रतिपादित किया:—

> **"मैं दाखलता हूँ, आप डालियाँ हैं; जो मुझ में बना रहता है और मैं उसमें, वही बहुत फल फलता है, क्योंकि मुझसे अलग होकर आप कुछ भी नहीं कर सकते। यदि कोई मुझ में बना न रहे, तो वह डाली की नाईं फेंक दिया जाता है और सूख जाता है; और लोग उन्हें बटोरकर आग में झोंक देते हैं, और वे जल जाती हैं।"—(यूहन्ना १५:५-६)**

और उसी सुसमाचार के निम्नलिखित वचनों में तो यह और भी अधिक स्पष्ट है:—

> **"यदि कोई मुझसे प्रेम रखे, तो वह मेरे वचन को मानेगा; और मेरा पिता उससे प्रेम रखेगा, और हम उसके पास आएँगे और उसके साथ वास करेंगे।"—(यूहन्ना १४:२३)**

(दोनों ही स्थलों में तिरछे अक्षर हमारे हैं।) अब यह स्पष्ट हो जाएगा कि इन दोनों दृष्टियों का अन्तर इस तथ्य में निहित है कि जहाँ उनमें से एक 'सब में एक और एक में सब' से कम कुछ भी स्वीकार न करेगी, वहाँ दूसरी 'अनेक में एक और एक में अनेक' से आगे नहीं जाती। किन्तु भगवद्गीता के उस प्रसंग पर एक अन्य और संकीर्णतर व्याख्या भी की जा सकती है — 'एक' को समस्त आत्माओं में समान रूप से विद्यमान सम्भाव्य अथवा प्रसुप्त दिव्यता के रूप में परिभाषित करके, और 'सब' के क्षेत्र को चेतन प्रकृति तक सीमित करके। ऐसी दशा में वह ठीक वही भाव व्यक्त करेगा जो लूका के उस प्रसिद्ध वचन में मिलता है — "सब उसके लिए जीवित हैं" — जिसे उद्धृत करने का अवसर हमें पहले भी मिल चुका है। तथापि यह निश्चित है कि चौथे सुसमाचार से उद्धृत उन तीनों प्रसंगों के मूल में जो सिद्धान्त है, वह भगवद्गीता में तथा अन्यत्र स्वयं पवित्र बाइबिल में भी प्रतिष्ठित दिव्य-व्यापकता के सिद्धान्त से भिन्न है, और इसलिए उसके साथ मिला देने योग्य नहीं। यह अन्तर महान् है और दिव्यता की उन दोनों धारणाओं के स्वरूप का सूचक है, जिनमें से एक में वह समस्त प्राणियों में — और कुछ के मत से चेतन-अचेतन समस्त प्रकृति में — समान रूप से विद्यमान शुद्ध सत्ता के रूप में कल्पित है, और दूसरी में आत्मा के द्वारा प्राप्तव्य पूर्णता के आदर्श के साक्षात्कार के रूप में। अतएव दिव्यता की व्याप्ति उसके स्वरूप-सम्बन्धी हमारी धारणा के अनुसार बदलती रहती है — शुद्ध और केवल सत्ता के रूप में कल्पित होने पर

वह निरपेक्ष और निरुपाधिक होती है, पूर्णता की सम्भाव्यता के रूप में समस्त प्राणियों तक सीमित होती है, और आत्मा में जो कुछ दिव्य है उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति के रूप में एक और भी छोटे वर्ग तक सीमित हो जाती है।

सम्भव है कि प्रिय मान्यताओं की उन पुरानी मूर्तियों को यह दिखाकर तोड़ने में कि वे विशुद्ध मानसिक कल्पनाओं पर आधारित हैं, हम कुछ निर्मम रहे हों; किन्तु यह निश्चित है कि जिज्ञासु आत्मा के लिए सहायक वस्तुओं का वही ज्ञान हो सकता है जो वे यथार्थतः हैं, न कि उनके स्वरूप के विषय में हमारी कल्पित मान्यताएँ। यदि हम कभी यह पूछने का विचार करें कि पिता और मसीह किस प्रकार आकर उस मनुष्य के साथ वास करेंगे जो 'वचन को मानता है', तो हमें उस शाब्दिक व्याख्या की असंगति दिखाई देगी — कि दो या अधिक व्यक्ति आकर किसी अन्य में निवास कर सकें अथवा वास करके काम कर सकें।

अतएव यह स्पष्ट है कि यीशु अपने विषय में नहीं, वरन् क्राइस्टॉस (Christos) के विषय में, अर्थात् उस सच्चे 'उद्धारक' के विषय में बोल रहा था, जिसका आत्मा में 'जन्म' लेना आवश्यक है, ताकि वह देवत्व की पूर्णता को प्राप्त कर सके।

इसी प्रकार निम्नलिखित वचनों में भी यीशु-पूजा का कोई तत्त्व नहीं मिलता (यूहन्ना १२:३५-३६):—

> **"अभी थोड़ी देर तक ज्योति आपके बीच में है; जब तक ज्योति आपके साथ है, तब तक चलते रहें, ऐसा न हो कि अंधकार आप पर छा जाए; क्योंकि जो अंधकार में चलता है, वह नहीं जानता कि किधर जाता है। जब तक ज्योति आपके साथ है, ज्योति पर विश्वास करें, ताकि आप ज्योति की सन्तान हों।"**

व्यर्थ ही हमसे कहा जाएगा कि 'ज्योति' का अर्थ यीशु है और यीशु के अतिरिक्त और कुछ नहीं; क्योंकि इस प्रसंग का किसी छोटे या बड़े व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं, अपितु वह बुद्धि की ओर संकेत करता है — जीवन की ज्योति अथवा आत्मा की ओर — जो समस्त कल्याण का स्रोत है और अकेली ही आत्मा को उसके लक्ष्य तक ले जाने में समर्थ है। यहाँ बल उस अवसर पर दिया गया है जो मनुष्य-जन्म से प्राप्त होता है, और जो धर्म के अनुसार निर्वाण का एकमात्र प्रस्थान-बिन्दु है। जब तक हम जीवित हैं, तब तक हमें अपनी भूलों को सुधारने और सत्य को ग्रहण करने का अवसर प्राप्त है; किन्तु जब एक बार यह जीवन समाप्त हो गया, तो कौन कह सकता है कि उसके कितने काल पश्चात् पुनः ऐसा अवसर मिलेगा? इसी से वह मसीही उपदेश है:

> **“मन फिराएँ, क्योंकि स्वर्ग का राज्य निकट आ गया है।”**

यीशु ने सचमुच मानव-जाति को सर्वोच्च धर्म प्रदान किया, जब उसने कहा:—

> **“ज्योति पर विश्वास करें, ताकि आप ज्योति [जीवन] की सन्तान हों।”**

मानवता सदा से जीवन के चिरस्थायित्व के लिए लालायित रही है, और उस गुरु ने घोषणा की (यूहन्ना ५:२४ तथा २६):

> **“मैं आपसे सच-सच कहता हूँ, जो मेरा वचन सुनता और मेरे भेजनेवाले पर विश्वास करता है, अनन्त जीवन उसका है। क्योंकि जिस रीति से पिता अपने आप में जीवन रखता है, उसी रीति से उसने पुत्र को भी यह अधिकार दिया कि वह अपने आप में जीवन रखे।”**

अन्तर्निहित क्राइस्टॉस यह घोषित करते कभी नहीं थकता:—

> **“मैं आपसे सच-सच कहता हूँ, जो कोई मुझ पर विश्वास करता है, अनन्त जीवन उसका है। जीवन की रोटी मैं हूँ। आपके पुरखाओं ने जंगल में मन्ना खाया और मर गए। यह वह रोटी है जो स्वर्ग से उतरती है, ताकि मनुष्य उसमें से खाए और न मरे। जीवन की रोटी जो स्वर्ग से उतरी, वह मैं हूँ; यदि कोई इस रोटी में से खाए, तो सर्वदा जीवित रहेगा। यह वह रोटी है जो स्वर्ग से उतरी है — उस मन्ना के समान नहीं जिसे आपके पुरखाओं ने खाया और मर गए; जो कोई यह रोटी खाएगा, वह सर्वदा जीवित रहेगा।”—(यूहन्ना ६:४७-५१)**

यही स्वर तब भी सुनाई देता है जब कहा जाता है—

> **“जगत् की ज्योति मैं हूँ; जो मेरे पीछे हो लेगा, वह अंधकार में न चलेगा, परन्तु जीवन की ज्योति पाएगा।”—(यूहन्ना ८:१२)**

वह गुरु यह भी उचित ही कह सकता है—

> **“मैं आपसे सच-सच कहता हूँ, यदि कोई मेरे वचन पर चलेगा, तो वह अनन्तकाल तक मृत्यु को न देखेगा।”—(यूहन्ना ८:५१)**

और वैसे ही:—

> **“मैं इसलिए आया कि वे जीवन पाएँ, और बहुतायत से पाएँ।”—(यूहन्ना १०:१०)**

तपस्वियों का एक वर्ग तो यहाँ तक मानता है कि शारीरिक मृत्यु कोई अनिवार्य विपत्ति नहीं है, और जब तक कोई चाहे तब तक जीवन को बढ़ाया जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द (Swami Vivekananda) का आग्रह है (राजयोग [Raja Yoga], पृष्ठ १५८-१६०):—

> **“योगी तो यहाँ तक मानते हैं कि जो मनुष्य शुभ संस्कारों की प्रचण्ड शक्ति अर्जित कर लेते हैं, उन्हें मरना नहीं पड़ता, वरन् वे इसी जीवन में अपने शरीरों को दिव्य शरीरों में बदल सकते हैं। योगियों ने अपने ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरणों का उल्लेख किया है। ये मनुष्य अपने शरीरों के उपादान को ही बदल डालते हैं; वे अणुओं का ऐसा पुनर्विन्यास कर लेते हैं कि फिर उन्हें रोग नहीं होता, और जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह उनके पास नहीं आती। ऐसा क्यों न हो? विश्व के समस्त शरीर तन्मात्राओं से बने हैं, और भेद केवल उनके विन्यास में है। यदि विन्यास करनेवाले आप ही हैं, तो आप उस शरीर को जैसे चाहें वैसे विन्यस्त कर सकते हैं। आपके अतिरिक्त इस शरीर को कौन बनाता है? भोजन कौन करता है? यदि कोई दूसरा आपके लिए भोजन करता, तो आप अधिक दिन जीवित न रहते। उससे रक्त कौन बनाता है? निश्चय ही आप। आप ही इस शरीर के निर्माता हैं, और आप ही उसमें निवास करते हैं। केवल हम यह ज्ञान खो बैठे हैं कि उसे कैसे बनाया जाए।......हम ही सृष्टिकर्ता हैं और हमें ही उस सृष्टि का नियमन करना है; और ज्यों ही हम ऐसा कर सकेंगे, त्यों ही हम जैसा चाहें वैसा निर्माण कर सकेंगे, और तब न हमारा जन्म होगा, न मृत्यु, न रोग, न और कुछ।”**

यह दृष्टि कहाँ तक ठीक है, इसकी जाँच आगे की जाएगी; किन्तु इतना स्पष्ट है कि यीशु और उसके विरोधियों के बीच विवाद का विषय यीशु की ओर से व्यक्तिगत पूजा अथवा आराधना का कोई दावा नहीं था, अपितु अमरत्व प्राप्त करने की आत्मा की सामर्थ्य था। अतएव उसने अपने लिए किसी विशेष और अनन्य विशेषाधिकार का दावा नहीं किया, जब उसने कहा—

> **“जगत् की ज्योति मैं हूँ; जो मेरे पीछे हो लेगा, वह अंधकार में न रहेगा, परन्तु जीवन की ज्योति पाएगा।”**

फरीसियों ने, जो सदा की भाँति उसे नहीं समझ सके, उससे कहा कि वह झूठ बोलता है, क्योंकि वह अपनी ही गवाही आप देता है। किन्तु यीशु ने उत्तर दिया कि यद्यपि वह अपनी ही गवाही देता है, तथापि वह सच्ची है, क्योंकि उसका कथन सत्य के अनुरूप है, जबकि उनका निषेध अज्ञान पर आधारित है; क्योंकि वे शरीर के विषय में तो निर्णय कर सकते थे कि वह कहाँ से आया और कहाँ जाता है, किन्तु 'जीवन' की सृष्टि-विद्या का ज्ञान उन्हें नहीं था, जैसा उसे था। उसने अपने समर्थन में पिता को, अर्थात् यथार्थ मनुष्य को, साक्षी के रूप में उद्धृत किया, और उसका आशय यह था कि वे उसके चमत्कारों को आत्मा की पूर्णता और दिव्यता का सूचक मानेंगे; किन्तु फरीसी इसे भी न समझ सके, और उससे पूछा, "तेरा पिता कहाँ है?" पर उन्हें उत्तर में केवल इतना ही कहा जा सका,

> **"यदि आप मुझे [अर्थात् मुझ में स्थित यथार्थ मनुष्य को] जानते, तो मेरे पिता को भी जानते।"**

जो लोग सत्य के अन्वेषण में परिश्रम नहीं करते, उनके साथ सदा यही होता है कि वे न केवल दूसरों को न समझने की प्रवृत्ति दिखाते हैं, अपितु अर्थ का विपर्यास करके अपने ही अज्ञान को छिपाने का प्रयत्न भी करते हैं। यीशु के उस कथन में भ्रान्ति का कोई कारण न था, क्योंकि जब उसने कहा 'जगत् की ज्योति मैं हूँ', तब उसने अपने लिए दूसरों पर किसी श्रेष्ठता का दावा नहीं किया। हमारे कुछ पाठकों के मुख पर सम्भावित अविश्वास की मुसकान के उत्तर में हमें केवल उस गिरि-प्रवचन (Sermon on the Mount) की ओर संकेत करना है, जिसमें उसी यीशु ने अपनी सभा से अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा था:—

> **"आप जगत् की ज्योति हैं।"**

यीशु और मसीह का भेद शेष सब कुछ स्पष्ट कर देता है। जब मनुष्य 'जीवन के दीपक' पर से पैमाना हटा देता है और अपनी अन्तर्ज्योति को जगत् में इस प्रकार चमकने देता है कि भीतर विद्यमान पिता के काम मनुष्यों को दिखाई दें, तब वह मसीह बन जाता है, और उस उक्ति का मर्म समझ लेता है, "मैं और मेरा पिता एक हैं।" "आप पृथ्वी के नमक हैं" — यह वचन मांस के शरीर पर लागू नहीं होता, क्योंकि वह तो मिट्टी का है, मृत्तिकामय; अपितु जीवन के उस अन्तर्वासी सार पर लागू होता है, अर्थात् आत्मा पर, जिसे संस्कृत में आत्मन् कहा जाता है। यह सब पर्याप्त सरल है, फिर भी उनके लिए तो यह सदा अबोध ही रहेगा जो स्वयं जीवन की समस्या पर मनन करने का कष्ट नहीं उठाते।

बहुत-से लोग श्रद्धा प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु उन्हें इसका किंचित् भी बोध नहीं कि मुख के शब्द और विश्वास के भाव में क्या अन्तर है। जो किसी बात को केवल सुन लेता है और अपने को बलपूर्वक उस पर श्रद्धा करने को विवश करता है, उसकी वह श्रद्धा तब नष्ट हो जाने की सम्भावना रहती है जब सन्देह

उस पर आक्रमण करे — वह सन्देह, जो ऐसा प्रधान शत्रु है जिसका वध विवेक की तलवार के अतिरिक्त और किसी से नहीं हो सकता। अतएव मनुष्य को अपना घर तर्क की चट्टान पर बनाना चाहिए, जो अकेली ही सन्देह के प्रचण्डतम झंझावातों और तूफानों को सह सकती है। इसके अतिरिक्त, अविवेकी श्रद्धा प्रायः ही धर्मान्धता और अन्धविश्वास में परिणत हो जाती है, जो निकृष्टतम प्रकार की बुराइयों की अग्रदूत हैं।

और फिर, ज्ञान तथा उसका प्रयोग दो भिन्न वस्तुएँ हैं; और स्पष्ट ही, प्रयोग की सामर्थ्य ही ज्ञान की सीमा निर्धारित करती है। अतएव जो लोग दूसरों से केवल ज्ञान के वचन सुन लेते हैं, किन्तु स्वयं उन पर मनन नहीं करते, वे उन फरीसियों के समान हैं जो आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के अर्थ की सच्ची धारणा न बना सके। इसी कारण उन्होंने इस कथन पर रोष प्रकट किया:—

> **"आप सत्य को जानेंगे, और सत्य आपको स्वतंत्र करेगा।"**

इस वचन को राष्ट्रीय दासता के अर्थ में लेकर उन्होंने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया कि इब्राहीम का वंश कभी किसी के बन्धन में नहीं रहा; फिर वह कैसे कह सकता है, 'आप स्वतंत्र होंगे'?

उस मसीही वचन का पूरा महत्त्व समझने के लिए हमें केवल आत्माओं के पुनर्जन्म के सिद्धान्त की ओर मुड़ना है। अज्ञान के कारण आत्मा बार-बार जन्म और मृत्यु के, तथा उनके साथ आनेवाले दुःख और पीड़ा के अधीन रहती है। यही बन्धन है; और यह तब तक बना रहता है जब तक आत्मा अपनी परिस्थितियों को नियन्त्रित करने की शक्ति प्राप्त न कर ले। अपने भाग्य पर अधिकार प्राप्त कर लेने पर आत्मा वही बन जाती है जिसे 'ईश्वर का पुत्र' कहा जाता है, और मुक्त एवं स्वतन्त्र होकर विश्व के सर्वोच्च भाग में आरोहण कर जाती है, जहाँ वह सदा के लिए ज्ञान और आनन्द सहित नाना प्रकार की पूर्णताओं का उपभोग करती हुई निवास करती है। अब, चूँकि अपने भाग्य पर अधिकार उचित समय पर उचित कार्य किए बिना प्राप्त नहीं हो सकता, और चूँकि उचित कार्य तथा उचित क्षण का चुनाव संयोग के भरोसे, अर्थात् इस ज्ञान के बिना कि क्या उचित है और क्या नहीं, सम्भव नहीं है, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि जन्म-मरण की उस बाध्यता से, जिसे कर्म-बन्धन कहते हैं, मुक्ति पाने के लिए ज्ञान एक पूर्ववर्ती शर्त है। इस विषय पर यीशु ने ठीक यही कहा था। उस अवसर पर उसने जो दृष्टान्त कहे, वे स्वयं में अत्यन्त शिक्षाप्रद हैं। जो पाप करते हैं, वे सब पाप के दास हैं। बुराई का तत्त्व शाश्वत नहीं है, किन्तु भलाई सनातन है। जो केवल अस्तित्व की एक क्षणिक अवस्था है, उसे तब चले जाना ही होगा जब हृदय में

भलाई का तत्त्व प्रतिष्ठित हो जाए, क्योंकि वह सनातन है। बुराई अंधकार है, अज्ञान है; भलाई ज्योति है और ज्ञान है; जहाँ ज्ञान की ज्योति चमकती है, वहाँ अंधकार नहीं ठहर सकता। जीवन स्वयं ही ज्ञान की ज्योति है, और तदनुसार घोषित करता है:—

> **"मार्ग और सत्य और ज्योति मैं हूँ।"**

जो सच्चे सिद्धान्त का मिथ्या अर्थ लगाते हैं, उनके लिए जीवन के पास भर्त्सना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उनकी नियति यीशु के उन शब्दों में पूर्वसूचित है, जो उसने व्यवस्थापकों से कहे थे:

> **"हाय आप व्यवस्थापकों पर! क्योंकि आपने ज्ञान की कुंजी ले ली; आप आप ही भीतर न गए, और भीतर जानेवालों को भी रोक दिया।"—(लूका ११:५२)**

हम नहीं जानते कि आज के उस उपदेशक से यीशु क्या कहता, जो न केवल स्वयं भीतर नहीं गया और भीतर जानेवालों के मार्ग में खड़ा रहा, वरन् जिसने अनेक सुमार्गगामी आत्माओं को बहकाकर सच्चे मार्ग से विमुख भी कर दिया, ताकि वे उसका अनुसरण करें जिसका उपदेश धर्म ने कभी नहीं दिया, अपितु जो सच्चे सिद्धान्त का सबसे घृणित विपर्यास है। हाय! कि संसार में प्रत्येक युग में अपने फरीसी विद्यमान रहे।

यूहन्ना, जिसका फरीसियों की पराजय पर आह्लाद का भाव विलक्षण रूप से सुखद है, उनके तथा अपने गुरु के बीच एक और संवाद अंकित करता है। वह यीशु से कहलवाता है:—

> **"मैं आपसे सच-सच कहता हूँ, यदि कोई मेरे वचन पर चलेगा, तो वह अनन्तकाल तक मृत्यु को न देखेगा।"—(यूहन्ना ८:५१)**

यह उन बेचारे अज्ञानी यहूदियों के धैर्य के लिए अत्यधिक था, और उन्होंने तत्काल पूछा:—

> **"इब्राहीम मर गया और भविष्यद्वक्ता भी मर गए; और तू कहता है कि यदि कोई मेरे वचन पर चलेगा तो वह अनन्तकाल तक मृत्यु का स्वाद न चखेगा। क्या तू हमारे पिता इब्राहीम से बड़ा है, जो मर गया? और भविष्यद्वक्ता भी मर गए; तू अपने आपको क्या ठहराता है?"—(यूहन्ना ८:५२-५३)**

यदि यीशु और यहूदी केवल आनेवाले जगत् में मृतकों के पुनरुत्थान की चर्चा कर रहे होते, तो यह समझना कठिन है कि उनके बीच ऐसी भ्रान्ति कैसे उत्पन्न हो सकती थी। इस संवाद की व्याख्या इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार से करना असम्भव है कि यीशु का सिद्धान्त उसकी सभा के लिए इतना

चौंका देनेवाला और नवीन था कि वे उसे बिलकुल भी नहीं समझ सके, और इस प्रकार उसके प्रतिपादक से निरन्तर विपरीत अर्थ लगाते रहे। यहूदियों का भाव भी विचित्र न था। ऐसी परिस्थितियों में अज्ञान सदा यही भाव धारण करता है। जब कभी कोई नया सिद्धान्त उपदिष्ट होता है अथवा कोई नई सम्भावना खोजकर प्रकट की जाती है, तब लोग कहते हैं: हमारे पूर्वज न तो इसे मानते थे, न इसका आचरण करते थे; क्या तू उनसे बड़ा है?

समस्त नई खोजों और विज्ञानों के विरुद्ध सदा वह रहा है जिसे लोकमत कहते हैं। यीशु ने अपने चमत्कारों के कारण ही अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाई, और अपने सिद्धान्त के कारण ही वह प्रायः उन्हें खोता भी रहा, जैसा यूहन्ना ने लिखा है।* उसके सिद्धान्त में कुछ ऐसा था जिसके कारण अनेक व्यक्तियों ने उसे विक्षिप्त-चित्त समझा। यहाँ तक कि उसके अपने भाई भी उसे स्वस्थचित्त नहीं मानते थे। फिर भी जब हम शान्त होकर उन्हीं वचनों का यथार्थ अर्थ समझने बैठते हैं जो भ्रान्ति के प्रमुख कारण थे, तब हम उन्हें न केवल परस्पर संगत पाते हैं, अपितु विचार के उस उच्चतम रूप के भी अनुकूल पाते हैं जिसे जानने का सौभाग्य मानव-जाति को कभी प्राप्त हुआ है। क्या हम अपनी भ्रान्त मान्यता के मिथ्या अभिमान के लिए, 'मनुष्यों की परम्पराओं' में अपने विश्वास के लिए, सत्य का बलिदान कर देंगे? क्या हम ज्ञान की ज्योति को इसलिए अस्वीकार कर देंगे कि वह भारत से ली गई थी और फ़िलिस्तीन में उत्पन्न नहीं हुई थी? क्या हम यीशु को इसलिए अस्वीकार कर देंगे कि जिसका उसने उपदेश दिया, उसे उसने किसी समय किसी और से सीखा था? अथवा हम अपने सिर से पगड़ी उतारकर उस यथार्थ, जीवन्त सत्य के प्रति श्रद्धा प्रकट करेंगे, चाहे वह किसी भी माध्यम से प्रवाहित हुआ हो? हमें तो आनन्दित होना चाहिए कि परस्पर विलग और विभाजित होने के स्थान पर हमने अपने तथा अपनी जाति के एक विशाल वर्ग के बीच विचार और मत की एकता का एक यथार्थ बन्धन खोज लिया है। जिन्हें हम अब तक पराया समझते आए थे, वे निकट के बन्धु प्रकट हुए हैं। यह सत्य है कि पुराने आदर्श चूर-चूर हो गए हैं, किन्तु अज्ञानमूलक अन्धविश्वास तथा भ्रान्त रूप से समझी गई पुराण-कथा की मूर्ति के स्थान पर अब हमारे समक्ष उपासना, आराधना और आदर्श-रूप में स्थापन के लिए यथार्थ, जीवन्त सत्य का ईश्वर विद्यमान है।

---

* यूहन्ना ६:६६।

अब हम यह प्रश्न ले सकते हैं कि जो परमेश्वर के राज्य में प्रवेश करना चाहता हो, वह किस प्रकार आगे बढ़े? यह देखकर सन्तोष होता है कि इस विषय पर विधि-निषेधों की एक बड़ी राशि विद्यमान है, जो कुछ स्थलों पर तो पूर्णतः स्पष्ट और स्वयं में सम्पूर्ण है। किन्तु उन पर विचार करने से पूर्व हम इस अवसर से लाभ

उठाकर पुनः यह कहना चाहेंगे कि यीशु ने स्वयं कभी यह नहीं चाहा कि उसकी उपासना की जाए; अन्यथा ये समस्त निर्देश और आदेश सर्वथा निरर्थक और अनावश्यक होते। यह तथ्य कि उसके प्रवचन मुक्ति के विषय में उपदेशों से भरे हुए हैं, इसका सबसे प्रबल संकेत है कि उसे समझा नहीं गया। वह चाहता था कि लोग उसके 'वचन' पर विश्वास करें, न कि उसके व्यक्ति पर। उसने उनसे कभी यह नहीं कहा कि वे इसलिए शुद्ध हुए कि उन्होंने उसे देखा, या उसकी उपासना की, या उसके साथ रहे; किन्तु उसने उनसे यह अवश्य कहा:

> **"अब आप उस वचन के कारण शुद्ध हैं जो मैंने आपसे कहा है।"**

वह केवल उन्हीं से प्रेम रखता था जो उसके वचन का पालन करते थे, और उसने कहा:—

> **"यदि आप मेरी आज्ञाओं को मानेंगे, तो मेरे प्रेम में बने रहेंगे (यूहन्ना १५:३)। यदि आप वही करें जिसकी मैं आपको आज्ञा देता हूँ, तो आप मेरे मित्र हैं (यूहन्ना १५:१४)। जिसके पास मेरी आज्ञाएँ हैं और वह उन्हें मानता है, वही मुझसे प्रेम रखता है; और जो मुझसे प्रेम रखता है, उससे मेरा पिता प्रेम रखेगा (यूहन्ना १४:२१)। यदि आप मुझसे प्रेम रखें, तो मेरी आज्ञाओं को मानें (यूहन्ना १४:१५)। और हम उसके पास आएँगे और उसके साथ वास करेंगे (यूहन्ना १४:२३)। धन्य हैं वे, जो परमेश्वर का वचन सुनते और उसका पालन करते हैं। जब आप मेरा कहा नहीं मानते, तो क्यों मुझे 'हे प्रभु, हे प्रभु' कहते हैं (लूका ६:४६)? जो मुझसे 'हे प्रभु, हे प्रभु' कहता है, उनमें से हर एक स्वर्ग के राज्य में प्रवेश न करेगा, परन्तु वही जो मेरे स्वर्गीय पिता की इच्छा पर चलता है (मत्ती ७:२१)। इसलिए जो कोई मेरी ये बातें सुनकर उन्हें मानता है, वह उस बुद्धिमान मनुष्य के समान ठहरेगा जिसने अपना घर चट्टान पर बनाया (मत्ती ७:२४)। और जो कोई मेरी ये बातें सुनकर उन्हें नहीं मानता, वह उस मूर्ख मनुष्य के समान ठहरेगा जिसने अपना घर बालू पर बनाया (मत्ती ७:२६)। और जो अपना क्रूस लेकर मेरे पीछे न चले, वह मेरे योग्य नहीं (मत्ती १०:३८)।"**

ये प्रसंग मन में तनिक भी सन्देह नहीं रहने देते कि परमेश्वर के राज्य में प्रवेश यीशु की व्यक्तिगत आराधना और उपासना पर नहीं, अपितु उस 'वचन' के निष्ठापूर्वक पालन पर निर्भर था जिसका उसने उपदेश दिया। इस प्रकार, अर्हता का सर्वाधिक आवश्यक अंग उस शिक्षा का 'करना' अथवा 'पालन करना' था।

अब हम देखें कि वे कौन-सी बातें थीं जिनके विषय में यीशु ने बताया कि उनका पालन किया जाए अथवा उनसे बचा जाए। इस विषय में गिरि-प्रवचन विशेष रूप से रोचक है, क्योंकि उसमें नवसाधक के लिए अनेक उपदेश हैं। 'धन्य हैं वे जो आत्मा में दीन हैं। धन्य हैं वे जो शोक करते हैं। धन्य हैं वे जो

धार्मिकता के भूखे और प्यासे हैं। इसी प्रकार धन्य हैं दयावन्त, मेल कराने वाले, और मन के शुद्ध लोग। तू न केवल हत्या न करना, वरन् किसी पर क्रोध भी न करना। जो कोई किसी स्त्री पर कुदृष्टि डाले, वह अपने मन में उससे व्यभिचार कर चुका। तू शपथ न खाना। तू अपने पड़ोसी से, और अपने बैरी से भी, प्रेम रखना। तू बुराई का सामना न करना, वरन् जो कोई तेरे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी ओर दूसरा भी फेर देना। और यदि कोई मुकदमा करके तेरा कुरता लेना चाहे, तो उसे अपना दुशाला भी दे देना; इसी प्रकार यदि कोई तुझे एक कोस चलने को विवश करे, तो उससे दूना चलने को तत्पर रहना।'

उस स्मरणीय प्रवचन का सारांश यही है। प्रश्न यह है कि इस सबसे यीशु का अभिप्राय क्या था? आत्मा में दीन लोग धन्य क्यों हैं? कोई शोक क्यों करे? हमारे शत्रुओं से प्रेम क्यों किया जाए?

हम देख चुके हैं कि आत्मा की शोचनीय दशा भले और बुरे के ज्ञान के वृक्ष का फल खाने की इच्छा का परिणाम है। यह भी देखा जा चुका है कि आनन्द की अवस्था आत्मा की स्वाभाविक और सहज दशा है, जो इच्छाओं की कीच के नीचे छिपी हुई है; और यह भी बताया जा चुका है कि आनन्द की इस छिपी हुई अवस्था को अभिव्यक्ति में लाना ही आत्मा का आदर्श है। अतएव अब हमें यही करना है कि इच्छाओं की कीच को हटा दें, ताकि आनन्द की वह सहज अवस्था प्रकट हो सके। दूसरे शब्दों में, इच्छारहितता की अवस्था ही सच्चा आनन्द है, जो एक-एक करके समस्त इच्छाओं के त्याग से ही अनुभव की वास्तविकता बनती है। जब आप धनी होने की इच्छा त्याग देते हैं, तब आप दरिद्र हो जाते हैं; और चूँकि आपने ऐसा इसलिए किया कि इच्छाओं की मलिनता के नीचे से अपने आध्यात्मिक स्वरूप को बाहर ला सकें, इसलिए आपको 'आत्मा में दीन' कहा जाता है। यह वचन उसी की ओर संकेत करता है जिसने जान-बूझकर धन का त्याग किया और दरिद्रता को वरण किया; यह अविवेकपूर्वक समस्त दरिद्रों पर लागू नहीं होता। इस व्यवस्था में कहीं भी उसके लिए स्थान नहीं जो कुड़कुड़ाता है; और न विवशता को गुण बना लेना ही प्रशंसनीय है। अपनी इच्छा से दरिद्र बनकर हम अनेक इच्छाओं का त्याग कर देते हैं, सांसारिक मलिनता का भार घटा देते हैं, और उसी अनुपात में इच्छारहितता की अपनी स्वाभाविक अवस्था को, जो आनन्द है, अभिव्यक्ति में ले आते हैं।

अतएव जो कुछ भी हमें इच्छारहित बनाने में सहायक होता है, वह हमें प्रफुल्ल, अर्थात् आनन्दमय भी बनाता है। आध्यात्मिक दीनता से धन्यता इसी प्रकार उत्पन्न होती है। यही सिद्धान्त यीशु के समस्त अन्य आदेशों के मूल में है; वे सब मनुष्य को ऐसा बनाने की ओर प्रवृत्त हैं कि वह "सिद्ध हो, जैसा आपका स्वर्गीय पिता सिद्ध है।"

बुराई विरोध से बढ़ती है। दुष्टता और नीचता उपालम्भ अथवा प्रतिवाद को सह नहीं सकतीं, चाहे वह कितने ही सद्भाव से क्यों न किया जाए। अतएव दुर्जनों के कार्यों की आलोचना करने में कोई लाभ नहीं। उनसे विरत होने को कहा जाए तो वे केवल क्रुद्ध और चिढ़ जाते हैं, और कटु शत्रु तक बन सकते हैं। सिद्ध पुरुष उनके साथ वैसा ही व्यवहार करता है जैसा दिवसपति सूर्य उनके साथ करता है जो उस पर कुड़कुड़ाते हैं। वह तो केवल चमकता, प्रकाश बिखेरता और मुसकराता रहता है, और शत्रुता के आधार पर किसी से अपना प्रकाश नहीं रोकता। किन्तु दुर्जन भलाई और ज्योति के उन उच्चतर स्पन्दनों को सह नहीं पाते, जबकि सज्जन उनमें फूलते-फलते हैं। एक अपनी दुष्टता से नष्ट होता है, दूसरा अपने सद्गुण से समृद्ध होता है। नीतिशास्त्र का मूल आधार भावुकता, अथवा लोकमत का लिहाज, अथवा सद्गुण और दुर्गुण शब्दों का कोई काव्यात्मक भाव नहीं है, अपितु वही सिद्धान्त है जिसे हमने अभी प्रतिपादित किया। दुष्टता अल्पजीवी है और अधिक काल तक टिक नहीं सकती, चाहे कभी-कभी कुछ स्थलों पर वह कितनी ही समृद्ध क्यों न दिखाई दे। जो ईश्वर के समान सिद्ध होने की आकांक्षा करता है, उसे केवल वैसा होने का विचार ही नहीं करना चाहिए, अपितु ईश्वर के समान आचरण भी करना चाहिए।

जिस प्रकार ईश्वर दुष्टता को अपने आनन्द में विघ्न डालने नहीं देता, और भले तथा बुरे — दोनों को समान दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार आनन्द के अभिलाषी को भी समस्त प्राणियों को एक समान देखना चाहिए; उसे सबका हितैषी होना चाहिए, किसी का द्वेषी नहीं। कठोर वचन और असामयिक वाद-विवाद केवल संघर्ष और कलह ही उत्पन्न कर सकते हैं; उनसे क्रोध जन्म लेता है, जो आत्मा की आध्यात्मिक समरसता में बाधा डालता है। अतएव साधक आध्यात्मिक विसंवाद को रोकने के लिए अपना कुरता और चोगा — दोनों ही दे डालेगा, यद्यपि माँग उनमें से केवल एक की ही क्यों न हो।

जब तक मनुष्य भौतिकवाद में डूबा हुआ है, तब तक इस सिद्धान्त के बल को हृदयंगम करना कुछ कठिन ही है। वस्तुतः मसीह ने इस 'कठोर' सिद्धान्त के दर्शन का केवल एक अंश ही प्रकट किया था। यदि उन्होंने आगे यह भी जोड़ दिया होता कि जब कोई इस महान् सिद्धान्त के आचरण में दृढ़ हो जाता है तब उसकी इच्छा-शक्ति उस अप्रतिहत मात्रा को प्राप्त कर लेती है जिसे कोई मर्त्य प्राणी विफल नहीं कर सकता, तो इस सिद्धान्त का अभिप्राय जन-साधारण के लिए समझना सरल तथा स्वीकार करना अधिक सुगम होता।

वस्तुतः, ज्यों-ज्यों अज्ञान का वह बल, जो आत्मा के स्वाभाविक ओज को दुर्बलता और नपुंसकता की दशा में पहुँचा देता है, सत्य की प्राप्ति के साथ क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों इच्छा-शक्ति अपना आदि सामर्थ्य पुनः प्राप्त करने लगती है; यहाँ तक कि जब तक पूर्णता प्राप्त होती है, वह इस सीमा तक विकसित

हो चुकी होती है कि मनुष्य, पशु अथवा पिशाच — कोई भी उसे विफल नहीं कर सकता। तब कोई ऐसा नहीं मिलेगा जो ऐसे पुरुष को न्यायालय में घसीटने का इच्छुक या उत्सुक हो। लोग किसी सिद्ध पुरुष के दर्शन के लिए मीलों पैदल चलकर जाते हैं, यह नहीं कहते कि वह उनके साथ एक मील चले। साधक धर्म-नियम को जानता है और निस्संकोच उस उपदेश का आचरण करता है। केवल अज्ञानी ही यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि दुष्टता को इस प्रकार सहलाया जाए तो संसार का क्या होगा? महान् गुरुओं के उपदेशों के आचरण से जो पूर्ण परिणाम और शक्ति-वृद्धि होती है, उसे समझने में असमर्थ होकर मनुष्यों ने उन उपदेशों को सर्वथा अस्वीकार कर दिया है। हमें चाहिए कि हृदय की पूरी निष्कपटता के साथ इसकी व्यावहारिक परीक्षा करें और देखें कि धर्म उन परिणामों तक ले जाता है या नहीं जिनका हमने उसके विषय में दावा किया है। आध्यात्मिक नियम आचरण के लिए बने हैं; यदि उन्हें दिन में सहस्र बार भी रट लिया जाए तो उनसे कोई लाभ न होगा। आरम्भ किया जाना चाहिए, और यद्यपि पूर्णता तथा परिपूर्णता की समग्र मात्रा एक ही बार में प्राप्त न हो, तथापि आरम्भ से ही एक शुभ परिवर्तन होता हुआ दिखाई देगा, जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि शुभ संकल्प और अध्यवसाय ही वे समस्त शर्तें हैं जो हमारे सम्भवतः पूर्णतम विकास के लिए आवश्यक हैं। सदाचरण के विषय में आरम्भ कैसे किया जाए? ईसा हमें इस विषय में कुछ निश्चित नहीं बताते, किन्तु चाहते हैं कि हम अपने संकल्प को शुद्ध करें। इससे हम दूसरे की सम्पत्ति का लोभ करने से बचेंगे, और हमारे भ्रम भी नष्ट होंगे। इच्छा-शक्ति स्वयं में स्वतन्त्र और अप्रतिहत है, किन्तु अज्ञान के जाल में फँसकर वह अपने को शरीर के साथ एक मान लेती है और परिणामस्वरूप अपने को सीमित तथा अल्पशक्ति समझने लगती है। यही भ्रम है, अथवा बन्धन है। अतएव जो कुछ भी इस भ्रम को दूर करने में समर्थ हो, वह अवश्य ही इच्छा-शक्ति को उसके स्वाभाविक तेज और सामर्थ्य में पुनः प्रतिष्ठित करेगा। धर्म अथवा विधान, जिसका इतना सुन्दर सार 'पर्वत पर के उपदेश' में दिया गया है, इसी लक्ष्य की ओर संकेत करता है, और यदि आचरण में लाया जाए तो अपना मूल्य स्वयं सिद्ध कर देता है। भौतिक जगत् में भी इस विधान का कार्य कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं। प्रत्येक दुष्ट विचार दो वस्तुओं को जन्म देता है, अर्थात् भय और चिन्ता को। हम पहले ही देख चुके हैं कि मानव-जाति के ये दो महाशत्रु क्या कर सकते हैं। चिन्ता जीवित ऊतकों को खा जाती है, और भय मनुष्य को समस्त अशुभ दशाओं के — शारीरिक तथा मानसिक दोनों के — योग्य पात्र बना देता है। यूरोप और अमरीका के महान् चिकित्सा-शास्त्रियों तथा वैज्ञानिकों ने अन्ततः यह समझना आरम्भ कर दिया है कि भय, क्रोध, ईर्ष्या, चिन्ता आदि मानसिक दशाएँ भौतिक शरीर पर प्रबल विषों के समान कार्य करती हैं और ऐसे जटिल रोग उत्पन्न करती हैं जो कभी-कभी श्रेष्ठतम कौशल को भी परास्त कर देते हैं। स्वास्थ्य की जिस दशा को (जिसे वस्तुतः रोग कहना चाहिए) स्नायविक शैथिल्य कहते हैं, वह चिन्ता का मूर्त रूप मात्र है। क्या आपने कभी विचार किया है कि संसार में इतने लोग कुरूप क्यों हैं, अथवा दीन-हीन क्यों दिखाई देते हैं?

निश्चय ही वे सब दीनता की छाप लेकर उत्पन्न नहीं हुए थे। इसका कारण उसी सिद्धान्त में मिलेगा जिस पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, अर्थात् जैसा मनुष्य सोचता है, वैसा ही वह बन जाता है। बाहरी कुरूपता अथवा दीनता भीतर मानस-भूमि पर के कुरूप विचारों का ही परिणाम है। यही कारण है कि हम समस्त महान् गुरुओं को अपने शिष्यों से यह कहते हुए पाते हैं कि वे क्रोध, ईर्ष्या, चिन्ता आदि कुरूप भावों से बचें। शरीर मन की अभिव्यक्ति है; अतः हम अपने मन में जो भी विचार धारण करें — शुभ हो या अशुभ — उसे शरीर में बाह्य रूप धारण करके प्रकट होना ही होगा। सूक्ष्म अथवा आत्मिक शरीर के विषय में तो यह विशेष रूप से सत्य है। ईसा ने कहा है :—

> **“कुछ भी ढँका नहीं, जो खोला न जाएगा; और न कुछ छिपा है, जो जाना न जाएगा। इसलिये जो कुछ आपने अन्धकार में कहा है, वह उजाले में सुना जाएगा; और जो कुछ आपने कोठरियों में कान में कहा है, वह कोठों पर प्रचार किया जाएगा।” —लूका १२:२-३**

यही वह बात है जो सभ्य जातियों और उनके असभ्य बन्धुओं की मुख-मुद्रा के अन्तर को स्पष्ट करती है। मनुष्य को अभी यह समझना शेष है कि उसे अपने बोले हुए प्रत्येक निरर्थक शब्द का लेखा देना होगा, अर्थात् उसका फल भोगना होगा, क्योंकि “अपनी बातों के कारण आप निर्दोष ठहरेंगे, और अपनी ही बातों के कारण आप दोषी ठहराए जाएँगे।”

सारी बात यह है कि अपने अन्धे भौतिकवाद में हमने उस एकमात्र महत्त्वपूर्ण वस्तु पर विचार करना छोड़ दिया है जिसका जानना आवश्यक है, अर्थात् आत्म-विज्ञान पर। हमने इस भौतिक आवरण को सबसे श्रेष्ठ मान लिया है और इसी के सुखों के अध्ययन में अपना सारा प्रयत्न लगा रहे हैं, यह भूलकर कि वास्तविक भोक्ता शरीर है ही नहीं, अपितु वह कुछ और है जिसकी यह शरीर केवल एक मूर्त अभिव्यक्ति है। यदि शरीर ही भोक्ता होता, तो उसे मृत्यु के पश्चात् भी अपने सुखों का भोग करते रहना चाहिए था; किन्तु यह स्पष्ट है कि कोई मृत शरीर कभी गद्दियों पर टिकाए जाने अथवा बैंजनी वस्त्रों और रेशम में लपेटे जाने के लिए उत्सुक नहीं होता। अब हमें यह समझने में कठिनाई न होनी चाहिए कि जो कोई किसी स्त्री को कुदृष्टि से देखता है वह उतना ही दोषी क्यों है जितना कि वह जिसने वस्तुतः उसके साथ व्यभिचार किया हो। केवल कामुक विचार का पोषण ही ऐसे हानिकारक स्पन्दनों को उत्पन्न कर देने के लिए पर्याप्त है, जिन्हें यदि समय रहते पवित्र विचारों के अधिक प्रबल स्पन्दनों द्वारा निरस्त न किया जाए, तो उन्हें अपना पूरा फल उत्पन्न करना ही होगा।

व्यभिचार का वास्तविक आचरण उन प्रभावों में, जो पहले ही उत्पन्न किए जा चुके हैं, केवल एक और दुष्प्रभाव जोड़ देता। इसी प्रकार प्रत्येक विचार दण्डित अथवा पुरस्कृत होता है। आप बुरे विचारों का पोषण करते हैं और उनका फल भोगते हैं — यहाँ अथवा परलोक में। यदि इसके विपरीत आपके विचार स्वस्थ हैं, तो आपको ओज और जीवन की वृद्धि के रूप में उसका प्रतिफल मिलता है। जैसा बोओगे, वैसा ही काटोगे। इसी प्रकार पाप का दण्ड* मृत्यु है; और इसीलिए मनुष्य को 'सुसमाचार' को एक छोटे बालक के समान ग्रहण करना चाहिए, जो निर्दोषता और विश्वास का प्रतीक है। इस प्रकार स्वर्ग के राज्य में प्रवेश पाने का एकमात्र उपाय इच्छाओं का त्याग अथवा संन्यास है, जो अन्तरतम निष्काम दशा को (जो सच्चा आनन्द है) उस दीपक के समान प्रकाशित कर देगा जो पैमाने के आवरण से मुक्त कर दिया गया हो। समस्त तीर्थंकर, त्राता और ऋषि इस विषय में एकमत हैं। यही भगवान् महावीर ने उपदेश दिया, यही मूसा ने सिखाया, वस्तुतः यही ईसा ने पवित्र भूमि में दुहराया, और यही विज्ञान शीघ्र ही खोजकर कोठों पर से संसार को घोषित करने वाला है। लोग इस विषय में अपनी भ्रान्ति के पूरे बल को नहीं समझते। जब ये विषय अधिक भली भाँति ज्ञात हो जाएँगे, तब निष्पापता बढ़ेगी, क्योंकि तब मनुष्य-जाति यह सीख लेगी कि उसे अपना भाग्य स्वयं, जैसा वह उचित समझे, वैसा गढ़ना है।

* पाप का रहस्य आचारांग सूत्र के इस वचन में भली भाँति व्यक्त हुआ है :— "निश्चय ही वह मनुष्य जो सांसारिक व्यापारों में लगा रहता है, जो अनेक छल-प्रपंच करता है, जो अपने ही कर्मों से मोहित है, वह बारम्बार उसी वासना के अनुसार आचरण करता है जो उसके अधर्म को बढ़ाती है। अतएव उपर्युक्त बात इस जीवन की वृद्धि के लिए कही गई है।" और टीकाकार जोड़ते हैं :— "क्योंकि पापपूर्ण कर्म प्राणियों के शरीरों को पीड़ा पहुँचाते हैं; इसलिए पाप से विरत होने पर वे (शरीर) बढ़ते हैं।" —(सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द ईस्ट (Sacred Books of the East), खण्ड २२)

पूर्व के प्राचीन ऋषियों ने यह जानते हुए भी कि मनुष्य स्वयं ही सत्-चित्-आनन्द है — अर्थात् वही दशा है जिसे वह प्राप्त करना चाहता है — इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की कि यद्यपि यह बात सैद्धान्तिक रूप से सरल है, तथापि उसकी व्यावहारिक प्राप्ति उन कतिपय कठिनाइयों से घिरी हुई है जो उसके अपने ही स्वभाव में अन्तर्निहित हैं, और जिनमें मन की चंचलता सबसे अधिक कष्टकर तथा उद्विग्न करने वाली है। इस कठिनाई पर विजय पाने के लिए उन्होंने मानसिक एकाग्रता का विधान किया। भाव यह है कि प्रभावकारी होने के लिए बल को किसी एक ही बिन्दु पर निरन्तर लगाया जाना चाहिए।

जब तक मनुष्य बल की गतिविज्ञान-सम्बन्धी प्रकृति को नहीं समझता, तब तक वह बहुत थोड़ा ही प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें, जब वे आकाश में बिखरी और छितरी रहती हैं, रुई या कोयले के टुकड़े को जला देने योग्य आवश्यक ताप उत्पन्न नहीं कर पातीं, किन्तु जब वे एक केन्द्र पर लाई जाती हैं तब तत्काल ऐसा कर देती हैं, उसी प्रकार व्यक्तिगत इच्छा-शक्ति अर्थात् मानसिक ऊर्जा भी तब तक कोई प्रभाव उत्पन्न न करेगी जब तक उसे भी एक केन्द्र पर लाकर एक ही बिन्दु पर एकाग्र न

किया जाए। क्योंकि हमारी समस्त उपलब्धियाँ एकाग्रता के कारण ही हैं। ज्ञान भी विचार की एकाग्रता से, अर्थात् ध्यान से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। जो लोग उपदेश सुनते हैं किन्तु स्वयं उस पर मनन नहीं करते, उनका सर्वोत्तम वर्णन बीज बोने वाले के दृष्टान्त में मार्ग के किनारे की भूमि, पथरीली भूमि अथवा काँटों के खेत के रूप में किया गया है, जहाँ बीज या तो जड़ ही नहीं पकड़ता या शीघ्र ही दब जाता है। किन्तु उत्तम भूमि वही है जो तीस गुना, साठ गुना अथवा सौ गुना फल देती है। जैसे मार्ग के किनारे, पथरीली भूमि पर, काँटों के खेत में, अथवा ऐसी क्यारी में जहाँ वह घास-पात से दब जाए, बोया हुआ बीज थोड़ा या कुछ भी फल नहीं देता, किन्तु उत्तम भूमि पर तीस, साठ और सौ गुना तक बढ़ जाता है, वैसे ही ज्ञान भी विचारशील मन में बढ़ता है। जब कोई 'वचन' सुनता है और उस पर मनन करता है, तब वह अपार रूप से बढ़ जाता है। उदाहरण के लिए हम इस छोटी-सी सूक्ति को लें — 'पाप की मजदूरी मृत्यु है।' स्वयं में यह केवल छह शब्दों की है, किन्तु अपने भीतर यह एक विशाल विस्तार की सम्भावना समेटे हुए है, अर्थात् ज्ञान का समूचा क्षेत्र। यदि हम अपने एकाग्र विचार को इस सूक्ति पर लगाएँ, तो हम विश्व की पहेली को सुलझा लेंगे; किन्तु यदि हम केवल इतना कहकर सन्तुष्ट हो जाएँ कि "यह कितना सत्य है," अथवा "यह तो सर्वथा मिथ्या है," तो हम कुछ भी न समझ सकेंगे। सिद्ध पुरुष और साधारण मनुष्य में भेद एकाग्रता की शक्ति में ही है; और योग का समस्त शास्त्र इसी एक सिद्धान्त पर भाष्य है। यह प्रतिदिन का अनुभव है कि लौकिक महत्त्व के कार्यों में भी किसी उद्यम को सफल अन्त तक पहुँचाने के लिए मन की एक निश्चित मात्रा में एकाग्रता नितान्त आवश्यक है। मन के भटकाव को रोकने की आवश्यकता तब और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है जब उसे उन सूक्ष्म और महीन शक्तियों से व्यवहार करना हो जो आत्मा के बन्धन रचती हैं। मानव-जाति के समस्त त्राता इस सिद्धान्त पर एकमत हैं। ईसा भी कहते हैं :—

> **"शरीर का दीया आँख है: इसलिये जब आपकी आँख निर्मल हो, तो आपका सारा शरीर भी उजियाला रहता है; परन्तु जब वह बुरी हो, तो आपका शरीर भी अन्धकारमय रहता है।" —लूका ११:३४**

हमें अपनी बुरी दृष्टि को शरीर के प्रकाश को बिखेर देने की अनुमति नहीं देनी चाहिए; और न ही मन को यह छूट देनी चाहिए कि वह अपनी अनियन्त्रित चंचलता से जीवन को नष्ट कर डाले।

भगवद्गीता में कहा गया है :—

> **“निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किन्तु अनिश्चयी पुरुषों की बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखा वाली होती हैं। (अध्याय २:४१) जब श्रुतियों से विचलित हुई आपकी बुद्धि समाधि में अचल और स्थिर हो जाएगी, तब आप योग को प्राप्त होंगे (अध्याय २:५३)। जिनका मन समभाव में स्थित है, उन्होंने इसी लोक में सब कुछ जीत लिया है” (अध्याय ५:१९)।**

यही कारण है कि ईसा अपने श्रोताओं से निरन्तर यह कहा करते थे कि वे अपने भोजन, वस्त्र अथवा अन्य सांसारिक विषयों की चिन्ता न करें। ऐसी तुच्छ बातों पर क्यों चिन्ता की जाए? क्या कोई उच्चतर शक्ति नहीं है जो इन बातों की देखभाल करती है? देखिए, आकाश के पक्षी विचार नहीं करते, फिर भी उनका पोषण होता है! खेत की सोसनों को देखिए; वे कभी इस बात की चिन्ता नहीं करतीं कि क्या पहनेंगी, फिर भी जिस शुभ्र श्वेत वस्त्र से प्रकृति ने उन्हें ढका है, उससे महान् और प्रतापी सुलैमान (Solomon) भी ईर्ष्या कर सकता था। ऐसी बातों पर चिन्ता करके आप क्या पा लेंगे, जब कोई भी चिन्ता ‘आपकी आयु में एक घड़ी’ भी नहीं बढ़ा सकती? क्या प्राण भोजन से और शरीर वस्त्र से बढ़कर नहीं? फिर ऐसी तुच्छ बातों की चिन्ता करके आप अपने को क्यों मारते हैं?

ईसा ने अपने अनुयायियों को त्याग का सच्चा सिद्धान्त ही सिखाया था। आध्यात्मिकता के अभिलाषी को घर तक छोड़कर अनिकेत हो जाना चाहिए। ‘लोमड़ियों की माँदें होती हैं और आकाश के पक्षियों के घोंसले, किन्तु मनुष्य के पुत्र को सिर धरने की भी जगह नहीं। कोई दो स्वामियों की सेवा नहीं कर सकता; आप ईश्वर और धन — दोनों से प्रेम नहीं कर सकते। अपने लिए पृथ्वी पर धन एकत्र न कीजिए, वरन् स्वर्ग में, जहाँ न कीड़ा और न जंग बिगाड़ता है, और जहाँ चोर सेंध लगाकर चुराते नहीं। अपनी थैलियों में न सोना रखिए, न चाँदी, न ताँबा; और न यात्रा के लिए झोली, न दो कुरते, न जूते, न लाठी : क्योंकि मजदूर अपने भोजन का अधिकारी है।’ जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी खेत में गड़ा हुआ धन पाकर जाता है और अपना सर्वस्व बेचकर वह खेत मोल ले लेता है, उसी प्रकार जिसने स्वर्ग का राज्य पा लिया है उसे उसकी प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर देना चाहिए। इसी प्रकार जब कोई मोती का व्यापारी किसी अमूल्य मोती को पा जाता है, तब वह अपने सब छोटे मोती बेचकर उसी एक को खरीद लेता है। लोभी न बनिए, क्योंकि मनुष्य का जीवन उसकी सम्पत्ति की बहुतायत में नहीं है। ‘अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति बेचकर दान में दे दीजिए, और अपने लिए ऐसी थैलियाँ बना लीजिए जो पुरानी नहीं होतीं, अर्थात् स्वर्ग में ऐसा धन जो घटता नहीं। और न एक-दूसरे के सामने बड़प्पन चाहिए, क्योंकि ऐसा तो केवल अन्यजातियों में होता है जिनके राजा और प्रधान मनुष्यों पर प्रभुता और अधिकार जताते हैं; आप में ऐसा न होगा : वरन् जो आप में बड़ा होना चाहे, वह आपका सेवक बने, और जो आप में प्रधान होना चाहे, वह आपका दास बने — उस मनुष्य के पुत्र के समान जो सेवा कराने नहीं, वरन् सेवा करने और बहुतों के पापों के लिए अपना

प्राण छुड़ौती में देने आया।' त्राता के ये तथा ऐसे ही अन्य अनेक वचन सब एक ही दिशा की ओर संकेत करते हैं, अर्थात् इस बात की ओर कि स्वर्ग के राज्य में प्रवेश पाने के लिए मनुष्य-जाति का त्याग का आचरण करना आवश्यक है। मनुष्यों की परम्पराओं की — जैसे बाजारों में नमस्कार कराना, ऊँचे स्थानों पर बैठना, लम्बे चोगे पहनना, लम्बी और आडम्बरपूर्ण प्रार्थनाएँ करना, शपथ खाना, ढिंढोरा पीटकर दान करना, 'बाहर को माँजना' तथा इसी प्रकार के अन्य कर्मों की — उनकी जो निन्दा है, वह इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

अब हमें त्राता के उपदेश का पूरा अभिप्राय समझने के लिए और उनके ऐसे वचनों का सच्चा अर्थ निकालने के लिए, जैसे 'अपने शत्रुओं से प्रेम रखिए, जो आपको शाप दें उन्हें आशीष दीजिए, जो आपसे बैर रखें उनका भला कीजिए, और जो आपको सताएँ और आप पर अत्याचार करें उनके लिए प्रार्थना कीजिए', नीति और सदाचार की जड़ में और अधिक गहराई तक उतरने का प्रयत्न करना चाहिए।

पदार्थ और रूप के इस विश्व की समस्त ऊर्जा आकर्षण तथा विकर्षण की शक्तियों से आती है, जो आत्मा के सम्बन्ध में प्रेम और घृणा के रूप में प्रकट होती हैं और इच्छा के द्वारा शासित होती हैं। किसी वस्तु को पाने की इच्छा उसके प्रति प्रेम अथवा आकर्षण है; उससे बचने की इच्छा उसके प्रति घृणा अथवा विकर्षण है। प्रेम, रचनात्मक और संरक्षक होने के कारण, विस्तार का — अर्थात् 'अधिकता' का — बोध लाता है, जिसका अर्थ प्राणी के लिए सुख है; दूसरी ओर घृणा संकोच अथवा सिकुड़न उत्पन्न करती है, अर्थात् 'न्यूनता' का बोध, और परिणामस्वरूप पीड़ा का भी; घृणा अन्ततः जीव-संघटन को नष्ट कर देती है। हमारी समस्त इच्छाएँ इन दो रूपों में से कोई एक धारण करती हैं। भावनाओं के जटिल रूपों को, जो इस समय हमारे प्रयोजन से बाहर हैं, विचार से छोड़ देने पर हम सरलता से देख सकते हैं कि प्रत्येक स्थिति में इच्छा का प्रभाव या तो किसी वस्तु को हमारी ओर खींचना है अथवा किसी वस्तु को हमसे दूर हटाना। इच्छा से भाव (emotion) उत्पन्न होता है, अर्थात् मन में किसी विषय की ओर अथवा उससे दूर एक गति। 'इमोशन' शब्द e (बाहर या ऊपर) और moveo (हिलना) से बना है, अतः वह मानसिक ऊर्जा और इच्छा का सम्मिलित परिणाम है, और मन अथवा आत्मा के हिलने का द्योतक है (द इम्पीरियल डिक्शनरी (The Imperial Dictionary))। नीचे दी हुई तालिका कुछ प्रमुख भावों का वर्गीकरण दिखाएगी :—

इच्छा अथवा संकल्प (WILL OR DESIRE) — आकर्षण : श्रद्धा (उच्चतरों के प्रति) — पूजा, आराधना, आदर; प्रेम (समानों के प्रति) — कोमलता, मैत्री, अनुराग; करुणा अथवा वात्सल्य (निम्नतरों के प्रति) — सद्भावना, दया, अनुकम्पा।

विकर्षण : भय (उच्चतरों के प्रति) — आशंका, त्रास, आतंक; घृणा (समानों के प्रति) — रोष, कोप, क्रोध; अवज्ञा अथवा गर्व (निम्नतरों के प्रति) — उद्धतता, तिरस्कार, अवहेलना।

नीचे दी हुई तालिका उन कुछ चारित्रिक गुणों को दिखाएगी जिन्हें उपर्युक्त भाव अथवा संवेदन जन्म देते हैं :—

प्रेम (आकर्षण) — आज्ञाकारिता, सत्यवादिता, विश्वस्तता, स्वामिभक्ति; आत्मविश्वास, सरलता, सन्तोष, ईमानदारी; पवित्रता, दया, दानशीलता, सहिष्णुता।

घृणा (विकर्षण) — दासवृत्ति, मिथ्याभाषण, विश्वासघात, विद्रोहशीलता; प्रचण्डता, दुर्बोध, निर्दयता, चिड़चिड़ापन; कपट, दुर्भावना, मिथ्या-शुचिता, कठोर माँग।

अब, भावों की अनुरूपता का नियम यह है कि वे साधारणतः दूसरों में भी वैसे ही भाव जगाने की प्रवृत्ति रखते हैं।* प्रत्येक भाव उत्तेजित मनुष्य के मन में एक विशिष्ट स्पन्दन उत्पन्न करता है, और यह स्पन्दन उन सब लोगों के मनों में, जो उसके निकट होते हैं, वैसे ही स्पन्दन जगाने की प्रवृत्ति रखता है, और इस प्रकार उनमें भी वैसे ही भाव उत्पन्न कर देता है। किन्तु इस प्रकार की ग्राह्यता अधिकांशतः उस व्यक्ति के चरित्र पर निर्भर करती है जो प्रभावित होने वाला है, क्योंकि —

* अपने इस कथन के प्रमाण में हम इस सर्वत्र देखे जाने वाले तथ्य को उद्धृत कर सकते हैं कि युवा जनों की प्रफुल्ल संगति चिड़चिड़ेपन और शोक की उदासी को दूर कर देती है, जबकि अत्यन्त शोकग्रस्त लोगों का संग उन सब पर, जो उनके सम्पर्क में आते हैं, अवसाद का काम करता है।

> **"यदि उस दूसरे व्यक्ति की अपनी कोई विशिष्ट वैयक्तिकता हो, तो वह अपने को दूसरे द्वारा उत्पन्न दशाओं से 'शासित' होने देने के बदले उनका सामना अपनी ही उत्पन्न की हुई अन्य और प्रबलतर दशाओं से करेगा, और इस प्रकार स्वयं बदलने के बदले पहले वाले के मनोभाव को ही बदल देगा; अर्थात् उदाहरण के लिए, यदि दूसरे के आभा-मण्डल से क्रोध के स्पन्दन उसके आभा-मण्डल को स्पर्श करें, तो वह मित्रता के भाव को जगाएगा, अपने आभा-मण्डल में तदनुरूप स्पन्दन उठाएगा, उन्हें दूसरे के आभा-मण्डल पर प्रबलता से आरोपित करेगा, और दूसरे के मन में क्रोध के स्थान पर मित्रता का भाव उत्पन्न कर देगा।**

> **"इसका 'कैसे'* भौतिक पदार्थ की भाषा में भी रखा जा सकता था, यदि इस विषय पर अधिक ज्ञान उपलब्ध होता। किन्तु टोमेन, विष, प्रतिविष, लाइसिन, प्रतिलाइसिन, स्वेद आदि, अथवा साधारणतः उन स्रावों के सम्बन्ध में जो मानव-शरीर में विविध दशाओं और भावों के अधीन उत्पन्न होते हैं, जो**

> प्रयोग इस समय किए जा रहे हैं — वे प्रयोग आगे चलकर यह दिखा देंगे, ऐसा प्रतीत होता है, कि विषैले तामस स्राव, जैसे वे जो भय आदि से दबाए हुए क्रोध के आवेग के पश्चात् सिरदर्द उत्पन्न करते हैं, उन प्रतिविषी सात्त्विक स्रावों से निरस्त और निष्प्रभाव कर दिए जाते हैं जो उन उदार और कल्याणकारी भावों से उत्पन्न होते हैं, जिन्हें उच्च और पवित्र विचारों तथा कर्मों की किसी पुस्तक का पठन जगा देता है।" —('द साइंस ऑफ़ इमोशंस' (The Science of Emotions), लेखक भगवान दास, एम. ए., पृष्ठ १५५-६)

* इस उद्धरण में 'इसका कैसे' शब्दों को अपनी आवश्यकता के अनुरूप उनके मूल स्थान से हटाकर रखा गया है।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भाव भौतिक शरीर को और अन्ततः व्यक्ति के स्वास्थ्य को भले या बुरे रूप में प्रभावित करते हैं। दीर्घकालीन शोक मनुष्य की मुख-मुद्रा में स्पष्ट परिवर्तन ला देता है। "शोक में रक्त-संचार मन्द पड़ जाता है, मुख विवर्ण हो जाता है, माँसपेशियाँ शिथिल हो जाती हैं, पलकें झुक जाती हैं, सिर सिकुड़ी हुई छाती पर लटक आता है, तथा ओष्ठ, कपोल और नीचे का जबड़ा — सब अपने ही भार से नीचे की ओर धँस जाते हैं। प्रसन्नचित्त मनुष्य की समस्त मुख-मुद्रा शोकग्रस्त मनुष्य की मुद्रा से ठीक विपरीत होती है" (डार्विन (Darwin))। मुख का लाल पड़ना और पीला पड़ जाना साधारणतः सिर को रक्त पहुँचाने वाली शिराओं के फैलने अथवा सिकुड़ने से होता है, और यह हमारा नित्य का अनुभव है कि मुख का लाल या पीला पड़ना प्रबल मानसिक भावों से होता है। भय के भाव पर टीका करते हुए प्रोफ़ेसर मेचनिकॉफ़ (Metchnikoff) कहते हैं :—

> "भय और शीत — दोनों ही त्वचा के ऊपरी रक्त-वाहिकाओं का संकोच कर देते हैं, और मनुष्य में रोमकूपों की जड़ों में लगी हुई सूक्ष्म अवशिष्ट माँसपेशियों को सिकुड़ने के लिए उत्तेजित करते हैं। 'रोमांच' इन्हीं माँसपेशियों के संकोच से होता है, और यह दशा एक क्रियात्मक अवशेष मात्र है, जो अब न तो त्वचा को गर्म रखने का काम करती है और न शरीर को बड़ा दिखाने का............भय, जो कभी-कभी अनैच्छिक माँसपेशियों का संकोच उत्पन्न करने में समर्थ होता है, अन्य माँसपेशियों को भी इच्छा के विरुद्ध उत्तेजित करता है। जो भाव स्नायु-तन्त्र को प्रबलता से प्रभावित करते हैं, उनके — और विशेषकर भय के — प्रभाव में मूत्राशय और आँतों के संकोच इतने प्रचण्ड हो सकते हैं कि उनके भीतर की वस्तु के निकल जाने को रोकना असम्भव हो जाता है। परीक्षाओं में बैठने वाले तरुण अभ्यर्थियों में इस प्रकार की दुर्घटनाएँ विरल नहीं हैं।" —('द प्रोलॉन्गेशन ऑफ़ लाइफ़' (The Prolongation of Life), पृष्ठ १९६)

श्री बनाजी (Banaji), हूफ़ेलैंड (Hufeland) को उद्धृत करते हुए कहते हैं :—

> **"मन के कुछ अभ्यास अथवा प्रवृत्तियाँ न केवल शरीर को उसकी प्राण-शक्तियों से वंचित करती हैं, अपितु वे निरन्तर पित्त को तीक्ष्ण करती हुई एक गुप्त विष तैयार करती रहती हैं, और पित्त की सामान्य उत्तेजना से आत्म-क्षय को असाधारण मात्रा में बढ़ा देती हैं।**

> **"इन्हीं में मनुष्य-जाति की वह दुष्ट प्रवृत्ति आती है जो चिड़चिड़ेपन के नाम से जानी जाती है। इस अप्रिय अभ्यास के समान और कोई वस्तु जीवन के सौरभ को इतना नष्ट नहीं कर सकती, सुख और आनन्द के प्रत्येक द्वार को इतना बन्द नहीं कर सकती, और जीवन की सुन्दर धारा को इतना ठहरे हुए गँदले जल में नहीं बदल सकती। मैं प्रत्येक उस व्यक्ति को, जो अपने जीवन को अमूल्य समझता है, यह परामर्श देता हूँ कि वह इस प्राणघातक विष (चिड़चिड़ेपन) से दूर भागे और उसे कभी अपने निकट तक न आने दे।" —('द ग्रेटेस्ट डिस्कवरी ऑफ़ साइकॉलजी' (The Greatest Discovery of Psychology), पृष्ठ ५४)**

अब त्राता का दर्शन स्पष्ट हो जाता है। यह प्रकट है कि अमरत्व और आनन्द का अभिलाषी घृणा के भावों से बचे और प्रेम के भावों का संवर्धन करे। उसे चाहिए कि वह दूसरे के हानिकारक भावों का सामना अपने उदात्ततर भावों से करे और प्रेम की कुठाली में बुराई को भलाई में रूपान्तरित कर दे। एक पवित्र शास्त्र में कहा गया है :—

> **"मोक्ष (निर्वाण) न आकाश की पीठ पर छिपा है, न पृथ्वी के तल पर, और न पाताल (अधोलोक) की गहराइयों में : समस्त इच्छा के विलीन हो जाने पर अहंकार का विलय — यही मोक्ष है।"**

मोक्ष तभी आएगा जब क्राइस्ट का जन्म हो चुका हो, अर्थात् जब प्रज्ञा और प्रेम एक-दूसरे में घुल-मिल चुके हों। वह 'छोटा बालक', अर्थात् उच्च बुद्धि से युक्त प्रज्ञा और प्रेम, ही आध्यात्मिक अहम् है, सच्चा अन्तःपुरुष है, अमर शासक है ('ए स्टडी इन कॉन्शसनेस' (A Study in Consciousness), लेखिका एनी बेसेंट (Annie Besant), पृष्ठ ३८५)।

दबंग और उद्धत आचरण से मनुष्य अधिक से अधिक इतना ही पा सकता है कि उसे अपनी जाति के कुछ सदस्यों पर क्षणिक बड़प्पन का बोध हो जाए; किन्तु निश्चय ही यह केवल अत्यन्त पतित बुद्धि के लिए ही सुखकर हो सकता है। और भी लोग हैं जो हमसे श्रेष्ठ हैं और जो हमारे साथ वैसा ही व्यवहार कर सकते हैं। जब हम इस पर विचार करते हैं कि ये घृणापूर्ण भाव कितनी हानि पहुँचा सकते हैं, तब हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि अपने अधीनस्थों पर विजय अथवा श्रेष्ठता का क्षणिक बोध उस बुराई की कोई क्षतिपूर्ति नहीं है जो हमारे अपने ही तन्त्र में की जा रही है। घृणा के विष की उत्पत्ति को रोकना हमारे

ही हाथ में है, और यदि स्वास्थ्य तथा सुख प्राप्त करना है तो हमें ऐसा करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। मनुष्य देखेगा कि ज्यों-ज्यों वह प्रेम के भावों का संवर्धन करता है, त्यों-त्यों वह उन अधिकांश सिरदर्दों और अन्य रोगों से बच जाता है जिनका उत्तराधिकारी यह देह कही जाती है। श्रीमती एनी बेसेंट लिखती हैं ('ए स्टडी इन कॉन्शसनेस', पृष्ठ ३६१) :—

> **"चूँकि आत्मा का स्वभाव ही आनन्द है, और उस आनन्द की अभिव्यक्ति में केवल विरोधी परिस्थितियाँ ही बाधक होती हैं, अतः जो वस्तु उसके और इन परिस्थितियों के बीच के घर्षण को दूर करती है और उसका आगे का मार्ग खोलती है, वह अवश्य ही उसे आत्म-साक्षात्कार तक, अर्थात् आनन्द के साक्षात्कार तक, ले जाएगी। सद्गुण यही करता है, और इसलिए सद्गुण आनन्द का साधन है। जहाँ वस्तुओं का अन्तःस्वभाव शान्ति और हर्ष है, वहाँ जो समरसता उस स्वभाव को अनावृत होने देती है वह अवश्य ही शान्ति और हर्ष लाएगी; और इस समरसता को उत्पन्न करना ही सद्गुण का कार्य है।"**

अतएव, बुराई का सामना भलाई से, क्रोध का सामना सौजन्य से, और उत्पीड़न का सामना उत्पीड़क के कल्याण की प्रार्थना से करने के विषय में त्राता का उपदेश न केवल नैतिक दृष्टि से सुन्दर है, अपितु जीवन के स्वास्थ्य-विज्ञान तथा आनन्द नामक उस परमानन्दमय दशा की प्राप्ति के सम्बन्ध में वैज्ञानिक सत्यों के भी पूर्णतः अनुकूल है। निर्वाण केवल उसी के लिए खुला है जो इस उपदेश को नित्य आचरण में लाता है; और किसी के लिए नहीं।

जहाँ तक आनन्द की प्राप्ति का सम्बन्ध है, प्रेम और घृणा के भावों के प्रभाव को गणितीय यथार्थता के साथ निकाल लेना भी सम्भव है। चूँकि उसकी प्राप्ति आत्मा के ईश्वरीय स्वभाव में अटल विश्वास पर निर्भर है, अतः जो कोई विचार, वचन अथवा कर्म से उसके दिव्यत्व के गुण का प्रतिवाद करता है, वह कभी लक्ष्य तक पहुँचने की आशा नहीं कर सकता। अब, जब कोई अपने पड़ोसी को गाली देता है, तब यह नहीं कहा जा सकता कि वह उसकी आत्मा के दिव्यत्व-गुण के प्रति आदर दिखा रहा है, और इसलिए यह मानना पड़ेगा कि वह कम-से-कम उस समय के लिए अपनी उच्च श्रद्धा से च्युत हो गया है।

इसके अतिरिक्त, चूँकि वह जिस मात्रा में उस व्यक्ति के भीतर के दिव्य के प्रति अनादर दिखाता है जिसे वह गाली देता है, उसी मात्रा में उसे वस्तुतः उस दिशा के विपरीत दिशा में चलता हुआ मानना पड़ेगा जिसमें उसका अभीष्ट लक्ष्य स्थित है।

इसके अतिरिक्त, जब कोई दूसरे शरीरों में स्थित प्राण के प्रति आदर नहीं दिखाता, तब वह अपने प्राण को भी दिव्य नहीं मान सकता, क्योंकि दोनों समस्त आवश्यक अंशों में एक-से हैं। इस प्रकार, चाहे वह अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम हो, अथवा मित्रों, सम्बन्धियों, अन्य मनुष्यों या पशुओं के प्रति, उनसे प्रेम करने में मनुष्य वस्तुतः अपने ही सच्चे आत्मा से प्रेम करता है, अपने अन्तर के दिव्यत्व का साक्षात्कार करता है, और शीघ्र ही आनन्द को प्राप्त कर लेता है; जबकि किसी से भी — शत्रुओं और निम्न पशुओं से भी — घृणा करने में वह केवल लक्ष्य से दूर हटता है, और इस प्रकार अपनी ही प्रगति के मार्ग में बाधक बनता है और दुःख पाता है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि जिन्होंने यह विधान किया कि "जो आपको शाप दें उन्हें आशीष दीजिए, जो आपको सताएँ उनके लिए प्रार्थना कीजिए," वे उन्मत्त नहीं थे, अपितु अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर चिन्तन करने वाले पुरुष थे। आनन्द की प्राप्ति के लिए आत्मा के दिव्यत्व का साक्षात्कार करना है; इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह विचार, वचन और कर्म से आत्मा के ईश्वरत्व में अपनी श्रद्धा को सदा दृढ़ करता रहे। अब यह देखा जा सकता है कि उच्चतर धर्मों में पशुओं का वध क्यों निषिद्ध है। जो कोई इन मूक प्राणियों में से तुच्छतम का भी वध करता है और दया के लिए उनकी मूक याचना को ठुकरा देता है, वह कभी शाश्वत जीवन के साक्षात्कार की आशा नहीं कर सकता, क्योंकि आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रेम आवश्यक है, किन्तु हिंसा तो आत्मा के साथ एकता और समरसता के बोध को नष्ट ही करती है।

व्यवहार में प्रेम बुराई को वश में करने की एक महती शक्ति सिद्ध होगा — चाहे वह परिवार में हो, समाज में, राष्ट्र में, अथवा सामान्यतः संसार की समस्त मानव-जाति में। जहाँ घृणा विभाजन करेगी, वहाँ प्रेम एक करेगा। पहली फूट डालकर राष्ट्रों का पतन कराती है; किन्तु दूसरा मनुष्य-जाति को एक बन्धुत्व के सूत्र में बाँध देता है, चाहे वे अन्य बातों में कितने ही असमान क्यों न हों। इतिहास ने बार-बार यह तथ्य सिद्ध और उदाहृत किया है कि बड़े से बड़े और सबसे शक्तिशाली राष्ट्र घृणा और तिरस्कार के उसी सिद्धान्त के कारण नष्ट हुए हैं जिसे उन्होंने दूसरों के साथ अपने व्यवहार में मार्गदर्शक के रूप में अपनाया था। दुर्भाग्य से, हमारी जाति के साथ सदा ऐसा ही होता आया है, और फिर भी हम इतने अन्धे हैं कि उस पाठ को नहीं सीखते जो इतिहास सिखाता है।

घृणा जहाँ पृथक् करती है, वहाँ प्रेम जोड़ता है। पहली फूट डालकर राष्ट्रों के पतन का कारण बनती है; किन्तु दूसरा समस्त मानव-जाति को एक ही भ्रातृत्व के सूत्र में बाँध देता है, चाहे वे अन्य दृष्टियों से परस्पर कितने ही असमान क्यों न हों। इतिहास ने बार-बार इस तथ्य को सिद्ध और उदाहृत किया है कि बड़े से बड़े और शक्तिशाली से शक्तिशाली राष्ट्र उसी घृणा और तिरस्कार के सिद्धान्त के कारण विनाश को प्राप्त

हुए, जिसे उन्होंने दूसरों के साथ अपने व्यवहार में अपना पथ-प्रदर्शक बना रखा था। दुर्भाग्य से हमारी जाति के साथ सदा ऐसा ही होता आया है, और फिर भी हम इतने अन्धे हैं कि इतिहास जो पाठ पढ़ाता है, उसे नहीं सीखते।

संसार में जीवन बिताने के दो ही मार्ग हैं: (१) स्वार्थ का जीवन जीना, और (२) अपने जीवन में प्रेम के सिद्‌धान्त को चरितार्थ करना। पहला मार्ग अभिमान, लोभ और अत्याचार की ओर तथा स्वार्थमय समृद्‌धि के एक अल्पकालिक युग की ओर ले जाता है, जिसके भीतर ही विघटन के बीज अंकुरित होकर तीव्रता से बढ़ते रहते हैं। तत्पश्चात् वह विपरीत प्रक्रिया आरम्भ होती है जो स्वार्थी को संकट, युद्‌ध, अपमान और पराजय में, और अन्ततः विनाश में भी, फँसा देती है। इसके विपरीत, प्रेम का मार्ग ऐसी विपत्तियों से मुक्त है। वह एक सरल, सदा शान्त, सदा आनन्दमय जीवन है, जिसमें मित्रों का वृत्त निरन्तर विस्तृत होता जाता है, शक्ति और यश निरन्तर बढ़ते जाते हैं, और कहीं भी हानि अथवा वैमनस्य का भय नहीं रहता। हम इन सिद्‌धान्तों को छोटे-छोटे परिवारों और समाजों पर लागू करें अथवा महान् राष्ट्रों और साम्राज्यों पर; इनका कार्य सर्वत्र एक-सा ही है। पति और पत्नी के बीच परस्पर घृणा हो जाने दीजिए, और शीघ्र ही गृह सुखी न रह जाएगा; मनुष्यों के हृदयों पर पारस्परिक अविश्वास की भावना अधिकार कर ले, और वह शीघ्र ही समाज को छिन्न-भिन्न कर देगी; किसी राष्ट्र के लोगों में फूट प्रवेश कर जाए, और शीघ्र ही गृह-युद्‌ध छिड़ जाएँगे; इसी प्रकार, किसी साम्राज्य को बनाने वाली विविध जातियाँ परस्पर घृणा करने लगें, तो वह शीघ्र ही युद्‌धों और संघर्षों से विक्षुब्ध होकर अपनी नींव तक हिल जाएगा, यदि सर्वथा नष्ट न भी हो। यह प्रकृति के नियम के विरुद्‌ध है कि घृणा उन सीमाओं से आगे समृद्‌ध हो, जो स्वयं घृणा करने वाले की ऊर्जा से निर्धारित होती हैं; और चूँकि घृणा में ऊर्जा व्यर्थ ही नष्ट होती है, अन्ततः शक्ति का ह्रास अवश्यम्भावी है। हमें सदा यह प्रयत्न करना चाहिए कि हम अपनी जाति के अन्य सदस्यों के साथ शान्ति और सुख से रहें, और सदा मनुष्य के एक वास्तविक भ्रातृत्व की स्थापना का यत्न करें, जिसमें प्रत्येक जन सर्वसाधारण के हित के लिए सद्भाव का अपना-अपना अंश अर्पित करे। पिता केवल अपने परिवार से ही नहीं, अपितु समस्त समाज से और संसार भर के मानव-भ्रातृत्व से प्रेम करे; बड़े-बूढ़े केवल अपने सीमित समुदाय के ही नहीं, वरन् समस्त मानव-जाति के हित का प्रचार करें; और राजा केवल अपने ही राष्ट्र की नहीं, अपितु अपने साम्राज्य की समस्त जातियों की, और अपने राज्य से बाहर होते हुए भी सामान्यतः समस्त मानव-जाति के हितों की, रक्षा करे। जब यह आदर्श सिद्‌ध हो जाएगा, तब समस्त संसार में अखण्ड शान्ति और समृद्‌धि का एक अविच्छिन्न सहस्राब्द होगा, जिसमें पशुओं तक को उस जीवन के उपभोग से वंचित न किया जाएगा जो सबको प्रिय है। पुराणों के अभिलेखों से प्रतीत होता है कि यही प्राचीन भारतीय आदर्श था। किन्तु अपेक्षाकृत अर्वाचीन काल में ज्ञान क्षीण

होता गया और स्वार्थ ने मनुष्यों के हृदयों को अपने वश में कर लिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि भ्रातृत्व के छिन्न-भिन्न होते ही मुसलमान रंगमंच पर आ उपस्थित हुए और उन्होंने सहज ही इस देश में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। उन्होंने घृणा के सिद्धान्त से देश पर शासन करने का प्रयत्न किया, और इसी कारण समय पूरा होने पर संसार ने उनका पतन देखा। अब हम यूरोप पर एक दृष्टि डालें, जहाँ कम से कम राष्ट्रीय जीवन की सीमा तक प्रेम का सिद्धान्त प्रचलित है। वहाँ डच, स्पेनी आदि छोटे-छोटे राष्ट्रों ने भी न केवल अपनी सत्ता बनाए रखी, अपितु उन देशों तक अपने साम्राज्य फैलाए, जहाँ घृणा से उत्पन्न फूट ने उन्हें पैर जमाने का अवसर दे दिया।

इस प्रकार इतिहास हमें यह महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ाता है कि प्रेम ही वह है जो निर्माण करता है, स्थापित करता है और सुदृढ़ बनाता है, और घृणा ही वह है जो विभाजित करती है, बिखेरती है और नष्ट करती है। यह प्रकृति का नियम है, और इसे ठुकराने के मनुष्य के समस्त प्रयत्न व्यर्थ हैं। 'द यूनिवर्सल टेक्स्ट-बुक ऑफ़ रिलिजन एण्ड मॉरल्स' (The Universal Text-book of Religion and Morals) में (पृष्ठ १७६-७) कहा गया है:—

> **"भूतकाल के इतिहास का अध्ययन उन लोगों को भी विश्वास दिला सकता है जो तर्क से सहज ही प्रभावित नहीं होते, कि भ्रातृत्व वस्तुतः प्रकृति का एक नियम है। क्योंकि कोई नियम अपने को उतनी ही पूर्णता से उसके विनाश द्वारा सिद्ध करता है जो उसकी अवहेलना करता है, जितना उसके पोषण द्वारा जो उसके अनुकूल है। एक के बाद एक राष्ट्र, एक के बाद एक राज्य, भ्रातृत्व की उपेक्षा करके खण्डहर हो गए: जहाँ बलवान् दुर्बल की रक्षा करने के स्थान पर उस पर अत्याचार करता है; जहाँ धनी निर्धन की सहायता करने के स्थान पर उसका शोषण करता है; जहाँ विद्वान् अज्ञानी को शिक्षित करने के स्थान पर उसका तिरस्कार करता है; वहाँ प्रकृति की अटल अंगुली उस सभ्यता के ऊपर लिख देती है: विनष्ट। थोड़ा ही समय बीतता है, और वह लुप्त हो जाती है। केवल तभी, जब भ्रातृत्व का आचरण किया जाएगा, ऐसी सभ्यता का उदय होगा जो चिरस्थायी होगी।"**

यह हमारे ही हाथ में है कि हम अपने सहजीवों के प्रति ऐसा आचरण करें जिससे मनुष्य का भ्रातृत्व स्थापित हो, अथवा उस आदर्श की ओर होने वाले प्रकृति के विकास में बाधा डालें। एक स्थिति में हमें प्रेम के शासन के अन्तर्गत अपने भाग का आनन्द प्राप्त होता है, किन्तु दूसरी में हमें उस मन्द किन्तु सुनिश्चित न्याय के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए जो प्रकृति ने उनके लिए तैयार कर रखा है जो उसके प्रयोजन

का उल्लंघन करते हैं; क्योंकि प्रकृति का आदर्श उस पत्थर के समान है जिसे राजमिस्त्रियों ने ठुकरा दिया था, किन्तु जो फिर भी कोने का सिरा बनने के लिए ही नियत था; और धिक्कार है उस पर जो उससे टकराता है, क्योंकि:—

> **"जो कोई उस पत्थर पर गिरेगा, वह चूर-चूर हो जाएगा; और जिस पर वह गिरेगा, उसे पीस डालेगा।"—लूका २०:१८**

सम्भव है कि मानव समाज की वर्तमान अवस्था में भ्रातृत्व के आदर्श को एक ही बार में मूर्त रूप देना कुछ कठिन हो, किन्तु तत्काल ऐसा करना कठिन होने से यह बहाना नहीं मिल जाता कि हम उसकी ओर, चाहे कितनी ही मन्द गति से क्यों न हो, आगे ही न बढ़ें। इसके लिए तो केवल इतना ही अपेक्षित है कि हम सब, शासक और शासित, समान रूप से प्रयत्न करें। शासकों और राजाओं के लिए उचित मनोवृत्ति यह है कि वे अपनी प्रजा में सत्य और ज्ञान का आलोक फैलाएँ, जिससे वह भ्रातृत्व की सिद्धि के लिए सचेत रूप से सहयोग कर सके; और शासितों के लिए इससे उत्तम कुछ नहीं कि वे अपने शासकों के साथ निःस्वार्थ, विवेकपूर्ण सहयोग करते हुए उस आदर्श के हेतु को आगे बढ़ाएँ। जब शासक और शासित दोनों समस्त मानव-जाति की दशा के सुधार के लिए सामंजस्यपूर्वक मिलकर कार्य करेंगे, तब वे भ्रान्तियाँ, जो प्रायः रक्तपात, अनाचार और उत्पीड़न के उन कर्मों का कारण बनती हैं जिन्होंने भूतकाल में लगभग सभी राष्ट्रों के इतिहास के पृष्ठों को कलंकित किया है, और जो अन्ततः प्रकृति के नियमों के सरल अज्ञान से ही उत्पन्न होती हैं, विलुप्त हो जाएँगी, और उनका स्थान पारस्परिक सद्भाव, विश्वास और बन्धुभाव ले लेंगे। यहाँ भय के विचार के लिए कोई स्थान नहीं, क्योंकि भय को प्रतिष्ठा, शक्ति और पक्षपात का पोषण अपेक्षित है और वह उनके बिना चल नहीं सकता, जबकि प्रेम भेदों को मिटा देता है, शत्रुओं को मित्र बना देता है, और समाज के विविध वर्गों और श्रेणियों को एक सामंजस्यपूर्ण समष्टि में जोड़ देता है।

श्रेष्ठता का विचार अथवा भाव भी घृणा की भावना का ही एक रूप है, और एक घृणित मिथ्या है, चाहे वह किसी की शारीरिक, मानसिक अथवा नैतिक उपलब्धियों के विषय में क्यों न हो। यदि हम किन्हीं बातों में कुछ लोगों से श्रेष्ठ हैं, तो निश्चय ही कुछ अन्य लोग ऐसे हैं जो अन्य बातों में हमसे श्रेष्ठ हैं। वास्तविक श्रेष्ठता तो अपने आध्यात्मिक स्वभाव के विकास में है, किन्तु उस दशा में वह विनम्रता का रूप धारण करती है, अहंकार अथवा दर्प का नहीं। ईसा अपने युग के सबसे नम्र पुरुषों में से एक थे। वे भूमि पर उकड़ूँ बैठते, हाथ से भोजन करते, और ठीक वैसे ही वस्त्र पहनते जैसे आज पूर्व में निर्धन लोग पहनते हैं; किन्तु उनके सुसमाचार का प्रचार करने वाले अनेक उपदेशक आज इस सरल जीवन-शैली को हेय

दृष्टि से देखते हैं, और जो लोग उस महान् गुरु के ढंग से जीवन बिताते हैं, उन्हें अपने से सामाजिक तथा मानसिक दृष्टि से हीन समझते हैं। अन्तर यह है कि ईसा ने स्वर्ग के राज्य का उपदेश दिया था, किन्तु ये केवल सभ्यता का उपदेश देते हैं, यद्यपि इनके भाषण में उस महान् गुरु के महान् वचनों की यान्त्रिक आवृत्ति होती रहती है। तब क्या इस पर आश्चर्य करना चाहिए कि आज के युग में मानव-जाति का आदर्श मोक्ष नहीं, अपितु सभ्यता है? संसार भर में इस शोचनीय परिवर्तन के लिए पुरोहित-वर्ग की भाड़े की, समझौतावादी मनोवृत्ति उत्तरदायी है। ब्राह्मण भी इस नियम का अपवाद नहीं। पहले लौकिक सत्ता सब विषयों में धर्म-संस्था का मार्गदर्शन चाहती थी, किन्तु अब धर्म-संस्था राज्य से पृथक् कर दी गई है और अनेक स्थलों पर उसके अधीन तथा दास बना दी गई है। इसका परिणाम अत्यन्त शोचनीय है, क्योंकि जहाँ पहले वस्तुओं का नैतिक पक्ष सदा दृष्टि में रखा जाता था, वहाँ अब वह पक्ष या तो तभी सामने आता है जब वह संसार के दृष्टिकोण से नहीं टकराता, अथवा तब जब मनुष्यों के दुष्कर्मों को कपट और निर्लज्जता के आवरण की तहों में छिपाना होता है। धर्म-संस्था अपनी शक्ति को क्षीण होते देखकर मनुष्यों की दूषित रुचियों की चापलूसी करके और उनके अधर्ममय कर्मों को स्वीकृति देकर अपनी पकड़ बनाए रखने का प्रयत्न करती है। इस स्थिति को जिसने जन्म दिया है वह है सच्चे ज्ञान का अभाव, क्योंकि ज्ञान ही वह शक्ति है जिसे कोई ठुकरा नहीं सकता। हमें इससे कोई प्रयोजन नहीं कि पुरोहित किस सम्प्रदाय का है, किन्तु अनेक स्थलों में यह देखा जाएगा कि ईसा ने शास्त्रियों और फरीसियों को सम्बोधित करके जो कठोर वचन कहे थे, वे पूर्णतः उसके भी योग्य और उपयुक्त हैं। जब मनुष्य को अपनी ही भूमि पर विश्वास नहीं होता और वह भ्रष्ट होता है, तब वह कपटी हुए बिना रह ही नहीं सकता; वह निश्चय ही 'अधिकार के साथ' उपदेश नहीं दे सकता। सम्भवतः वह स्त्री, जिसे ईसा के समक्ष इसलिए लाया गया था कि वे उसे पत्थरों से मार डालने की अनुमति दे दें, यदि हमारे युग के पुरोहित-वर्ग के समक्ष लाई जाती, तो उसे उससे बहुत भिन्न परिणाम भोगना पड़ता जो उसे उनके हाथों प्राप्त हुआ था।

राजनीति में भी, जैसा कि जीवन के अन्य सभी विभागों में, हम देखेंगे कि दिव्य नियमों के अनुरूप कार्य किए बिना किसी वास्तविक प्रगति का होना असम्भव है। संसार के इतिहास के पृष्ठों पर एक दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि सब राष्ट्रों में मनुष्यों ने एक के बाद एक साम्राज्य खड़े किए, और प्रत्येक ने दृढ़ता और शक्ति में अपने से पूर्ववर्ती सब साम्राज्यों को पीछे छोड़ देने का प्रयत्न किया; किन्तु उनमें से प्रत्येक की, बिना एक भी अपवाद के, अन्तिम नियति एक ही रही, अर्थात् विनाश। इसका कारण उस घृणा के सिद्धान्त में निहित था जो राजाओं और शासकों के हृदयों पर शासन करता था। जब तक वे मनुष्यों के साथ अपने व्यवहार में प्रेम के सिद्धान्त पर स्थिर रहे, तब तक उनके राज्य उनके अपने और उनकी प्रजा के लाभ के लिए फूले-फले; किन्तु जिस क्षण उन्होंने अपने हृदयों को अभिमान और आत्म-प्रतिष्ठा की

भावनाओं से आन्दोलित होने दिया, वे अस्तित्व से बहा दिए गए। इस प्रकार भ्रातृत्व के नियम के पालन में उनकी विफलता ही उनके पतन का कारण थी, क्योंकि अभिमान और आत्म-श्लाघा निकृष्टतम प्रकार की बेईमानी, कपट और षड्यन्त्र को जन्म देते हैं, और अन्ततः अत्याचार की ओर भी ले जाते हैं, जो विनाश की जननी है।

सुशासन के सच्चे सिद्धान्त महान् नीतिकार और कवि शीराज़ के सादी (Sa'di of Sheeraz) ने निम्नलिखित दो दोहों में निरूपित किए हैं:—

(अनुवाद) (१) प्रजा मूल के समान है और राजा वृक्ष के समान; हे पुत्र! वृक्ष का बल मूल पर ही निर्भर करता है।

(२) प्रजा उस वृक्ष के समान है जिसका यदि तू पोषण करे, तो उससे ऐसा फल पा सकता है जिससे तेरी और तेरे मित्रों की तृप्ति हो।

यही सुशासन के सच्चे सिद्धान्त हैं, और जहाँ कहीं इन्हें व्यवहार में लाया गया है, वहाँ इन्होंने सम्बद्ध सब लोगों को सुख और आनन्द देने में कभी चूक नहीं की। यह स्मरण रखना उचित है कि अस्तित्व का लक्ष्य न तो अपनी जाति के अन्य सब लोगों की हानि करके अपनी ही जेबें भरना है, न मानव-जाति पर प्रभुत्व जमाना, अपितु संसार में इस प्रकार जीना है कि हम स्वयं तथा अन्य सब लोग शान्ति, सामंजस्य और सुख की उस पूर्णतम मात्रा को प्राप्त कर सकें जो यहाँ और परलोक में उपलब्ध है, और विकसित होकर पूर्ण ईश्वर बन सकें, जो हमारी अन्तिम नियति है। यह भी स्मरण रखना उचित है कि गलत दिशा में उठाया गया हमारा प्रत्येक पग, यदि समय रहते वापस न लिया जाए, हमें विनाश के जँभाते हुए गर्त के और निकट ले जाता है, और यह कि एक निश्चित संख्या में गलत पग उठा लेने के पश्चात् उन्हें वापस लेना हमारी शक्ति से सर्वथा बाहर हो जाएगा।

आज भी हमारे राजनीतिज्ञ घृणा के शासन से संसार पर शासन करने का प्रयत्न कर रहे हैं, और उसके राष्ट्रों को निश्चित विनाश की ओर ले जा रहे हैं। वे अपने ही राष्ट्र की महिमा के लिए विश्व-सत्ता का लक्ष्य रखते हैं, और यह भूल जाते हैं कि मनुष्य प्रकृति के नियमों के विरुद्ध निर्दण्ड होकर नहीं चल सकता। महान् राष्ट्रों का अतीत इतिहास उन सब को, जो विश्वास करने योग्य हों, इस तथ्य का विश्वास दिलाने के लिए विद्यमान है कि राज्यों की स्थिरता और स्थायित्व तभी सम्भव है जब वे प्रेम के ठोस और सुनिश्चित आधार

पर प्रतिष्ठित हों, और यह कि विश्व-विजय अथवा शासन के विषय में कोई भी कूटनीतिक चातुर्य, भारी शस्त्रास्त्र, अथवा जहाज़ और सैनिक उस विनाश को नहीं टाल सकते जो प्रेम के आध्यात्मिक नियम की अवहेलना के पीछे-पीछे आता है।

विश्व-विजय की महत्त्वाकांक्षा का एक परिणाम वह उन्मत्त प्रतिस्पर्धा है जो संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में चल रही है, जहाँ प्रत्येक दूसरों की होड़ से डरता हुआ श्रेष्ठतर सामर्थ्य सुनिश्चित करने के लिए अधिकाधिक बलिदान करता जा रहा है, जिसका परिणाम यह हुआ कि शान्ति केवल आपादमस्तक सशस्त्र रहकर ही सम्भव रह गई है। अब भी इसकी कोई गारंटी नहीं कि यह व्यवस्था सन्तोषजनक ढंग से चल सकेगी, क्योंकि प्रबलतम सेना किसी एक सत्ता को तो कुचल सकती है, किन्तु यह आशा करना बहुत अधिक है कि वह सारे संसार के विरुद्ध विजयी होगी। शत्रुओं के प्रबल संगठन का भय हमें निरन्तर इस बात के लिए प्रेरित करता रहता है कि हम अपनी सेनाओं की शक्ति और कार्यक्षमता का स्तर ऊँचा उठाएँ, और इससे प्रतिवर्ष विपुल धनराशि व्यय करना अनिवार्य हो जाता है। किन्तु यह सारा धन आएगा कहाँ से? कर-भार आन्तरिक असन्तोष को जन्म देता है, और यदि उसे उचित सीमाओं के भीतर न रखा जाए तो वह हड़तालों, आन्दोलनों, विद्रोह और यहाँ तक कि गृह-युद्धों तक ले जाएगा। वह वस्तुतः बुरी राजनीति है जो जनता को दरिद्र बनाकर राष्ट्रीय रक्षा की तैयारी करती है। इस प्रकार 'लौह-मुष्टि' की नीति से किसी चिरस्थायी शान्ति और सुख की आशा नहीं की जा सकती, और उसकी सफलता, कहा जा सकता है, उस निरन्तर आतंक पर निर्भर है जो चारों ओर व्याप्त रहकर खुले विच्छेद को तब तक रोके रखता है जब तक कोई अपने को किसी दूसरे से अधिक बलवान् अनुभव न करने लगे; इस प्रकार सुरक्षा और शान्ति का बोध भोगने के स्थान पर हम निरन्तर आतंक की अवस्था में जीते हैं, जिसका सामना और प्रतिकार हम अपनी बारी में दूसरों में भय फैलाकर करने का प्रयत्न करते हैं। यह देखकर पीड़ा होती है कि विनाश के विशेष प्रकार के यन्त्रों की व्यवस्था और निर्माण में प्रतिवर्ष कितनी विपुल धनराशि व्यय की जाती है। मनुष्य पहले ही उन करों के भार से कराह रहे हैं जो उन्हें शान्ति के मूल्य के रूप में चुकाने पड़ते हैं, और जीवन-निर्वाह की लागत दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। फिर भी वे उथले राजनीतिज्ञ, जो इस प्रकार के शासन के लिए उत्तरदायी हैं, यह नहीं देख पाते कि वे आतंक के शासन से कभी भी आन्तरिक और बाह्य शान्ति तथा सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकते, और आँख मूँदकर उसी मार्ग पर चलते रहते हैं जो उन्होंने स्वयं संसार के प्रबन्ध के लिए निर्धारित कर रखा है। यदि प्रेम राजनीतिक जीवन का मार्गदर्शक सिद्धान्त होता, तो कहीं भी ऐसा आतंक न होता, और राष्ट्र एक-दूसरे के साथ-साथ रहते तथा मित्रों के समान परस्पर सहयोग करते; क्योंकि प्रेम ही वह शक्ति है जो जोड़ती है और भय को प्रभावशाली रूप से नष्ट कर देती है। जहाँ प्रेम का शासन है, वहाँ अविश्वास के लिए कोई स्थान नहीं। धर्म यह बताता है कि

राजा को अपनी प्रजा और साम्राज्य की रक्षा में युद्ध करना चाहिए, किन्तु केवल धर्मयुक्त साधनों और ऐसे शस्त्रों का प्रयोग करते हुए जो अयोद्धाओं को हानि न पहुँचाएँ; और प्राचीन अभिलेख (पुराण) प्राचीन काल के प्रधानों और योद्धाओं द्वारा रणभूमि में अर्जित गौरव के वृत्तान्तों से भरे पड़े हैं। किन्तु वह विश्व-विजय की उन्मत्त नीति का, अथवा राजाओं की व्यक्तिगत तृप्ति के लिए राष्ट्रों को युद्ध में झोंक देने का, अनुमोदन नहीं करता। समस्त सिद्धान्त प्रेम के मूल तत्त्व पर आधारित है, जिसे सच्ची महत्ता और स्थायित्व का वास्तविक आधार बताया गया है।

चूँकि प्रेम विश्वास और सौहार्द को जन्म देता है, और घृणा भय तथा प्रतिशोध की भावना को, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि आन्तरिक और बाह्य, दोनों प्रकार की शान्ति और सामंजस्य केवल प्रेम के शासन के अन्तर्गत ही प्राप्त हो सकते हैं। आदर्श राजा श्री रामचन्द्र के राज्य में भय नाम की कोई वस्तु ही न थी, और वह युग उनकी प्रजा के लिए आन्तरिक तथा बाह्य शान्ति और सुख के लिए विख्यात रहा। इस राज्य का वृत्तान्त इतिहास हो या न हो; इतना ही पर्याप्त है कि वह आदर्श है। आज भी यदि हम अपना दृष्टिकोण बदल दें और घृणा के स्थान पर प्रेम को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करें, तो हम पाएँगे कि समस्त मानव-जाति के लिए शान्ति और समृद्धि होगी। प्रेम के शासन के अन्तर्गत कभी कोई असन्तोष हो ही नहीं सकता, और भारी शस्त्रास्त्रों तथा सेनाओं की आवश्यकता समाप्त हो जाने पर राष्ट्रीय रक्षा के उस विभाग को दिया जाने वाला धन जन-साधारण के सामान्य कल्याण में लगाया जा सकेगा। आधुनिक राजनीति का शास्त्र शान्ति के शास्त्र से युद्धरत है, और उसे उन परिस्थितियों के अनुरूप संशोधित किया जाना चाहिए जिनकी माँग एक अग्रसर होती हुई सभ्यता करती है। निरंकुश शासन का तो अन्त हो ही चुका है, किन्तु प्रतिनिधि-शासन की जो पद्धति आधुनिक युग के लिए निरंकुश राजतन्त्र की अपेक्षा अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है, वह अभी तक पूर्णता को प्राप्त नहीं हुई है। शासन के सर्वाधिक प्रबुद्ध रूप का अर्थ एक प्रकार का संशोधित समाजवाद होना चाहिए, जिसमें मानव-जाति की भिन्न-भिन्न प्रजातियाँ—पीत, रक्त, कृष्ण और श्वेत—सब एक परिवार-सदृश एकता में रहें, जिसमें किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों के लिए कोई विशेषाधिकार स्वीकार न किए जाएँ, और जहाँ राज्य के कार्यों के संचालन की योग्यता की एकमात्र कसौटी योग्यता-सहित प्रेम के अतिरिक्त और कुछ न हो।

प्रतीत होता है कि प्रेरितों के समय में ईसाई धर्म-संस्था की मूल योजना ऐसी ही थी। हम उसकी विफलता से हतोत्साह न हों, वरन् उन कारणों को दूर करने का प्रयत्न करें जो उसे ले आए। जब हनन्याह और सफीरा जैसे लोग धर्म-संस्था की ओर प्रेम की शक्ति से नहीं, अपितु प्रेरितों के चमत्कारों से उत्पन्न भय की भावना से खिंच आते हैं, तब उससे धर्म-संस्था के हेतु की तनिक भी उन्नति नहीं होती। सच्चा प्रेम प्रज्ञा पर टिका होता है और कपट को नहीं जानता; और बारूद तथा गोली के शासन को, आतंक के राज्य को,

ईश्वर के राज्य में बदलने के लिए सच्चे प्रेम की ही आवश्यकता है। जब तक इस सिद्धान्त को दृष्टि में न रखा जाए और समस्त मानव-राजनीति का लक्ष्य न बनाया जाए, तब तक मनुष्य का कोई भी राज्य, चाहे वह तोपखाने और सैनिक कौशल से कितना ही सुदृढ़ क्यों न हो, स्थायी नहीं हो सकता, क्योंकि उस महान् गुरु ने घोषित किया था:—

> **"इसलिए मैं आपसे कहता हूँ कि परमेश्वर का राज्य आपसे ले लिया जाएगा और ऐसी जाति को दे दिया जाएगा जो उसका फल लाए।"**

इस एक ही वाक्य में दो सहस्र वर्ष पूर्व राजनीति-शास्त्र का समस्त तत्त्वज्ञान समाहित कर दिया गया था। इसका अर्थ यह है कि राजनीतिक महत्ता हृदय की नैतिकता पर निर्भर करती है और उसी का अनुसरण करती है, और सद्भाव की भावना के विदा होते ही शीघ्र लुप्त होने लगती है। जहाँ तक इसके प्रयोग का प्रश्न है, हमें इतिहास में इसके मौलिक सत्य को उदाहृत करने वाले वास्तविक दृष्टान्त मिलते हैं। यहूदियों का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। किसी प्रकार हिब्रू जाति ने चुनी हुई प्रजा होने का विचार आत्मसात् कर लिया था और वह अनन्य रूप से वैसी ही बनी रहना चाहती थी। अभिमान ने शीघ्र ही उनका पतन करा दिया। भारतवासियों ने भी सत्य के विषय में संकोच और उदासीनता की नीति अपनाई, और उसका आचरण करने अथवा संसार को उसका उपदेश देने के लिए बहुत थोड़ा या कुछ भी नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि वे आपस में विभाजित हो गए और उन्होंने अपनी स्वाधीनता खो दी। उनके पहले विजेता, मुसलमान, भी धर्म की सच्ची शिक्षा से लाभ उठाने में विफल रहे, और इसी कारण अपनी बारी में अंग्रेज़ों द्वारा परास्त किए गए।

राजनीतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की विवेचना में यह ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता का अर्थ सदा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं होता; क्योंकि यद्यपि यह सत्य है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को पूर्वमान लेकर चलती है, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि जहाँ भय के तत्त्व का सर्वथा उन्मूलन नहीं हुआ है, वहाँ राष्ट्रीय स्वाधीनता वास्तविक से अधिक भ्रामक है; अतः जहाँ लोग अपने पड़ोसियों के निरन्तर आतंक में जीते हैं, जहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राष्ट्रीय सैन्यवाद की माँगों के अधीन कर दी जाती है, और जहाँ जीवन तथा स्वतन्त्रता पड़ोसी की मात्र इच्छा से किसी भी क्षण संकट में पड़ सकती है और जिनके पास बारूद और गोली के अतिरिक्त निर्भर करने योग्य और कुछ अधिक ठोस या सारभूत नहीं है, वहाँ उन लोगों की दशा को शायद ही स्वतन्त्र कहा जा सकता है। दूसरी ओर, यह पूर्णतया कल्पनीय है कि किसी परतन्त्र जाति के सदस्य पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते हैं, यदि उनके और उनके शासकों के बीच सम्बन्ध पड़ोसी-प्रेम के सिद्धान्त पर आधारित हों। इससे यह निष्कर्ष निकलता है

कि हमारी जाति की राजनीतिक मुक्ति एक राष्ट्र के रूप में समस्त शत्रुओं को खदेड़ देने की हमारी क्षमता पर नहीं, अपितु उन्हीं शत्रुओं को मित्र बना लेने की हमारी सामर्थ्य पर निर्भर है। तब सार्वभौम प्रेम का आचरण ही शान्ति और स्वतन्त्रता की सच्ची गारंटी है। अब हम समझ सकते हैं कि प्रत्येक विवेकसम्मत धर्म उसके पालन पर इतना बल क्यों देता है, यद्यपि प्रत्येक इसके लिए भिन्न-भिन्न कारण बताता है। उदाहरणार्थ, वेदान्त इसे आत्मा की एकता पर आधारित करता है, जिस पर प्रोफ़ेसर डॉयसन (Prof. Deussen) ने 'द आस्पेक्ट्स ऑफ़ वेदान्त' (The Aspects of Vedanta) से लिए गए निम्नलिखित अंश (पृष्ठ १२४) में पूरा बल दिया है:—

> **"सुसमाचार नैतिकता के सर्वोच्च नियम को बिलकुल ठीक निर्धारित करते हैं: अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम करो। किन्तु मैं ऐसा क्यों करूँ, जब प्रकृति के विधान से मैं सुख और दुःख केवल अपने में ही अनुभव करता हूँ, अपने पड़ोसी में नहीं? इसका उत्तर बाइबिल में नहीं है (यह आदरणीय ग्रन्थ अभी सेमेटिक यथार्थवाद से पूर्णतः मुक्त नहीं है), किन्तु वह वेद में है, उस महान् सूत्र 'तत् त्वम् असि' में है, जो तीन ही शब्दों में समस्त तत्त्वमीमांसा और नीतिशास्त्र दे देता है। तुम अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम करो,—क्योंकि तुम्हीं तुम्हारे पड़ोसी हो, और केवल भ्रान्ति ही तुम्हें यह विश्वास कराती है कि तुम्हारा पड़ोसी तुमसे कुछ भिन्न है।"**

तथापि तथ्य यह है कि पड़ोसी-प्रेम का सिद्धान्त पूर्णतया कर्म के नियम पर निर्भर करता है, जो हमें सिखाता है कि दूसरों को हानि पहुँचाने अथवा उन्हें तुच्छ ठहराने में हम अपनी घृणा के विषय की अपेक्षा अपनी ही आत्मा को अधिक हानि पहुँचाते हैं।

क्योंकि कर्मों का—चाहे वे मानसिक हों, चाहे शारीरिक, अथवा वाणी से उत्पन्न—प्रभाव अहं की संरचना में सुरक्षित रहता है और कतिपय विशिष्ट रूपों में फल देता है; पुण्य वांछनीय और सुखद परिणामों की ओर ले जाता है और पाप उस सबकी ओर जो अप्रिय, अवांछनीय और दुःखद है। और जहाँ तक लौकिक जगत् का सम्बन्ध है, यह देखना सरल है कि सच्चे प्रेम की भावना की सब अभिव्यक्तियाँ अपने साथ विस्तार अथवा 'अधिकता' का बोध लिए चलती हैं और वस्तुतः जीवन की ओजस्विता को बढ़ाती हैं, जबकि विपरीत प्रकार की भावनाएँ संकोच अथवा 'न्यूनता' के बोध को और अपने ही भीतर एक दमन को जन्म देती हैं, और मनुष्यों में पारस्परिक अविश्वास भी उत्पन्न करती हैं; और इस प्रकार के अविश्वास का यह लक्षण है कि वह प्रायः उस तनाव की अवस्था तक ले जाने से नहीं चूकता जिसे 'सशस्त्र

सन्धि' के अतिरिक्त और कोई नाम नहीं दिया जा सकता। तब अपने पड़ोसी की स्वतन्त्रता ही अपनी स्वतन्त्रता का माप है। अतः जो स्वयं स्वतन्त्र होना चाहता है, उसे सबसे पहले अपने पड़ोसी को स्वतन्त्र करना चाहिए।

विपरीत प्रकार की भावना की तुलना में प्रेम की श्रेष्ठता राष्ट्रों के स्वाधीनता-हेतु जीवन-मरण संघर्ष में स्पष्ट रूप से प्रकट होती है; क्योंकि जहाँ प्रेम के माध्यम से हुए समझौते में न रक्तपात होता है और न दो प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों के सम्बन्धों में वैमनस्य, और वह वस्तुतः दोनों के लिए शक्ति का स्रोत बन जाता है, वहाँ घृणा के साधन से प्राप्त समझौता केवल रक्त और धन के मूल्य पर ही खरीदा जाता है, और भविष्य में एक सशस्त्र शिविर के पोषण का भार भी साथ लाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संसार की राजनीतिक मुक्ति आक्रमण और रक्तपात के कर्मों के लिए किसी संघ के निर्माण से नहीं, अपितु मानव-जाति को सच्चा ज्ञान देने से प्राप्त होगी; जिससे जब जाति की आध्यात्मिक दृष्टि जाग उठेगी और जन-साधारण को भौतिकवादी जीवन की अवास्तविकता और अस्थिरता का, तथा अपने ही ईश्वरीय स्वभाव की वास्तविकता का, विश्वास हो जाएगा, तब वे स्वयं अपने आप, अपनी स्वतन्त्र इच्छा से, मनुष्यों के सब वर्गों के बीच समानता का सिद्धान्त स्थापित करने के लिए आवश्यक पग उठाने को प्रवृत्त होंगे। इस प्रकार मनुष्यों के भिन्न-भिन्न वर्गों और समुदायों के बीच का वह घृणित भेद सदा-सर्वदा के लिए मिटा दिया जाएगा।

अतीत के महान् साम्राज्यों के उत्थान और पतन से हम यह महत्त्वपूर्ण पाठ भी सीख सकते हैं कि न्याय ही एकता और शक्ति का सिद्धान्त है, क्योंकि न्याय विश्वास को जन्म देता है, और विश्वास व्यक्तियों को उपनिवेशों में, उपनिवेशों को राज्यों में, और राज्यों को साम्राज्यों में जोड़ देता है। जहाँ न्याय का अभाव है, वहाँ विश्वास नहीं; विश्वास के बिना हितों की एकता नहीं; और हितों की एकता के बिना वह 'एस्प्री द कोर' (esprit de corps) हो ही नहीं सकता जो शक्ति का मूल है। न्याय के अभाव में ही मनमानी और उसकी अभिन्न सहचरी पक्षपात प्रचलित होती है। अन्यायी अपने शत्रुओं के विरुद्ध पक्षपात का प्रयोग करके अपने को सुदृढ़ करने का प्रयत्न करता है। किन्तु प्रकृति इस पद्धति का कभी अनुमोदन नहीं करती, और यद्यपि क्षण भर के लिए बादल क्षितिज से छँटते हुए प्रतीत हो सकते हैं, तथापि वे कुछ ही काल पश्चात् और भी घने होकर लौट आने को विवश होते हैं। क्योंकि पक्षपात अकर्मण्यता और निकृष्ट कोटि की प्रतिद्वन्द्विता को जन्म देता है, और कोई भी साम्राज्य तब तक एक सूत्र में नहीं बँधा रह सकता जब तक उसे बनाने वाली इकाइयों में 'अस्तित्व के संघर्ष' में भाग लेने की कार्यक्षमता और पात्रता का अभाव हो। इस नियम का कोई अपवाद नहीं। निरंकुशता के सब रूपों का पतन प्रकृति के इसी सरल नियम के कारण होता है। यह देखा जाएगा कि न्याय भय को सन्तुलित करने में बहुत दूर तक जाता है,

क्योंकि वह हृदय में विश्वास का संचार करता है और मन में शान्ति तथा सन्तुलन बनाए रखता है; वह समुदायों में सद्भाव और व्यवस्था की जननी है, तथा पति और पत्नी के बीच सामंजस्य और स्वामी और सेवक के बीच प्रेम उत्पन्न करता है। जैसा कि कोल्टन (Colton) ने कहा है, यदि कठोर न्याय हमारे शेष सब सद्गुणों का कर्णधार न हो, तो हम जितनी तीव्र गति से चलेंगे, उतना ही अधिक अपने को उस बन्दरगाह से दूर पाएँगे जहाँ हम पहुँचना चाहते हैं।

यदि हम अपने चारों ओर दृष्टि डालें, तो हम इस उल्लेखनीय तथ्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते कि संसार में शासन करने वाली जातियाँ और राष्ट्र वही हैं जो न्याय के महान् सद्गुण का आचरण करते हैं और ऐसे व्यक्तियों से बने हैं जिन्हें एक-दूसरे पर अटूट विश्वास है; जबकि शेष, जिनका मुख्य लक्षण एक-दूसरे पर विश्वास का अभाव है, केवल दासों के रूप में अस्तित्व रखते हैं। क्या इस परिणाम पर आश्चर्य करना चाहिए? जो घर अपने ही विरुद्ध विभाजित हो, वह स्थिर नहीं रह सकता; क्योंकि नैतिकता ही वह महान् शक्ति है जो परिवारों को तथा राष्ट्रों को भी दृढ़ बनाती है और उन्हें एक सुसंगठित समष्टि में एक कर देती है। और नैतिकता का प्रथम सिद्धान्त न्याय है, जो सत्यनिष्ठा से उत्पन्न होता है। जहाँ सत्यनिष्ठा का अभाव है, वहाँ आत्म-सम्मान नहीं; और अपने ही प्रति सम्मान के अभाव में किसी अन्य के प्रति भी सम्मान नहीं हो सकता, सिवाय उस अवसरवादी के क्षणिक मौखिक सम्मान के।

जो जातियाँ राष्ट्रों की परिषद् में अपना उचित स्थान पाने की आकांक्षा रखती हैं, उन्हें हम यही परामर्श देंगे कि वे सब परिस्थितियों में सत्यनिष्ठा का आचरण करें। उन्हें और कुछ करने की आवश्यकता नहीं। यह एक ही सद्गुण अपनी ही अन्तर्निहित शक्ति से उनके समस्त सम्बन्धों का समुचित समायोजन कर देगा। शेक्सपियर (Shakespeare) ठीक ही कहते हैं:—

> **“अपने ही प्रति सच्चे रहो, और तब यह वैसे ही अनिवार्य रूप से घटित होगा जैसे दिन के पीछे रात, कि तुम फिर किसी भी मनुष्य के प्रति असत्य नहीं हो सकते।”**

किन्तु यह पूरा सत्य नहीं है, क्योंकि हमें इसमें यह और जोड़ना चाहिए: ‘जब तू अपने ही आत्मा के प्रति सच्चा होगा, तब यह भी अनिवार्य रूप से घटित होगा कि कोई भी तेरे प्रति असत्य नहीं हो सकेगा।’

सत्यनिष्ठा ही वह शक्ति है जो राष्ट्रों को एक सूत्र में बाँधती है। उसकी अवहेलना न केवल राष्ट्रीय विपत्ति और अवनति से भरी है, अपितु व्यक्तिगत रूप से भी वह विनाश की ओर ही ले जा सकती है। हम आध्यात्मिकता और भौतिकता, दोनों दृष्टिकोणों से इसके परिणामों का आकलन कर सकते हैं।

पहले, जहाँ तक आध्यात्मिकता का प्रश्न है, असत्य सीधे हृदय की अपवित्रता उत्पन्न करता है, उच्चतर प्रवृत्तियों को विकृत और जड़ कर देता है, प्रेम की उदात्ततर भावना को घृणा में बदल देता है, और अहं को विकास के उच्चतर रूपों के अयोग्य बना देता है। वह बुद्धि को धूमिल कर देता है और मन की प्रसन्नता के स्थान पर चिन्ता और उद्विग्नता ला बैठाता है, इस प्रकार अहं को सीधे आनन्द से वंचित कर देता है, जिसकी प्राप्ति और उपभोग ही आत्मा का एकमात्र लक्ष्य और आकांक्षा है। असत्यवादी सुखी होना चाहता है, किन्तु ठीक वही करता है जो सीधे दुःख को जन्म देता है! यह तो ऐसा ही है जैसे कोई नींव उखाड़कर उसी से ऊपर का भवन बनाना चाहे। मन की शान्ति के बिना आध्यात्मिक प्रगति असम्भव है, और मन की शान्ति तब तक नहीं मिल सकती जब तक हृदय शुद्ध न हो; अतः असत्य-भाषण मुक्ति के मार्ग में एक तात्कालिक बाधा है।

दूसरे, जहाँ तक भौतिक समृद्धि का प्रश्न है, यह देखना भी सरल है कि असत्यनिष्ठा यहाँ भी अन्ततः विनाश की ओर ही ले जाती है। हम बेईमानी के साधनों से सस्ता लाभ उठाने के लिए असत्य का सहारा लेते हैं। किन्तु बेईमानी दीर्घ काल में कभी नहीं फलती-फूलती, चाहे उससे तत्काल कितना ही लाभ क्यों न हो। यदि ऐसा न होता, तो संसार के सब चोर, डाकू और जालसाज़ देखते-देखते करोड़पति हो जाते; किन्तु सौभाग्य से ऐसा नहीं है। राष्ट्रीय समृद्धि भी इस नियम का अपवाद नहीं। इस दृष्टि से भारत सम्भवतः सबसे अधिक पतित देश है, और निःसन्देह उसकी सन्तानें एक राष्ट्र के रूप में सबसे अधिक दुर्दशाग्रस्त हैं।

असत्य और बेईमानी जो अल्पजीवी विजय कुछ स्थलों पर अपने उपासक को दिला देते हैं, वह उस आजीवन व्यथा और भय का अत्यन्त क्षीण प्रतिफल है जो अनिवार्य रूप से उनके पीछे-पीछे आते हैं। असत्यवादी किसी ईमानदार मनुष्य के मुख की ओर देख नहीं सकता; उसके मुख पर दीनता और पाप की छाप रहती है; वह हकलाता है, गिड़गिड़ाता है और अपना आत्म-विश्वास खो बैठता है। ऐसी योग्यताओं के साथ व्यापार में समृद्धि असम्भव है, और शरीर का स्वास्थ्य भी, जो मानसिक बल और शुद्धि पर ही निर्भर करता है, इसके परिणामस्वरूप बिगड़ जाता है। इतना ही नहीं; क्योंकि जिन्हें असत्यवादी ठगता है, वे छल के प्रकट होते ही उसके शत्रु बन जाते हैं और देर-सबेर उसका पीछा करके उसे धर दबोचते हैं। क्या असत्य और छल से प्राप्त किसी क्षणिक लाभ के बदले ये दशाएँ मोल लेने योग्य हैं? हमें आशा है कि कोई भी विवेकशील मनुष्य इसका उत्तर हाँ में न देगा।

सत्य और न्याय भी वहाँ शान्ति तथा सामंजस्य की स्थापना के लिये पर्याप्त सिद्ध होंगे, जहाँ कहीं व्यक्तियों और राष्ट्रों के हित परस्पर टकराते हों; क्योंकि इनसे प्रेम उत्पन्न होता है, जो सत्ताधारी पक्ष में सहानुभूति का, और दूसरे पक्ष में राजभक्ति का रूप धारण कर लेता है।

प्रत्येक शासक राष्ट्र को, यदि वह अपने शासन को चिरस्थायी बनाना चाहता है, तो अधीन जाति की राजभक्ति पर ही निर्भर रहना होगा। किन्तु राजभक्ति का अर्थ क्या है? क्या इसका अर्थ यह है कि किसी दबंग सत्ता ने भयभीत मुख में जो शब्द भर दिये हैं, उन्हीं की ग्रामोफोन-सदृश पुनरावृत्ति की जाय; अथवा इसका अर्थ है उस अनिर्वचनीय भाव का, अथवा विश्वास की उस भावना का, स्वतःस्फूर्त उच्छ्वास और उद्रेक, जिसमें प्रेम और आदर एक ऐसे हृदय में परस्पर मिले हुए रहते हैं जो अपनी स्वाभाविक भावना को स्वेच्छा से व्यक्त करने में आनन्द पाता है? किसी को धमका कर राजभक्ति की बनावटी भावना व्यक्त करा लेना सदैव सम्भव है; किन्तु जो राजनीतिज्ञ अपनी गणनाओं में इस प्रकार की राजभक्ति पर भरोसा करता है, वह शीघ्र ही अपने को और गहरे जल में पड़ा हुआ पाएगा। सच्ची राजनीति का लक्ष्य 'अस्वास्थ्य' अथवा विग्रह के लक्षणों को क्षणिक रूप से हटाना या दबाना नहीं, वरन् उनके कारणों को समूल नष्ट करना है। हम कह चुके हैं कि राजभक्ति एक भावावेग है; अतः अब यह प्रश्न उठता है कि मानव-हृदय में इसे उत्पन्न कैसे किया जाय? मानवीय भावों का संचालन करने वाले नियमों का अध्ययन यह तथ्य प्रकट करता है कि वे मानसिक प्रतीति से उत्पन्न होते हैं; और चूँकि प्रतीति, अपनी बारी में, उस मत पर निर्भर है जो मनुष्य परिपक्व विचार के पश्चात् बनाता है, अतः यह कहा जा सकता है कि वे उसी धारणा पर आश्रित हैं जो किसी व्यक्ति अथवा राज्य के विषय में मनुष्य के मन में बैठ जाती है। अब, राजभक्ति का भाव, मैत्री के भाव की भाँति, प्रेम के भावों की श्रेणी में आता है, और फलतः हृदय में तभी उत्पन्न होता है जब उसे यह प्रतीति हो जाय कि उसके तथा सत्ताधारी पक्ष के बीच प्रेम का सम्बन्ध विद्यमान है।

किन्तु चूँकि मन स्वभावतः उन सबके प्रति द्वेष का भाव रखता है जो उस पर किसी न किसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाते हैं, अतः राजभक्ति का भाव हृदय की अन्तर्तम प्रकृति के विरुद्ध पड़ता है। सौभाग्यवश इस नियम का एक ही अपवाद है, और वह स्वयं प्रेम के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। अतएव जब प्रतिबन्ध लगाने वाला व्यक्ति प्रेम की भावना से प्रेरित होता है, और उस भावना की अभिव्यक्ति शब्दों में नहीं, वरन् कर्मों में होती है, तब हृदय अपने स्वाभाविक रोष का स्वेच्छा से बलिदान कर देता है और प्रेम के नाम पर उन दायित्वों तथा प्रतिबन्धों को स्वीकार कर लेता है। मानव-जाति के समस्त व्यवहारों में हम इसी सिद्धान्त का दृष्टान्त पाते हैं; चाहे वह सम्बन्ध माता-पिता और सन्तान का हो, स्वामी और सेवक का, वरिष्ठ और अधीनस्थ का, प्रेमी और प्रेमिका का, अथवा राजा और उसकी प्रजा का, — प्रेम और केवल प्रेम ही है जो एक को दूसरे का अधिकार प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करने को प्रेरित करता है। अतः राजभक्ति

सीधे-सीधे उन कर्मों की प्रकृति पर निर्भर करती है जो राजा के द्वारा किये जाते हैं। जो राजनीतिज्ञ जनता से इसे बलपूर्वक वसूल करना चाहते हैं, वे भावों के मनोविज्ञान को कितना कम जानते हैं, यह हमारे विश्लेषण से स्पष्ट है। वस्तुतः जिह्वा को प्रेम का भाव व्यक्त करने के लिये विवश करने का कार्य ही हृदय में द्वेष उत्पन्न करता है, क्योंकि हृदय हर प्रकार के दबाव से रुष्ट होता है। हिंसा के द्वारा, अथवा हिंसा के भय के द्वारा, आप जिह्वा को राजभक्ति पर बोलने और लेखनी को उस पर एक सम्पूर्ण विश्वकोश लिखने को विवश कर सकते हैं; किन्तु कितना ही बल क्यों न लगाया जाय, वह हृदय को इस बात के लिये बाध्य नहीं कर सकता कि वह जिह्वा के कहे हुए अथवा लेखनी के लिखे हुए एक भी शब्द का अनुमोदन करे; क्योंकि, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, हृदय भारी से भारी तोपों के लिये भी अभेद्य हैं, और केवल प्रेम के कोमल तथा सान्त्वनादायी प्रभाव के प्रति ही उत्तर देते हैं।

आधुनिक राजनीतिज्ञ कभी-कभी यह सोचने लगते हैं कि 'फूट डालो और राज करो' (divide et impera) का सिद्धान्त ही देश में व्यवस्था बनाये रखने की सर्वोत्तम पद्धति है। हम देखेंगे कि यह नीति सुशासन के साथ कहाँ तक संगत है। अब, शासन का अर्थ है सामंजस्य, सुव्यवस्थित प्रबन्ध, तथा देश के समस्त वर्गों और समुदायों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का अस्तित्व; और उसका मूल्य उस शान्ति तथा समृद्धि में निहित है जिसे वह जनता के लिये सुरक्षित करना चाहता है। किन्तु फूट डालो और राज करो की नीति के मूल में जो विचार है, उसका सार यह है कि लोगों को परस्पर लड़ाया जाय, अर्थात् विग्रह, दुर्भावना, आन्तरिक अराजकता, सामान्य कोलाहल और राजनीतिक पक्षाघात उत्पन्न किया जाय — स्पष्ट शब्दों में, कुशासन। इस प्रकार 'फूट डालो और राज करो' के सिद्धान्त से शासन करने का अर्थ है प्रथम दृष्टि में ही जनता और सरकार दोनों के लिये संकट उत्पन्न करना। अब, चूँकि अपने ही लिये संकट उत्पन्न करना सदैव आत्मघाती है, अतः जो किसी सरकार को फूट डालो और राज करो की नीति अपनाने अथवा उस पर दृढ़ रहने की सलाह देता है, उसे बुद्धिमान् समझे जाने का कोई अधिकार नहीं। इस सिद्धान्त का सच्चा मूल्य युद्धकाल में शत्रुओं पर इसके प्रयोग में ही पाया जाता है। जब हमारे शत्रु आन्तरिक फूट के कारण राजनीतिक भ्रम तथा पक्षाघात की दशा में डाल दिये जाते हैं, तब उनके देश को जीतना सरल हो जाता है। अतएव हम ऐसे उपाय अपनाते हैं जिनसे उनमें परस्पर ग़लतफ़हमी उत्पन्न हो; यद्यपि ऐसे समय भी धर्म इन साधनों को सम्मानजनक नहीं मानता। इसका कारण यह है कि धर्म मनुष्यों की सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं को कभी यह अनुमति नहीं देता कि वे उनकी आत्माओं की सम्भावनाओं को नष्ट कर दें। अतएव शत्रु के देश में कुशासन उत्पन्न करके उसे दुर्बल करने की नीति, यदि किसी भी रूप में स्वीकार्य है, तो केवल उसी समय के लिये उपयुक्त है जब कोई विजय प्राप्त करनी हो; अपने मित्रों अथवा आश्रितों के साथ व्यवहार में कदापि नहीं। सुशासन के लिये आवश्यक है कि समस्त हितों का

शासन के हित में सम्मिश्रण हो, अर्थात् विरोध और विषमता के समस्त तत्त्वों में समन्वय स्थापित किया जाय। आध्यात्मिक वरदान उस देश के लिये नहीं हैं जहाँ जनता के सम्मुख अराजकता ही आदर्श के रूप में रखी जाती हो। इसके अतिरिक्त, संसार में ऐसी मूर्ख जनता का मिलना कठिन है जो इस नीति के इस झीने आवरण को कभी भेद ही न सके; और जिस क्षण वे यह पहचान लेते हैं कि वास्तविक खेल क्या है, उसी क्षण भ्रम और भी अधिक भयंकर हो उठता है। यह नीति तभी तक चलती है जब तक जनता यह नहीं पहचान लेती कि सबके सामान्य हित में ही प्रत्येक व्यक्ति का हित निहित है।

एक और भूल जो आधुनिक राजनीतिज्ञ कभी-कभी करते हैं, वह है प्रतिष्ठा पर आवश्यकता से अधिक बल देना। किन्तु राजा और जनता के सम्बन्ध तब तक सुधर नहीं सकते जब तक शासक निकायों की भूलों को इस मिथ्या सिद्धान्त की आड़ में छिपाया जाता रहे। प्रतिष्ठा भय की सन्तान है; किन्तु राजभक्ति प्रेम से उत्पन्न होती है, भय से नहीं। भय असन्तोष उत्पन्न करता है और रोष भड़काता है। उसके प्रभाव में लोग अपना रोष फुसफुसाहटों में व्यक्त करते हैं और सत्ता की जड़ खोदने के लिये गुप्त गठबन्धन बनाते हैं। अतः जहाँ लक्ष्य एक स्थिर साम्राज्य का निर्माण हो, वहाँ प्रतिष्ठा को अपराधी की रक्षा के लिये, अथवा किये गये अन्याय को स्थायी बनाने के लिये, यों ही नहीं पुकारना चाहिये। किये गये अन्याय का निवारण, तथा की गयी भूल की शालीन स्वीकृति, तत्काल ही जनता के हृदयों को जीत लेगी और उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त कर लेगी। जनता को भी चाहिये कि वह विधि और व्यवस्था के परिरक्षण के लिये शासक निकाय के साथ सहयोग करने का भरसक प्रयत्न करे; क्योंकि उसकी अपनी समृद्धि देश में शान्ति के बने रहने पर ही निर्भर है। इसी कारण यह कहा गया था: "जो कैसर का है वह कैसर को, और जो परमेश्वर का है वह परमेश्वर को दीजिए" (लूका २०:२४)। यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि दोषदर्शन सुधार का साधन तभी है जब आलोचना का विषय स्वयं अपना ही आपा हो; दूसरों को सुधारने के लिये आवश्यक है कि पहले उपदेश से नहीं, वरन् उदाहरण से उन्हें उनकी त्रुटियों का अनुभव कराया जाय। भर्त्सना में स्वर ऊँचा करने से कोई लाभ नहीं। जो स्वर सुना जाता है, वह अनेक व्यक्तियों का असंगत, विसंगत, स्वार्थपूर्ण, कट्टर अथवा आक्रामक भाषण नहीं है, वरन् वह स्वर है जो सबकी ओर से बोलता है — स्थिर, स्पष्ट, अनाक्रामक किन्तु दृढ़; न इतना अतिविनम्र कि चाटुकारिता की सीमा छू ले, न इतना शिष्टाचार-रहित कि उसमें रूखेपन अथवा धृष्टता का स्वाद आये — संक्षेप में, वह स्वर जो किसी विशेष जाति, या पन्थ, या मनुष्यों के वर्ग का नहीं, वरन् शान्त-गम्भीर विवेक का है।

इस प्रकार आध्यात्मिक प्रभाव ही जीवन के समस्त विभागों से विद्यमान बुराई को दूर करने का सर्वाधिक समर्थ साधन सिद्ध होगा।

अपराधियों के उद्धार की समस्या भी आध्यात्मिक नीति की ही समस्या सिद्ध होगी। दण्ड-विधानों के प्रवर्तन से अपराध का दमन कर लेने की आशा करना व्यर्थ है; और न ही लोगों से सदाचरण के लिये मुचलका लिखवाने आदि की निवारक पद्धतियों से कोई स्थायी लाभ प्राप्त होता है। ये केवल अस्थायी उपाय हैं, और उस भय के कारण सफल होते हैं जो वे तत्कालिक रूप से उत्पन्न कर देते हैं।

अब, यदि हम उस कारण अथवा उन कारणों पर सहमत हो सकें जिनके फलस्वरूप कुछ अब तक ईमानदार रहे मनुष्य अपराधी बन जाते हैं, तो हम तत्क्षण उन साधनों पर हाथ रख सकते हैं जिनसे उन्हें पुनः समाज तथा नैतिक जीवन में लौटाया जा सके। विश्लेषण से यह प्रकट होगा कि यहाँ भी नैतिकता का सिद्धान्त ही समस्या की जड़ में है; क्योंकि जो अच्छे नैतिक विचारों से ओतप्रोत है, वह बेईमानी की जीविका अपनाने वाला नहीं। अतः उद्धार की प्रक्रिया में नैतिक शिक्षा का समावेश होना ही चाहिये, तभी उसका कोई प्रभाव होगा। इस प्रकार यह पूर्णतया स्पष्ट है कि कोई भी व्यवस्था शब्द के सच्चे अर्थों में 'शासन' कहलाने योग्य नहीं है जिसमें या तो नैतिक शिक्षा अपनी अनुपस्थिति से ही ध्यान खींचती हो, अथवा ऐसी प्रकृति की हो जो ईमानदार मनुष्यों को अपराधी बना दे; और यह भी उतना ही स्पष्ट है कि समस्त सुशासनों में बन्दियों को नैतिकता सम्बन्धी हितकर विचार देने की व्यवस्था होनी चाहिये। केवल इतना ज्ञान दे देना, जिससे वे दिन भर में कुछ पैसे कमा सकें, किसी काम का नहीं। पूरे दिन के कठिन परिश्रम के अन्त में कुछ 'ताँबे के सिक्कों' की सम्भावना इतनी नितान्त आकर्षणहीन है कि जब तक इच्छा-शक्ति ईमानदारी के सिद्धान्त से दृढ़तापूर्वक ओतप्रोत न हो, तब तक बिना श्रम के थोड़ी-सी भी सम्पत्ति प्राप्त करने का पहला ही अवसर पलड़े को बेईमानी की ओर झुका देने के लिये पर्याप्त होगा। ऐसी परिस्थिति में दण्ड का भय अत्यन्त दुर्बल अंकुश है; क्योंकि सब अपराधी जानते हैं कि दण्ड पकड़े जाने पर मिलता है, वहाँ नहीं जहाँ कोई चिह्न ही शेष न रहे; और इसीलिये वे अपनी सारी शक्ति अपनी योजनाओं को इस प्रकार परिपक्व करने में लगाते हैं कि पकड़े जाने की सम्भावना न्यूनतम रह जाय। इस प्रकार दण्ड का भय, सत्कर्म तथा सदाचारपूर्ण जीवन का प्रेरक होने के स्थान पर, ठीक विपरीत ढंग से कार्य करता है। अतः जहाँ तक नैतिक दायित्व को समाज और सरकार के नियमों पर आधारित किया जाता है, वहाँ तक उसका बल उसी क्षण चुक जाता है जब मनुष्य पकड़े जाने से बचने का कोई उपाय खोज लेता है। अतएव उसे ऐसे आधार पर टिकाया जाना चाहिये जहाँ न तो पकड़े जाने से बचा जा सके, न दण्ड से; और वह आधार केवल धर्म ही प्रस्तुत करता है। अपराधियों के उद्धार के लिये आवश्यक है कि राज्य उनकी धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करे, जिससे वे अपने सच्चे आत्म-स्वरूप को समझने लगें और उन परिणामों का बोध प्राप्त करें जो आध्यात्मिक नियमों की अवहेलना से उत्पन्न होते हैं। समाज से यह अपेक्षा की जाती है कि वह इस कार्य में राज्य की सहायता उपदेश से नहीं, वरन् उदाहरण से करे; और चूँकि समाज का

अभिजात वर्ग सदैव सत्ताधारी व्यक्तियों से ही बनता है — शेष जनता तो केवल उनका अनुकरण करती है — अतः उच्च अधिकारियों पर यह कर्तव्य आ पड़ता है कि वे देखें कि उच्च नैतिकता तथा सदाचार की श्रेष्ठतम और उत्तमोत्तम परम्पराएँ समाज के सदस्य के रूप में उनके दैनिक जीवन में बनी रहें।

आध्यात्मिक सहायता के बिना मनुष्य चाहे तो सदा नये-नये उपायों से विद्यमान बुराई को दूर करने का प्रयत्न करता रहे, किन्तु हम पाएँगे कि प्रत्येक नवआविष्कृत उपचार, पुरानी विद्यमान बुराई को आंशिक रूप से दबाते हुए, उसके दो अन्य रूपों को जन्म दे देता है। जीवन के समस्त विभागों में हम बुराई को दूर करने के मानवीय प्रयत्न का यही दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम देखते हैं; हम किसी विद्यमान बुराई को विधान बनाकर दबाना चाहते हैं, किन्तु तब हमें उस नये अधिनियम के ही हानिकर परिणामों को दूर करने के लिये बुलाया जाता है। इसका कारण यह है कि बुराई के निवारण के उपायों के चुनाव में दैवी प्रेरणा सदैव हमारी मार्गदर्शिका नहीं होती। हम कभी-कभी ऐसी प्रेरणा की उपेक्षा ही नहीं करते, वरन् प्रायः उसके विरुद्ध कार्य करते हैं; और हममें से कुछ का पालन-पोषण तथा शिक्षा ऐसी होती है कि उनके हृदयों में आध्यात्मिक कोमलता के लिये स्थान ही कम बचता है। आध्यात्मिकता प्रेम की ठोस नींव पर आधारित मनुष्य-मात्र के विश्व-बन्धुत्व के सिद्धान्त का उपदेश देती है, और यह माँग करती है कि जाति, पन्थ अथवा राष्ट्रीयता का भेद किये बिना समस्त मनुष्यों तक समता और न्याय पहुँचाया जाय; किन्तु हम, अपने अज्ञानपूर्ण भौतिकवाद में, यह समझते हैं कि उनका प्रयोग केवल उन्हीं प्रसंगों तक सीमित रहना चाहिये जो हमारे वैयक्तिक, जातीय अथवा साम्प्रदायिक हितों को प्रभावित न करते हों। जिसकी समता और न्याय की धारणाएँ इतनी संकीर्ण हों, वह न कभी अपने राष्ट्र के लिये, न संसार के लिये, शान्ति के राज्य की स्थापना की आशा कर सकता है; क्योंकि प्रकृति इन धारणाओं का अनुमोदन नहीं करती, और यद्यपि अपनी सीमित दृष्टि से हम कदाचित् दुष्कर्मों के पीछे तत्काल आते हुए दण्ड को न देख पाएँ, तथापि हममें जो दूरदर्शी हैं वे उनमें उस महान् प्रतिशोध के कारणों का आरम्भ देख लेते हैं, जो समय पूरा होने पर मानवता को निश्चय ही आप्लावित कर देगा और संसार की नींव तक हिला देगा। सच्ची राजनीति का शास्त्र आरम्भ से ही बुराई को समूल उखाड़ने तथा शान्ति और समृद्धि के राज्य की स्थापना का लक्ष्य रखता है, और उसकी दृष्टि इतनी विशाल है कि वह अपनी कल्याणकारी योजना में समस्त संसार को समेट लेती है।

ईसा के वचनों पर लौटें: जो हृदय के शुद्ध हैं, वे समस्त सत्कर्म गुप्त रूप से करते हैं; किन्तु कपटी उन्हें सबके सामने करते हैं, जिससे उनके सहजन उन्हें महान् और पवित्र समझें। किन्तु कपटी का मार्ग मुक्ति का मार्ग नहीं है, क्योंकि वह विकृत प्रकृति ही है जो मनुष्यों की निष्ठाहीन प्रशंसा में आनन्द पाती है। अब

समय आ गया है कि जो लोग इस भ्रम में हैं कि आध्यात्मिक पुण्य अपने पड़ोसी की साक्षी में निहित है, वे अपनी इस मिथ्या धारणा को सुधार लें। निश्चय ही कोई भी अपने पड़ोसी से प्राप्त सदाचरण के प्रमाणपत्र को प्रस्तुत करके स्वर्ग में प्रवेश नहीं पाएगा।

पिता के समान सिद्ध बनिए। स्मरण रखिए कि जीवन भोजन से बढ़कर है, और शरीर वस्त्र से बढ़कर। "इसलिये कल के लिये चिन्ता न कीजिए, क्योंकि कल का दिन अपनी चिन्ता आप कर लेगा" (मत्ती ६:३४)। "और आप यह न खोजिए कि क्या खाएँगे और क्या पीएँगे, और न सन्देह में पड़िए" (लूका १२:२९)। "परन्तु आप उसके राज्य की खोज कीजिए, तब ये सब वस्तुएँ भी आपको मिल जाएँगी" (लूका १२:३१)। विश्वास रखिए, और सब कुछ शुभ होगा। मुख्य रूप से जिससे बचना है, वह है इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति। किसी वस्तु के बाह्य आकार अथवा रूप से प्रेम न कीजिए, क्योंकि वह अनित्य है। यदि आप किसी अस्थायी वस्तु से अपने को बाँध लेंगे, तो आपको दुःख भोगना ही पड़ेगा। केवल उस अन्तर्वासी आत्मा से आसक्त रहिए जो शाश्वत है। संसार में आत्मा का न कोई माता है, न भाई, न बहिन, न कोई और सम्बन्धी। मनुष्य का सच्चा सम्बन्धी उसका अपना आत्मा ही है। शेष सब सम्बन्ध मिथ्या और छलावे हैं, जैसे मरीचिका का दीपक; और मिथ्या से प्रेम सदैव अनिष्ट से भरा होता है। अतएव मसीहा ने घोषित किया: "जो माता या पिता को मुझसे अधिक प्रिय जानता है, वह मेरे योग्य नहीं; और जो पुत्र या पुत्री को मुझसे अधिक प्रिय जानता है, वह मेरे योग्य नहीं" (मत्ती १०:३७)। इसी आशय का यह कथन है:—

> **"यदि कोई मेरे पास आए और अपने पिता और माता और पत्नी और बालकों और भाइयों और बहिनों, वरन् अपने प्राण को भी अप्रिय न जाने, तो वह मेरा चेला नहीं हो सकता" (लूका १४:२६)।**

ईसा ने उस व्यक्ति को जो उत्तर दिया, जिसने उन्हें बताया था कि उनकी माता और बहिनें बाहर खड़ी उनसे बात करने की प्रतीक्षा कर रही हैं, वह दर्शाता है कि वे (ईसा) जो उपदेश देते थे उसे जीते भी थे। उन्होंने तब कहा कि केवल वे ही उनके सम्बन्धी हैं जो पिता की इच्छा पर चलते हैं, और कोई नहीं। इसी सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने उस शिष्य से कहा था जो अपने पिता को गाड़ने की अनुमति चाहता था:—

> **"मेरे पीछे हो ले, और मुर्दों को अपने मुर्दे गाड़ने दे" (मत्ती ८:२२)।**

यूहन्ना के सुसमाचार में तो वस्तुतः एक ऐसा प्रसंग अंकित है जब ईसा ने अपनी माता को "हे नारी" जैसे अगौरवपूर्ण सम्बोधन से पुकारा (यूहन्ना १९:२६)। योगी कहते हैं:—

> **"अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश — ये ही क्लेश हैं।"**

इसी प्रकार भगवद्गीता में लिखा है:—

> **"इन्द्रियों के विषयों में राग और द्वेष इन्द्रियों में ही स्थित रहते हैं; कोई भी इन दोनों के वश में न हो, क्योंकि ये मार्ग के विघ्नकर्ता हैं" (अध्याय ३:३४)। ... "जो प्रेमी, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओं में, तथा धर्मात्माओं और पापियों में भी समभाव रखता है, वह श्रेष्ठ है" (अध्याय ६:९)।**

शरीर का प्रेम भी इसी प्रकार कष्ट का स्रोत है, और सच्ची मुक्ति में बाधक है। मनुष्य को सब कुछ छोड़कर आदर्श का साक्षात्कार करना चाहिये। जो कोई ईसा से मुक्ति के साधन के विषय में पूछता, उससे वे सदा यही कहते थे:—

> **"यदि कोई मेरे पीछे आना चाहे, तो अपने आपसे इनकार करे और अपना क्रूस उठाकर मेरे पीछे हो ले" (मत्ती १६:२४)।**

---

* तुलना कीजिए: "पण्डितजन न मरे हुओं के लिये शोक करते हैं, न जीवितों के लिये।" — भगवद्गीता (अध्याय २:११)।

† तुलना कीजिए: "और जो अपना क्रूस लेकर मेरे पीछे न चले, वह मेरे योग्य नहीं" (मत्ती १०:३८)।

केवल वे ही 'सत्य' तक पहुँच सकते हैं जो हर मूल्य पर उसका अनुसरण करने को तत्पर हों। यदि आप अपने क्षुद्र व्यक्तित्व से प्रेम करेंगे, तो आप उस तक कभी न पहुँचेंगे, क्योंकि उसका मार्ग 'असत्य' के प्रेम से अवरुद्ध है। वास्तविक आत्मा के लिये उस क्षुद्र देहात्मा को क्रूस पर चढ़ाने के लिये उद्यत हो जाइए, और आपकी मुक्ति तत्काल हो जाएगी; क्योंकि नियम यह है कि जो कोई अपने प्राण को बचाएगा वह उसे खोएगा, और जो कोई उसे खोएगा वह उसे पाएगा। किसी लौकिक अथवा लोकातीत देवता को प्रसन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं; सारा प्रश्न नियमों का है, जिनका एक बिन्दु भी भंग न होगा। कभी-कभी ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि दुष्टता और छल सद्गुण तथा ईमानदारी पर विजय पा लेते हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। हो सकता है कि उस प्रत्यक्ष दुष्ट ने कोई एक अच्छा कर्म किया हो, और उस सद्गुणी तथा ईमानदार मनुष्य ने कोई एक बुरा। क्या प्रकृति के नियम, इनकी सामान्य ख्याति अथवा विपरीत अभ्यास के कारण, पहले के पक्ष में शुभ रूप से और दूसरे के विरुद्ध अशुभ रूप से कार्य करना बन्द कर देंगे? नियम 'सामान्यतः अच्छा मनुष्य' अथवा 'अभ्यासवश बुरा मनुष्य' जैसी किसी वस्तु को नहीं पहचानते; उनका सरोकार केवल प्रत्येक पृथक् विचार अथवा कर्म से है। प्रत्येक विचार, चाहे शुभ हो या

अशुभ, कुछ बलों को गति में ला देता है जिनका यथोचित फल होना ही चाहिये। नियमों की नैतिकता में शुभ और अशुभ का अस्तित्व ही नहीं। जिस प्रकृति ने यह बताया है कि मनुष्य के लिये उचित आहार फल और मेवे हैं, उसी ने जीवित मांस को बाघों, भेड़ियों और अन्य हिंस्र पशुओं का एकमात्र आहार बताया है। तब प्रकृति में करुणा का सिद्धान्त कहाँ है? किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि स्वादलोलुप के तालु को गुदगुदाने के लिये बेचारे मूक पशुओं के वध का कोई पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा हो। जिस बुद्धिमान् ने प्रकृति के नियमों को समझ लिया है, वह कभी मांस खाने की बात सोचेगा भी नहीं।*

---

* देखिए 'द जैन फिलॉसफी' (The Jain Philosophy), पृष्ठ १४९-१५३।

उसके लिये तो ऐसे आहार से उत्पन्न होने वाले अनिष्ट परिणाम ही उसके प्रयोग के विरुद्ध पर्याप्त तर्क हैं। यदि मनुष्य जान ले कि इससे कितने अनिष्ट उत्पन्न होते हैं, तो वह उसे विष के समान त्याग दे। क्या कच्ची अवस्था में उसका घृणित, वमनकारी दृश्य ही उसे छोड़ देने के लिये पर्याप्त कारण नहीं? भगवद्गीता घोषित करती है:—

> **"जो आहार आयु, तेज, आरोग्य, सुख और प्रसन्नता को बढ़ाते हैं, तथा जो रसयुक्त, स्निग्ध, स्थिर और हृदय को प्रिय हैं, वे सात्त्विक जनों को प्रिय होते हैं। राजस जन उन आहारों की इच्छा करते हैं जो कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, अत्यन्त गरम, तीखे, रूखे और जलन उत्पन्न करने वाले हैं, तथा जो दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करते हैं। जो बासी और नीरस, दुर्गन्धयुक्त और सड़ा हुआ, उच्छिष्ट तथा अपवित्र है, वह आहार तामस जनों को प्रिय है।"**

नियमों की नैतिकता के प्रसंग पर लौटें, तो यह निश्चित है कि प्रकृति सद्गुण और दुर्गुण की हमारी धारणाओं का आदर नहीं करती। उसके लिये सब कुछ कारण और कार्य का प्रश्न है — जैसा बोइएगा, वैसा काटिएगा। और न ही वह व्यक्तियों का पक्षपात करती है। बाइबिल के अनुसार, आदम, जो परमेश्वर का पुत्र था (लूका ३:३८), नियमों में से एक का उल्लंघन कर बैठा और तत्काल अदन की वाटिका से निकाल बाहर किया गया; जब कि ईसा, जो एक मनुष्य थे (यूहन्ना ८:४०), नियम के अनुरूप जीवन बिताकर 'क्राइस्ट' बन गये। यदि आप दुःखी हैं, तो विश्व में इसकी चिन्ता किसे है? सैकड़ों-हज़ारों और भी हैं जो आपसे अधिक दुःखी हैं। यह आपका अपना ही सिरदर्द है कि आप सुखी रहेंगे या दुःखी। प्रकृति के नियमों की परिधि के बाहर न कोई दण्ड है, न कोई पुरस्कार; और इन निर्मम नियमों के साथ तो प्रत्येक क्षण ही न्याय का दिन* है। जब हम नियम का उल्लंघन करते हैं तो दुःख पाते हैं, किन्तु जब हम उसके अनुरूप जीते हैं तो फूलते-फलते हैं।

* तुलना कीजिए: "धर्मी यहोवा उसके बीच में है, वह कुटिल काम नहीं करता; वह प्रति भोर अपना न्याय प्रकाश में लाता है और कभी नहीं चूकता; परन्तु कुटिल जन लज्जित होना नहीं जानता।" — (सपन्याह १:५)।

सत्-चित्-आनन्द की अवस्था हमारे भीतर ही है, और यह हमारा अपना ही देखना है कि हम उसे अपने अज्ञान तथा दूषित जीवन से अपने भीतर और गहरे गाड़ते चले जाएँ, अथवा शिल्पी की भाँति समस्त मलिनताओं को छेनी से काटकर उस गुप्त निधि को दृष्टि के सम्मुख ले आएँ।

तब स्वतन्त्रता और सुख प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है इच्छा के विषयों का त्याग, जो मोह उत्पन्न करते हैं और बन्धनों को कसते हैं। स्वप्न की वेदान्तिक उपमा, जो आत्मा में वैराग्य का भाव उत्पन्न करने के साधन के रूप में अमूल्य है, यहाँ इस प्रयोजन के लिये काम में लायी जा सकती है, यद्यपि अन्य दृष्टियों से वह पूर्णतया उपयुक्त नहीं। क्योंकि जिस प्रकार स्वप्नावस्था में हम कल्पना में कर्म करते हैं, उसी प्रकार कहा जा सकता है कि हम इस समय भी स्वप्न देख रहे हैं और एक विराट् स्वप्न में कर्म कर रहे हैं। स्वप्न देखते समय क्या हम अपने मन के रचे हुए विषयों को ऐसा नहीं देखते मानो उनकी सत्ता हमारे ही समान वास्तविक हो? क्या हम अपने स्वप्न-प्रेतों से ऐसे नहीं मिलते-जुलते मानो वे वास्तविक प्राणी हों? हाँ, हम उन्हें वास्तविक विद्यमान प्राणी मानकर उनके साथ खाते-पीते और आनन्द मनाते हैं! हम उनसे प्रेम में पड़ जाते हैं, ठीक जैसे इस धरातल पर पड़ते हैं; और जब हम वहाँ भी सच्चे प्रेम की धारा को निर्बाध बहते नहीं पाते, तब शोक करते हैं और हृदय तोड़ बैठते हैं। हम स्वप्न-लोक में सुख और दुःख की सब प्रकार की अनुभूतियों का वैसा ही अनुभव करते हैं जैसा यहाँ। कभी-कभी वे अनुभूतियाँ भयानक होती हैं: हम डरते हैं, जैसे इस भौतिक धरातल पर डरते हैं, प्राण बचाकर भागते हैं, अपने शत्रुओं से छिपते हैं, और जब छिपने के स्थान से खोज निकाले और घसीट कर बाहर लाये जाते हैं तो दया की भीख माँगते हैं। कभी हम हत्यारे का हाथ उठते हुए अनुभव करते हैं; हम उसके छुरे की चमक देखते हैं। तत्क्षण वह त्वचा से आ लगता है, उसकी तीखी धार हृदय में गहरी उतरती जाती है;

अब मृत्यु जीवन की आँखों में आँखें डालकर देखती है; उसकी पकड़ कसती जाती है; व्यथित आतंक की भेदक चीख निकल पड़ती है; आशा जाती रहती है और चेतना विदा हो रही होती है, कि सहसा कुछ 'चटक' जाता है, और हम अपने को इस अपने भौतिक संसार में, अपनी शय्या पर आराम से लेटा हुआ, अपने ही स्वप्न पर हँसता हुआ पाते हैं। यह क्या है? क्या यह इस बात का संकेत नहीं कि आप इस संसार में क्या कर रहे हैं? जब मन घटनाओं का यह अध्याय बदलेगा, तो क्या आप अपनी उचित शय्या पर, अर्थात् शाश्वतता की सुखद गोद में, लेटे हुए न होंगे? आइए, स्वप्न-लोक के उस दृश्य पर विचार करें। उसका रचयिता कौन था? क्या वह आपके अपने ही मन की क्रिया का परिणाम न था? क्या वह आपकी कल्पना में ही विद्यमान न था? किन्तु क्या फिर भी आपने उसे इतना वास्तविक और जीवन्त नहीं समझा

कि उसे अपनी चेतना में सचमुच जिया? इन सब प्रश्नों का उत्तर स्वीकृति में ही देना होगा। वह स्वप्न-दृश्य वस्तुतः आपकी अपनी कल्पना ने रचा था — वह सर्जक शक्ति, आपके मन का, यों कहिए, पवित्र आत्मा (होली घोस्ट) — जिसने आपके अपने भले आपे के लिये भी एक नया प्रकाशमय रूप गढ़ दिया, ताकि आप स्वप्न-रंगमंच पर उसके द्वारा कर्म कर सकें। आपकी कल्पना ही आपके स्वप्न-जगत् की धारक और पोषक थी, और समस्त स्वप्न-सृष्टि के भीतर भी थी और बाहर भी। तब आप दुःखी क्यों थे? आप किससे डरे? क्या आप अपने ही मन के प्राणियों से भयभीत थे? यह चौंका देने वाला कथन है, किन्तु फिर भी सत्य है: आप अपने ही मन के प्राणियों से डर गये थे, और उनके विकराल रूपों से भयभीत हुए थे। आपको वह दृश्य रुचा था और आपने उस नाटक में, जो खेला जाने वाला था, स्वयं भाग लेने की इच्छा की थी; खेल की उत्तेजना में आप, यों कहिए, यह भूल ही गये थे कि उस सबका सर्जक आपका अपना ही मन था।

अतः जब आपने अपने को कठिनाइयों में पाया, तो आप उनसे अपने को निकाल न सके। आपने, मानो, उस 'सर्जक शक्ति' को उसी समय उतार कर रख दिया था जब आप नाटक की सुन्दरी नायिका पर मुग्ध हुए और खलनायक को दण्ड देने के लिये अखाड़े में उतरे। यदि आपको ज्ञात होता, अर्थात् स्मरण रहता, कि आपके मन को अपने प्रतिपक्षी पर जीवन और मृत्यु की शक्ति प्राप्त है, तो उसका छुरा कभी आपका रक्त न चखता; किन्तु चूँकि यह आपको कभी सूझा ही नहीं कि न वह सुन्दर स्वप्न-लोक की परी, न वह खलनायक, न और कोई ही वस्तु आपकी कल्पना से बाहर कोई वस्तुगत सत्ता रखती है, अतः वह सर्जक शक्ति, जिसे आपने उतार रखा था, अलग खड़ी रही, और उस दृश्य ने आपको वह सारा दुःख, दैन्य और पीड़ा दी जो वह दे सकता था, और अन्ततः 'मृत्यु' में जाकर समाप्त हुआ — जिस अत्यन्त व्यथा के क्षण में आपने मुड़कर देखा और उस 'उतारे हुए' सर्जक तत्त्व को अपने ही भीतर, अपनी भूल पर शान्त भाव से मुस्कुराता हुआ पाया। वह 'पवित्र आत्मा', वह 'सर्जक तत्त्व', कभी गया ही न था, वरन् सारे समय आपके भीतर ही था: यह तो केवल आपकी स्मृति का दोष था जो आपको उसकी याद न दिला सकी, और इसी कारण आप अपने को उससे जोड़ न सके। आपने अपने को मानसिक रूप से स्वप्न-प्रतिमाओं के ही धरातल पर रख दिया था और इस प्रकार स्वेच्छा से अपने लिये एक हीन स्थिति स्वीकार कर ली थी। ऐसे ही विचारों के प्रभाव में आप खलनायक को दण्ड देने अखाड़े में उतरे थे। आपने उसे अपने से अधिक शक्तिशाली प्राणी मान लिया, जब कि आपको उसे अपने द्वारा रचा हुआ समझना चाहिये था। वह 'सर्जक तत्त्व', जो उस दृश्य को देख रहा था, आपके विचार का पालन करता हुआ आपके स्वप्न-शरीर में आपकी धारणा की दशा को मूर्त कर गया। यही कारण है कि आप खलनायक से पराभूत हुए।

अब क्या आप अपने दुःख का रहस्य देख रहे हैं? आप अपने वास्तविक आत्मा को भूल गये हैं और जो आपके भीतर है उसे बाहर संसार में खोज रहे हैं। शाश्वत सुख का स्रोत आपके भीतर ही है; रंगमंच की उस परी को जीतने की इच्छा ही है जो आपके और भीतर के सुख-स्रोत के बीच खड़ी है। जब आप अपने को अपने स्वप्न के जॉन, ब्राउन आदि के स्तर पर रख देते हैं, तब आप अपने को सर्जक शक्ति से विच्छिन्न कर लेते हैं, और आपको अपने ही बनाये हुए उन काल्पनिक अन्य पात्रों का भाग्य बाँटना पड़ता है। इस संसार में भी 'सर्जक इच्छा' अत्यन्त विस्मयकारी कार्य कर दिखाने में समर्थ है; और वह इच्छा भी आपकी ही है! जिस क्षण आप संसार को रंगमंच और स्त्री-पुरुषों को वेश धारण किये हुए अभिनेता मानने लगते हैं, उसी क्षण आप उससे ऊपर उठ जाते हैं और अपना उचित स्थान ग्रहण कर लेते हैं, अथवा ईसा के शब्दों में, "आप वहाँ चढ़ जाते हैं जहाँ आप पहले थे।" आपकी सारी अप्रसन्नता, दुःख, रुग्णता और रोग का कारण आपके सच्चे स्वरूप का यह विस्मरण ही है। जब आप अपने वास्तविक आत्मा को जान लेंगे, तब आप छायाओं के इस संसार के सुखों के पीछे दौड़कर अपने को दुःखी न करेंगे।

स्वप्न की इस सुन्दर उपमा से यही शिक्षा ग्रहण करनी है। बाइबिल भी यही सिखाती है कि जब आप अभिनय करना छोड़कर द्रष्टा बन जाते हैं, तब क्राइस्ट (आपका जीवन) भीतर के स्वर्गीय पिता के समक्ष आपके लिये यह कहकर विनती करता है: "वे संसार के नहीं, जैसे मैं संसार का नहीं। सत्य के द्वारा उन्हें पवित्र कीजिए; आपका वचन सत्य है" (यूहन्ना १७:१६-१७)। तब ऐसा होगा कि यदि आप उस सामने के पर्वत से कहेंगे कि 'अपने को समुद्र में डाल दे', तो वह डाल देगा। जब आप उद्धारकर्ता के साथ यह कह सकेंगे: "संसार में आपको क्लेश होता है, परन्तु ढाढ़स बाँधिए, मैंने संसार को जीत लिया है" (यूहन्ना १६:३३), तब सचमुच वह भविष्यवाणी पूरी होगी — "वे नई-नई भाषाएँ बोलेंगे, वे साँपों को उठा लेंगे, और यदि वे कोई प्राणनाशक वस्तु पी भी लें तो उनकी कुछ हानि न होगी; वे बीमारों पर हाथ रखेंगे और वे चंगे हो जाएँगे" (मरकुस १६:१७-१८)। यही सम्पूर्ण उद्धार है। एक बार फिर स्मरण रखिए कि जैसे स्वप्न में आप सुन्दरी नायिका को जीतने की इच्छा के कारण अभिनेता बन गये थे, वैसे ही वास्तविक जीवन में, इस पृथ्वी पर, संसार की आकर्षक वस्तुओं की इच्छा ही आपके पतन का कारण है। आप महान् और गौरवशाली हैं, और अपने विचार-लोक के स्रष्टा हैं; यह विश्व आपके अपने ही 'विचार' का प्रकाश है।* अपने को तुच्छ न समझिए। अपने आत्मा को प्रकृति की समस्त सुन्दर वस्तुओं से ऊपर मानिए; उनके स्तर पर उतरकर अपने को अपमानित न कीजिए। क्या आप अपने स्वप्न की उस सुन्दरी रोज़ालिंड (Rosalind) के प्रति अपने प्रेम की कल्पना पर हँसते नहीं? क्या इसलिये नहीं कि आपको यह

हास्यास्पद प्रतीत होता है कि सत् मिथ्या पर मुग्ध हो? ऐसा करके आप अपने आत्मा को, जो सत्य है, पहचानने में चूक जाते हैं और असत्य के पीछे दौड़ते हैं। यही एकमात्र पाप है जिसका दण्ड मृत्यु है, और जिसकी क्षमा नहीं।

---

* चूँकि समस्त वस्तुएँ सिद्धात्मा (ईश्वर) के केवलज्ञान में प्रतिबिम्बित होती हैं, इसीलिये यहाँ विश्व को सच्चे आत्मा (शुद्ध चैतन्य) के 'विचार' (व्यापक अर्थ में ज्ञान) का प्रकाश कहा गया है।

ईसा यह भी कहते हैं:—

> **"मैं आपसे सच कहता हूँ, कि मनुष्यों की सन्तानों के सब पाप और जितनी निन्दा वे करें, सब क्षमा की जाएँगी; परन्तु जो कोई पवित्र आत्मा की निन्दा करे, वह कभी क्षमा न पाएगा, वरन् अनन्त दण्ड के योग्य ठहरेगा" (मरकुस ३:२८-२९)।**

वह क्षमा हो भी कैसे सकती है? आपको उसी शक्ति में विश्वास नहीं जो क्षमा का विधान करती और पूर्व स्थिति को लौटाती है; तब आप किस क्षमा की याचना कर सकते हैं? मनुष्य में स्थित 'सर्जक शक्ति' तब शरीर और मस्तिष्क के अणुओं को पुनर्व्यवस्थित करने तथा भावों को नये साँचे में ढालने लगती है, जब पाप का सच्चा पश्चात्ताप होता है। किन्तु दुष्टता के उन्मूलन की प्रक्रिया के लिये यह विश्वास आवश्यक है कि 'सर्जक शक्ति' इस कल्याणकारी परिवर्तन को कर सकने में समर्थ है।

मनुष्य के भीतर विद्यमान 'सृजनात्मक शक्ति' तभी शरीर और मस्तिष्क के अणुओं का पुनर्विन्यास करने तथा भावों को नये साँचे में ढालने का कार्य आरम्भ करती है, जब पाप के प्रति सच्चा पश्चात्ताप उत्पन्न होता है। किन्तु दुष्टता के उन्मूलन की यह प्रक्रिया इस बात की अपेक्षा रखती है कि इस 'सृजनात्मक शक्ति' की इस कल्याणकारी परिवर्तन को सम्पन्न कर सकने की सामर्थ्य में विश्वास हो। अतएव, जब आपको इस शक्ति की सामर्थ्य में ही श्रद्धा नहीं, तब आप उसकी सहायता का आवाहन कैसे कर सकते हैं, अथवा उसे अपना कोई हित साधन करने कैसे दे सकते हैं?

सीधी भाषा में कहें तो आत्मा अथवा जीव ऐसी सत्ता है जो पूर्णता के उच्चतम आदर्श को प्राप्त करने में जितनी समर्थ है, उतनी ही अधःपतन और असहायता की निम्नतम अवस्था में गिर जाने में भी। स्वभाव से शुद्ध चेतना, अर्थात् ज्ञानस्वरूप होते हुए भी वह अपने विश्वासों से प्रभावित होती है, यहाँ तक कि अपने उच्च और उदात्त आदर्श की प्राप्ति वस्तुतः उसकी अपनी श्रद्धा पर ही निर्भर करती है — वह श्रद्धा जो व्यक्ति की इच्छा को विद्युत्-सी सर्वशक्तिमत्ता प्रदान करके उसके मार्ग की समस्त बाधाएँ बहा ले जा सकती है, अथवा उसे नपुंसकता और निष्फलता की नाली में डाल सकती है — यह इस पर निर्भर है कि

वह सच्चे प्रज्ञान से प्रेरित है या अपने विषय में मिथ्या और असत्य धारणाओं से। इस प्रकार इच्छा ही समस्त शुभ का उद्गम है, अतः उसकी शक्ति को हीन ठहराने के परिणाम को मिटाना असम्भव है; क्योंकि निर्बल इच्छा शुभ करने में असमर्थ होती है, और इच्छा का उपहास करने से नपुंसकता के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता। यही कारण है कि यह एकमात्र ऐसा पाप है जो क्षम्य नहीं, और जिसका दण्ड अनन्त विनाश है, अर्थात् संसार-सागर में भटकते रहना।

बपतिस्मा की धारणा, जिस पर अब हम विचार करने चलते हैं, वह भी एक गम्भीर सिद्धान्त है। संसार आज उसे केवल एक संस्कार-मात्र मानता है; किन्तु वह इतनी दुर्बोध वस्तु थी कि फरीसियों में से एक, नीकुदेमुस (Nicodemus) नामक पुरुष, जो यहूदियों का एक प्रधान था, उससे चकित रह गया।

यूहन्ना बपतिस्मा देनेवाले ने घोषित किया था: "मैं तो तुम्हें मन फिराव के लिये पानी से बपतिस्मा देता हूँ, परन्तु जो मेरे बाद आनेवाला है वह तुम्हें आग से बपतिस्मा देगा।" जब यीशु ने इस विषय की चर्चा करते हुए कहा, "यदि कोई नये सिरे से न जन्मे तो वह परमेश्वर के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता," तब नीकुदेमुस इस नये जन्म पर उलझन में पड़ गया और उसने पूछा कि मनुष्य वृद्ध होकर किस प्रकार फिर से जन्म ले सकता है? क्या वह दूसरी बार अपनी माता के गर्भ में प्रवेश करके जन्म ले? इसका उत्तर यह था: "यदि कोई जल और आत्मा से न जन्मे तो वह परमेश्वर के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता। जो शरीर से जन्मा है वह शरीर है, और जो आत्मा से जन्मा है वह आत्मा है। आश्चर्य न कर कि मैंने तुझ से कहा, तुम्हें नये सिरे से जन्म लेना अवश्य है।" यहाँ जो भाव व्यक्त हुआ है वह अन्धकार से प्रकाश में जन्म लेने का, अर्थात् आध्यात्मिक जन्म का है, जिसके बिना पाप से उद्धार सम्भव नहीं।

द्वितीय जन्म की धारणा हिन्दुओं और जैनों में भली भाँति ज्ञात है। तीन उच्च वर्ण, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, 'द्विज' अथवा पुनर्जात कहलाते हैं। यज्ञोपवीत-संस्कार वह क्रिया है जो इस द्वितीय जन्म का बाह्य प्रतीक है। जन्म से तो सभी मनुष्य शूद्र के समान माने जाते हैं, किन्तु द्वितीय जन्म आत्मा में पुनर्जन्म है। किसी प्राचीन हिन्दू ऋषि का कथन है:

> **"जन्म से ब्राह्मण भी, जब तक वे वेद में जन्म न लें (अर्थात् पवित्र शास्त्र का अध्ययन न करें), तब तक विद्वानों द्वारा शूद्र के तुल्य ही माने जाते हैं; किन्तु उसके पश्चात् (अर्थात् उस द्वितीय जन्म के अनन्तर) वे द्विज कहे जाते हैं।"**

अपनी ही दिव्यता का ज्ञान ही वह अग्नि है जो पाप को भस्म कर देती है, तथा आत्मा को शुद्ध करके ईश्वरीय जीवन को अभिव्यक्त करने के योग्य बनाती है; अतएव जो ज्ञान की अग्नि से पवित्र नहीं हुआ, वह स्वर्ग के राज्य में प्रवेश की आकांक्षा नहीं कर सकता। प्रथम जन्म संसार में मनुष्य का जन्म है, किन्तु द्वितीय जन्म, जिसकी चर्चा यीशु ने की, ईश्वर-जन्म है, अर्थात् मनुष्य का ईश्वरत्व में जन्म। भगवद्गीता घोषित करती है: "इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है। जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है" (अध्याय ४:३७-३८)।

अज्ञान का बीज ज्ञान की अग्नि से जल जाने पर नवदीक्षित श्रद्धा में जन्म लेता है — वही श्रद्धा जो उस प्रकाश और जीवन के लोक का एकमात्र द्वार है, जिसके प्रति वह अब तक 'मृत' था। जीवन में यह प्रवेश, अथवा आत्मा का श्रद्धा में जन्म, अर्थात् द्वितीय जन्म, ही उस पुनर्जन्म-सम्बन्धी सिद्धान्त का मूल तत्त्व है जिसका प्रतिपादन यीशु ने किया था और जिसे नीकुदेमुस, कम से कम प्रथम बार में, समझने में असमर्थ रहा। आधुनिक धर्मशास्त्र को यह जानकर थोड़ा-बहुत आश्चर्य अवश्य होगा कि ईश्वर को कर्ता-निर्माता मानने की उसकी भूल का मूल अन्ततः इसी द्वितीय जन्म की धारणा में खोजा जा सकता है, जो, जैसा ऊपर देखा गया, बपतिस्मा के सिद्धान्त पर, अर्थात् आत्मा के गुप्त विज्ञान में दीक्षा पर आधारित है। यदि आधुनिक धर्मशास्त्री इस विषय पर तनिक भी विचार करें तो उन्हें यह समझने में विलम्ब न होगा कि पुरोहित-वर्ग का जो पितृत्व संसार के प्रायः समस्त प्राचीन धर्मों में प्रचलित है, उसका सम्बन्ध भौतिक शरीर से नहीं, अपितु जीवन के आध्यात्मिक पक्ष के रहस्यों में आत्मा की दीक्षा से है, जिसे काव्यमय भाषा में मनुष्य का आत्मा में जन्म, अथवा संक्षेप में द्वितीय जन्म कहा गया है। इसी द्वितीय जन्म के सन्दर्भ में पुरोहित-वर्ग के पितृत्व की धारणा जुड़ी हुई है; क्योंकि जो गुरु (आध्यात्मिक आचार्य) इसे सम्पन्न कराता है और जो इसी कारण उतने ही आदर का, यदि उससे अधिक श्रद्धा का नहीं, अधिकारी है जितना आपके भौतिक शरीर के जनक का, वही उसका कारण अथवा कर्ता है, और रूपक को निबाहने के लिये उसे 'पिता' ही कहा जाना चाहिये। अब, क्योंकि तीर्थंकर* (ईश्वर) सबसे महान् और सर्वाधिक पूज्य गुरु हैं, अतः इस पद का उनसे अधिक अधिकारी और कोई नहीं। मूल धारणा यही थी; किन्तु जब धर्म की सच्ची शिक्षा पुराण-कथाओं की भूमिगत भूल-भुलैयों में लुप्त हो गई और दिव्यता की कल्पना उत्तरकालीन धर्मशास्त्र की भ्रान्त धारणाओं से प्रतिस्थापित हो गई — वह धर्मशास्त्र जो अपने शास्त्रों की रहस्य-भाषा को शब्दशः पढ़ने का आग्रह करता है — तब ईश्वर के पितृत्व की मूल धारणा की निर्मलता भी भौतिक अर्थ में एक निर्माता की स्थूल और अशोभन कल्पना से बदल गई। ऐसी परिस्थितियों में यह आश्चर्य की बात नहीं, वरन् ठीक वही है जिसकी अपेक्षा थी, कि दिव्यता को दूषित करनेवाली भूलों से

पुरोहित-वर्ग अछूता रह गया; क्योंकि वे कभी पुराण-कथाओं की उस गलनशाला से नहीं गुज़रे जिससे भ्रान्ति उत्पन्न होती, यद्यपि आज बहुत-से लोग इस बात से अनभिज्ञ हैं कि उन्हें 'फ़ादर' (पिता) क्यों कहा जाता है, और इस सम्बोधन को केवल आदर का शब्द मान लेते हैं।

---

* इस शब्द की व्याख्या के लिये देखिये अध्याय १० और १३।

बपतिस्मा का रहस्य यही है। जैसे दुःख का कारण अज्ञान है, वैसे ही उद्धार का कारण भी वह ज्ञान ही होना चाहिये जो अध्ययन और ध्यान से अर्जित किया जाता है। इसीलिये प्रबुद्ध मुनि किसी से सहायता की याचना नहीं करते, अपितु अपना समय अध्ययन और ध्यान में लगाते हैं, तथा भीतर से आवश्यक परिवर्तन कर सकने के लिये अपनी आत्मा की शक्ति पर ही भरोसा रखते हैं।

ईसाई धर्मशास्त्री हमें बार-बार बताते हैं कि ईसाइयत में मुक्ति अनुग्रह की वस्तु है, और ईश्वर की कृपा प्रार्थना तथा स्तुति से माँगी जानी चाहिये, कर्मों से मोल नहीं ली जा सकती। किन्तु हम देख चुके हैं कि ऐसी कल्पना उनके धर्म के प्रवर्तक की शिक्षा का कितना गम्भीर मिथ्या-अर्थ है — उस प्रवर्तक की, जिसका प्रत्येक शब्द यदि किसी वस्तु की साँस लेता है तो उन्हीं कर्मों की, जिनका पूर्णता के उस आदर्श से कार्य-कारण-सम्बन्ध है जिसे उन्होंने अपने स्मरणीय 'पर्वत के उपदेश' में उनके सम्मुख रखा था। मत्ती ११:१२ का पाठ ऐसी समस्त धारणाओं का और भी खण्डन करता है, और इस विषय पर अन्तिम वचन माना जा सकता है। वह इस प्रकार है:—

> **"यूहन्ना बपतिस्मा देनेवाले के दिनों से अब तक स्वर्ग के राज्य पर बल होता रहा है, और बलवान उसे छीन लेते हैं।"**

लूका भी इसे उतने ही सबल शब्दों में कहते हैं:—

> **"व्यवस्था और भविष्यद्वक्ता यूहन्ना तक थे; उस समय से परमेश्वर के राज्य का सुसमाचार सुनाया जा रहा है, और हर कोई उसमें बल-पूर्वक प्रवेश करता है" (—लूका १६:१६)।**

सत्य यह है कि यह कठोर आध्यात्मिक श्रम द्वारा पाप की शक्तियों से जूझने और उन्हें परास्त करने का सिद्धान्त है, न कि विनती में ओठ और घुटने हिलाकर स्वर्ग में प्रवेश पा जाने का। मसीह का यह वचन—

> **"परन्तु बहुत-से जो पहले हैं, पिछले होंगे; और जो पिछले हैं, पहले होंगे" (—मत्ती १९:३०)—**

प्रार्थना अथवा अनुग्रह के सिद्धान्त से किसी प्रकार मेल खाता नहीं कहा जा सकता, किन्तु कर्म की परिकल्पना पर पूर्णतया बोधगम्य है।

जैसा भौतिकवादी कहता है, प्रार्थना असहाय नपुंसकता के आँसू बहाने की बुढ़ियों-सी क्रिया है, और शुद्ध रूप से समय का अपव्यय है — यद्यपि उत्कट प्रार्थना के कुछ प्रसंगों में राहत का अनुभव अवश्य होता है। प्रकृति में कहीं भी ऐसा कोई विभाग नहीं जो मानव-जाति द्वारा प्रतिदिन उँडेली जानेवाली उन असंख्य करोड़ों अविवेकपूर्ण, अधार्मिक और परस्पर-विरोधी प्रार्थनाओं को ग्रहण कर उनका निपटारा करे। कोई भी — यहाँ तक कि ईश्वर भी — अपने को उस वस्तु का अधीक्षक कैसे बना सकता है जिसे विश्व-व्यापी प्रार्थना-कार्यालय कहा जा सकता है, और फिर भी सुखी बना रहे? हम देख चुके हैं कि आनन्द ऐसे कार्यों के सर्वथा प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त, यदि विश्व का कोई सर्वज्ञ और सर्वज्ञानी शासक है, तो वह हमारी प्रार्थनाओं से प्रभावित कैसे हो सकता है? यह कल्पना करना ही विकराल होगा कि हमारे कष्ट और अभाव उसके ध्यान में बार-बार लाने पड़ें तब कहीं वह उस विषय में हिलने-डुलने को तत्पर हो; और फिर भी हमारा निरन्तर प्रार्थना करना इसके अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं रखता। सर्वज्ञ दिव्य शासक के विषय में यह भी मानना होगा कि वह भविष्य में होनेवाली समस्त बातों को जानता है, और तदनुसार उसका कोई निश्चित सृजन-प्रयोजन तथा जगत्-शासन की योजना है, जिससे उसे हटा सकने का प्रयत्न किसी के लिये भी व्यर्थ होगा। और भी, जिस सत्ता को स्नेहमय पिता भी कहा जाता है, उसके विषय में यह मानना होगा कि वह अपने भूखे और अन्यथा अभावग्रस्त सन्तानों को, बिना यह प्रतीक्षा किये कि वे सहायता की अर्ज़ियों से उसे तंग करें, उतना दे ही देता है जितना विवेकपूर्वक दे सकता है। और यदि ऐसा है, तो प्रार्थना करें ही क्यों?

सत्य यह है कि प्रार्थना बुद्धिवाद से च्युत होने का चिह्न है, क्योंकि विज्ञान और प्रार्थना परस्पर विरोधी हैं, यहाँ तक कि प्रार्थना वहाँ आरम्भ होती है जहाँ विज्ञान, अथवा यों कहिये कि उसके विषय में हमारा व्यक्तिगत ज्ञान, समाप्त हो जाता है। प्रार्थना अज्ञान की गोद में अन्धविश्वास से पोषित होती है, और तर्क के प्रथम स्पर्श से ही मुरझा जाती है। ज्ञान की रात्रि-वेला में जन्मी वह अपनी जननी रहस्यवाद के घर में सबसे अधिक चमकती है; किन्तु बुद्धिवाद के प्रखर सूर्य में घसीट लाई जाने पर पीली पड़कर मुरझा जाती है। इसी कारण जब तक कोई यह विश्वास करता है कि वह अपने लक्ष्य तक कार्य-कारण की उस शृंखला के द्वारा पहुँच सकता है जो उसके अपने प्रयत्न से आरम्भ होकर लक्ष्य पर समाप्त होती है, तब तक वह प्रार्थना का विचार तक नहीं करता। उदाहरणार्थ, हम यह प्रार्थना नहीं करते कि हमारा भोजन पक जाये, हमारा घर बन जाये, पत्र डाक में पड़ जायें, इत्यादि। किन्तु अन्धविश्वासी मनुष्य उसी क्षण घुटनों के बल गिरकर प्रार्थना करने लगेगा जिस क्षण प्रयुक्त साधनों और प्राप्तव्य लक्ष्य के बीच का कार्य-कारण-सम्बन्ध टूट

जाता है। तदनुसार, युद्ध के समय हम यह प्रार्थना नहीं करते कि ईश्वर हमारे गोलों को तोपों की मार से अधिक दूर तक पहुँचा दे, अथवा तलवार के प्रत्येक प्रहार से सौ शत्रु मारे जायें; किन्तु जब हमारे ज्ञान की सीमा तक जो कुछ हम कर सकते थे कर चुके, तब हम विजय के लिये प्रार्थना अवश्य करते हैं; और इसका कारण यह है कि मनुष्यों के प्रयत्नों और विजय के बीच का कार्य-कारण-सम्बन्ध उन कारकों पर निर्भर है जो हमारी गणना में आ सकनेवाले कारकों से कहीं अधिक असंख्य हैं।

जहाँ तक प्रार्थना से उत्पन्न होनेवाली राहत की अनुभूति का प्रश्न है, वह समर्पण की भावना का ही परिणाम है। जैसे कोई वादी अपने मुक़दमे की जटिलताओं में स्वयं को मरणासन्न कर लेने की सीमा तक चिन्तित करने के बाद, उस मामले को देश के सर्वाधिक योग्य वकील के हाथों सौंप देने पर सान्त्वनादायक शान्ति का सहसा अनुभव करता है, ठीक उसी प्रकार और ठीक उसी कारण अथवा कारणों से, वह भक्त भी, जो दिव्य सहायता के लिये प्रार्थना करता है, राहत की अनुभूति का अनुभव करता है। यदि हम उसकी उस अनुभूति का और भी विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि वह मानसिक क्षोभ की निवृत्ति तथा उस सन्तोष और समर्पण की भावना से बनी है जो इस विश्वास से उत्पन्न होती है कि परिस्थितियों में जो सर्वोत्तम किया जा सकता था वह कर दिया गया है।

प्रार्थना का वह उत्तर, जिसे अन्धविश्वासी लोग प्रायः बिना चूके अपने देवता का ही दिया मानते हैं, निम्नलिखित में से किसी एक स्रोत से आता है, अर्थात्—

(१) स्वयं आत्मा से,

(२) किसी अन्य प्राणी से, जो हमारे कष्ट से प्रभावित होकर और सहानुभूति से प्रेरित होकर हमें हमारी कठिनाइयों से उबारता है, और

(३) संयोग से।

प्रथम स्थिति में आत्मा स्वयं ही अपनी कठिनाइयों का समाधान देख लेती है अथवा अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेती है; दूसरी में उसे बाहर से किसी की सहायता मिलती है; किन्तु तीसरी में वह उस वस्तु की ऋणी होती है जिसे शुद्ध रूप से आकस्मिकता कहा जा सकता है।

वस्तुतः प्रार्थना के उत्तर के समस्त प्रसंग तीसरी ही कोटि में आते हैं, क्योंकि उत्तर की धारणा ही अविवेकी श्रद्धा की शुद्ध कल्पना है।*

* आधुनिक यूरोपीय महायुद्ध के तथ्य उन लोगों को भी, जिन तक तर्क सहज ही नहीं पहुँच पाता, इस विश्वास की सर्वथा निराधारता का बोध करा सकते हैं कि विश्व का कोई ऐसा कल्याणकारी शासक है जो मनुष्यों की प्रार्थनाएँ स्वीकार करने में समर्थ भी है और उत्सुक भी। उसके भीषण दृश्य कुछ थोड़े सप्ताहों या महीनों तक नहीं, अपितु कई वर्षों तक निरन्तर चले, जिनके दौरान नगर उजाड़ दिये गये, देश ध्वस्त कर दिये गये, राज्य उलट दिये गये और घर-गृहस्थी थोक भाव से नष्ट कर दी गई, जिससे समस्त संसार दुःख में डूब गया और यूरोप स्वयं एक नियमित कसाईखाना बन गया, जो कम से कम दो करोड़ मनुष्यों के रक्त से महक रहा था — निर्दोष पशु-पक्षियों की तो बात ही छोड़िये। आधुनिक काल में यह दीर्घकालिक, असह्य अभावों का, अभूतपूर्व यातना का, तथा कल्पनीय समस्त कोटियों की वीभत्सता के रक्तरंजित कर्मों का ऐसा कीर्तिमान है जिसने न लिंग का विचार किया, न आयु का, न निर्दोषिता का। यह सब, हम पुनः कहते हैं, हमारे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् विश्व-शासक की, मानो, नाक के नीचे ही होता रहा, और फिर भी उसने न तो निस्सहाय स्त्रियों और निर्दोष शिशुओं को बचाने के लिये, न इस विश्वव्यापी विपत्ति का शीघ्र अन्त करने के लिये, हिलना-डुलना उचित समझा। ऐसा भी नहीं कि उसकी सहायता का आवाहन न किया गया हो अथवा उसके हस्तक्षेप की माँग न की गई हो; इसके विपरीत, समस्त कल्पनीय प्रकार की विनतियाँ — साधारण और विशेष प्रार्थनाएँ, स्तुतिगान, मध्यस्थता-सेवाएँ इत्यादि — संसार भर में मनुष्यों द्वारा बारम्बार प्रयुक्त की गईं कि वह इस विषय में कुछ करे। ये तथ्य स्वयं बोलते हैं, और सन्देह की सम्भावना से परे यह सिद्ध करते हैं कि जगत् का प्रबन्ध दिव्यता का न तो कार्य है न सरोकार, क्योंकि दिव्यता तो वैराग्य अर्थात् निष्कामता की पूर्णता में ही निहित है। इसी कारण से किसी उपासक अथवा अनुयायी को वर देना भी ईश्वरत्व का गुण नहीं है।

जहाँ तक संयोग का प्रश्न है, इसका अर्थ यह नहीं कि तथाकथित उत्तर बनानेवाली घटना प्राकृतिक नियम का उल्लंघन करके घटित होती है, अथवा जो दूसरे शब्दों में वही बात है, चमत्कार के रूप में घटित होती है; अपितु यह कि याचक की इच्छा से उसका सम्बन्ध इससे अधिक या कम कुछ नहीं कि वह उसके साथ काल की दृष्टि से सह-अस्तित्व रखती है। वह घटना घटनी ही थी और एक स्वतन्त्र घटना के रूप में घटती ही, चाहे उसके घटने के लिये कोई प्रार्थना करता या न करता; अतः प्रार्थना के साथ उसका समकालिक होना भी स्वर्ग में किसी प्रार्थना-स्वीकर्ता एजेन्सी के हस्तक्षेप का परिणाम नहीं कहा जा सकता। प्रकृति में ऐसे अनेक संयोग सदा घटित होते रहते हैं जिन्हें सर्वाधिक अविवेकी ईश्वरवाद भी मानव-आत्मा के उद्धार का दिव्य उत्तर मानने से इनकार कर देगा — जैसे शत्रु की मृत्यु, अथवा उसके शरीर या सम्पत्ति पर

किसी अन्य रूप में आई विपत्ति। किन्तु यदि हम इन काले संयोगों को प्रार्थना का उत्तर मानने से इसलिये वंचित हैं कि उनसे उनके 'कर्ताओं' के सम्मान और चरित्र पर कलंक लगता है, तो फिर किसी अन्य संयोग को ईश्वर की एजेन्सी के मत्थे मढ़ने का हमारे पास क्या प्रमाण है?

यहाँ यह संकेत किया जा सकता है कि प्रार्थना के विचार का उद्गम जैनों के दैनिक ध्यान में, जो सामायिक व्रत के नाम से ज्ञात है, खोजा जाना चाहिये — वह ध्यान जो आत्मा को न्यूनतम सम्भव समय में अपने उच्च आदर्श तक पहुँचाने के लिये सीधे-सीधे अभिकल्पित है। सामायिक का अर्थ है एक निश्चित काल तक — प्रायः एक अन्तर्मुहूर्त (लगभग ४८ मिनट) तक — प्रतिदिन सब प्रकार के पाप-कर्म से विरत रहने का प्रयत्न। इस काल में मनुष्य को प्रसन्नचित्त रहना चाहिये और व्यक्तिगत राग-द्वेष से उत्पन्न मानसिक क्षोभ के तत्त्व को शान्त करने में लगे रहना चाहिये, तथा अपने मन में उन समस्त हितों और उपक्रमों से स्वयं को पृथक् कर लेना चाहिये जिनसे हमारा सांसारिक व्यक्तित्व बना है। सामायिक का सर्वाधिक मूल्यवान् लाभ है समता की उस निरन्तर बढ़ती हुई भावना का संवर्धन — मानसिक शान्ति और प्रसन्नता की वह सन्तुलित अवस्था, जो दिव्यता का सर्वप्रथम गुण है। सामायिक की आवश्यकता उस किसी को भी स्पष्ट हो जायेगी जो उस विस्तृत खाई के स्वरूप पर विचार करेगा जो वास्तविक को सम्भाव्य से पृथक् करती है; क्योंकि जो ईश्वर बनना चाहता है उसे पहले ईश्वर की भाँति आचरण करना सीखना होगा, तभी वह देवों की सभा में आसन पा सकेगा। सामायिक का लक्ष्य आचरण की पूर्णता के द्वारा दिव्यता की प्राप्ति है, और वह आचरण, जो त्याग का शुद्धतम और पूर्णतम रूप है, मुक्ति का, अर्थात् सम्पूर्णता तथा संसार (जन्म-मरण) के दुःख और क्लेश से छुटकारे का, एकमात्र और साक्षात् कारण है।

जो गृहस्थ अभी-अभी मार्ग पर आया है वह सामायिक-ध्यान दिन में केवल एक बार, प्रातःकाल, करता है, क्योंकि अपनी आध्यात्मिक यात्रा की उस प्रारम्भिक अवस्था में वह व्यापार और भोग से इतना विलग नहीं हो पाता कि उसे और अधिक बार कर सके; किन्तु ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, वह उसे प्रतिदिन तीन बार — प्रातः, मध्याह्न और सायं — करने लगता है, और उसकी अवधि भी क्रमशः एक अन्तर्मुहूर्त से बढ़ाकर प्रत्येक बार उससे तिगुनी कर देता है। जो तपस्वी गृहस्थ के रूप में त्याग की प्रारम्भिक अवस्थाओं को सफलतापूर्वक पार कर चुका है, उससे अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयं निष्कामता का साक्षात् विग्रह हो, यहाँ तक कि उसका सम्पूर्ण जीवन, मानो, एक छोर से दूसरे छोर तक एक अविच्छिन्न सामायिक हो।

ध्यान का गुण अथवा स्वरूप भी आत्मा की प्रगति के साथ बदलता जाता है, यद्यपि उसकी सामान्य विशेषताएँ तब तक वही रहती हैं जब तक उसका प्रकार धर्म-ध्यान से बदलकर शुक्ल-ध्यान न हो जाये, जो उच्चतम अर्थों में शुद्ध आत्म-चिन्तन है।

सामायिक इन बातों से बनी है—

१. भूतकाल में किये गये दोषों के लिये पश्चात्ताप,

२. भविष्य में विशेष पापों से विरत रहने का संकल्प,

३. व्यक्तिगत राग-द्वेष का त्याग,

४. तीर्थंकरों (पूर्ण उपदेष्टाओं अथवा देवों) की स्तुति,

५. किसी एक तीर्थंकर के प्रति भक्ति, और

६. शरीर से ध्यान हटाकर उसे आत्मा की ओर लगाना।

इनमें से प्रथम दो का लक्ष्य पाप अथवा दुष्टता का उन्मूलन है, तीसरे का त्याग-भावना का विकास, चौथे और पाँचवें का पवित्र आत्माओं के जीवन का स्मरण कराकर आत्मा पर उसकी अपनी दिव्यता के तथ्य की छाप डालना, और अन्तिम का उस भूल का सुधार जिसमें शरीर को ही मनुष्य मान लिया जाता है, तथा साथ ही 'देह' का दमन। यह देखा जा सकेगा कि प्रार्थना, जैसी वह ईश्वरवादी धर्मशास्त्र में समझी जाती है, उन शुभ परिणामों में से एक को भी प्राप्त कर सकने में असमर्थ है जो सामायिक-ध्यान के अनुष्ठान से प्रवाहित होते हैं; क्योंकि प्रार्थना अभीष्ट लक्ष्य से कार्य-कारण की उस शृंखला जैसी किसी वस्तु द्वारा जुड़ी हुई नहीं है, जिस पर ही अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिये भरोसा किया जा सकता है। नीचे दी गई तालिका में हम तुलना की सुविधा के लिये प्रार्थना की आधुनिक धारणा तथा सामायिक की धारणा का विश्लेषण साथ-साथ प्रस्तुत करते हैं।

प्रार्थना — १. अपने पापों की क्षमा तथा अन्य वरदानों की किसी दूसरे से याचना। सामायिक — १. पूर्वकृत पापों के लिये पश्चात्ताप करके तथा भविष्य में अन्य पाप न करने का संकल्प करके, पाप से बचने के लिये स्वयं प्रयत्नशील होना।

प्रार्थना — (कोई प्रतिरूप नहीं)। सामायिक — २. राग-द्वेष का त्याग, जो मानसिक समता का कारण है और सत्ता की आनन्दमयता तक ले जाता है।

प्रार्थना — २. एक क्रोधी सृष्टिकर्ता की, जो अपनी एकता के विषय में ईर्ष्यालु है, उस व्यक्ति द्वारा स्तुति जो कभी उसके समान बनने की आकांक्षा तक नहीं कर सकता। सामायिक — ३. उन तीर्थंकरों की स्तुति जिन्होंने अपने ही पुरुषार्थ से पूर्णता की स्थिति प्राप्त की है।

प्रार्थना — (कोई प्रतिरूप नहीं)। सामायिक — ४. किसी एक तीर्थंकर के प्रति भक्ति, जिनका जीवन-चरित हमारी अपनी आत्मा के लिये प्रेरणा का स्त्रोत माना जाना है, क्योंकि वे पूर्ण पुरुष एक साधारण पापी आत्मा की स्थिति से उठकर दिव्यता की स्थिति तक पहुँचे थे।

प्रार्थना — (कोई प्रतिरूप नहीं)। सामायिक — ५. शरीर को ही मनुष्य मान लेने की प्रचलित भूल का सुधार, तथा 'देह' पर विजय।

तालिका के बायें पक्ष पर एक दृष्टि डालने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि प्रार्थना की दो मुख्य विशेषताएँ ये हैं—

१. अपने ही आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य पर आश्रित होना, और

२. आत्मा की दिव्यता का निषेध।

इन तत्त्वों में प्रशंसनीय कुछ नहीं, अपितु सब कुछ आपत्तिजनक ही है — यह, हमें विश्वास है, उस किसी को भी भली भाँति स्पष्ट होगा जो आत्मा के स्वरूप से तथा उसकी यात्रा पर पड़नेवाले दुष्ट सुझाव के प्रभाव से परिचित है। दूसरी ओर, सामायिक वही प्रक्रिया है जो अभीष्ट लक्ष्य से कार्य-कारण-रूप में सीधे जुड़ी हुई है, और इसी कारण वही ध्यान की सच्ची पद्धति है।

किन्तु यह मानने के लिये पर्याप्त कारण हैं और न मानने के लिये एक भी नहीं, कि प्रार्थना की आधुनिक धारणा प्राचीनों की धारणा से मेल नहीं खाती, अपितु ईश्वरवादी धर्मशास्त्र की अन्य समस्त भूलों की भाँति उसके शास्त्रों के मिथ्या-अर्थ से उत्पन्न हुई है — सिवाय वहाँ के, जहाँ वे शास्त्र इतने अर्वाचीन हैं कि आधुनिक त्रुटियों से मुक्त नहीं हो सकते। क्योंकि यह विश्वास करना असम्भव है कि जिन प्राणियों की पुराण-कथाएँ यह प्रकट करती हैं कि वे आत्मा की दिव्यता से भली भाँति परिचित थे, वे ही अपने साथ इतने असंगत रहे होंगे कि तत्काल यह उपदेश देने लगें कि वह दिव्य नहीं है।

रही उस प्रार्थना की बात जो 'प्रभु की प्रार्थना' के नाम से ज्ञात है और जो यीशु ने अपने शिष्यों को सिखाई थी, तो उसमें सहायता की उस याचना की धारणा के साथ कुछ भी समान नहीं है जिसे आपत्तिजनक पाया गया है; वह तो वस्तुतः मानसिक त्याग का ही एक रूप है।

उसकी सर्वोत्तम व्याख्या स्वामी राम तीर्थ (Swami Rama Tirtha) की रचनाओं में मिलती है, जिनमें से हम निम्नलिखित उद्धृत कर सकते हैं:—

> "'मनुष्य केवल रोटी से जीवित न रहेगा।' देखिये! प्रभु की प्रार्थना में हम कहते हैं, 'हमारी दिन भर की रोटी आज हमें दे,' और यहाँ हम कहते हैं कि मनुष्य केवल रोटी से जीवित न रहेगा। इन दोनों कथनों में सामंजस्य बिठाइये; इन्हें भली भाँति समझिये। प्रभु की उस प्रार्थना का, जब वह कही गई थी, यह अर्थ नहीं कि आपको माँगते रहना चाहिये; उसका अर्थ यह नहीं कि आपको लालसा, कामना और इच्छा करनी चाहिये; बिलकुल नहीं। यह उसका अर्थ नहीं है। उसका अर्थ यह था कि एक राजा, एक सम्राट् भी, जिसे अपनी दिन भर की रोटी न मिलने का कोई भय नहीं, एक राजकुमार भी जो निश्चिन्त है कि दैनिक रोटी उसके लिये सुनिश्चित है, वह भी वह प्रार्थना करे। यदि ऐसा है, तो स्पष्ट है कि 'हमारी दिन भर की रोटी आज हमें दे' का अर्थ यह नहीं कि वे अपने को याचक की मनःस्थिति में डाल लें, कि वे भौतिक समृद्धि माँगें; इसका यह अर्थ नहीं है। उस प्रार्थना का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह राजकुमार हो, राजा हो, सम्राट् हो, कोई भी हो, अपने चारों ओर की इन समस्त वस्तुओं को, समस्त धन-सम्पदा को, समस्त ऐश्वर्य को, समस्त सुन्दर और आकर्षक विषयों को इस दृष्टि से देखे कि ये उसके नहीं हैं, उससे सम्बद्ध नहीं हैं, ये ईश्वर के हैं, ईश्वर के; मेरे नहीं, मेरे नहीं। इसका अर्थ याचना नहीं, त्याग है। देखिये, 'हमारी दिन भर की रोटी आज हमें दे।' इसका अर्थ माँगना और याचना करना नहीं, अपितु त्यागना और छोड़ देना है; ईश्वर के प्रति समर्पित करते हुए छोड़ देना — उसका अर्थ यही था। आप जानते हैं कि यदि उसे उसके साधारण अर्थ में लिया जाये तो किसी राजा के लिये वह प्रार्थना करना कितना अविवेकपूर्ण है। कितना अविवेकपूर्ण? वह तभी पर्याप्त विवेकपूर्ण बनती है जब वह राजा, उस प्रार्थना को करते समय, अपने को उस भाव में स्थित कर ले जिसमें अपने घर के सारे रत्न, वह घर स्वयं, इन सबका वह त्याग कर देता है, मानो उन्हें छोड़ देता है, मानो उन पर से अपना दावा हटा लेता है। मानो वह उनसे अपने सम्बन्ध तोड़ लेता है और उनसे अलग खड़ा हो जाता है। वह मुनियों का मुनि है। वह कहता है, यह ईश्वर का है; यह मेज़, मेज़ पर पड़ी प्रत्येक वस्तु उसी की है; मेरी नहीं; मेरे पास कुछ भी नहीं। जो कुछ आता है, मेरे प्रियतम से आता है। वह इसे इसी रूप में अनुभव करता है। और यदि आप 'हमारी दिन भर की रोटी आज हमें दे' का अर्थ वही लें जो राम ने अभी बताया, तो आप उसे 'मनुष्य केवल रोटी से जीवित न रहेगा' के अनुरूप पायेंगे। तब आप उसे उसके अनुकूल पायेंगे; अन्यथा प्रतिकूल।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रबुद्ध मुनि के लिये प्रार्थना एक अर्थहीन शब्द है। उसके अपने आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त और है ही कौन जिससे प्रार्थना की जाये? किससे सहायता माँगी जाये? विश्व के स्वामी की सहायता कौन कर सकता है? स्वप्नलोक के आपके प्रेम-प्रसंगों में आपके अपने आत्म-स्वरूप के अतिरिक्त और कौन आपकी सहायता कर सकता था? आपने अपना परिवेश स्वयं रचा है; यदि वह वैसा नहीं जैसा उसे होना चाहिये, तो आपको उसे स्वयं ही बदलना होगा। रोने-धोने में तनिक भी लाभ नहीं। जब आप यह कहते हैं कि ईश्वर आपकी सहायता करता है, तब भी वह आपके भीतर से ही आपकी सहायता करता है। सहायता वास्तव में आपकी अपनी आत्मा से आती है, यद्यपि आप भ्रमवश उसे किसी बाहरी ईश्वर के मत्थे मढ़ देते हैं। आत्मनिर्भर आत्मा के लिये, यों कहिये, कोई 'बाहर' है ही नहीं, जहाँ से कोई सहायता आ सके। आप अपने भाग्य के स्वामी स्वयं हैं, चाहे आप अपनी शक्तियों से कितने ही अनभिज्ञ क्यों न हों। अन्तिम मुक्ति भी आपके अपने पुरुषार्थ से ही आयेगी, यद्यपि आप अब यह आशा लगाये बैठे हों कि वह किसी अन्य की कृपा से प्राप्त होगी।

जैसा विवेकानन्द (Vivekananda) कहते हैं, आप उस बन्दी के समान हैं जो कारागार के भीतर पड़ा है, भीतर से ही सलाखों और साँकलों में जकड़ा हुआ, और मुक्तिदाता के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। आपने उसे पुकारा है, उससे याचना की है, उससे आने की प्रार्थना की है, और आप उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा में हैं। श्रद्धा के साथ, उत्कट अपेक्षा और विश्वास से भरे हुए आप बैठे हैं। जब मुक्ति का समय आता है, तब आप द्वार पर एक खटखटाहट सुनते हैं। आप उठते हैं, द्वार खोलते हैं और बाहर झाँकते हैं। बाहर कोई नहीं है। आप लौटकर अपने स्थान पर आ बैठते हैं; खटखटाहट फिर होती है। आप फिर द्वार तक जाते हैं। फिर बाहर कोई नहीं है, किन्तु आपकी श्रद्धा भीतर से अपना कार्य कर रही है। कारागार का द्वार अब खुल चुका है, किन्तु बाहर कोई मुक्तिदाता नहीं, क्योंकि आपने उसे स्वयं ही खोला है। इस प्रकार देवी-देवताओं की समस्त खोज हमें उसी बिन्दु पर लौटा लाती है जहाँ से हमने आरम्भ किया था, अर्थात् अपने ही आत्म-स्वरूप पर; और मनुष्य पाता है कि 'वह ईश्वर, जिसे वह प्रत्येक छोटी-सी जलधारा में, प्रत्येक मन्दिर में, छोटे-छोटे गिरजाघरों में, और उससे भी हीन स्वर्गों में खोज रहा था, वह ईश्वर, जिसे वह स्वर्ग में बैठा हुआ और जगत् पर शासन करता हुआ तक कल्पित कर रहा था, उसका अपना आत्म-स्वरूप ही है।' मैं वही हूँ, और वह मैं हूँ। सचमुच, "मैं अपने पिता में हूँ, और तुम मुझ में, और मैं तुम में" (—यूहन्ना १४:२०)। 'मैं हूँ' के अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं, और यह छोटा-सा, देहधारी 'मैं' ही समस्त भ्रान्ति का कारण है।

> **"मैंने एक खटखट सुनी — कठोर, कठोर, कठोर आघात —**

अपने द्वार पर, और मैं चिल्लाया: 'कौन है? अरे!'

मैं विस्मित होकर मुग्ध-सा प्रतीक्षा करता रहा, और देखो!

कितने कोमल और मधुर स्वर में प्रेम ने धीरे से फुसफुसाया,

> **'तू ही तो खटखटा रहा है, क्या तू नहीं जानता?'"**

प्राचीन विकासवादी घोषित करते हैं कि विकास का सच्चा रहस्य उस पूर्णता के प्रकट होने की अन्तर्निहित प्रवृत्ति में निहित है जो प्रत्येक प्राणी के भीतर पहले से ही विद्यमान है, तथा यह कि वह पूर्णता अवरुद्ध है और उसके पीछे का अनन्त ज्वार अपने को अभिव्यक्त करने के लिये संघर्ष कर रहा है। बालक में मनुष्य छिपा और दबा हुआ है। ज्यों ही द्वार खुलता है, वह दबा हुआ मनुष्य बाहर उमड़ पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य में सम्भाव्य ईश्वर है, जो अज्ञान की सलाखों और तालों से भीतर बन्द है। जब उन तालों पर 'ज्ञान की कुंजी' लगाई जाती है, तब सलाखें और अर्गलाएँ पीछे हट जाती हैं, और आदम (Adam) 'मैं हूँ' की — उस ईश्वर की, उस सत्-चित्-आनन्द की — पूर्ण महिमा में प्रकट खड़ा हो जाता है।

७

योग

YOGA

“प्रत्येक आत्मा सम्भावना की दृष्टि से दिव्य है। लक्ष्य यह है कि बाह्य तथा आन्तरिक प्रकृति पर संयम स्थापित करके इस भीतर की दिव्यता को प्रकट किया जाए। कर्म द्वारा, अथवा उपासना द्वारा, अथवा मनोनिग्रह द्वारा, अथवा दर्शन द्वारा

— इनमें से किसी एक द्वारा, या अनेक द्वारा, या सबके द्वारा — ऐसा कीजिए और मुक्त हो जाइए। यही समग्र धर्म है। सिद्धान्त, मत, कर्मकाण्ड, ग्रन्थ, मन्दिर अथवा बाह्य रूप — ये सब गौण विवरण मात्र हैं।”— ‘राज योग’ (RAJA YOGA), विवेकानन्द (VIVEKANANDA)।

इस विषय के पूर्ववर्ती विवेचन ने, ऐसी आशा है, उस भूमि को प्रस्तुत कर दिया है जिस पर खड़े होकर हम उन साधनों के स्वरूप की और आगे खोज कर सकें, जो पूर्णता और सुख के महान् आदर्श की सिद्धि के लिए भिन्न-भिन्न धर्मों द्वारा निर्दिष्ट किए गए हैं। आत्मा के स्वरूप-सम्बन्धी अपनी इस अन्वेषणा में अब हम उस बिन्दु पर आ पहुँचे हैं जहाँ सैद्धान्तिक ऊहापोह का स्थान व्यावहारिक उपलब्धि को लेना चाहिए, जहाँ आत्म-साक्षात्कार को वास्तविक, व्यावहारिक अनुभव के क्षेत्र में उतारना चाहिए। हम अब योग की सीमा पर खड़े हैं, जो ईश्वर और मनुष्य के बीच का सेतु है। इसकी सहायता से मनुष्य न केवल अपने अभीष्ट लक्ष्य की मानसिक झलकें ही पा सकता है, अपितु उस विकराल खाई को पार करके स्वयं अपने ही रूप में उस पार के स्वर्ग की सीमा में प्रवेश भी कर सकता है।

यहाँ हमारा प्रयोजन उन असंख्य साधनों का, तथा नवदीक्षित साधक की दीक्षा और मार्गदर्शन के लिए निर्धारित नियमों का, विस्तृत वर्णन करना नहीं है। हम केवल इस विज्ञान के स्वरूप और उसकी व्यवहार्यता की जाँच करने से, तथा इस विषय पर संक्षिप्त किन्तु सामान्य टिप्पणियाँ करने से ही सन्तोष कर लेंगे — और उन्हें योग के व्यावहारिक पक्ष के केवल अत्यन्त प्रारम्भिक और मूलभूत सिद्धान्तों का निर्देश करने वाली ही समझा जाए।

कहा जाता है कि योग वह विज्ञान है जो मानव-मन की उस क्षमता को बढ़ाता है जिससे वह उच्चतर स्पन्दनों के प्रति प्रतिक्रिया कर सके, और विश्व में हमारे चारों ओर चल रही अनन्त चेतन गतियों को देख सके, ग्रहण कर सके और आत्मसात् कर सके; और यह दावा किया जाता है कि सब कालों और सब देशों में सन्तों, त्राताओं और ऋषियों की जिस विशाल मण्डली ने चमत्कार दिखाए, वे सब इसी — समस्त विज्ञानों में महत्तम विज्ञान — के ज्ञान के कारण थे।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में यह दिखाया जा चुका है कि आत्मा के दुःख, बन्धन और क्लेश का कारण विशुद्ध रूप से केवल अज्ञान ही है। अज्ञान के ही कारण आदम (Adam) 'अदन की वाटिका में प्रभु परमेश्वर के साथ चलने' के स्थान पर उससे निकाल बाहर किया गया, और अज्ञान के ही कारण स्वर्ग अब तक हमारे लिए खोया हुआ बना हुआ है। यह भी देखा जा चुका है कि विविध युगों और देशों में प्रकट होने वाले प्रायः सभी उद्धारकों और त्राताओं ने उद्धार का प्रमुख साधन आत्मा के ज्ञान में ही बताया है। किन्तु यह बात केवल सामान्य रूप से ही सत्य है, क्योंकि सत्य को जानना एक बात है और उसका साक्षात्कार करना दूसरी; क्योंकि साक्षात्कार की सर्वप्रथम आवश्यकता है सत्य में दृढ़, अटल श्रद्धा। मनुष्य में वह श्रद्धा होनी चाहिए जिसे ईसा (Jesus) अजेय, अमर श्रद्धा कहते; और श्रद्धा की एकमात्र कसौटी यह है कि मनुष्य उस पर अपना प्राण दाँव पर लगाने में हिचके नहीं। जब तक श्रद्धा दुर्बल रहती है और सन्देह का बीज नष्ट नहीं हुआ रहता, तभी तक शिष्य 'मुर्दों को गाड़ आने' की अनुमति माँगता है। जब हृदय सत्य की प्रतीति से आप्लावित हो जाता है, तब मनुष्य समझ लेता है कि 'जो कोई अपना हाथ हल पर रखकर पीछे देखता है' (लूका ९:६२) वह परमेश्वर के राज्य के योग्य नहीं, और वह बिना किसी विलम्ब के 'मुर्दों को अपने मुर्दे गाड़ने' देगा। गाड़ा किसे जाना है — "मैं" को, या शरीर को? मनुष्य तो वस्तुतः "मैं" ही है, और शरीर तो जड़ पदार्थ का शव मात्र है; किन्तु "मैं" न कभी मरता है, न उसे कभी समाधि की आवश्यकता होती है। अतः जो जीवन में प्रवेश करना चाहता है, उसे शवों को गाड़ने जैसे कार्य उन लोगों के लिए छोड़ देने चाहिए जो आध्यात्मिक दृष्टि से मृत हैं, यद्यपि शारीरिक दृष्टि से जीवित हों।

योग का लक्ष्य है सत्य का ज्ञान प्रदान करना, और साथ ही हृदय में अपरिवर्तनीय, अमर श्रद्धा का निर्माण करना। इसका अर्थ है योग अर्थात् मिलन — मनुष्य का ईश्वर के साथ जुड़ना; अथवा, अधिक ठीक कहें तो, वियोग अर्थात् इन्द्रिय-विषयों से, यानी परिघटनाओं के जगत् से, पृथक् होना (मैक्स म्यूलर — Max Muller)। यह वह विज्ञान है जो दीक्षित को सरल सोपानों अथवा क्रमों द्वारा आत्म-साक्षात्कार की उच्चतम ऊँचाइयों तक ले जाता है, यहाँ तक कि वह अपनी खोज के विषय के आमने-सामने खड़ा हो जाता है। इस सिद्धान्त की सत्यता का इससे उत्तम प्रमाण उसे और कोई नहीं मिल सकता। किन्तु दुर्भाग्य से यह प्रमाण तभी प्राप्त होता है जब शिष्य काँटों भरा मार्ग पार करके कुशलपूर्वक लक्ष्य पर पहुँच चुका

होता है; अतः जब तक उसकी आत्मा में सर्वज्ञता का उदय न हो, तब तक उसे अन्ततः अपनी बुद्धि पर ही निर्भर रहना पड़ता है। यदि वह सत्य को ग्रहण करने में सफल हो गया है, तो वह पाएगा कि आत्म-साक्षात्कार में उसकी प्रगति तुलनात्मक रूप से सरल है, और चिह्न, शकुन तथा 'रहस्यमय' प्रकृति की अन्य घटनाएँ निरन्तर उसका उत्साह बनाए रखेंगी और उसके हृदय को प्रफुल्लित करती रहेंगी। इस कथन में कोई अन्धकारमय रहस्यवाद नहीं है। 'पतन' अज्ञान के कारण हुआ, अतः अज्ञान का निवारण हमें अवश्य ही शक्ति, महिमा और आनन्द में पुनः प्रतिष्ठित करेगा। बाइबिल की जिस परम्परा की हम पहले परीक्षा कर चुके हैं, उसके अनुसार आदम को सर्प ने सम्मोहित करके यह विश्वास कराया कि वह देवताओं के समान बुद्धिमान् नहीं है, और उसे उनके समान बनने की कामना करने की ओर प्रेरित किया। उसकी इस अभागी धारणा ने समूची मानव-जाति के लिए विपत्ति और विनाश लिख दिया, और आज भी हम उसी के प्रभाव में हैं। सचमुच, जब-जब माता-पिता ने सन्तान को, अथवा गुरु ने अपने शिष्य को, यह सुझाव नए सिरे से दिया है, तब-तब उस सुझाव का बल गहरा और अधिक प्रबल होता गया है। पदार्थ के बाह्य आवरण, अर्थात् भौतिक शरीर, से अपनी अभिन्नता के इस स्वीकृत सुझाव के प्रभाव में, वह जो अपने स्वभाव की शुद्धता में विश्व का स्वामी है, ऐसा आचरण कर रहा है मानो वह दास हो; स्वामी अपने ही घर में कुली का काम कर रहा है, और यदि उससे कहा जाए कि वह स्वामी है तो वह क्षुब्ध होता है! इस घातक बन्धन को हटाने के लिए क्या किया जाए?

योग हमें सिखाता है कि ज्ञान ही एकमात्र साधन है जिससे यह जादू टूट सकता है। स्पष्ट है कि जिस पर प्रभाव डालना है वह मनुष्य की धारणा की अवस्था है, जिससे वह अपने मन को हीनता और 'द्वैत' के मिथ्या संस्कार से शुद्ध कर सके। किन्तु धारणा तर्क के अतिरिक्त, अर्थात् ज्ञान के अतिरिक्त, और किसी उपाय से नहीं बदली जा सकती। अतः यह स्पष्ट है कि ज्ञान ही वह शस्त्र है जो मिथ्या संस्कारों पर आक्रमण कर सकता है और झूठी धारणाओं का नाश कर सकता है। इस सिद्धान्त को समझाने के लिए हम दो व्यावहारिक उदाहरण लें। मान लीजिए कि कोई बालक किसी अन्धेरे कमरे में रस्सी को देखकर उसे साँप समझ बैठता है, और उस कमरे में जाने से डरता है। आप बालक के इस मिथ्या संस्कार को कैसे दूर करेंगे? क्या आप उसे गोद में उठाकर उस कल्पित सर्प के पास न ले जाएँगे, और उसे हर प्रकार से सन्तुष्ट न होने देंगे कि उसकी धारणा भ्रान्त थी? फिर मान लीजिए कि किसी मनुष्य को सम्मोहित करके यह विश्वास करा दिया गया है कि उस पर कोई पिशाच सवार है, और वह इस कारण भयंकर दुर्दशा में है। आप उसके लिए क्या करेंगे? क्या आप उसे 'जगा' न देंगे और उसे यह न दिखा देंगे कि जो पिशाच उसे सता रहा था वह निरा भ्रम मात्र था?

मानव-जाति भी इसी प्रकार सम्मोहित कर दी गई है कि वह अपने को अभागा, अज्ञानी, स्वभाव और जन्म से पापी, तथा नियति और प्रकृति की शक्तियों के हाथों सब प्रकार की ठोकरें और निराशाएँ भोगने को अभिशप्त प्राणी माने। यहाँ आपका क्या कर्तव्य है? क्या आप उनके साथ वही व्यवहार न करेंगे जो आपने ऊपर के दोनों उदाहरणों में किया? बस उन्हें जगा दीजिए, जिससे वे स्वयं देख लें कि यह सब भ्रम मात्र है। उस दृष्टान्त के बालक की भाँति मनुष्य मानता है कि उसके हृदय के कक्ष में पाप का काला साँप बैठा है, और इसी से वह दुःखी है। उसके मन से इस मिथ्या संस्कार को हटाने का केवल एक ही उपाय है, और वह यह कि उसे विश्वास दिलाया जाए कि वहाँ कोई साँप नहीं, अपितु उसके हृदय में स्वयं ईश्वर विराजमान है। बुद्धों, ईसाओं, मुहम्मदों तथा अन्य किसी अथवा सब महापुरुषों के प्रमाण पर आपका उसे यह आश्वासन देना कि उसकी वर्तमान धारणा भ्रान्त है, तनिक भी काम न आएगा। आपको उसके मन से समस्त सन्देह दूर करना होगा, किन्तु यह तभी हो सकता है जब उसे स्वयं सोचने और अपनी पूरी सन्तुष्टि तक स्वयं परीक्षण करने की ओर प्रेरित किया जाए। स्वामी राम तीर्थ (Swami Rama Tirtha) कहते हैं:—

> **“यदि सूर्य बम्बई के आमों से कहे कि जैसे मैंने हिमालय के भोजपत्र और देवदार वृक्षों पर अपनी उष्णता और अपना प्रकाश प्रकट किया, वैसा मैं तुम्हारे लिए न करूँगा; तुम्हें उन सुन्दर पर्वतीय दानवों पर की गई मेरी कल्याण और शक्ति की अभिव्यक्तियों के सहारे ही उगना और फूलना-फलना होगा — तो बम्बई के आम रहेंगे ही नहीं। न तो खेत की कुमुदिनियाँ उस सूर्य के सहारे जी सकती हैं जो बगीचे के सेबों पर चमका, और न शेक्सपियर (Shakespeare), न्यूटन (Newton) अथवा स्पेंसर (Spencer) बुद्ध, ईसा या मुहम्मद को हुए किसी प्रकाश के सहारे जी सकते हैं। अतः हमें अपनी समस्याएँ स्वयं हल करनी होंगी और अपनी ही आँखों से देखना आरम्भ करना होगा, न कि अपने परम पूज्य बीते युग के द्रष्टाओं और ज्ञानियों की आँखों से झाँकते रहना होगा।”**

बालक को प्रमाण उद्धृत करके सन्तुष्ट करना असम्भव है। पूर्ण प्रतीति सन्देह के सर्वथा विनाश के पश्चात् ही आती है, और इसके लिए अपनी ही सन्तुष्टि तक की गई पूर्ण, विस्तृत जाँच आवश्यक है। बालक अपने सर्वाधिक प्रिय प्रमाण को भी भूल कर सकने वाला मान लेता है; मनुष्य की भी यही दशा है।

योग इस बात पर बल देता है कि प्रत्येक मनुष्य अपना उद्धार स्वयं साधे। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक को अपने ही पैरों पर खड़ा होना है; कोई अपने पड़ोसी से किसी सहारे का दावा नहीं कर सकता। यदि आधा दर्जन में से एक व्यक्ति सम्मोहन-मुक्त कर दिया जाए, तो इससे शेष लोगों का कुछ नहीं बनता जो स्वयं उस ‘उन्मोचन’ की प्रक्रिया से नहीं गुजरते। प्रत्येक को स्वयं ही ‘ज्ञान की कुंजी’ खोजनी और अपने

हृदय पर लगानी होगी, जहाँ अन्धकार का सर्प छिपा हुआ माना जाता है। आपको अपने सन्देह एक-एक करके स्वयं दूर करने होंगे, क्योंकि आपके अतिरिक्त और कोई नहीं जानता कि आपके सन्देह क्या हैं। यही सर्वप्रथम सिद्धान्त है। यह यथासमय अपना फल लाएगा, और वह फल है आत्म-निर्भरता। इसका विकास ही सफलता का प्रथम चिह्न है। विज्ञान के मनुष्य की अद्भुत सफलता उसकी आत्म-निर्भरता के ही कारण है।

इसके पश्चात् आवश्यक है ध्यान, जिसके बिना कोई ज्ञान सम्भव नहीं। मनुष्य दूसरों के निकाले निष्कर्षों को ठीक मान सकता है, किन्तु यह तो केवल उधार की पद्धति है। जब तक आपने स्वयं उस वस्तु पर विचार नहीं किया, तब तक आप परिणाम के विषय में कभी निश्चित नहीं हो सकते, और तब यह नहीं कहा जा सकता कि सन्देह का बीज मारा जा चुका है। सन्देह को प्रभावपूर्वक नष्ट करने का एकमात्र उपाय यह है कि ध्यान के विषय को उसके समस्त पहलुओं सहित मन में घुमाया जाए, अर्थात् उसका विच्छेदन किया जाए, उसका विश्लेषण किया जाए, उसे टुकड़े-टुकड़े किया जाए, और सम्भव सभी दृष्टिकोणों से उसमें झाँका जाए। जब उपर्युक्त प्रक्रियाओं के फलस्वरूप कोई मत बनता है, तब वह कभी सन्देह का विषय नहीं रहेगा। स्वयं निकाले हुए निष्कर्ष में और दूसरे से सुने हुए निष्कर्ष में ठीक वही अन्तर है जो चट्टान पर बने घर में और बालू पर बने घर में है। ध्यान तथ्यों के वर्गीकरण और सामान्यीकरण द्वारा उन्हें सिद्धान्तों में परिणत करने की प्रक्रिया है, और स्पष्ट है कि इसके बिना ज्ञान की कोई ठोस नींव सम्भव नहीं। किन्तु ध्यान एकाग्रता पर निर्भर है, और एकाग्रता ही सफलता का महानतम रहस्य है।

एकाग्रता का अर्थ क्या है, यह हम पहले देख चुके हैं। यहाँ हम उसके विषय में कुछ शब्द और जोड़ना चाहेंगे। एकाग्रता का अर्थ है बल को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना, आक्रमण किए जाने वाले प्रदेश की सीमा पर सेना को एकत्र करना। यदि हम रूस पर विजय प्राप्त करना चाहें, तो हमें अपनी सेनाओं को एक बिन्दु पर उसके विरुद्ध लगाना होगा। दस लाख सैनिकों को एक-एक करके, अलग-अलग, सेण्ट पीटर्सबर्ग (St. Petersburgh) भेज देने से काम न चलेगा; क्योंकि तब मुट्ठी भर रूसी ही पर्याप्त होंगे कि जैसे ही कोई सैनिक सामने आए, उसे मार डालें। मुट्ठी भर सैनिक भी, यदि ठीक ढंग से संचालित हों, तो बड़ी विजयें प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उनकी शक्तियाँ चारों दिशाओं में बिखरनी नहीं चाहिए। एक विद्वान् लेखक कहते हैं:—

> **“संसार का यह समस्त ज्ञान मन की शक्तियों की एकाग्रता के अतिरिक्त और किस उपाय से अर्जित हुआ है? प्रकृति अपने रहस्य देने को उद्यत है, बस हमें यह जानना चाहिए कि खटखटाना कैसे है, उसे आवश्यक आघात कैसे देना है; और उस आघात का बल तथा सामर्थ्य एकाग्रता से ही आता है।**

> **मानव-मन की शक्ति की कोई सीमा नहीं। वह जितना अधिक एकाग्र होता है, उतनी ही अधिक शक्ति एक बिन्दु पर लगती है, और यही रहस्य है।"— विवेकानन्द।**

अब प्रश्न उठता है कि मन को एकाग्र किया कैसे जाए? इस प्रयोजन के लिए अनेक साधन सुझाए गए हैं, जिनका विवेचन हिन्दू-धर्म चार शीर्षकों के अन्तर्गत करता है, अर्थात् हठ योग, भक्ति योग, राज योग और ज्ञान योग। ये साधक की क्षमता और योग्यता के अनुसार निर्दिष्ट किए जाते हैं। हठ योग का लक्ष्य है भौतिक शरीर पर संयम द्वारा एकाग्रता की अभीष्ट स्थिति उत्पन्न करना, और इन्द्रियों के निग्रह द्वारा मन को शुद्ध और उन्नत करना। इसकी कठोर साधनाएँ योगी को राज योग की उच्चतर विधियों के लिए तैयार करती हैं। भक्ति योग दिव्य प्रेम का मार्ग है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी ही आत्मा में दिव्य दर्शन की आनन्दमयी अवस्था में लीन हो जाता है। इस प्रकार वह जीवन का वास्तविक पक्ष खोज लेता है, और इन्द्रिय-विषयों के प्रति उसी उदासीनता के बिन्दु पर पहुँचता है जिस पर हठ योग के मार्ग का अनुगामी पहुँचता है। तत्पश्चात् आता है राज योग, अर्थात् स्वयं मन के निग्रह द्वारा ईश्वर-साक्षात्कार का विज्ञान। किन्तु इन सब विधियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वह है जिसे ज्ञान योग कहा जाता है, अर्थात् ज्ञान द्वारा योग का मार्ग, जो जीवन-सम्बन्धी महान् प्रश्नों से तथा इस बात से सम्बन्ध रखता है कि समस्त प्रकट सत्ता के पीछे क्या है। यह यथार्थ का विज्ञान है, जो इन्द्रिय-विषयों की खोखली प्रकृति दिखाकर मनुष्य को सरलता से उनका त्याग कर सकने में समर्थ बनाता है।

ऊपर गिनाई गई योग की चारों पद्धतियों में से साधक को वही चुननी चाहिए जो उसकी प्रवृत्ति और परिस्थितियों के सर्वाधिक अनुकूल हो।

तथापि ईश्वर-साक्षात्कार का वास्तविक मार्ग केवल ज्ञान योग ही है; क्योंकि यथार्थ का ज्ञान ही सन्देह के बीज को नष्ट कर सकता है और हृदय में अपार श्रद्धा उत्पन्न कर सकता है। फिर भी सामान्य रूप से यह कहा गया है कि शिक्षित वर्ग ज्ञान योग और राज योग के मार्गों को अपनी आवश्यकताओं के लिए अन्य दोनों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त पाएँगे। जो लोग वैज्ञानिक प्रवृत्ति के नहीं हैं अथवा कम शिक्षित हैं, जो एक ओर हठ योग की कठोर तपश्चर्याओं के लिए पर्याप्त समय नहीं निकाल सकते, और दूसरी ओर जिनके जीवन के व्यवसाय उन्हें ज्ञान योग या भक्ति योग के मार्गों पर चलने की न तो प्रवृत्ति देते हैं न समय — वे राज योग के मार्ग को ही लक्ष्य की ओर बढ़ने का सर्वोत्तम साधन पाएँगे। भक्ति योग संसार के साधारण नर-नारियों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त विधि है; और शेष सब लोग, जो हठ योग की तपश्चर्याओं और कठिन साधनाओं को सह और भोग सकते हैं, उसी मार्ग पर चल सकते हैं।

हिन्दू शास्त्रों से साक्षात्कार की प्रक्रिया की जो सामान्य योजना मिलती है, वह ऐसी है। किन्तु ज्ञान योग आदि चार शीर्षकों के अन्तर्गत इस पद्धति का वर्गीकरण नितान्त मनमाना है, और किसी वैज्ञानिक दृष्टि से वैध आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है — यद्यपि प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है कि वह भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियों के लिए उपयुक्त विधि प्रस्तुत करता है। क्योंकि सचमुच वैज्ञानिक प्रक्रिया, अन्य समस्त वैज्ञानिक प्रक्रियाओं की भाँति, एक ही हो सकती है, चाहे वह सब मनुष्यों की रुचि के अनुकूल हो या न हो। इसके अतिरिक्त, भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के अनुरूप बनने के लिए कठोर वैज्ञानिक मार्ग को छोड़ देने से कभी कोई भला नहीं हो सकता; क्योंकि एक ओर तो व्यक्तिगत विचित्रताओं को प्रसन्न रखने के समस्त प्रयत्न दोयम दर्जे की प्रतिभा या क्षमता तक विकसित करने में भी सदा असफल रहते हैं, और दूसरी ओर समझौते की भावना से प्रयुक्त साधनों की वैधता भी तत्काल दूषित हो जाती है। हम योग के अनुशासन-नियमों के कठोर पालन की तुलना सेना के लिए मनुष्यों के प्रशिक्षण से कर सकते हैं, जहाँ व्यक्तिगत सनकों को प्रसन्न करना विनाशकारी होगा। इस प्रकार किसी आदर्श के साक्षात्कार में सफल होने की सम्भावना केवल वैज्ञानिक विधि के अनुसरण में ही है — और यह बात विशेष रूप से इच्छा-शक्ति के प्रशिक्षण के विषय में सत्य है — न कि मानवीय दुर्बलताओं और न्यूनताओं को पोसने में।

यद्यपि विषय का उपर्युक्त वर्गीकरण कृत्रिम सिद्ध हुआ है, तथापि वह हमारी आवश्यकताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि वह संसार के अनेक धर्मों द्वारा निर्धारित आत्म-साक्षात्कार की भिन्न-भिन्न विधियों के मूल में निहित सिद्धान्तों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक पर्याप्त उपयुक्त आधार प्रस्तुत करता है।

विषय को आगे बढ़ाएँ तो, इन चारों पद्धतियों में एकाग्रता का विषय भिन्न-भिन्न है। ज्ञानी (अर्थात् जो ज्ञान योग का अनुगामी है) की एकाग्रता का विषय साक्षात् आत्मा ही है। राज योग का अनुयायी 'समाधि' की प्राप्ति का लक्ष्य रखता है — वह अवस्था जिसमें मन की शुद्धता आत्मा को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने और अपनी चेतना से समस्त कामना-तत्त्वों के निष्कासन से उत्पन्न होने वाले सत्ता के आनन्द का उपभोग करने में समर्थ बनाती है। भक्त का गुरु (ईश्वर) के प्रति तीव्र, अखण्ड, उत्कट प्रेम ही उसकी एकाग्रता है;* और हठ योगी की वे शारीरिक तपश्चर्याएँ, जो कामना करने वाले मनस् (मन) को दमन करने की दृष्टि से की जाती हैं, उसके लिए पर्याप्त एकाग्रता हैं। किन्तु विधि की यह समस्त विविधता भी केवल रूप की ही विविधता है, आध्यात्मिक एकाग्रता का वास्तविक विषय तो सर्वत्र एक ही है, अर्थात् ईश्वर के साथ अपनी स्थिति की अभिन्नता का साक्षात्कार, दूसरे शब्दों में, व्यक्ति-आत्मा की सत्-चित्-आनन्द की अवस्था में प्रतिष्ठा।

बहुत से लोग धार्मिक विषयों पर अपने मन को एकाग्र करना कठिन पाते हैं, और इस कारण उसमें दोष निकालने को उद्यत रहते हैं। किन्तु दोष मन का नहीं, अपितु उन विचार-सम्बन्धों का है जो हम स्वयं अपने लिए बना लेते हैं। क्योंकि एकाग्रता मन के स्वभाव के विरुद्ध नहीं है, जो सदा एक समय में एक ही विचार धारण करता है। नवसाधकों को एकाग्रता में जो कठिनाई होती है, वह इस प्रकार मन में एकाग्रता की शक्ति के अभाव के कारण नहीं, अपितु उपयुक्त सम्बन्धों के अभाव के कारण है। विचार-सम्बन्ध ही एकाग्रता के बिन्दु को निर्धारित करते हैं, अर्थात् उस बिन्दु को जिस पर मन सामान्यतः एकाग्र रहता है, या जिस पर वह सरलता से टिकाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, एक व्यापारी अपने मन को प्रायः अपने विशेष व्यापार से सम्बन्धित बातों में लीन पाता है, और उसे अपने कारोबार के विवरणों पर मन एकाग्र करने में कोई कठिनाई नहीं होती; फिर भी वही व्यापारी सामान्यतः, विशेष कारणों के बिना, अपने मन को दूसरे के कारोबार में लगाना सरल नहीं पाता, और उसे अपने ही कारोबार में मन लगाना भी कठिन लगेगा यदि उसका अधिक तात्कालिक व्यक्तिगत हित कहीं और केन्द्रित हो — जैसे यदि वह प्रेम में पड़ जाए। अन्तिम स्थिति में उसका मन अपने कारोबार के विवरणों पर ठहरने से इनकार कर देगा और अपने उस अधिक आकर्षक प्रेम-प्रसंग की ओर भाग जाएगा। और उसे एकाग्रता की कला की किसी शिक्षा की आवश्यकता भी नहीं होती, जो प्रेम के साथ स्वतः ही आ जाती है। इससे स्पष्ट है कि जिस विषय पर मन सबसे अधिक देर तक ठहरता है, वही अनिवार्यतः वह विषय है जो उस समय सबसे प्रबल रुचि जगाता है; दूसरे शब्दों में, एकाग्रता का विषय प्रत्येक व्यक्ति की सर्वाधिक प्रबल प्रवृत्तियों, भावनाओं और आवेगों से निर्धारित होता है। और चूँकि हमारी प्रवृत्तियाँ, भावनाएँ और आवेग विचार-सम्बन्धों पर निर्भर हैं, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि मन को किसी विशेष विषय में लगाने के लिए केवल सम्बन्धों का परिवर्तन ही अपेक्षित है। अतः जो लोग किसी विशेष विषय पर एकाग्रता की शक्ति विकसित करना चाहते हैं, उन्हें अपनी पुरानी विचार-पद्धति बदलनी चाहिए और नए विषय के लिए उपयुक्त सम्बन्ध विकसित करने चाहिए। इसलिए उन स्वामियों, भक्तों और अन्य जनों की संगति, जिन्होंने ईश्वर-साक्षात्कार के लिए संसार का त्याग किया है, मन को ईश्वरोन्मुख करने का प्रायः सर्वोत्तम साधन है। यही परिणाम, यद्यपि अधिक परिश्रम से, उन पुस्तकों के निरन्तर पठन द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है जो ईश्वर-साक्षात्कार से सम्बन्धित विषयों का विवेचन करती हैं।

* "प्रेम इच्छा-शक्ति की समस्त शक्तियों को बिना किसी प्रयास के एकाग्र कर देता है, जैसा तब होता है जब कोई पुरुष किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाता है।" — विवेकानन्द ('इन्स्पायर्ड टॉक्स' — The Inspired Talks में)।

ध्यान में रखने योग्य दूसरी बात यह है कि एकाग्रता का विषय न तो किसी वस्तु का नाम है, न रूप, न आकार, अपितु उसका अभिप्राय अथवा तात्पर्य है। मन किसी ऐसे विषय पर देर तक एकाग्र नहीं हो सकता जिसके विवरण की अल्पता उसे चिन्तन के अयोग्य बना देती है। उदाहरण के लिए, शतरंज का खिलाड़ी केवल शतरंज की बिसात और 'मोहरों' को देखते-देखते शीघ्र ही ऊब जाएगा, किन्तु खेल खेलता चला जाएगा, समय और अधिकांश अन्य बातों की सुध खोकर, और उसकी रुचि शिथिल नहीं होगी। मूर्ति-पूजा के विरुद्ध प्रमुख आपत्तियों में से एक यहीं निहित है। यदि एकाग्रता का विषय केवल भक्त की मूर्ति का नाम और रूप ही हो, तो स्पष्ट है कि ऐसी भक्ति से कोई विशेष मूल्यवान् वस्तु प्राप्त होने को नहीं है; क्योंकि विचार की एकाग्रता के लिए प्रस्तुत उन थोड़े-से भौतिक विवरणों को शीघ्र ही आत्मसात् कर लेने पर मन क्रमशः उस मूर्ति में समस्त रुचि खो देता है और उससे भटक जाता है। किन्तु ऐसे पतित लोग थोड़े ही हैं जो मन्दिरों या स्तूपों में पत्थर के टुकड़ों की पूजा करते हों। अधिकांश स्थितियों में जिसकी वस्तुतः पूजा होती है वह परमात्मा है — भक्त को ईश्वरत्व की सच्ची धारणा है या नहीं, यह दूसरी बात है — और प्राण-प्रतिष्ठा पर पत्थर की प्रतिमा उसी का प्रतीक बन जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो विषय सबसे अधिक विविध विवरण प्रस्तुत करता है, वही वह है जिस पर मन बिना ऊबे एकाग्र हो सकता है। अतः अनन्त* ही एकमात्र ऐसा विषय है जिसमें मन को अनन्त काल तक ध्यान के लिए आहार और मनोरंजन पर्याप्त मात्रा में मिल सकता है; और यदि हम स्मरण रखें कि आत्मा स्वयं ही वह अनन्त है, तो हम सरलता से समझ सकते हैं कि उस प्राचीन उपदेश — "हे मनुष्य, अपने आप को जान" — में आत्म-ज्ञान पर इतना बल क्यों दिया गया है।

* आत्मा को अनन्त इसलिए नहीं कहा जाता कि वह आकाश की भाँति विस्तार में अनन्त है, अपितु इसलिए कि वह अनन्त ज्ञान से सम्पन्न है और अनन्त दिव्य गुणों से युक्त है।

इस प्रसंगान्तर से लौटकर कहें तो, संसार के समस्त विद्यमान धर्मों के प्रवर्तकों ने अपने प्रकाश और तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार इन योग-विधियों में से किसी एक पर, अथवा किसी अन्य पर, अथवा कुछ के मिश्रण पर बल दिया है।

मुहम्मद (Mahomet) ने स्वर्ग में पहुँचने के साधन के रूप में सर्वशक्तिमान् की इच्छा के प्रति समर्पण* का मार्ग बताया। ईसा ने स्वर्ग के राज्य को प्रकट करने के लिए ज्ञान, श्रद्धा और त्याग का उपदेश दिया। अन्य त्राताओं और ऋषियों ने भी न्यूनाधिक रूप से वही नियम निर्धारित किए। प्रत्येक स्थिति में, प्रत्यक्ष रूप से अथवा अनिवार्य निहितार्थ से, एकाग्रता पर ही बल दिया गया है, जिसे धर्म सफलता की कुंजी-स्वर कहने में तनिक भी संकोच नहीं करता।

* सर्वशक्तिमान् की इच्छा के प्रति समर्पण का अर्थ है व्यक्तिगत इच्छा का पूर्ण विलोप। भक्त के कान और नेत्र केवल प्रभु के लिए ही होते हैं; वह समस्त दिव्य आज्ञाओं का तत्परता और प्रसन्नता से पालन करता है, चाहे वे उसके अपने व्यक्तिगत हितों के कितने ही प्रबल विरुद्ध क्यों न हों। समर्पण के लिए कुछ वैसी ही भावना अपेक्षित है जैसी अब्राहम (Abraham) की थी, जिसके विषय में कहा जाता है कि वह यहोवा (Jehovah) की आज्ञा से अपने पुत्र की बलि देने को उद्यत हो गया था। भाग्य की कठोरता अथवा आज्ञा के अन्याय के विरुद्ध कोई कुड़कुड़ाहट या शिकायत नहीं होनी चाहिए। आदर्श भक्त कारण नहीं पूछता, अपितु प्रसन्नतापूर्वक, यहाँ तक कि आँख मूँदकर, समस्त आदेशों का पालन करता है, यह विश्वास करते हुए कि इसी से वह अपने लक्ष्य तक पहुँचेगा। श्रीकृष्ण ने घोषित किया: "समस्त भाव से उसी (ब्रह्म) की शरण में जा; उसकी कृपा से तू परम शान्ति तथा शाश्वत धाम प्राप्त करेगा। मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो, मेरा यजन कर, मुझे प्रणाम कर; तू मुझे ही प्राप्त होगा" (भगवद्गीता १८:६२ तथा ६५)। भक्तजन मानते हैं कि जब आत्मा स्वार्थ त्याग देती है, आत्म-गर्व को दमन कर देती है, आत्म-महत्त्व की समस्त धारणाएँ कुचल देती है, और अहंकार का विचार तक अपने हृदय से उखाड़ फेंकती है, तब उसके उद्धार का भार स्वयं परमात्मा का भार बन जाता है, और जैसे माता उस शिशु पर सदा दृष्टि रखती है जो पूर्णतया उसकी बाँहों में समर्पित है, वैसे ही वह उस मनुष्य के लिए, जिसने अपने को इस प्रकार पूर्णतया उसके हाथों में सौंप दिया है, सब कुछ करना अपना कर्तव्य मानता है, क्योंकि "निस्सन्देह वह भक्त उसे प्रिय है" (भगवद्गीता १८:६५)। समर्पण की भावना ऐसी है, जो अपने वास्तविक अभिप्राय में महान् आध्यात्मिक आदर्श के प्रति उच्च भक्ति के तुल्य है।

जैसा दिखाया जा चुका है, हमारी जाति की दयनीय दशा का कारण यह है कि हम आत्मा की दिव्यता का साक्षात्कार करने में असफल रहे और उस द्वैत की धारणा में फँसे रहे जिसका अर्थ है कि आत्मा के लिए ईश्वरत्व की प्राप्ति असम्भव है। अतः हमें बस इतना ही करना है कि आत्मा की असहायता की वर्तमान धारणा छोड़ दें और उसके स्थान पर उसकी दिव्यता की धारणा प्रतिष्ठित कर लें। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एकाग्रता का विषय होना चाहिए, प्रथमतः, द्वैत का निषेध — अर्थात् उस काल्पनिक, अलंघ्य खाई का निषेध जिसे आधुनिक धर्मशास्त्र ने ईश्वर और मनुष्य के बीच खड़ा कर रखा है, अर्थात् मनुष्य की उस मानी हुई शाश्वत, निरपेक्ष हीनता का और ईश्वरत्व तक पहुँचने की उसकी असमर्थता का निषेध — और द्वितीयतः, आत्मा की दिव्यता का सकारात्मक प्रतिपादन। एकाग्रता का वास्तविक ध्येय और विषय यही होना चाहिए। जब भी आपको इसके लिए समय मिले — और जितनी अधिक बार आप ऐसा करें उतना ही अच्छा — बस बैठ जाइए और अपने मन को इन दो बिन्दुओं पर एकाग्र कीजिए; और यदि आपकी इस उपदेश में श्रद्धा है, तो आप शीघ्र ही अनुभव करने लगेंगे कि आप ठीक मार्ग पर हैं।

श्रद्धा के साथ कुछ ही क्षणों की एकाग्रता इतना दिखा देने के लिए पर्याप्त है कि आपका श्रम व्यर्थ नहीं गया। यह सर्वोत्तम प्रमाण है जो आप माँग सकते हैं, अथवा जो किसी भी पद्धति द्वारा दिया जा सकता है। ज्यों-ज्यों आप इस बात पर मन एकाग्र करने में लगे रहेंगे कि आप ही सत्-चित्-आनन्द हैं, त्यों-त्यों आप अनुभव करेंगे कि जिसे आपने अब तक सुख माना है वह तो आनन्द की धारणा से सर्वथा विजातीय दशा है। आधुनिक मनुष्य योगी को कल्पनालोक के आदर्शों वाला आलसी उन्मादी समझता है, किन्तु ऐसा इसलिए कि उसे इसका कोई सच्चा बोध नहीं कि सुख का अर्थ क्या है। तनिक विचार तो कीजिए कि उसका अभिप्राय क्या है। सुख क्या है? धन संचित करना, अपने चारों ओर सब प्रकार का साज-सामान और खिलौने जुटाना, भोज उड़ाना, भेंट-मुलाकातें करना, दरबार जमाना और दरबारी बनना, मुकदमे लड़ना, युद्धों में उलझना और एक-दूसरे का रक्त बहाना, अपने को बड़ा दिखाना, दूसरों को तुच्छ ठहराना, वास्तविक या कल्पित शिकायतों के प्रतिकार में अपना धैर्य खो बैठना, आत्म-साक्षात्कार को सदा तब तक के लिए टालते रहना जब तक धन न कमा लिया जाए, इन्द्रिय-उत्तेजना में सुख को निरन्तर खोजते रहना पर कभी न पाना, और अन्ततः घोर निराशा में इन्द्रियों को क्षणिक, कृत्रिम उत्तेजना में डुबो देना तथा एक-दूसरे की निर्बल सहानुभूति में सान्त्वना ढूँढ़ना — क्या इनमें से सब या कोई सुख है; अथवा रूढ़ि की बेड़ियाँ तोड़ डालना, निर्बल असहायता के भाव से ऊपर उठना, सांसारिक चिन्ताओं और लौकिक फिक्रों से मुक्ति पाना, सूर्य के नीचे के प्रत्येक और समस्त प्राणी तथा सहजीव के साथ शान्ति में रहना, चारों ओर सद्भावना और प्रेम बिखेरना, अनियन्त्रित और स्वतन्त्र रहना, प्रकृति के सर्वोच्च उपहार — अर्थात् जीवन — का यहीं और अभी उपभोग करना, मृत्यु, रोग और नियति का स्वामी होना — क्या यह सुख है? क्या हमें दोहराने की आवश्यकता है कि इन दोनों परिस्थिति-समूहों में से किसे सुखी माना जाए?

किसी भारतीय संन्यासी को आलस्य की मूर्ति मानकर आधुनिक सभ्यता के एक समर्थक ने एक बार स्वामी राम तीर्थ से, जब वे अमेरिका की यात्रा पर थे, पूछा:

> **“आप अपना एशियाई आलस्य अमेरिका में क्यों आयात करते हैं? बाहर निकलिए। कुछ भला कीजिए।”***

* ‘भलाई करने’ के उस मूल सिद्धान्त के विषय में, जिसकी चर्चा हमारे पश्चिमी बन्धु इतने चाव से करते हैं, इतना ही कहना है कि वह अभावग्रस्तों की सहायता करने, आहतों की सेवा करने और असुरक्षितों की रक्षा करने तक ही सीमित है — और वह भी तब तक, जब तक वे बल पा लें अथवा अपने पैरों पर खड़े हो सकें, ताकि अस्तित्व के उस प्राणघातक संघर्ष में उतर सकें जो पश्चिम के जीवन की विशेषता है।

परोपकार के मानवीय कार्य के सर्वाधिक मनोहर चित्र में भी दो बातें हमारे सामने तत्काल उभरकर आ जाती हैं, और वे ये हैं: १. निर्धनों की इस कार्य में भाग ले सकने की असमर्थता, और २. दिए गए सहारे की क्षणभंगुरता। अब इनमें से पहली के विषय में यह स्पष्ट है कि जिसके पास न समय है न धन, वह इसमें किसी बड़ी सीमा तक प्रवृत्त नहीं हो सकता; अतः जिन्हें दैनिक श्रम से अपनी जीविका कमानी पड़ती है, वे बिना अपने किसी दोष के, भलाई करने में उल्लेखनीय रूप से भाग लेने से वंचित रह जाते हैं; और दूसरी के विषय में यह स्पष्ट है कि लक्ष्य यह नहीं होता कि परोपकार के पात्र को अभाव से सर्वथा ऊपर उठा दिया जाए, अपितु अधिक से अधिक यह कि उसे जीविका कमाने का मार्ग बता दिया जाए। इसके अतिरिक्त, ऐसे परोपकार के कार्यों से जो भला हो सकता है, वह जीवन के भौतिक पक्ष तक ही सीमित है। परोपकारी आत्मा के मानसिक रोगों और आध्यात्मिक विकारों की चिकित्सा खोजने में उतना ही असमर्थ है जितना चिकित्सक अथवा प्राध्यापक। अन्तिम प्रकार के विकारों में पीड़ित मानवता की सहायता धर्म ही, केवल धर्म ही, कर सकता है और करता है; और परोपकार रोगी में जो कुछ सहानुभूति, शान्ति अथवा प्रफुल्लता जगा या प्रेरित कर पाता है, वह धर्म की उन बिखरी हुई धारणाओं के कारण ही है जिनसे परोपकारी का मन अंकित हो। अतः परोपकार एक आदर्श के रूप में न तो सबके लिए समान रूप से खुला है, न स्थायी कल्याण उत्पन्न करने वाला। जिस धर्म से वह विवाहित है उस तत्त्व को मार डालिए, और परोपकार उसकी चिता पर स्वयं को होम देगा। वह धर्म से जीता है और धर्म के लिए जीता है। किन्तु वह धर्म का स्थान लेने में सर्वथा असमर्थ है, क्योंकि धर्म की आकांक्षा मनुष्यों को इतना योग्य बनाने की नहीं कि वे अस्तित्व के प्राणघातक संघर्ष में उतरकर अपने समस्त अयोग्य बन्धुओं का संहार कर दें, अपितु यह है कि वह उन सबको — योग्य और अयोग्य दोनों को — ईश्वरत्व की सर्वोच्च स्थिति तक उठा दे। अतः परोपकार स्वयं में चाहे कितना ही प्रशंसनीय हो — और वह निश्चय ही उदात्त कार्य है — वह अपने शुद्धतम रूप में धर्म की अपेक्षा क्रिया और उपयोगिता के संकीर्णतर क्षेत्र तक ही सीमित है। इस प्रकार जहाँ धर्म को समर्पित जीवन अनिवार्यतः परोपकार की समस्त गतिविधियों को अपने भीतर समेट लेता है, वहाँ परोपकार सदा धार्मिक निष्ठा और सद्गुण के सुदृढ़ सिद्धान्तों पर आधारित हो, यह आवश्यक नहीं।

स्वामीजी ने उत्तर दिया:—

> **"भलाई करने के विषय में — क्या वह पेशा पहले ही ठसाठस भरा और अत्यन्त भीड़-भाड़ वाला नहीं है? मुझे मेरे हाल पर छोड़ दीजिए, मुझे और मेरे राम (ईश्वर) को। आलस्य, आपने कहा? प्राच्य आलस्य? भला, आलस्य है क्या? क्या यह आलस्य नहीं कि मनुष्य रूढ़ि के दलदल में लोटता रहे, और अपने को रीति या फैशन की धारा में बहने दे, और दिखावे के कुएँ में मृत बोझ की भाँति डूब**

> जाए, और सम्पत्ति के तालाब में फँस जाए, और उस समय को, जो ईश्वर का होना चाहिए, सोना कमाने में लगा दे और उसे भलाई करना कहे? क्या यह आलस्य नहीं कि आप व्यवहार में दूसरों को अपना जीवन जीने दें और वेश-भूषा, भोजन, चलने, सोने, हँसने और रोने में — बोलने की तो बात ही क्या — आपको कोई स्वतन्त्रता ही न हो? क्या यह आलस्य नहीं कि आप अपना ईश्वरत्व ही खो बैठें? यह हड़बड़ी और चिन्ता, यह गर्दन तोड़ने वाली तीव्र उतावली और ज्वरग्रस्त दौड़ किसलिए है? दूसरों की भाँति सर्वशक्तिमान् डॉलर बटोरने के लिए — और फिर क्या? दूसरों की भाँति भोगने के लिए? नहीं, भोग के पीछे दौड़ने में कोई भोग नहीं है। ओ मतों के प्यारे धोखा खाए लोगो, अपना भोग क्यों टालते हो? तुम यहीं, इस प्राकृतिक उद्यान में, इस सुन्दर पर्वतीय निर्झर के तट पर, बैठ क्यों नहीं जाते और अपने सच्चे रक्त-सम्बन्धियों — मुक्त वायु, रजत प्रकाश, क्रीड़ाशील जल और हरी धरती — का संग क्यों नहीं भोगते, उन सम्बन्धियों का, जिनसे वस्तुतः तुम्हारा रक्त बना है? सभ्य जातियाँ जाति-बन्धन में जकड़ी हुई हैं। वे अपने को सहजीवों से अलग कर लेती हैं और मुक्त खुली प्रकृति तथा ताजे, सुगन्धित प्राकृतिक जीवन से निर्वासित करके अपने को बन्द बैठकों में — माँदों और कालकोठरियों में — डाल देती हैं।"

वे स्वयं को इस विशाल संसार से निर्वासित कर लेते हैं, समस्त सृष्टि से अपना बहिष्कार कर लेते हैं, और वनस्पतियों तथा पशुओं से अपने को पृथक् कर डालते हैं। श्रेष्ठता, प्रतिष्ठा, मान और मर्यादा का दम्भ अपने ऊपर ओढ़कर वे अपने को काट-छाँटकर एकाकी जड़ता में डाल देते हैं। दया कीजिए, मेरे मित्रो, अपने ही ऊपर दया कीजिए। संगठित छल के द्वारा अधिक अभावग्रस्त जनों के अधिकार से छीनकर जो धन आपकी सम्पत्ति में जोड़ा गया है, वह आपको इतना ही दे सकेगा कि आप होटलों और मधुशालाओं के जी मिचलाने वाले भोज कर सकें; वह आपको पीला मुख और रूढ़िग्रस्त मुद्रा प्रदान करेगा, आपको 'कमरे' नाम के उन सन्दूकों में बन्दी कर देगा जो कृत्रिमता की दुर्गन्ध से भरे हुए हैं, और आपको सदा उस चित्त-चांचल्य में डाले रखेगा जिसे नाना प्रकार के अस्वाभाविक उत्तेजक — शारीरिक तथा मानसिक — उद्वेलित करते रहते हैं। केवल आत्मवंचना के लिए इतना आडम्बर क्यों? ऐसे कल्पित सुखों के नाम पर वास्तविक आनन्द पर से अपनी पकड़ मत खोइए। इधर-उधर की बातें करने की कोई आवश्यकता नहीं; आइए, इसी 'अब' और 'यहाँ' का आनन्द लीजिए। आइए, मेरे साथ इस घास पर लेट जाइए।

योगी कवि कितना सुन्दर गाता है :—

> "चन्द्रमा उदित हुआ : वे चन्द्रमा को देखते हैं। / मैं तेरी भ्रूलता का प्रकाश पीता हूँ। / वे विशाल मेला भरते हैं, जो देखते-देखते खचाखच भर जाता है। / और मैं तुझे निहारता ही रहता हूँ, हे ज्योति के स्रोत। / नहीं, किसी शल्य-चिकित्सक को, किसी वैद्य को मत बुलाओ, / मेरे लिए तो मेरी पीड़ा ही

> **समूचा आनन्द है। / विदा, हे नगरवासियो; हे नगरो, विदा! / ओ मादक, नभोमय ऊँचाइयो, तुम्हारा स्वागत है!**

हे फ़ैशन और प्रथा, हे पुण्य और पाप, / हे विधान, हे रूढ़ि, हे शान्ति और संग्राम, / हे मित्रो और शत्रुओ, हे सम्बन्धियो, हे बन्धनो, / हे परिग्रह, हे राग, हे अन्याय और न्याय, / विदा; हे काल और देश, विदा; / विदा, हे संसार, हे दिन और हे रात्रि; / मेरा प्रेम पुष्प है, संगीत है, प्रकाश है। / मेरा प्रेम दिन है, मेरा प्रेम रात्रि है, / मुझमें समस्त तम और आलोक विलीन हो गए। / ओह, कैसी शान्ति, कैसा आनन्द! / ओह, मुझे अकेला छोड़ दो — मैं और मेरा प्रियतम, / विदा, विदा, विदा।" —राम।

यही योगी की विदा-वाणी है, जब वह मिथ्या जगत् का परित्याग करके यथार्थ में लीन हो जाता है। यह उस आत्मा का संगीत है जिसने जन्म-मरण के इस संसार की मायावी प्रकृति को पहचान लिया है और अश्रु-घाटी के परे स्थित उस आनन्दमय गृह की एक झलक पा ली है।

आध्यात्मिकता के सुन्दर श्वेत वधू-वस्त्रों से सुसज्जित, कुँआरी पवित्रता के आभामण्डल से आवृत, कुमारी-प्रेम की मधुरतम आकांक्षाओं की पूर्ति की आशा से लज्जारुण, पिता, माता, भ्राता, भगिनी तथा संसार के अन्य विक्षेपकारी बन्धनों को विस्मृत करके, बाल्यावस्था के खिलौनों, वस्तुओं और अन्य आकर्षणों से मुँह मोड़कर, गोपिकाओं की भाँति उस गोपाल* के सर्वग्रासी प्रेम के मधुर ध्यान में निमग्न, एक हाथ में शुद्ध विचारों के नारंगी-पुष्पों का गुच्छ लिए और दूसरे में ज्ञान (सच्ची प्रज्ञा) का वह दीपक लिए जो सदा सँवारा हुआ और इस बात के लिए प्रस्तुत रहता है कि वर के आते ही उसके चरणों को उसकी ओर मार्ग दिखा सके, योगी की आत्मा अपने प्रभु के साथ मिलन के लिए स्वयं को तैयार करती है। उसे न कोई भय है, न कोई व्याकुलता, न उसके आगमन में कोई सन्देह; और दीपक निरन्तर जलता रखा जाता है, कहीं ऐसा न हो कि वधू-कक्ष को अन्धकार में डूबा देखकर वह लौट जाए। तेल के अपव्यय का विचार तक प्रेम की भावना के लिए अपरिचित है। इससे तो यही अच्छा कि संसार भर का तेल प्रभु की प्रतीक्षा और प्रहरी-जागरण में जल जाए, बनिस्बत इसके कि प्रेम में तनिक भी निराशा हो। वर केवल अखण्ड प्रेम चाहता है; वह अपने प्रेम-प्रसंगों में अत्यन्त ईर्ष्यालु है, और लोभ तथा आसक्ति की मूर्तियों को अपने विरुद्ध प्रबल नहीं होने देता। गणना करने वाली वणिक्-वृत्ति का सूक्ष्मतम आभास पाते ही वह वधू-कक्ष से मुख फेर लेता है। यदि वधू को तेल के क्षय का भय हो, अथवा वह अपने आलस्य को अपने प्रेम पर हावी होने दे, तो वर को भी ऐसी वधू के संसर्ग-दोष का भय होता है। "इसलिये जागते और प्रार्थना करते रहो; क्योंकि तुम नहीं जानते कि वह समय कब आएगा" (—मरकुस १३:३३)। यीशु द्वारा कही गई दस कुमारियों के दृष्टान्त (—मत्ती २५:१-१२) से यही सुन्दर शिक्षा ग्रहण करनी है।

* कृष्ण अथवा क्राइस्ट (Christos)।

यदि आप वास्तविक सुख चाहते हैं, तो वह आपको केवल एकाग्रता के सम्यक् प्रयोग से ही प्राप्त होगा। जब तक आप सांसारिक भाग-दौड़ के अपने मिथ्या आदर्शों का त्याग नहीं करते, तब तक आप स्वयं ही अपने मार्ग में बाधक बने रहते हैं और अपने को सच्चे आनन्द से वंचित रखते हैं। ठीक-ठीक समझा जाए तो मनुष्य-जाति की वैयक्तिक शक्तियाँ एक-दूसरे के उत्थान के लिए अमूल्य सहायक बनाई जा सकती हैं, और हमारी आधुनिक सभ्यता तक आगे की प्रगति का साधन बनाई जा सकती है, बशर्ते हम उसके भावी विकास को उन्हीं रेखाओं पर मोड़ें जो वास्तविक मनुष्य की आध्यात्मिक आवश्यकताओं के अनुकूल हों।

जहाँ तक सभ्यता के अपने कार्यक्षेत्र का सम्बन्ध है, हम उसकी तनिक भी निन्दा नहीं करते। उसके अपने गुण हैं, और उसने कतिपय बातों में जनसाधारण की दशा सुधारने में बहुत कुछ किया है। किन्तु हमें जातीय और वैयक्तिक हितों के भेद को दृष्टि से ओझल नहीं करना चाहिए, और न स्वास्थ्य-रक्षा तथा सफ़ाई को मुक्ति के साथ गड्डमड्ड करना चाहिए। पतन को तो हम में से प्रत्येक को व्यक्तिगत रूप से ही उलटना होगा; जातीय सभ्यता इस दिशा में हमारी अधिक सहायता नहीं कर सकती। सभ्यता किसी राष्ट्र को समूह रूप में स्वर्ग में नहीं ले जाएगी; क्योंकि उसके द्वार केवल व्यक्तियों के लिए खुलते हैं, जातियों के लिए नहीं। हमारी जिन गर्वोक्ति-योग्य रेलों, तारों तथा वैज्ञानिक यन्त्रों और आविष्कारों से हमारी सभ्यता — अथवा कम से कम उसका बहुत बड़ा भाग — बनी है, वे सब मात्र राष्ट्रीय समृद्धि-वृद्धि के साधन हैं; व्यक्ति के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे कोई विशुद्ध, निष्कलंक सुख लाए हों। और यदि इन विचारों में उन अभागे प्राणियों की लम्बी सूची भी जोड़ लें जो सभ्यता की इस यात्रा के बलि-पशु बने हैं, तथा उनकी भी जो विज्ञान और संस्कृति के जगन्नाथ-रथ के पहियों के नीचे कुचल दिए गए हैं, तो हम आधुनिक प्रगति का सही-सही मूल्यांकन करना सीख जाएँगे।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि सभ्यता को ऐसा बनाया जा सकता है कि वह व्यक्तियों और जनसमूहों — दोनों का उत्थान करे और मनुष्यों के बड़े-बड़े समुदायों को सामूहिक रूप से लाभ पहुँचाए। सामूहिक उपासना की कल्पना यह स्पष्ट कर देती है कि यह कैसे सम्भव है; क्योंकि एकमत व्यक्तियों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ एकाग्रता की शक्ति भी बढ़ती जाती है। सार्वजनिक उपासना का उद्भव सामूहिक एकाग्रता की इसी भावना से हुआ है।

इसका एक दृष्टान्त पवित्र बाइबिल के 'प्रेरितों के काम' नामक ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में मिलता है, जिसका आरम्भ यीशु के प्रेरितों की एकाग्रता की उस स्थिति के वर्णन से होता है जब वे सब एक ही स्थान में एक ही चित्त से एकत्र थे, और जिसका अन्त उन अद्भुत परिघटनाओं के वर्णन से होता है जो पिन्तेकुस्त के दिन घटित हुईं। ऐसी ही परिघटनाएँ यज्ञ के अवसरों पर घटा करती थीं। इस प्रकार की परिघटनाओं की व्याख्या करते हुए स्वामी राम तीर्थ कहते हैं :—

> **"राम आपसे कहता है कि आपके शास्त्र यज्ञ-अनुष्ठानों के अवसर पर देवताओं के प्रत्यक्ष हो जाने के विषय में जो कुछ कहते हैं, वह सचमुच अक्षरशः सत्य है। किन्तु इससे केवल सामूहिक एकाग्रता की शक्ति ही सिद्ध होती है। मनोविज्ञान की नवीनतम खोजें यह दिखाती हैं कि एकाग्रता का प्रभाव उस अवसर पर उपस्थित एकमत व्यक्तियों की संख्या के वर्ग के अनुपात में बढ़ता है। सत्संग का यही गुण है। अब, यदि राम अकेला ही जिस भाव को चाहे मूर्त कर सकता है, तो एक ही मन्त्र का उच्चारण करते हुए, एक ही रूप का चिन्तन करते हुए, एकमत सैकड़ों-हज़ारों व्यक्ति उसे मूर्त करने में कितनी अधिक सहायता न कर सकेंगे?"**

जिस कारण से हमारी सामूहिक उपासना आजकल कोई बड़ा फल उत्पन्न करने में असमर्थ है, वह यह है कि लोगों में एकाग्रता की शक्ति का अभाव है। जो दर्जनों व्यक्ति प्रायः मस्जिदों में नमाज़ पढ़ते हैं अथवा गिरजाघरों में उपासना में सम्मिलित होते हैं, उनमें से किन्हीं दो के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि उनके चित्त एक ही भाव पर एकाग्र हैं। सिख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक के विषय में कहा जाता है कि एक दिन उन्हें कुछ मुसलमानों ने अपने साथ मस्जिद चलकर नमाज़ में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया। किन्तु वहाँ पहुँचकर वे अलग खड़े रहे और उनकी नमाज़ में सम्मिलित नहीं हुए; और जब उनसे इस रहस्यमय आचरण का स्पष्टीकरण माँगा गया, तो उन्होंने उत्तर दिया कि उन्हें ऐसे लोगों के साथ प्रार्थना करने का अभ्यास नहीं है जिनके मन प्रार्थना के समय अफ्रीका में घोड़े बेचने में लगे हुए हों। इस पर प्रश्न करने वाले ने स्वीकार किया कि उसका मन उसकी नमाज़ में नहीं, वरन् सचमुच अफ्रीका में अपने घोड़ों के पास था। इस कथा का सार यह है कि जब तक आप अपने चित्त को उतने समय के लिए अन्य सब विचारों से विरत न कर सकें, तब तक प्रार्थना करना व्यर्थ है। जब आपके 'घोड़े' कुछ क्षणों की थोड़ी-सी अवधि तक भी प्रतीक्षा नहीं कर सकते, तो ईश्वर भी आपकी प्रतीक्षा नहीं करेगा।

क्या धर्म में श्रद्धा का अभाव और 'अफ्रीका के घोड़ों' में कुछ अधिक ही रुचि हमारे बीच व्याप्त बुराई का कारण नहीं है? जब तक हम अपने को ईश्वर से दूर बहते जाने देते हैं, तब तक गिरजाघर जाना निरा उपहास मात्र है। जब हम ईश्वर की उपासना करने जाएँ, तो शुद्धतम हृदय और अखण्ड ध्यान के साथ

जाएँ। जब हम प्रभु के भवन में उपस्थित हों, तो हमें अपना ध्यान अनीश्वरीय वस्तुओं पर लगाकर उनका अपमान नहीं करना चाहिए। यह समझ लेना उपयोगी होगा कि मन्दिर, गिरजाघर और उपासना के अन्य स्थान किस कारण अस्तित्व में आए। 'राज योग' (The Raja Yoga) का निम्नलिखित अंश इस विषय की एक उचित व्याख्या प्रस्तुत करता है :—

> **"आप में से जो इसका व्यय उठा सकते हैं, उनके लिए यह अच्छा होगा कि इस (योग-) अभ्यास के लिए एक अलग कमरा रखें; उस कमरे में सोइए मत, उसे पवित्र रखना चाहिए; जब तक आप स्नान करके शरीर और मन से पूर्णतया स्वच्छ न हो जाएँ, तब तक उस कमरे में प्रवेश न कीजिए। उस कमरे में सदा पुष्प रखिए; योगी के लिए वही श्रेष्ठतम परिवेश है; ऐसे चित्र भी रखिए जो मन को प्रसन्न करने वाले हों। प्रातः और सायं धूप जलाइए। उस कमरे में न कलह हो, न क्रोध, न अपवित्र विचार। केवल उन्हीं व्यक्तियों को उसमें आने दीजिए जो आपके ही समान विचार वाले हों। तब धीरे-धीरे उस कमरे में पवित्रता का वातावरण बन जाएगा, और जब आप दुखी, शोकाकुल अथवा सन्देहग्रस्त हों, या आपका चित्त विक्षुब्ध हो, तब उस कमरे में प्रवेश करने मात्र से आप शान्त हो जाएँगे। मन्दिर और गिरजाघर की कल्पना यही थी। ... भाव यह है कि वहाँ पवित्र स्पन्दन बनाए रखने से वह स्थान आलोकित हो उठता है और आलोकित बना रहता है।"**

उपासना के कितने स्थान आज तक अपनी पवित्रता सुरक्षित रख सके हैं, यह पूछने की आवश्यकता नहीं। अपनी पवित्रता की चर्चा करना तब तक व्यर्थ है जब तक यह भली-भाँति विदित है कि गिरजाघर की रविवारीय उपस्थिति विशुद्ध रूप से फ़रीसी-पाखण्ड का कर्म है, जिसका उद्देश्य अपने साथी मनुष्यों की दृष्टि में पवित्र समझा जाना है। जब गिरजाघर में पुरुष सुन्दर स्त्री-मुखों की खोज में इधर-उधर दृष्टि दौड़ाते हैं, और सुन्दरियों की आँखें प्रायः अपनी पड़ोसिनों की नई टोपियों और वस्त्रों पर समीक्षक भाव से टिकी रहती हैं, तब प्रभु के भवन में जाना निरा उपहास मात्र है।

अब हम कर्मफल के प्रति अनासक्ति के सिद्धान्त पर विचार कर सकते हैं। यहाँ भी उद्देश्य आत्मा को उसकी सांसारिक वासनाओं से मुक्त करना ही है। जड़ता से बचने के लिए कर्म तो हम सभी को करना ही होगा, किन्तु यह आवश्यक है कि हम अपने सुख को उसके फल पर आश्रित न करें। धर्म में 'कर्म' का अभिप्राय उससे बहुत भिन्न है जो हम साधारणतया इस शब्द से समझते हैं। धार्मिक अर्थ में कर्म से न तो धन के पीछे भागने वाले श्रमी की पिष्टपेषक मज़दूरी अभिप्रेत है, और न लाभ के निमित्त किया गया मानसिक अथवा शारीरिक परिश्रम। स्वामी राम तीर्थ कहते हैं, "वेदान्त में कर्म का अर्थ सदा वास्तविक आत्मा के साथ सामंजस्यपूर्ण स्पन्दन और विश्व के साथ एकतानता है। एक ही यथार्थ के साथ यह

निःस्वार्थ मिलन, जो अकेला ही सच्चा कर्म है, प्रायः 'अकर्म' अथवा आलस्य का नाम पाकर लांछित किया जाता है।" आध्यात्मिक 'कर्म' का अर्थ निश्चय ही किसी सांसारिक लाभ के लिए श्रम करना नहीं है। धर्म में कर्म का वास्तविक अभिप्राय अपने ही शुद्ध आत्मा का चिन्तन है, और शिष्यत्व की प्रारम्भिक अवस्थाओं में निम्न प्रकृति अर्थात् कषायों और वासनाओं पर विजय है। रहस्यवाद के अनुसार :—

> **"अर्हत्-पद की शर्त है — बिना किसी वैयक्तिक प्रतिफल के अविराम क्रियाशीलता; अर्हत् को सबको प्रकाश देना है, किन्तु किसी से कुछ लेना नहीं। ऊर्ध्व आरोहण में एक के बाद एक वासना का बन्धन खोलना पड़ता है — वैयक्तिक भोग की वासना, वैयक्तिक सुख की, वैयक्तिक लाभ की, वैयक्तिक प्रेमों की, वैयक्तिक उपलब्धियों की, और सबसे अन्त में तथा सबसे सूक्ष्म — वैयक्तिक पूर्णता की वासना; क्योंकि वैयक्तिक आत्म को उस एक आत्मा में विलीन हो जाना है, अर्थात् उस आत्मा में जो समस्त प्राणिमात्र का आत्मा है।"**

अपनी क्षुद्र लालसाओं की तृप्ति के लिए लाभ हेतु परिश्रम तो केवल मज़दूर ही करता है। गुरु कभी सांसारिक लाभ के लिए श्रम नहीं करता; अपने सच्चे आत्मा का उपभोग ही उसके लिए पर्याप्त कर्म है। कर्म का उद्देश्य वासनाओं का त्याग है, क्योंकि वे ही हमें भ्रम में उलझाए रखती हैं। आदम और हव्वा की कथा में भले-बुरे के ज्ञान की वासना ही पतन का तात्कालिक कारण थी। वासना पूर्णता के अभाव की स्वीकृति है, और "जैसा आप सोचते हैं, वैसे ही आप हो जाते हैं" — इस नियम के बल से वह न्यूनता की उस दशा को प्रत्यक्ष, परिघटनात्मक जगत् में मूर्त कर देती है। पूर्ण में कोई वासना नहीं हो सकती। हमारी वर्तमान दयनीय दशा हमारी मिथ्या धारणाओं और दुर्बलता की स्वीकृति का ही परिणाम है, और जिस क्षण हम अपने ईश्वरत्व अथवा सच्चिदानन्दत्व का साक्षात्कार कर लेंगे, उसी क्षण वह विलीन हो जाएगी। आत्मा की स्वाभाविक पूर्णता तभी तक छिपी रहती है जब तक हम कर्मफल के प्रति आसक्ति का त्याग नहीं करते। जब आप सम्यक् दृष्टि अपनाएँगे, तब आप सांसारिक आसक्तियों को स्वप्न के सुन्दर किन्तु मिथ्या पदार्थों के प्रति प्रेम के समान देखेंगे। स्मरण रखिए, असत् से प्रेम अवश्य ही दुःख और शोक उत्पन्न करता है। यह जानते हुए क्या आपको उनसे प्रेम करना चाहिए? यही रहस्य है। निर्वैयक्तिक भाव से किया गया कर्म सर्वोच्च श्रेय का है। जिस क्षण हम अपने सुख को हाथ में लिए हुए कर्म के फल पर दाँव पर लगा देते हैं, उसी क्षण चित्त अपनी प्रशान्ति खो बैठता है और बुद्धि अपनी दूरदर्शिता। यह एक पुराना सिद्धान्त है, और लिटन (Lytton) के 'ज़ेनोनी' (Zanoni) नामक रोचक उपन्यास में भली-भाँति प्रकट किया गया है। जब तक ज़ेनोनी संसार को मात्र एक दर्शक की भाँति देखता रहा, तब तक वह मनुष्य-जाति के भाग्य को पढ़ सकता था और घटनाओं को अपनी इच्छानुसार ढाल सकता था; किन्तु

जिस क्षण वह सुन्दर किन्तु दुर्बल और सन्देहशील वायोला (Viola) के प्रेम में पड़ा, उसी क्षण वह उसके स्तर पर उतर आया, शक्तियों और तत्त्वों पर से अपना अधिकार खो बैठा, और उस वीभत्स दानव — देहली के निवासी — को अपने विचारों पर छा जाने से न रोक सका।

व्यवहार में कर्मफल के प्रति अनासक्ति के सिद्धान्त का अर्थ कषायों और वासनाओं का निग्रह ही होना चाहिए, अन्यथा वह कर्तव्य और धर्म के नाम पर इन्द्रियों के निर्बाध भोग की छूट बन जाएगा। क्योंकि समस्त मानवीय क्रियाओं का मूल प्रेरक व्यक्तिगत हेतु ही है, अतः जहाँ दुष्कर्म का स्वयं ही सर्वथा परित्याग न किया गया हो, वहाँ कर्मफल के प्रति अनासक्ति की बात करना व्यर्थ है। वस्तुतः कोई मनुष्य वह कर्म कभी नहीं करता जिसमें किसी न किसी रूप में उसकी रुचि न हो; अतः दुष्कर्मों का चलते रहना अन्ततः व्यक्तिगत रुचि और वासनाओं तक ही जा पहुँचता है। इसके अतिरिक्त, आत्मा के लिए अपनी आध्यात्मिक प्रगति की एक निश्चित अवस्था पर यह भी अनिवार्य है कि वह परम श्रेय की प्राप्ति के लिए सांसारिक कर्तव्य-बोध से ऊपर उठ जाए। तब साधक इतना भी सामर्थ्य नहीं रखता कि किसी मृत माता-पिता को गाड़ने के लिए ही संसार में लौट आए (तुलनीय —मत्ती ८:२२), यद्यपि सांसारिक कर्तव्य-बोध निःसन्देह उसी ओर संकेत करता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त का अभिप्राय कषायों और वासनाओं का निग्रह है, न कि धर्म के छद्म में उनका निर्बाध भोग।

इस विषय पर विचार करते समय इन्द्रिय-भोग का सत्य समझ लेना उपयोगी है। प्रश्न यह है : भोग का अनुभव इन्द्रिय-विषयों में है अथवा मन में? दूसरे शब्दों में, इन्द्रिय-विषयों के सम्बन्ध में जिस सुख अथवा दुःख की संवेदना मनुष्य अनुभव करता है, वह मन के भीतर है या उसके बाहर?

अब, यदि भोग अथवा कष्ट का अनुभव, अर्थात् सुख और दुःख, विषयों का धर्म होता, तो स्पष्ट है कि उनसे प्रत्येक व्यक्ति एक ही प्रकार से प्रभावित होता; किन्तु यह सर्वविदित है कि एक ही विषय से सब व्यक्ति एक-सा प्रभावित नहीं होते। स्वादिष्टतम भोजन भरे पेट पर नीरस लगता है और रोग में कड़वा तथा घृणित; जबकि भूख किसी साधारण-सी पकी हुई वस्तु को भी चटनी का-सा स्वाद दे देती है। 'रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं' — यह कहावत बहुत पुरानी है, किन्तु उसकी आयु से उसकी सत्यता क्षीण नहीं होती। यदि स्वाद भोजन का धर्म होता, तो मनुष्यों में उसके उपभोग में कोई भेद न होता। किन्तु चूँकि सब व्यक्ति एक ही भोज्य पदार्थ का एक-सा उपभोग नहीं करते, अतः यह सिद्ध होता है कि स्वाद भोजन में नहीं, वरन् उसके प्रति मन की वृत्ति में है। स्वाद की इन्द्रिय के सन्दर्भ में सुख अथवा दुःख के उपभोग के विषय में जो सत्य है, वही इन्द्रिय-भोग के अन्य सब रूपों के विषय में भी सत्य है। एक ही विषय से भिन्न-भिन्न व्यक्ति सुख और दुःख के भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त करते हैं। एक पुरुष किसी सुन्दरी को

कर्तव्यनिष्ठ पुत्र के श्रद्धामय प्रेम से देखता है, दूसरा उसे पुत्री के रूप में देखता है, तीसरा उससे पत्नी के रूप में प्रेम करता है, जबकि चौथा उसके सौन्दर्य से मोहित होकर उसके प्रति काम-वासना के विचार रखता है। स्पष्ट है कि इनमें से प्रत्येक व्यक्ति को उसके व्यक्तित्व से जो सुख मिलता है वह अन्य सबसे भिन्न है, और फिर भी भोग का विषय एक ही है। पुनः, यदि वह कोई कुत्सित स्वभाव प्रकट कर दे अथवा शीलभ्रष्ट हो जाए, तो उससे प्राप्त होने वाला समस्त सुख घृणा में बदल जाता है। कभी-कभी स्वप्न में मनुष्य ऐसे सुखों का अनुभव करता है कि उस भोग की अनुभूति जागृत अवस्था में भी बहुत देर तक शेष रह जाती है। अतः योगी का मत है कि सुख और दुःख इन्द्रिय-विषयों में नहीं, केवल मन में ही हैं,* और उस वृत्ति से निर्धारित होते हैं जो मन उनके प्रति धारण करता है। यह जानकर वह संसार के सुखों की खोज त्याग देता है और सच्चे आनन्द के स्रोत के ही आनन्दों के उपभोग में निमग्न हो जाता है।

* हमारा अभिप्राय यह नहीं समझा जाना चाहिए कि हम भौतिक वस्तुओं में कतिपय भौतिक गुणों और रासायनिक क्रियाओं का निषेध करते हैं; अभिप्राय केवल इस बात का निषेध है कि सुख और दुःख उनमें उस मन से स्वतन्त्र रूप से रहते हैं जिसके कि वे दोनों वस्तुतः विकार हैं।

इन्द्रिय-आकर्षण केवल इतना ही करते हैं कि जीवन-बोध को उस भौतिक शरीर तक सीमित रखते हैं जिससे हमें छूटना है। हमें अपने को शरीर के साथ तादात्म्य देने से इनकार करना चाहिए; और मन ही मन उस राजोचित पद पर अपना अधिकार जताना चाहिए जो अधिकारपूर्वक हमारा अपना है। यदि हम थोड़ी-सी देर के लिए भी अपने को इस वृत्ति में स्थित कर सकें, तो हमें अनुभव होगा कि योगी के आनन्द की समता संसार के समस्त राजाओं का सारा वैभव, आडम्बर और शक्ति-प्रदर्शन भी नहीं कर सकता।

अब इस वचन का अभिप्राय समझना सरल है : "और जिस किसी ने घरों, या भाइयों, या बहनों, या पिता, या माता, या पत्नी, या बच्चों, या खेतों को मेरे नाम* के लिये छोड़ दिया है, उसे सौ गुना मिलेगा, और वह अनन्त जीवन का अधिकारी होगा" (—मत्ती १९:२९)। इसका सीधा अर्थ यह है कि इन्द्रिय-सुखों तथा उन बन्धनों को त्याग देने से जिनसे हम संसार से बँधे हैं, हम आत्म-साक्षात्कार के शतगुण आनन्द के उत्तराधिकारी बनते हैं और शाश्वत जीवन में प्रवेश पाते हैं।

* 'यीशु' शब्द का अर्थ आत्मा है (देखिए अगला अध्याय); अतः इस वचन का अभिप्राय यह है कि जिस किसी ने अपनी आत्मा के कल्याण के लिए घर, सम्बन्धी और अन्य सांसारिक वस्तुएँ त्याग दी हैं, वह अपने आगामी जन्मों में शतगुण समृद्धि भोगेगा और अन्ततः निर्वाण भी प्राप्त करेगा।

आधुनिक मनोविज्ञान ने यह तथ्य सिद्‌ध कर दिया है कि एक ही उद्दीपन जब संवेदन की भिन्न-भिन्न नाड़ियों पर लगाया जाता है तो उन्हीं के अनुरूप विशिष्ट संवेदनाएँ उत्पन्न करता है; जैसे, जब विद्युत् धारा श्रवण-नाड़ी पर क्रिया करती है तो ध्वनि सुनाई देती है, और जब वही रसना-नाड़ी पर लगाई जाती है तो स्वाद की संवेदना होती है, इत्यादि। यह भी सिद्‌ध किया जा चुका है कि एक ही नाड़ी पर भिन्न-भिन्न उद्दीपन लगाने से उसी नाड़ी की विशिष्ट संवेदनाएँ ही जागती हैं; उदाहरणार्थ, दृक्-नाड़ी पर चाहे जिस प्रकार का उद्दीपन लगाया जाए, वह रंग और आकार का ही बोध कराएगी। इसके अतिरिक्त, इच्छा भी आन्तरिक एकाग्रता के द्वारा संवेदी नाड़ियों को प्रभावित करने में समर्थ है। इसके प्रमाण में हम उस परिचित उदाहरण का उल्लेख कर सकते हैं कि भाप उड़ाते हुए व्यंजन को देखकर मुँह में पानी भर आता है। तीव्र क्षुधा की दशा में तो पकते हुए भोजन का वास्तविक स्वाद तक मुँह में अनुभव किया और चखा जाता है। इसी प्रकार, प्रिय का नाम मात्र सुनने से रक्त शिराओं में सिहरन के साथ दौड़ने लगता है, और कभी-कभी वही 'विद्युत्'-सी झनझनाहट भी उत्पन्न कर देता है जो प्रायः उसके स्पर्श से उत्पन्न होती है। योगी यह सब भली-भाँति जानता है और इच्छानुसार कोई भी संवेदना उत्पन्न कर सकता है। किन्तु उसका आदर्श उसे मात्र इन्द्रिय-विकारों से ऊपर उठा देता है; वह तो केवल उस आनन्द-सिहरन से प्रेम करता है जो पूर्णता और सम्पूर्णता का लक्षण है। वास्तविक आनन्द के सचेत उपभोग में उसे मानो ये शब्द रोकना कठिन हो जाता है — "सुखी, सुखी; मैं सुखी हूँ" — जो निरन्तर उसके अधरों पर आते रहते हैं। सूर्य के नीचे का कोई भी राजैश्वर्य ऐसे किसी अनुभव का दावा नहीं कर सकता। संसार पढ़ता है, 'धन्य हैं वे जो मन के दीन हैं, क्योंकि स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है', किन्तु उसका साक्षात्कार और उपभोग योगी ही करता है। मनुष्य ईश्वर की केवल अस्पष्ट चर्चा करते हैं, किन्तु योगी अपने को दिव्य पद का भोक्ता जानता है और अपने ही हृदय को 'दिव्य हृदय' के साथ एक लय में धड़कता हुआ अनुभव करता है। यही प्रगति की सर्वान्तिम अवस्था है। जब साधक इस अवस्था में प्रतिष्ठित हो जाता है, तब कहा जाता है कि उसने समाधि (अर्थात् आनन्दमय समाधि-अवस्था) प्राप्त कर ली।

> **"जब तू उस अवस्था तक पहुँच जाता है, तब वे द्वार जिन्हें तुझे मार्ग पर जीतना है, तुझे जाने देने के लिए अपने कपाट चौड़े खोल देते हैं, और प्रकृति की प्रबलतम शक्तियों में भी तेरी गति रोकने का सामर्थ्य नहीं रहता।" ('द वॉइस ऑफ़ द साइलेंस' — The Voice of the Silence)**

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्‌धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, 'द वॉइस ऑफ़ द साइलेंस' किसी प्राचीन बौद्‌ध या तिब्बती ग्रन्थ का अनुवाद नहीं, वरन् एच० पी० ब्लावट्स्की (H. P. Blavatsky) की उन्नीसवीं शताब्दी की मौलिक थियोसोफ़िकल रचना मानी जाती है।

वह उपलब्धि के शिखर का स्पर्श कर चुका है, और विजेता की भाँति विजयी खड़ा है; उसका चित्त शान्त और असीम महासागर के समान अनन्त आकाश में फैला हुआ है, और जीवन तथा मृत्यु की शक्तियाँ उसके हाथ में हैं। संसार जिन्हें चमत्कार समझता है, वे उसकी शक्तियों के अत्यन्त साधारण प्रकाशन मात्र हैं। उसके व्यक्तित्व से सबकी ओर सद्गुण प्रवाहित होता है; वह चारों ओर सद्भाव और शान्ति के विकिरण का केन्द्र बन जाता है। मानव-जाति के अतीत उद्धारकों द्वारा किए गए समस्त अद्भुत चमत्कार योग में विकसित शक्तियों की सहायता से ही किए गए थे। आजकल हम चमत्कारों की कल्पना का सर्वथा उपहास करते हैं, क्योंकि हम कोई चमत्कार देखते नहीं; किन्तु अपने ही अज्ञान के अतिरिक्त संकोच करने योग्य और कुछ नहीं है। मनुष्य का अज्ञान ही अलौकिक को गढ़ता है; वस्तुतः सब कुछ स्वाभाविक है। जब किसी कार्य के कारण छिपे और अज्ञात होते हैं, तब संसार उसे चमत्कार मानता है; जब वे ज्ञात हो जाते हैं, तब वही स्वाभाविक घटना समझा जाता है। हम चमत्कारों की निन्दा करें ही क्यों? सूर्य के नीचे असम्भव क्या है? अपने चारों ओर दृष्टि डालिए — क्या सब वस्तुएँ, वह बोध-शक्ति जो आपको प्रकृति का ज्ञान और उस पर अधिकार प्राप्त करने में समर्थ बनाती है, नहीं वरन् आपका जीवन ही, चमत्कार नहीं हैं? एक शताब्दी पूर्व हम बेतार के तार को महान् चमत्कार मानते, किन्तु अब हम उसे उस दृष्टि से नहीं देखते। एक दम्पति की कथा है जिन्हें कुछ कारणों से ऐसे लोगों के बीच रहना पड़ा जो पढ़ने-लिखने की कला से सर्वथा अनभिज्ञ थे। उनमें से एक अपने घर से दूर अपने खेत में था, और किसी काम में लगे हुए उसे अपने घर से एक विशेष औज़ार की आवश्यकता पड़ी। आस-पास कोई ऐसा न था जिस पर यह भरोसा किया जा सके कि वह औज़ार का नाम स्मरण रखेगा अथवा उसकी पत्नी को उसका वर्णन कर सकेगा। अतः उसने लकड़ी का एक छोटा-सा टुकड़ा लिया, कोयले के एक अंश से उस पर सन्देश लिख दिया, और एक व्यक्ति से कहा कि वह उसे उसकी पत्नी तक पहुँचा दे। उस व्यक्ति के विस्मय की कल्पना कीजिए, जब उस लिखावट वाले टुकड़े को दिखाने पर उसे ठीक वही औज़ार दे दिया गया जिसकी आवश्यकता थी। वह इतना चकित हुआ कि उसने उस अद्भुत टुकड़े को धागे में पिरोकर अपने गले में धारण कर लिया!

सन्तों के चमत्कारों के प्रति हमारा आश्चर्य और अविश्वास भी कुछ इसी प्रकार का जान पड़ता है; क्योंकि जैसे उस कथा के लोगों ने लेखन द्वारा सन्देश-प्रेषण को चमत्कारिक माना, वैसे ही हम बीसवीं शताब्दी के सभ्य लोग महावीर, यीशु और अन्य महापुरुषों के कतिपय कर्मों को अलौकिक मानते हैं। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि जैसे उस कथा के लोगों के आश्चर्य का कारण पढ़ने-लिखने की कला में उनका पिछड़ापन था, वैसे ही हमारे आश्चर्य, अविश्वास और सन्देह का कारण प्रकृति के उस बल अथवा उन बलों का हमारा अज्ञान हो जिनका प्रयोग ऋषियों और सन्तों ने अपने अद्भुत कर्म करने में किया? क्या विज्ञान

का ज्ञाता चुम्बकत्व और विद्युत् के रहस्यमय गुणों का प्रदर्शन करके हमें चकित नहीं कर देता? जो लोग प्रकृति के इन दो बलों की अद्भुत शक्तियों से परिचित हैं, उन्हें यह स्वीकार करने में कठिनाई न होगी कि यदि कोई इन पर पूर्ण अधिकार स्थापित कर सके तो वह उन अधिकांश चमत्कारों को कर सकेगा जो बीते युगों में हमारी जाति के उद्धारकों के प्रति आरोपित किए जाते हैं। जब हमें स्मरण आता है कि चट्टान, मिट्टी और अन्य ठोस पदार्थ के अनगिनत करोड़ों टन, जिनसे हमारा यह लोक बना है, केवल आकर्षण के बल से आकाश में अधर लटके हुए हैं, तब हम किसी 'चुम्बकीय' व्यक्तित्व के लिए खुली सम्भावनाओं पर आश्चर्य न करेंगे। और आख़िर, चुम्बकत्व किसी द्रव्य के कणों की व्यवस्था के परिवर्तन के अतिरिक्त और है ही क्या? जब इस्पात की छड़ को चुम्बकित किया जाता है, तब वह कुछ ऐसे गुण प्रकट करती है जो चुम्बकीकरण से पूर्व उसमें क्रियाशील न थे, और फिर भी उसमें न कुछ जोड़ा गया है, न घटाया गया। हमें यह बताया जाता है कि —

> **"चुम्बक में कणों की व्यवस्था और साधारण इस्पात या लोहे में कणों की व्यवस्था के बीच के अन्तर की उपमा अण्डों की दो पेटियों में भरने की व्यवस्था के अन्तर से दी जा सकती है — पहली में (जो चुम्बक के तुल्य है) अण्डे सावधानी से रखे गए हैं, अगल-बगल पड़े हुए, एक-दूसरे के तथा पेटी की दीवारों के समानान्तर, और उनके छोटे सिरे सब एक ही दिशा में मुड़े हुए हैं, अतः वे बगल वाले अण्डे के बड़े सिरे को छूते हैं; जबकि दूसरी में (साधारण लोहा या इस्पात), जो बुरी तरह भरी गई है, अलग-अलग अण्डे एक-दूसरे के सापेक्ष सब प्रकार की स्थितियों में और पेटी की दीवारों से सब प्रकार के झुकाव-कोणों पर पड़े हैं।"***

* 'द न्यू पॉपुलर एन्साइक्लोपीडिया' (The New Popular Encyclopædia), 'मैग्नेटिज़्म' (Magnetism) नामक लेख।

यह माना जाता है कि अचुम्बकित छड़ में लोहे के प्रत्येक कण में दो चुम्बकीय द्रवों की समान मात्राएँ रहती हैं, जिन्हें धनात्मक और ऋणात्मक कहा जाता है और जिनमें परस्पर आकर्षण होता है; किन्तु ये द्रव कण के भीतर घनिष्ठ रूप से संयुक्त रहते हैं और एक-दूसरे को उदासीन कर देते हैं। यह विज्ञान को ज्ञात चुम्बकत्व के दो सिद्धान्तों में से एक है। दूसरा, जो वेबर (Weber) के सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है, यह है कि लोहे के कण सदा चुम्बकीय रहते हैं; अर्थात् प्रत्येक कण के सिरे सदा चुम्बकीय ध्रुव होते हैं, किन्तु लोहे की साधारण अवस्था में ये ध्रुव सब दिशाओं में मुड़े रहते हैं, जिससे वे एक-दूसरे के प्रभाव को उदासीन कर देते हैं। प्रथम परिकल्पना के अनुसार चुम्बकीकरण दोनों द्रवों के पृथक् होकर दो ध्रुवों की ओर ढकेले जाने से होता है; किन्तु दूसरी के अनुसार वह छड़ को बनाने वाले समस्त कणों की पुनर्व्यवस्था का परिणाम है, ठीक वैसे ही जैसे ऊपर वर्णित पेटी में अण्डों की व्यवस्थित सज्जा।

सम्पादकीय टिप्पणी

यह तथ्य/सिद्धांत अब अप्रचलित माना जाता है — आधुनिक शोध के अनुसार, लौह-चुम्बकत्व की व्याख्या इलेक्ट्रॉन के चक्रण (स्पिन) तथा चुम्बकीय डोमेनों से की जाती है, और 'दो द्रवों' का सिद्धान्त अब असत्य सिद्ध हो चुका है।

इस प्रकार, इनमें से जो भी सिद्धान्त सही माना जाए, यह स्पष्ट है कि चुम्बक की असाधारण, अद्भुत शक्तियाँ उसे बनाने वाले भागों की, एक-दूसरे के तथा 'पेटी की दीवारों' के सापेक्ष, व्यवस्थित सज्जा का ही परिणाम हैं। ऐसा ही परिवर्तन योग के प्रभाव से मानव-मन में होता है। अप्रशिक्षित अवस्था में मन की शक्ति पदार्थ-कणों की बुरी व्यवस्था के कारण उदासीन हो जाती है; किन्तु योग के प्रभाव से ये कण उचित चुम्बकीय व्यवस्था में आ जाते हैं, और परिणाम होता है एक वास्तविक, जीवित, प्रचण्ड शक्तिशाली चुम्बक। एकाग्र, एकनिष्ठ चित्त-निरोध का कर्म ही इन मन-कणों को चुम्बकीय सिद्धान्त पर पुनर्व्यवस्थित होने के लिए प्रेरित करता है।

अपनी स्वाभाविक शुद्धता में जीवन एक विशाल चुम्बक के समान है, जिसके समस्त अवयव उचित क्रम में सज्जित हैं; अतः जिस क्षण कोई अपने मन को चुम्बकीय सिद्धान्त पर सज्जित कर लेता है, उसी क्षण वह उस समग्र के साथ सामंजस्य में आ जाता है और सम्पूर्ण चुम्बक के पूरे लाभ पर अपना अधिकार जता सकता है। किन्तु साधारण मर्त्य प्राणी अचुम्बकित छड़ के किसी एक कण के समान है, जो चुम्बकीय बल-रेखाओं के विपरीत चल रहा है। जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, वह नदी में एक बूँद मात्र है, फिर भी वह समस्त धारा के प्रवाह के विरुद्ध तैरने का प्रयत्न करता है, और ऐसा करने में अपने पड़ोसियों से धक्के, ठोकरें और मार खाता है तथा सब प्रकार के कष्ट और दुःख भोगता है। उसका दुःख उसके अपने ही अज्ञान और वासनाओं का परिणाम है। अज्ञान उसे अपने वास्तविक आत्मा के ज्ञान से वंचित रखता है, और वासनाएँ उसे उन विषयों के पीछे दौड़ाती हैं जो सदा सीधे मार्ग पर नहीं होते, और इस प्रकार उसे धारा के विरुद्ध मुड़ने पर विवश करती हैं। किन्तु इसी साधारण-से कर्म में सारा अनर्थ छिपा है। जब तक आप धारा के साथ तैरते हैं, तब तक समस्त प्रवाह का सहारा आपको प्राप्त रहता है; किन्तु जिस क्षण आप अपनी गति उलट देते हैं या अपनी दिशा बदल देते हैं, उसी क्षण सारा प्रवाह आपके विरुद्ध हो जाता है और निर्ममता से आपका नाश कर देता है। मन और शरीर के समस्त रोग जीवन की 'धारा' के विरुद्ध तैरने के आपके ही प्रयत्न का परिणाम हैं। आपको उन चमकीली वस्तुओं की खोज छोड़ देनी होगी जो आपके लिए वे सब कष्ट और दुःख ले आई हैं जिनका देह उत्तराधिकारी है। यह भ्रम ही है जो आपको यह सोचने पर विवश करता है कि सुख बाहर से मिलता है; जब आप अपने 'स्वप्न' से जागेंगे, तब आप स्वयं को ही आनन्द का स्रोत पाएँगे और आश्चर्य करेंगे कि आप अपने को इस सीमा तक कैसे भूल सके।

आपका समूचा स्नायु-तन्त्र ध्रुवीकृत कोशिकाओं से बना है, और मन वह विशाल इस्पात-छड़ है जिसमें आपकी वर्तमान दशा में कण इतनी बुरी तरह सज्जित हैं कि एक में स्थित मनो-चुम्बकीय 'द्रव' दूसरों में स्थित विपरीत प्रकार के 'द्रव' से उदासीन कर दिया जाता है। मन के कणों को पुनर्व्यवस्थित कीजिए, चित्त-द्रव्य की समस्त कोशिकाओं के धनात्मक ध्रुवों को नाविक के दिक्सूचक की सुई की भाँति एक ही दिशा में मोड़ दीजिए, और यह दिशा जीवन की दिशा हो — तब आपकी शक्ति और आपके सुख की कोई सीमा न रहेगी। यही स्वास्थ्य, शक्ति और चमत्कार-कर्म का रहस्य है। जागरण के घण्टों में मानव-तन्त्र की, मस्तिष्क की स्नायु-कोशिकाएँ इच्छा के दबाव में अपनी चुम्बकीय व्यवस्था खो बैठती हैं और अस्त-व्यस्त हो जाती हैं, जिससे वे एक-दूसरे के चुम्बकीय प्रभाव को उदासीन कर देती हैं और तन्त्र को कुछ सीमा तक विचुम्बकित कर देती हैं। कोशिकाओं की व्यवस्था में इस विक्षोभ के फलस्वरूप विषैले स्राव उत्पन्न होते हैं। इसीलिए कठिन मानसिक श्रम के पश्चात् वह चिन्ता, बेचैनी और थकान अनुभव होती है। किन्तु निद्रा में कोशिकाएँ अपने ही भरोसे छोड़ दी जाती हैं, और मानव-विचार के हानिकर प्रभाव से मुक्त होकर स्वभावतः दिक्सूचक की सुई की भाँति अपनी मूल स्थितियों में लौट आती हैं और उचित चुम्बकीय क्रम में पुनः सज्जित हो जाती हैं। यही कारण है कि निद्रा इतनी हितकर और स्फूर्तिदायक होती है।

मन पर, और मन के द्वारा शरीर के भौतिक पदार्थ पर, विचार के प्रभाव से इनकार करना सम्भव नहीं है। सम्मोहनोत्तर सुझाव (post-hypnotic suggestion) की परिघटनाएँ इस विश्वास का सबसे सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार के विचार-प्रभाव की सबसे असाधारण विशेषता यह है कि पूर्ण रूप से 'जाग उठने' के पश्चात् भी वह व्यक्ति उन समस्त आदेशों का पालन नियत समय और नियत स्थान पर करता है जो उसे सम्मोहित अवस्था में दिये गये थे, यद्यपि उनके विषय में उसे कुछ भी स्मरण नहीं रहता और न ही उसे इसका कोई भान होता है कि प्रयोगकर्ता के आदेश के वशीभूत होकर वह कौन-सा कार्य करने जा रहा है। प्रश्न यह है कि प्रयोगकर्ता की इच्छा किस शक्ति से और किस प्रकार उस व्यक्ति की आज्ञाकारिता प्राप्त कर लेती है?

अब, दो प्रमुख लक्षण ऐसे हैं जो सम्मोहित अवस्था को सामान्य अवस्था से पृथक् करते हैं। प्रथम तो यह कि सम्मोहन-निद्रा की अवस्था में कोई विचार-विमर्श, अर्थात् चुनाव की स्वतन्त्रता, शेष नहीं रहती; और द्वितीय यह कि बुद्धि के पदच्युत अथवा सिंहासन से उतार दिये जाने के अनन्तर आत्मा की उच्चतर शक्तियों का, अर्थात् अन्तर्मन (subjective mind) का, कार्य आरम्भ हो जाता है। अतः सम्मोहन-प्रभाव का सच्चा स्पष्टीकरण चाहे जो भी हो — चाहे वह विशुद्ध सुझाव के कारण हो अथवा किसी

चुम्बकीय द्रव के माध्यम से — इतना निश्चित है कि उस व्यक्ति में समुचित सम्मोहित दशा उत्पन्न होने से पूर्व विवेचनात्मक शक्ति के व्यापार का स्थगन करना ही पड़ता है। इस प्रकार सम्पूर्ण समस्या इस सरल प्रश्न में सिमट आती है कि विवेक की शक्ति का यह सिंहासन-च्युत होना किस प्रकार सम्पन्न होता है?

आगे का विश्लेषण इस तथ्य को प्रकट करता है कि इच्छा का उद्रेक ही विचार-विमर्श के व्यापार को स्थगित कर देता है; क्योंकि जब इच्छा किसी भाव के प्रवाह में बह जाती है, तब वह प्रायः व्यक्ति से ऐसे कार्य करा देती है जिन पर वह अपने शान्त क्षणों में गहरा पश्चात्ताप करता है। जब लोग भीड़ में सम्मिलित हो जाते हैं तब वे प्रायः इसी प्रकार आचरण करते हैं। ऐसे साहित्य का पठन, जो सहज ही किसी की इच्छा की स्वीकृति प्राप्त कर लेता है, इसी सिद्धान्त का दूसरा दृष्टान्त है। इन दोनों ही उदाहरणों में भावुक प्रकृति को ही सम्बोधित किया जाता है, और वही इच्छा को उत्तेजित करके उससे बुद्धि की चेतावनी को त्याग करा देती है। इसके अतिरिक्त, इच्छा बुद्धि के आधिपत्य से तब भी मुक्त हो जाती है जब वह किसी आन्तरिक प्रेरणा से उन्नत दशा को प्राप्त होती है, जैसा कि योग में होता है; अथवा जब बुद्धि परिस्थिति का सामना करने में असमर्थ हो, जैसा कि किसी गम्भीर, तात्कालिक संकट के अवसर पर; अथवा जब उसका वाहन या उपकरण, अर्थात् मस्तिष्क, थक चुका हो — चाहे मस्तिष्क-कोशिकाओं के विषैले स्रावों से, चाहे किसी यान्त्रिक उपाय द्वारा ज्ञान-तन्तुओं के अत्यधिक उद्दीपन से, या अन्य किसी प्रकार से। किन्तु उन दशाओं में, जिनमें विवेचनात्मक व्यापार का स्थगन इच्छा की उन्नति के द्वारा सिद्ध होता है, और उन दशाओं में, जिनमें वह बुद्धि के मूर्च्छित अथवा अवरुद्ध कर दिये जाने से या स्वयं इच्छा के लकवाग्रस्त हो जाने से होता है, एक महत्त्वपूर्ण भेद है; क्योंकि प्रथम दशा में इच्छा अपनी सर्वोपरिता के प्रति सचेत रहती है और स्वयं ही बुद्धि की सेवाओं को छोड़ देती है, जब कि दूसरी दशा में वह किसी बाह्य कारण से उसके मार्गदर्शन से वंचित कर दी जाती है। अतः दूसरी दशा में वह न केवल अपनी सर्वोपरिता के प्रति अचेत रहती है, अपितु बुद्धि के पक्षाघात से न्यूनाधिक रूप में स्वयं भी प्रभावित होती है। मोहाकर्षण (fascination) इसका उपयुक्त उदाहरण है।

अब, सम्मोहन-सम्बन्धी संस्कार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसी वर्ग की परिघटना है जिस वर्ग का कोई अन्य विचार होता है। जो सुझाव कोई अपने आप को देता है, अर्थात् भविष्य के किसी अवसर पर अमुक कार्य करने का मानसिक संकल्प, और जो सुझाव प्रयोगकर्ता सम्मोहित अवस्था में देता है — इन दोनों में भेद इतना ही है कि प्रथम दशा में वह व्यक्ति की इच्छा तक बुद्धि के द्वार से होकर पहुँचता है और इसी कारण सोच-विचार कर किये गये चुनाव का परिणाम होता है; जब कि दूसरी दशा में, अर्थात् सम्मोहन में, बुद्धि

निलम्बित रहती है और इसलिए यह जानने की स्थिति में नहीं होती कि प्रयोगकर्ता और इच्छा के बीच सीधे-सीधे क्या घटित होता है। अतएव वह व्यक्ति इस विषय में अनभिज्ञ ही रहता है कि सम्मोहन-निद्रा में क्या हुआ, जब तक कि प्रयोगकर्ता स्वयं अन्यथा न चाहे।

जब सोच-विचार कर किये गये चुनाव और सम्मोहन-सुझाव में यही एकमात्र भेद है, तब स्पष्ट है कि न तो हमारे अपने संकल्प का और न प्रयोगकर्ता के आदेश का कार्यान्वयन बुद्धि की शक्ति से कोई सम्बन्ध रखता है, सिवाय इतने के कि इच्छा स्वयं उसकी सहायता लेना चाहे; और चूँकि स्वेच्छापूर्वक क्रिया करने में समर्थ कोई दूसरा बल है ही नहीं, अतः जिस भाव को वह उपर्युक्त दो प्रकारों में से किसी एक प्रकार से ग्रहण करती है, उसे कार्यरूप में परिणत करने में इच्छा ही, और केवल इच्छा ही, संलग्न रहती है। अब, चूँकि अपने तथा प्रयोगकर्ता — दोनों के सुझावों को पूरा करने में वही एक शक्ति, अर्थात् इच्छा, संलग्न रहती है, अतः यह अनुमान करना उचित है कि वह दोनों ही दशाओं में एक ही प्रक्रिया अपनाती है। अतएव दोनों उदाहरणों में एक ही तन्त्र काम में लाया जाता होगा, जिससे कि यदि हम एक दशा में उसकी कार्यविधि जान लें, तो दूसरी में भी उसे जान लेंगे।

अब, जब हम भविष्य की किसी निश्चित तिथि पर कोई कार्य करना चाहते हैं, तब हम उस प्रक्रिया की कोई मानसिक योजना बना लेते हैं जिसकी परिणति अभीष्ट कार्य में होगी। यह या तो सोच-विचार कर किया जा सकता है, अथवा केवल इतना करके कि उस लक्ष्य के भाव को किसी अभ्यस्त कार्य के साथ जोड़ दिया जाय, जो लगभग उसी समय किया जाना हो और जिसकी स्वाभाविक परिणति वह अभीष्ट लक्ष्य हो सके। दोनों ही दशाओं में वह योजना न्यूनाधिक जटिल प्रक्रियाओं का संयोजन होती है। प्रयोगकर्ता के सम्मोहन-सुझावों को पूरा करने में इच्छा इसी प्रकार की प्रक्रिया अपनाती है, यद्यपि बुद्धि की सहायता के बिना। वह अभीष्ट लक्ष्य के भाव को प्रक्रियाओं के किसी विशेष समूह से जोड़ देती है जो उसी दिशा में प्रवृत्त होता है, और शेष कार्य अपनी ही अनैच्छिक ऊर्जा के अभ्यस्त प्रवाह पर छोड़ देती है। यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि इच्छा यह सब कर सकती है, किन्तु सम्मोहन स्वयं भी तो इससे कम आश्चर्यजनक नहीं है! इच्छा कोई अन्धा अथवा अचेतन बल नहीं है, जैसा कि कुछ भौतिकवादी बहुत हाल तक मानते आये थे। उसका अन्तर्निहित, अद्भुत स्वरूप तभी प्रकट होता है जब वह बुद्धि के उस संरक्षण से मुक्त हो जाती है जो उसे बागडोर से बाँधे रखता है। उसके ज्ञान के चिह्न साधारणतया उसकी स्वचालित क्रिया में भी देखे जा सकते हैं, जहाँ प्रत्येक गति न केवल यथार्थ और उपयुक्त होती है, अपितु प्राप्तव्य लक्ष्य का पूर्वाभास भी कराती है — और यह सब विचार-विमर्श करने वाली बुद्धि के साथ हुए बिना। इच्छा अन्तर्मन का ही एक पक्ष है और इसलिए सम्भावना की दृष्टि से सर्वज्ञ है। वह भौतिक इन्द्रियों से स्वतन्त्र साधनों द्वारा अपने परिवेश का ज्ञान प्राप्त कर सकती है।

इस अन्तर्मन की शक्ति तथा क्रियाएँ बहिर्मन की प्रबलता के व्युत्क्रमानुपाती होती हैं। वह शरीर के व्यापारों, संवेदनाओं और अवस्थाओं का नियन्त्रण करता है, और स्वयं सुझाव के द्वारा नियन्त्रित होने योग्य है।

इन दोनों मनों की, अर्थात् अन्तर्मन और बहिर्मन की, क्रिया का शरीरक्रिया-विज्ञान 'मेडिकल हिप्नॉटिज़्म' (Medical Hypnotism) के लेखक ने इस प्रकार समझाया है —

> "सामान्य दशाओं में, भावों और कार्यों की हमारी धारणाएँ दो स्रोतों से उत्पन्न होती हैं; एक स्वचालित, सहजवृत्तिक अथवा अवचेतन विभाग से — वे कार्य जो बिना किसी तर्क के, अपने कार्यों की चेतना के बिना किये जाते हैं; दूसरा तथाकथित सचेतन विभाग से — वे कार्य जो तर्कपूर्ण होते हैं और ज्ञानेन्द्रिय-शक्तियों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। प्रथम प्रकार के कार्य बालक और असभ्य मनुष्य के मस्तिष्क का कच्चा, स्वाभाविक, अनियन्त्रित स्वचालन हैं, जो अवचेतन अवस्था के कल्पना-प्रेरित आवेग की मिथ्या धारणा से शासित होता है; द्वितीय प्रकार के कार्य वयस्क और सभ्य मनुष्य के मस्तिष्क की परिष्कृत, नियमित, ज्ञानेन्द्रिय-सम्बन्धी क्रियाएँ और धारणाएँ हैं, जो शिक्षा से विकसित होती हैं और इसलिए तर्कपूर्ण, संयमित और नियन्त्रित होती हैं। बुद्धि मस्तिष्क के स्वचालन पर अंकुश लगाती है और चेतना की एक विवेकपूर्ण अवस्था उत्पन्न करती है। फिर भी हम जाग्रत अवस्था में, विवेकी और शिक्षित मनुष्य में भी, स्वचालित मस्तिष्क-क्रिया की परिघटनाएँ प्रतिदिन प्रकट होती देखते हैं। हम इतने यान्त्रिक ढंग से चलते हैं कि प्रायः उस सीमा को भी पार कर जाते हैं जो मन की उस सर्जक इच्छा ने नियत की थी जिसने हमारा पहला पग उठाया था। हम तैरते हैं या पियानो बजाते हैं, हमारी उँगलियाँ बिना रुके यान्त्रिक रूप से कुंजी-पटल पर विचरती रहती हैं, और बहुधा हम बजाते, तैरते अथवा लिखते हुए भी बातचीत करते रहते हैं और कुछ और करते हुए भी अपने को बाहरी विचारों में लीन हो जाने देते हैं। बालक आवेगमय और अव्यवस्थित होता है। वह सहजवृत्ति से अपनी रक्षा कर लेता है। तनिक-सा निमित्त पाते ही हम प्रतिवर्त रूप से और स्वचालित रूप से अपने हाथ उठा लेते हैं, अपनी आँखें मूँद लेते हैं। बालक उछलता है, चिल्लाता है और हँसता है — जैसा संस्कार उसे प्राप्त होता है। जब संगीत के मधुर सामंजस्य से कोई परिचित धुन हमारे मन में जाग उठती है, तब हम नाचने लगते हैं, अपने शरीर और अंगों की अनैच्छिक गतियाँ करने लगते हैं। हम अपने स्वप्नों में विद्यमान यथार्थताओं को देखते हैं, और कल्पित सुखद दृश्यों में हर्षित होते तथा भयानक दृश्यों में रोते हैं। स्वप्नों में हम विजेता भी बनाये जाते हैं और वध्य भी। बेचारी मानवी बुद्धि कल्पना की धारा में बह जाती है; सबसे अभिमानी मन भी इस प्रकार मतिभ्रम के आगे झुक जाता है। हमारी मुँदी हुई आँखों के सामने वास्तविक और काल्पनिक — दोनों प्रकार के चित्र प्रकट होते हैं, और इस निद्रा के समय में, अर्थात् अपने अस्तित्व के एक चौथाई से भी अधिक भाग में, हम उन स्वप्नों के खिलौने बन जाते हैं

> **जिन्हें कल्पना बुला लाती है। जाग्रत अवस्था में भी हम बहुत-सी समानधर्मी क्रियाएँ और विचार देखते हैं। सेना का सिपाही अपने वरिष्ठ अधिकारी के आदेशों के आगे झुक जाता है, शारीरिक गतियाँ करता है, यान्त्रिक रूप से, स्वचालित रूप से और बिना किसी तर्क के भयानक कर्म कर बैठता है। 'गोली चलाओ' की आज्ञा होते ही उसकी सचेतन शक्तियाँ लकवाग्रस्त हो जाती हैं और वह स्वचालित रूप से गोली चला देता है। डॉ० देस्पीन (Dr. Despine) कहते हैं, 'एक स्वचालित मस्तिष्क-क्रिया विद्यमान है जो अहं की उपस्थिति के बिना ही प्रकट होती है; क्योंकि मस्तिष्क-क्रिया का शासन करने वाले नियम के अनुसार समस्त गतियों में बिना किसी अहं और बिना किसी व्यक्तित्व के एक बुद्धिमान शक्ति निहित रहती है।' सम्मोहन-सुझाव के अन्तर्गत मानसिक शक्तियों से उनके अन्तर्निहित स्वचालित व्यापारों को उनकी चरम सीमा तक प्रकट करा लिया जाता है। यह अनिवार्यतः सत्य है कि दोनों मनों के बीच एक ऐसा सम्बन्ध-सूत्र है जो उन्हें, आवश्यकता पड़ने पर, पूर्ण समकालिकता के साथ कार्य करने में समर्थ बनाता है। इसी समकालिकता के हम ऋणी हैं उस वस्तु के लिए जिसे 'प्रतिभा' कहा जाता है। यह उन अवसरों पर भी प्रत्यक्ष होती है जो व्यक्ति के लिए अत्यन्त महत्त्व के होते हैं, जैसे जब संकट सिर पर हो, अथवा कोई महान् विपत्ति आने को हो।"**

सर्वाधिक प्रामाणिक मतों के अनुसार अन्तर्मन एक बुद्धिमान सत्ता है जो शरीर के प्राणपोषक व्यापारों पर पूर्ण नियन्त्रण से युक्त है — और इसी से सम्मोहन आदि की रहस्यमय तथा अद्भुत परिघटनाओं की उपपत्ति होती है।

सम्मोहन की परिभाषा स्वयं इस प्रकार की जा सकती है कि वह एक विलक्षण मानसिक दशा का उत्पादन है, जो अन्तर्मन को उस समय के लिए निम्नतर अथवा बहिर्मन के आधिपत्य से मुक्त कर देती है। 'सचेतन' मन एक प्रकार से अवचेतन पर नियुक्त प्रहरी या संतरी है, और बुद्धि मस्तिष्क के स्वचालन पर लगाया हुआ अंकुश है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम अन्तर्मन को इस आधिपत्य से मुक्त कराना चाहते हैं, तो हमें बुद्धि रूपी इस संतरी को परास्त और पराभूत करना ही होगा। डॉ० राम नारायण (Dr. Ram Narain) का कथन है (देखिए 'मेडिकल हिप्नॉटिज़्म') —

> **"चेतना का दमन कीजिए, ऐच्छिक मस्तिष्क-क्रियाओं का दमन कीजिए, और आपके सामने निद्राचरण (somnambulism) का एक उदाहरण उपस्थित होगा, जिसका शरीरक्रियात्मक लक्षण, देस्पीन के अनुसार, यह है कि उसमें मस्तिष्क की केवल स्वचालित क्रिया का ही व्यापार होता है और मस्तिष्क की उस सचेतन क्रिया का पक्षाघात हो जाता है जो अहं को प्रकट करती है।"**

इसी दशा में ऐसा होता है कि 'रोगी' के शरीर पर डाक-टिकट अथवा सादा कागज़ चिपका देने से ही रस-भरे फफोले उठ आते हैं, जिनके विषय में 'मेडिकल हिप्नॉटिज़्म' यह लिखता है —

> **"आपके सुझाव पर वह तीव्रतम अमोनिया को कपूर की भाँति सूँघता है और कुनैन को शक्कर के समान स्वाद से खाता है; और सबसे विचित्र बात यह है कि उससे उसे तनिक भी हानि नहीं होती।"**

जब बहिर्मन रंगमंच से हट जाता है, अथवा अपने खोल में सिमटकर उस पर 'ढक्कन लगा लेता है,' तब सुझाव प्रभावी होता है और रोगी के शरीर में सुझायी हुई दशा को मूर्त कर देता है। अन्तर्मन तर्क नहीं करता; वह सुझाव को सत्य मानकर स्वीकार कर लेता है और तदनुसार अपने व्यापार करता है। अतएव यह पूर्णतया स्पष्ट है कि अन्तर्मन को दिया गया कोई भी मिथ्या सुझाव बुरा परिणाम उत्पन्न करेगा, जो तब तक बना रहेगा जब तक कि वह दूर न कर दिया जाय। पशुओं और जड़बुद्धि व्यक्तियों में से बहुतेरे, जो जो कुछ भी पा जाते हैं उसे बहुत अधिक मात्रा में खा जाते हैं, फिर भी पाचन-अंगों के रोगों से बचे रहते हैं; इसका कारण यही है कि स्वास्थ्य के प्रतिकूल सुझावों की पहुँच से वे परे हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि यदि आजकल के आहार-सम्बन्धी सुझाव शुतुरमुर्ग के मन तक पहुँच सकते, तो वह शीघ्र ही उबला हुआ आलू तक न पचा पाता। यही निष्कर्ष आधुनिक नवीन मनोविज्ञान ने निकाला है। अतएव रोगों और व्याधियों की चिकित्सा, अत्यन्त स्पष्ट रूप से, इस मिथ्या प्रक्रिया को उलट देने में ही है। मिथ्या और हानिकर सुझाव के बुरे प्रभावों का प्रतिकार करने के लिए दो बातें करनी होती हैं, और वे ये हैं — (१) विद्यमान बुराई को दूर करना, और (२) उसकी पुनरावृत्ति को रोकना। पहली बात के लिए उस सुझाव का निवारण आवश्यक है जो कष्ट का कारण है, और दूसरी के लिए यह आवश्यक है कि हम भविष्य में सम्भावित समस्त बुरे और हानिकर सुझावों के प्रति सतर्क रहें। किन्तु विद्यमान कष्ट को दूर करने का कार्य अत्यन्त दुरूह है, क्योंकि वह तब तक सम्पन्न नहीं हो सकता जब तक हम यह न जान लें कि उसका कारण कौन-सा मिथ्या और हानिकर सुझाव है। कठिनाई रोग-निदान में है; किन्तु एक बार उसे पार कर लेने पर शेष कार्य पर्याप्त सरल है, क्योंकि उसके प्रभाव का प्रतिकार करने के लिए विपरीत प्रकार का स्वास्थ्यकर सुझाव देकर उस बुराई से शीघ्र ही छुटकारा पाया जा सकता है। 'स्वस्थता' का सुझाव एक व्यक्ति दूसरे को दे सकता है, जैसे कोई मानसिक चिकित्सक अपने रोगी को; अथवा वह रोगी स्वयं भी अपने को दे सकता है, और उस दशा में वह स्व-सुझाव (auto-suggestion) कहलाता है।

जो बात शारीरिक स्वास्थ्य के विषय में सत्य है, वही मानसिक कल्याण के विषय में भी उतनी ही सत्य है, क्योंकि दोनों का शासन करने वाला नियम एक ही है, अर्थात् 'जैसा मनुष्य सोचता है, वैसा ही वह बन जाता है।' विचार की शक्ति महामारियों के समय अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष होती है, जब महामारी से

कहीं अधिक व्यक्ति भय से पीड़ित होते हैं।

अतएव बुराई का निवारण और उपचार सबकी सामर्थ्य के भीतर है; परिणामों की निश्चितता और स्थायित्व ज्ञान की मात्रा तथा उसके उचित उपयोग पर निर्भर करते हैं।

योगीजन ठीक यही कहते हैं, और उत्पत्ति की पुस्तक में वर्णित 'पतन' के प्रतीक-विधान का अभिप्राय भी ठीक यही है। योगियों के अनुसार, मृत्यु, रोग और भाग्य पर नियन्त्रण सहित समस्त शक्तियाँ उसी को प्राप्त होती हैं जो अपने क्षुद्र अहं को (अर्थात् बहिर्मन को) अपने वश में कर लेता है और समाधि (आत्म-साक्षात्कार की तुरीय दशा) की आनन्दमय अवस्था में स्थित हो जाता है; और उत्पत्ति की पुस्तक के अनुसार, 'चारों ओर घूमने वाली ज्वालामय तलवार' रूपी वह संतरी ही है जो मनुष्य और उस 'बहुतायत से भरे-पूरे जीवन' के बीच खड़ा है। अमरता उसी को प्राप्त होगी जो इस संतरी को परास्त करके जीवन के वृक्ष तक पहुँच जाय; और अमरता में समस्त शक्तियाँ सम्मिलित हैं।

आधुनिक सभ्यता के उदय से युगों पूर्व धर्म ने इस समस्त विषय का सार प्रस्तुत कर दिया था, और समय-समय पर उसे संसार के पास भेजा — कभी 'पतन' के प्रतीक-विधान के रूप में, कभी 'तत् त्वम् असि' इस संक्षिप्त महावाक्य के रूप में, और कभी महावीर, ज़रथुस्त्र (Zoroaster), मूसा (Moses), ईसा (Jesus) तथा अन्य महापुरुषों के मुख से। भिन्न-भिन्न उपदेष्टाओं ने निस्सन्देह भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किया, किन्तु जब-जब और जहाँ-जहाँ वे वचन यथार्थतः प्रबुद्ध ऋषियों के मुख से निकले हैं, तब-तब उनका अर्थ और सार सदैव एक ही रहा है; क्योंकि धर्म न कोई सम्प्रदाय है, न कोई शास्त्र, और न वस्तुतः स्वयं सत्य से भिन्न कुछ और; और यद्यपि जिन पुस्तकों में उसकी शिक्षाएँ संगृहीत हैं वे लिखे जाने की दृष्टि से बहुत प्राचीन अथवा पुरानी न हों, तथापि वह वस्तुतः विद्यमान प्राचीनतम लेख से भी प्राचीन है, उस प्राचीनतम ऋषि से भी अधिक प्राचीन जिसने उसकी शाश्वतता पर प्रवचन करने के लिए अपने ओष्ठ खोले, अथवा उस प्रथम तारणहार से भी, जिसने उसका उपदेश मानवता को दिया — वस्तुतः वह शाश्वत है। मनुष्य के दुर्भाग्य से, धन तथा अन्य सांसारिक वस्तुओं के प्रति उसके प्रेम ने उसका हृदय ऐसा कठोर कर दिया है कि वह तारणहारों की शिक्षा से लाभ उठाने की शक्ति खो बैठा है, और समय बीतने के साथ सत्य से दूर, और दूर हटता चला गया है। उसने इन उपदेष्टाओं का आदर उन चमत्कारों के कारण किया जो उन्होंने दिखाये, किन्तु उनमें और उनकी शिक्षाओं में उसकी रुचि वहीं समाप्त हो गयी। इन ईश्वरतुल्य पुरुषों को अलौकिक प्राणी मान लेने से उसने अपने को दयनीय असहायता की दशा में डाल लिया है, और यह सर्वथा भूल गया है कि जो कुछ एक मनुष्य कर सकता है, वह अन्य सब भी प्राप्त कर सकते हैं। आध्यात्मिक नियमों का अत्यन्त प्रारम्भिक अध्ययन भी यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि

अतीत के वे ईश्वरतुल्य पुरुष केवल इसी अर्थ में मानवातीत थे कि उन्होंने अपनी आत्माओं की अतिचेतन शक्तियों का विकास कर लिया था, और इसी कारण ऐसे कार्य करने में समर्थ थे जो साधारण, मध्यम कोटि के प्राणी को चमत्कार-जैसे प्रतीत होते हैं।

मानव-जाति के अतीत तारणहारों के प्रायः समस्त चमत्कारों की व्याख्या उन मानसिक नियमों की सहायता से की जा सकती है जो पहले से ज्ञात हैं। उनमें से एक यहाँ प्रस्तुत है। महाभारत के महायुद्ध के छिड़ने से कुछ पूर्व, जिस समय पाँचों पाण्डव भाई अर्जुन की पत्नी द्रौपदी के साथ वन में एकान्तवास कर रहे थे, दुर्वासा नामक एक ऋषि चेलों (शिष्यों) तथा अन्य लोगों की विशाल भीड़ के साथ, जिनकी संख्या लगभग दस हज़ार थी, एक बार उनके एकान्त निवास पर पधारे। कुछ कारणों से उन्होंने अपने आगमन का समय ऐसा रखा जब पाण्डव भाइयों के लिए उस समूह को भोज कराना सम्भव न था; और यह सर्वविदित था कि उस मुनि का असन्तोष ऐसा अनिष्ट लाता है जो साधारण मर्त्य प्राणियों की सहन-शक्ति से कहीं परे है। द्रौपदी ने पाण्डव भाइयों के मुख पर व्याकुलता अंकित देखकर श्रीकृष्ण से उद्धार की प्रार्थना की, और उन्होंने उसके समक्ष साक्षात् प्रकट होकर उत्तर दिया। परम्परा* का कथन है कि सर्वशक्तिमान् श्रीकृष्ण ने स्वयं किसी उबले हुए शाक का — जो उस समय उपलब्ध एकमात्र खाद्य था — एक छोटा-सा कण अपने पवित्र मुख में रखा और उसे बड़े चाव से चबाते हुए घोषित किया कि उनकी क्षुधा शान्त हो गयी। वे ऋषि और उनके अनुयायी, जो राजोचित भोज की सुखद प्रतीक्षा में सुरम्य यमुना में स्नान कर रहे थे, अब ऐसा अनुभव करने लगे मानो उन्होंने भोजन से अपने को आकण्ठ भर लिया हो; और पाण्डवों के असन्तोष से भयभीत होकर वे भाग खड़े हुए और बुलाने पर भी लौटने को तैयार न हुए। यह आश्चर्यजनक अवश्य प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण ने उबले शाक का एक कण खाया और दुर्वासा की क्षुधा जाती रही; किन्तु इसमें अलौकिक कुछ भी नहीं है। पाठक का ध्यान डॉ॰ कोश (Dr. Coche) के एक रोचक प्रयोग की ओर आकर्षित किया जाता है, जो 'मेडिकल हिप्नॉटिज़्म' में उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार उद्धृत है —

> **"अपने और अपने 'प्रयोग-पात्र' के बीच एक परदा लगाकर मैंने अपने सहायक से कहा कि उसे एक गिलास जल दे; और जब मैं अपने विचारों को उस पर केन्द्रित किये हुए था, तब मैंने अपनी जीभ पर कुछ लाल मिर्च रख ली। उस स्त्री ने ज्यों ही जल अपने होठों तक पहुँचाया, त्यों ही वह चिल्ला उठी — 'अभी-अभी किसी ने मेरे मुँह में मिर्च डाल दी है।' चूँकि मेरे मुँह में मिर्च रखने की बात किसी को ज्ञात न थी, अतः यह प्रयोग निश्चय ही निर्णायक था।"**

* इस वृत्तान्त की ऐतिहासिकता के लिए प्रमाण देना सम्भव नहीं है, क्योंकि महाभारत का, और सामान्यतः हिन्दू ग्रन्थों का, स्वरूप पौराणिक है। इसके अतिरिक्त, जैन पुराण भी, जो श्रीकृष्ण के जीवन-काल में घटित घटनाओं का ऐतिहासिक विवरण देते हैं, इस विशेष प्रसंग में हिन्दू वृत्तान्त का समर्थन नहीं करते। तथापि यह आख्यान इस दृष्टि से रोचक है कि इससे प्रकट होता है कि प्राचीनजन सुझाव के नियम से पूर्णतया परिचित थे।

उबले हुए शाक के चमत्कार और डॉ० कोश के प्रयोग में भेद केवल मात्रा का है; आधुनिक अन्वेषक के केन्द्रित विचार की तीव्रता श्रीकृष्ण के विचार की तीव्रता के सामने वैसी ही है जैसी सूर्य के सामने एक चिनगारी। डॉ० कोश केवल अपने 'प्रयोग-पात्र' को ही अपने स्वाद से प्रभावित कर सके, किन्तु योगेश्वर की सार्वभौम शक्ति कहीं अधिक विशाल पैमाने पर प्रकट हुई।

ईसा मसीह द्वारा किये गये चमत्कारपूर्ण रोग-निवारण के विषय में मानस-विज्ञानों के आधुनिक लेखकों के मत का सार कुछ ही वाक्यों में दिया जा सकता है। 'ईसा द्वारा किये गये चमत्कारपूर्ण उपचारों में अलौकिक कुछ भी नहीं है। इसके विपरीत, मानसिक चिकित्सा एक विज्ञान है; और जो शक्ति रोग दूर करती है वह रोगी में ही निवास करती है। यही सिद्धान्त ईसा ने सिखाया था और इसी को उन्होंने इस वाक्य में संक्षिप्त कर दिया था — "तेरे विश्वास ने तुझे चंगा किया है।"' मानसिक चिकित्सा की समस्त कला रोगी में विश्वास उत्पन्न करने में ही है; और उस प्रयोजन के लिए सुझाव सबसे प्रबल साधन है। जो ईसा ने किया वह दूसरे भी कर सकते हैं, जैसा कि उन्होंने स्वयं घोषित किया —

> **"मैं तुम से सच सच कहता हूँ, कि जो मुझ पर विश्वास रखता है, ये काम जो मैं करता हूँ वह भी करेगा; वरन् इन से भी बड़े काम करेगा, क्योंकि मैं पिता के पास जाता हूँ।" (यूहन्ना १४:१२)**

आधुनिक प्रामाणिक विद्वानों द्वारा निकाले गये निष्कर्षों की सूक्ष्म छानबीन में प्रवृत्त होना हमारे प्रयोजन से बाहर होगा; इतना कह देना ही पर्याप्त है कि ये विचार आज आधुनिक युग के कुछ अत्यन्त समर्थ विचारकों द्वारा माने जाते हैं, और उनकी यथार्थता की पुष्टि उन समस्त साधनों, उपायों और परीक्षणों से हो चुकी है जिन्हें विज्ञान यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए काम में लाना और सँभालना भली-भाँति जानता है।

इस विषय में हिन्दू शास्त्रों और पवित्र बाइबिल का पारस्परिक मेल 'योगवासिष्ठ' के एक ही उद्धरण से दिखाया जा सकता है —

> **"सम्यक् विचार के द्वारा विचार का विषय वैसे ही पाया जा सकता है जैसे दुग्ध में उसका सार। जिसने परम कल्याण के भोग द्वारा समदृष्टि प्राप्त कर ली है, वह उसे अपने सर्वश्रेष्ठ आभूषण के रूप में धारण करेगा; उस अवस्था से वह कभी नीचे न गिरेगा; और जो कुछ भी ग्रहण किया जाय उसे वह वैसे ही**

> **पचा लेगा जैसे हंस मिश्री को — चाहे वे वस्तुएँ दूषित हों, या विष से मिली हों, या स्वास्थ्य के लिए हानिकर हों, अथवा मिलावटी हों। चाहे वे प्राणघातक विष* निगल जायँ, या प्रतिविष, या दूध, या ईख का रस, या अन्न — वे मन की पूर्ण समता बनाये रखेंगे। चाहे कोई उनके सिर में छुरा गहरा गड़ा दे, अथवा उसे रोक ले, वे उसे न मित्र समझेंगे, न शत्रु। चूँकि समदृष्टि वाले पुरुष सबको समान दृष्टि से देखते हैं, अतः उनके हृदय आनन्द से भरे रहते हैं।"**

* तुलना कीजिए, मरकुस १६:१८।

ईसा तथा अन्य तारणहारों पर आरोपित चमत्कारों में सम्भवतः जिस वर्ग पर विश्वास करना सबसे कठिन प्रतीत होता है वह वही है जिसका प्रतिनिधि उदाहरण जाइरस की पुत्री का प्रसंग है। किन्तु प्रश्न यह नहीं है कि आज कोई उन्हें कर दिखा सकता है या नहीं, और इस प्रकार उनके घटित होने को सन्देह तथा विवाद से परे कर सकता है या नहीं; प्रश्न यह है कि क्या मृतक का पुनर्जीवन ऐसी घटना है जो सम्भावना की परिधि से सर्वथा बाहर है? यह कहना निस्सन्देह कठोर तर्क होगा कि चूँकि यह रहस्य हमें ज्ञात नहीं है, इसलिए वह प्रकृति में है ही नहीं; क्योंकि सम्भव है कि वह हमारे द्वारा खोजे जाने की प्रतीक्षा ही कर रहा हो, जैसे प्राचीनों ने उसे खोज लिया था। यह भी हो सकता है कि उस चमत्कार को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने की शर्तें इतनी कठोर हों कि वह रहस्य, यद्यपि उच्च कोटि के कुछ दीक्षितों को ज्ञात था और उनके द्वारा व्यवहार में लाया जाता था तथा उनके निकटवर्ती शिष्यों को दिया गया था, तथापि उनके न्यूनतर आध्यात्मिकता वाले परवर्ती अनुयायियों द्वारा प्रयोग में न लाया जा सका। यह भी सम्भव है कि कुछ दशाओं में उस शक्ति का प्रयोग हो ही न सके, जैसे शिरच्छेद में, जहाँ शरीर-तन्त्र की सन्तति सदा के लिए पूर्णतया छिन्न हो जाती है। 'प्रैक्टिकल मेडिसिन' (Practical Medicine) के मार्च १९०८ के अंक में प्रकाशित एक छोटे-से अनुच्छेद से प्रतीत होता है कि कम-से-कम एक वर्ग की दशाओं में आधुनिक विद्युत्-विज्ञान मृतक के पुनर्जीवन की सम्भावना प्रदर्शित करने में सफल हो चुका है। मूल अनुच्छेद इस प्रकार है —

> **"'इलेक्ट्रिकल मैगज़ीन' (Electrical Magazine) के वर्तमान अंक में विद्युत्-धारा के निश्चेतक (anaesthetic) रूप में उपयोग सम्बन्धी फ्रांसीसी वैज्ञानिकों के कार्य का सचित्र विवरण प्रकाशित हुआ है। 'न केवल यह सिद्ध हो चुका है,' 'इलेक्ट्रिकल मैगज़ीन' कहती है, 'कि विद्युत्-आघात की एक विशेष मात्रा और विशेष रूप पीड़ा के प्रति पूर्ण संवेदनहीनता उत्पन्न कर देगा और बिना किसी हानिकर उत्तर-प्रभाव के निश्चित स्वास्थ्य-लाभ सुनिश्चित करेगा, अपितु यह उल्लेखनीय तथ्य भी देखा गया कि 'विद्युत्-मारित' पशुओं को विद्युत्-धाराओं के लयबद्ध प्रयोग से पुनः जीवित किया जा सकता**

> **है। यह सन्देह से परे सिद्ध हो चुका है कि श्वास-क्रिया और हृदय की धड़कन — अर्थात् स्वयं जीवन — ऐसे शरीर में निश्चित रूप से और स्थायी रूप से पुनः स्थापित किये जा सकते हैं जिसमें से, स्वीकृत चिकित्सकीय प्रमाणों के अनुसार, प्राण जा चुके थे।'"**

यह विद्युत् की शक्ति का चकित कर देने वाला उद्घाटन है, और यदि यह सत्य है तो भावी वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए एक विशाल क्षेत्र खोल देता है। सम्भवतः इससे जीवन और मृत्यु सम्बन्धी हमारी आधुनिक धारणाओं का सम्पूर्ण पुनरीक्षण और पुनर्गठन आवश्यक हो जायगा।

आत्मा और भौतिक शरीर के बीच वही सम्बन्ध प्रतीत होता है जो किसी केन्द्रीय स्रोत और उसके द्वारा सींचे जाने वाले खेतों के बीच होता है। थोड़े-से चिन्तन से यह स्पष्ट हो जायगा। व्यक्तिगत जीव-शरीर का भौतिक आरम्भ उस निषेचित अण्डाणु को माना जा सकता है, जो माता के शरीर में बनी हुई एक ही कोशिका है और पिता के वीर्य में स्थित शुक्राणु से निषिक्त होती है। किन्तु गर्भाधान से पूर्व न अण्डाणु और न शुक्राणु स्वयं में इतना पूर्ण होता है कि उस कारण भ्रूण के रूप में विकास अथवा वृद्धि में समर्थ हो। उनके केन्द्रकों के संलयन से एक पूर्ण कोशिका बनती है, जो प्रवासी आत्मा के लिए एक नये अवतार का प्रारम्भ-बिन्दु बन जाती है। वह कोशिका अब तत्काल भ्रूणीय वृद्धि के मार्ग पर चल पड़ती है और शरीर-रचना आरम्भ हो जाती है। उत्तरोत्तर विभाजनों की प्रक्रिया से इस एक ही आदिम 'जनक' कोशिका से नयी कोशिकाएँ बनती हैं और शरीर-तन्त्र में अपने उचित स्थान ग्रहण कर लेती हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि वह शरीर कोशिकाओं की एक बस्ती के रूप में विकसित न हो जाय, जिसमें उनके व्यापार और गति का नियमन करने के लिए अनेक नियन्त्रण-केन्द्र होते हैं। ज्यों-ज्यों नयी कोशिकाएँ बनती और शरीर में अपने उचित स्थानों पर रखी जाती हैं, त्यों-त्यों जीवन केन्द्र से बाहर की ओर बहकर अपनी शाखा-प्रशाखाओं से उन्हें आच्छादित कर लेता है और इस प्रकार उन्हें अपने नियन्त्रण में ले आता है। इसी प्रकार व्यक्ति का अन्तर्मन उन कोशिकाओं के व्यापारों का नियन्त्रण और शासन करता है जिनसे शरीर बना है। स्वास्थ्य के विषय में नियम यह प्रतीत होता है कि जब तक यह केन्द्रीय स्रोत जीवन के द्रव से छलकता रहता है और उसका जल शरीर के प्राणपोषक अवयवों तक पहुँचता रहता है, तब तक स्वास्थ्य और यौवन बने रहते हैं; किन्तु जब किसी न किसी कारण से ऐसे अवरोध उत्पन्न हो जाते हैं जो उन जीवनदायी जलों को शरीर की कोशिकाओं तक पहुँचने से रोक देते हैं, तब उनमें से जिन्हें कुछ भी नहीं मिलता अथवा अपर्याप्त मात्रा में मिलता है, वे शरीर-तन्त्र के सामान्य कल्याण में अपना योगदान देने से इनकार कर देती हैं और तन्त्र में सब प्रकार के रोग तथा अस्वस्थता की अन्य जटिलताएँ उत्पन्न कर देती हैं। अतएव उस केन्द्रीय स्रोत का अवरुद्ध हो जाना व्यक्ति के लिए मृत्यु ही होगा। रोगग्रस्त दशाओं में, जैसे अंगों के पक्षाघात में, अन्तर्मन प्रभावित अंग पर पूर्णतया अथवा

अंशतः नियन्त्रण नहीं कर पाता; और वही बात क्षय (atrophy) के प्रसंगों में होती है, जिनमें प्रभावित भाग जीवन के जीवनदायी जलों की समुचित पूर्ति के अभाव में सूख जाता है। जब व्यक्ति के अनुभव में सहसा कोई प्रचण्ड आघात होता है और उसकी प्रचण्डता से वह केन्द्रीय स्रोत प्रभावित हो जाता है, तब सम्पर्क-मार्गों से जुड़े हुए अनेक धुरी-बिन्दुओं में से किसी एक या अधिक में विच्युति हो जाती है, और केन्द्रीय अवयव तथा शरीर के कुछ प्राणपोषक भागों के बीच का सम्बन्ध कट जाता है। विद्युत्-दण्ड द्वारा मृत्युदण्ड पाये हुए व्यक्तियों के प्रसंग में ऐसा ही होता प्रतीत होता है। अब, यदि हम अन्तर्मन को, जिसका शरीर की कोशिकाओं पर पूर्ण नियन्त्रण है, उस टूटे हुए सम्पर्क को पुनः स्थापित करने के लिए प्रेरित कर सकें, तो मृतक को पुनर्जीवित किया जा सकता है। हृदय की गति, जो स्नायु-प्राणद्रव के मार्गों की विकृत और छिन्न दशा के कारण रुक जाती है, वह भी, ऐसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार के लयबद्ध कम्पनों द्वारा पुनः चालू की जा सकती है जिस प्रकार के कम्पनों ने वह घातक आघात उत्पन्न किया था।

इसी उपाय से हृदय-कोष्ठ में उत्पन्न हुआ वह 'विस्थापन' धीरे-धीरे उपचार के सम्मुख नत हो जायेगा, और अन्ततः स्वस्थ क्रिया पुनः स्थापित हो जायेगी। 'इलेक्ट्रिकल मैगज़ीन' (Electrical Magazine) में जिन विद्युत-आघात से मारे गये पशुओं का उल्लेख किया गया है, वे सम्भवतः इसी प्रकार पुनर्जीवित किये गये थे। उनका पुनः जीवन में लौट आना इस तथ्य का निर्णायक प्रमाण है कि जीवन उनके शरीरों से सर्वथा विदा नहीं हुआ था, यद्यपि उसकी अभिव्यक्तियाँ इतनी पूर्ण रूप से रुक गयी थीं कि चिकित्सा-विशेषज्ञों ने उसे बुझा हुआ घोषित कर दिया।

किन्तु याईर (Jairus) की पुत्री का प्रसंग इस प्रकार के उपचार के अधीन नहीं किया गया था। ईसा (Jesus) जैसी आध्यात्मिक विभूति के लिये यह आवश्यक नहीं था कि वे रोग-निवारण के हेतु किन्हीं वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग करें। आधुनिक विज्ञान औषधियों और यन्त्रों की सहायता के बिना मन को वश में करना नहीं जानता; परन्तु ईसा की आध्यात्मिक शक्ति ने उनके लिये इनका प्रयोग सर्वथा अनावश्यक बना दिया था, क्योंकि वे केवल एक आज्ञा-वचन से ही उस कन्या के अवचेतन मन को प्रभावित कर सकते थे। उनकी पद्धति को भली-भाँति समझने के लिये हम उनकी प्रक्रिया का विश्लेषण करेंगे।

सर्वप्रथम उन्होंने कन्या के पिता को यह आश्वासन दिया कि वह मरी नहीं, केवल सो रही है।* चूँकि ईसा ने कभी असत्य नहीं कहा, अतः उनके ये वचन केवल इसी उद्देश्य से कहे गये हो सकते हैं कि पिता का अवचेतन मन (जो सब सम्भावनाओं में उस कन्या के साथ अन्तर्सम्बद्ध था) उसे और अधिक हानि न पहुँचाये। तदनन्तर उन्होंने उन वादकों तथा अन्य जनों को बाहर निकाल दिया जो कोलाहल मचा रहे थे

और इस प्रकार उस 'मृत' बालिका के अवचेतन मन पर अनिष्टकारी प्रभाव डाल रहे थे। इसी कारण से उन्होंने उसके रोते हुए स्वजनों और मित्रों को भी मृत्यु-कक्ष से बाहर कर दिया। फिर वे अपने तीन सर्वाधिक आध्यात्मिक रूप से विकसित शिष्यों को उस कक्ष में साथ ले गये, जिससे कन्या के अवचेतन मन को प्रभावित करने में उन्हें सहायता मिले, और अन्त में एक प्रबल सुझाव के द्वारा उन्होंने उसे उठा दिया। तत्पश्चात् उसे कुछ खाने को दिया गया, सम्भवतः इस दृष्टि से कि उसके अपने पुनर्जीवन के विषय में उसके मन से समस्त सन्देह दूर हो जाये। मृतकों को जिलाने के प्रसंगों में ईसा के लिये यह सबसे कठिन प्रसंग था; क्योंकि सम्भवतः वह बालिका उन्हें पहले से व्यक्तिगत रूप से नहीं जानती थी। लाजर (Lazarus) के प्रसंग में कठिनाई इतनी बड़ी नहीं थी, क्योंकि लाजर ईसा को जानता था और सब सम्भावनाओं में उसे उन पर महती श्रद्धा थी, जिसने उसे उठाने के कार्य को और भी सुगम बना दिया। उच्च स्वर में कहा गया 'लाजर, बाहर निकल आ' — इतना ही उसे पुनः जीवन में लौटा लाने के लिये पर्याप्त हुआ, यद्यपि उसकी बहनों ने आपत्ति की थी। शम्स तबरेज़ (Shams Tabrez) नामक कवि और रहस्यवादी के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने इसी प्रकार एक राजा के मृत बालक को पुनर्जीवित कर दिया था। ईसा द्वारा अपनायी गयी प्रक्रिया अभ्रान्त रूप से इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि व्यक्ति-देह की मृत्यु, कम से कम कुछ प्रसंगों में, केवल जीवन के केन्द्रीय स्रोत और शरीर के किसी जीवनाधार अंग के बीच सम्बन्ध-विच्छेद का ही पर्यायवाची है, और यह कि जीवन में पुनःस्थापन का कार्य उन टूटे हुए सम्बन्धों की पुनःस्थापना पर ही निर्भर करता है। सुझाव का नियम यहाँ भी उतना ही प्रभावशाली ढंग से कार्य करता है जितना अन्यत्र, और नितान्त निःसन्देह अनेक प्रसंगों में असामयिक मृत्यु का कारण सुझाव ही होता है। आत्मा की शक्तियों के प्रति आजीवन बना रहने वाला सन्देह और मृत्यु का निरन्तर भय शरीर पर आज न कल अपना प्रभाव अवश्य ही उत्पन्न करते हैं; अतएव जब कोई ऐसा रोग आ उपस्थित होता है जो जीवन-भर में भोगे गये अन्य किसी भी रोग से अधिक गम्भीर हो, तब रोगी जीवन के विषय में शंकाग्रस्त हो जाता है और यह मान लेता है कि अब मरण का समय आ पहुँचा। इसमें आप विशेषज्ञों के आगमन, चिन्तित मित्रों और सम्बन्धियों की कानाफूसी, परिचारकों की गम्भीर और भयभीत मुद्राओं तथा सम्पत्ति के विभाजन हेतु वसीयत बनाने के लिये कुल-अधिवक्ता की पूछताछ से मन पर पड़ने वाले प्रभाव को भी जोड़ लीजिये, तो सहज ही देखा जा सकता है कि इन सबका सम्मिलित प्रभाव — और उन अनेक अन्य अवसादकारी तथा उत्साह-भंजक घटनाओं की तो चर्चा ही क्या — मृत्यु के लिये एक अत्यन्त प्रबल सुझाव का कार्य करेगा, जिसे स्वीकार करने के अतिरिक्त अवचेतन मन के पास और कोई विकल्प नहीं रह जाता। ऐसे बलवान् सुझाव का परिणाम यह होता है कि वह मन को अपनी ही क्रियाओं के प्रति अचेतन कर देता है, मस्तिष्क को पंगु बना देता है, और स्नायविक सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर देता है। यदि सम्बन्धों का यह विच्छेद शरीर से आत्मा के प्रस्थान के साथ हो, तो यही मृत्यु है।

किन्तु यह पूर्णतया कल्पनीय है कि कुछ प्रसंगों में जीवनाधार अंगों की क्रियाओं के रुक जाने पर भी आत्मा तत्काल शरीर को न छोड़े। सम्भवतः इन प्रसंगों में सम्बन्ध के मार्ग पूर्णतः नष्ट नहीं होते, केवल अवरुद्ध हो जाते हैं, और शारीरिक अंगों की क्रिया के रुकने के तत्काल पश्चात् आत्मा शरीर से नहीं जाती। कम से कम ऐसे प्रसंगों में यह सम्भव प्रतीत होता है कि सम्बन्ध-मार्गों से उस अवरोधक बाधा को हटाकर मृत को पुनः जीवित किया जा सके। यह याईर की पुत्री के प्रसंग की भाँति सुझाव द्वारा, अथवा विद्युत-आघात से मारे गये पशुओं के प्रसंग की भाँति लयबद्ध कम्पनों द्वारा, अथवा जल में डूबने के प्रसंगों की भाँति कृत्रिम श्वास-प्रक्रिया द्वारा, अथवा किसी अन्य उपयुक्त साधन द्वारा किया जा सकता है।

* तुलना कीजिये: "सोना विरक्त हो जाना है। जो माता अपने शिशु के पास सोती है, वह मेघ-गर्जन से भी नहीं हिलती, किन्तु शिशु की एक आह उसे जगा देती है। क्या वह अपने शिशु के प्रति सचमुच सोती है? जो हमें निरन्तर रुचिकर बना रहता है, उसके प्रति हम सोते नहीं।" —बर्गसाँ (Bergson), 'स्वप्नों पर'।

अतः हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मृतकों का पुनः जीवन में लौटना किसी भी प्रकार ऐसा विषय नहीं है जिसे सम्भावना की सीमा से सर्वथा परे मानना हमारे लिये उचित हो।

गौण चमत्कारों में हम स्वामी राम तीर्थ (Rama Tirtha) के चमत्कारों का उल्लेख कर सकते हैं, जो थोड़े ही समय पूर्व हमारे बीच विद्यमान थे। हिमालय के वनों में एकान्तवास करते हुए उनका सामना प्रायः हिंस्र पशुओं से होता था, किन्तु उन्होंने उनका कुछ भी अनिष्ट नहीं किया। एक बार पाँच भालू उनके सम्मुख आ खड़े हुए, परन्तु वे उन्हें तनिक भी कष्ट दिये बिना चले गये। एक अन्य अवसर पर एक जंगली भेड़िया उनके निकट आया; और फिर उसी वन में एक व्याघ्र से उनकी भेंट हुई। इन हिंस्र पशुओं द्वारा अपने अनाहत रह जाने का कारण स्वयं महान् स्वामी जी इस प्रकार बताते हैं — "ऐसा क्यों हुआ? केवल निर्भयता के कारण। राम उस भाव से परिपूर्ण थे: मैं देह नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ; मैं परम दिव्यता हूँ, मैं ईश्वर हूँ; कोई अग्नि मुझे जला नहीं सकती, कोई शस्त्र मुझे बींध नहीं सकता। उन (हिंस्र पशुओं) की आँखों में सीधे देखा गया और वे भाग खड़े हुए।"

हम प्राचीन अभिलेखों से ऐसे अनेक दृष्टान्त उद्धृत कर सकते हैं, किन्तु उन्हें यहाँ देने से कोई प्रयोजन सिद्ध न होगा।

धर्म यह सिखाता है कि जो एक बार किया जा चुका है वह पुनः किया जा सकता है, और हममें से प्रत्येक के द्वारा किया जा सकता है; और डॉ. कोश (Coche) का प्रयोग इस शाश्वत सत्य का व्यावहारिक प्रमाण है। जब मनुष्य पिता के समान पूर्ण हो जाता है, तब उसे वे समस्त चमत्कार कर दिखाने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है जो अतीत के असंख्य ईश्वर-पुरुषों के नाम मढ़े गये हैं। किन्तु पिता-सदृश उस पूर्णता की

प्राप्ति, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, उस अधिकार पर निर्भर करती है जिसे मनुष्य अपने बहिर्मुख मन पर प्राप्त करता है, और जो भीतर की चेतना को मुक्त कर देगा तथा आत्मा को अपनी प्रसुप्त दिव्य शक्तियों और ईश्वरीय सामर्थ्यों का साक्षात्कार करने में समर्थ बनायेगा। सफलता का रहस्य उन मिथ्या संस्कारों के निवारण में निहित है जो इस समय जीवन के अनेकानेक क्षेत्रों में हमारे आचरण का संचालन कर रहे हैं और जिन्होंने हमारे भीतर विचार की गहरी जड़ें जमाये हुए आदतें बना डाली हैं। धर्म यह बताता है कि दुःख का मूल कारण अपने को देह के साथ एक मानने की धारणा है, और वह उन समस्त विचारों तथा कर्मों के त्याग का विधान करता है जो इस प्रकार की धारणा को प्रोत्साहन अथवा पुष्टि देते हैं। सुझाव को भी सेवा में नियुक्त करना होगा, क्योंकि वह निम्न मन को वश में करने के सर्वाधिक प्रबल साधनों में से एक है। सुझाव का महत्त्व अब सब ओर स्वीकार किया जाने लगा है। महाशय ज्याँ फ़िनो (Jean Finot) 'द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ लॉन्ग लाइफ़' (The Philosophy of Long Life) में लिखते हैं —

> **"निःसन्देह यह कुप्रयुक्त सुझाव ही है जो उसे [जीवन को] छोटा कर देता है। एक निश्चित आयु पर पहुँचकर हम निकट आते हुए अन्त के विचार से अपने को मूर्च्छित कर लेते हैं। हम अपनी शक्तियों में विश्वास खो बैठते हैं, और वे हमें छोड़ जाती हैं। कन्धों पर पड़े आयु के भार के बहाने हम बैठे रहने की आदतें अपना लेते हैं। हम अपने कार्य-व्यापारों में लगे रहना छोड़ देते हैं। धीरे-धीरे आलस्य से दूषित हमारा रुधिर और भली-भाँति नवीन न हुए हमारे ऊतक सब प्रकार के रोगों के लिये द्वार खोल देते हैं। असामयिक वार्धक्य हम पर आक्रमण करता है, और एक अहितकर आत्म-सुझाव के परिणामस्वरूप हम आवश्यकता से पहले ही काल-कवलित हो जाते हैं। अब हम यह प्रयत्न करें कि आत्म-सुझाव से मरने के स्थान पर आत्म-सुझाव से जियें। हम सशक्त और स्वस्थ वृद्धावस्था के असंख्य उदाहरणों को सदैव अपनी आँखों के सामने रखें। हमें अपने मस्तिष्कों में स्वस्थ, प्रशान्त और सुखकर सुझावों का संचय करना चाहिये।"**

योगीजन इस पर बल देते हैं कि हमें सर्वप्रथम अपनी स्मृति से संचित अस्वस्थ सुझावों को पोंछ डालना चाहिये और सत्य के ज्ञान के आलोक में अपने विचारों को पुनः व्यवस्थित करना चाहिये। किन्तु यह विपुल मानसिक श्रम के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि स्मृति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे किसी ज्ञात प्रक्रिया से बाहर निकालकर, स्वच्छ करके, पुनः यथास्थान रख दिया जाये। इस प्रयोजन के लिये कठोर मानसिक अनुशीलन अपेक्षित है, जिसमें मस्तिष्क तथा मेरुदण्ड के स्नायविक द्रव्य में बने पुराने और गहरे जमे हुए मार्गों को बन्द करना और उनके स्थान पर नये मार्गों को खोलना आवश्यक होता है। जैसा कि विवेकानन्द (Vivekananda) कहते हैं —

> **"आगे चलकर हम यह पायेंगे कि इन मानसिक विषयों के अध्ययन में शरीर के भीतर पर्याप्त क्रिया होती रहती है। स्नायु-प्रवाहों को स्थानान्तरित करके नये मार्ग देने होंगे। नये प्रकार के कम्पन आरम्भ होंगे, मानो सम्पूर्ण गठन ही नये सिरे से ढाला जायेगा। किन्तु क्रिया का मुख्य भाग मेरुदण्ड के साथ-साथ ही होगा, अतएव आसन के लिये एक ही बात आवश्यक है कि मेरुदण्ड को मुक्त रखा जाये, सीधे बैठा जाये, और तीनों भागों — वक्ष, ग्रीवा और शिर — को एक सीधी रेखा में रखा जाये।"**

आध्यात्मिक एकाग्रता का अभ्यास करने वाला कोई भी व्यक्ति अपने स्नायुओं में, विशेषतः शिर और मुख के स्नायुओं में, सूक्ष्म परिवर्तन होते हुए अनुभव करेगा। इन्हीं परिवर्तनों के कारण योगी का मुख शान्त और दीप्तिमान्, उसके अंग-प्रत्यंग परिष्कृत और सुन्दर, तथा उसका स्वर मधुर और संगीतमय हो जाता है; और इन्हीं परिवर्तनों के कारण उसमें उच्चतर शक्तियों का विकास भी होता है। अब यह विवादास्पद नहीं रहा कि मानव-मस्तिष्क के भीतर कुछ ऐसे प्रदेश अथवा केन्द्र हैं जो विशिष्ट कार्य सम्पन्न करते हैं। मनुष्य की शक्तियाँ और सामर्थ्य इन्हीं केन्द्रों अथवा प्रदेशों के विकास के कारण हैं, और उसकी न्यूनताओं का उद्गम भी इनमें से किसी एक अथवा अनेक की अविकसित अथवा क्षीण अवस्था में ही खोजा जाना चाहिये।* योगी इनमें से किसी भी अथवा सभी केन्द्रों का विकास इच्छानुसार कर सकता है; अतएव उसकी शक्तियों की कोई सीमा नहीं। करने योग्य केवल इतना ही है कि स्नायविक द्रव्य को पुनः व्यवस्थित किया जाये और उसे क्रियाशीलता के लिये उद्दीप्त किया जाये।

* उदाहरणार्थ, शिर के गति-सम्बन्धी प्रदेशों की क्षति से वह उत्पन्न होता है जिसे एफ़ीमिया अथवा मोटर एफ़ेज़िया (motor aphasia) कहते हैं, जो न तो स्वर का लोप है और न जिह्वा या ओष्ठों का पक्षाघात, अपितु किसी भी शब्द को उच्चारित कर सकने की असमर्थता है, अथवा कुछ अर्थहीन रूढ़ वाक्यांशों का उच्चारण मात्र है, तथा वाणी में विविध मात्राओं में शब्दों का अशुद्ध उच्चारण, अस्थान-प्रयोग और दुरुपयोग है। —(प्रो. जेम्स — Prof. James)।

यहाँ योग की विधियों के अभ्यास के विषय में एक चेतावनी आवश्यक प्रतीत होती है। चूँकि इन अभ्यासों में मस्तिष्क-कोशिकाओं तथा स्नायु-प्रवाहों की व्यवस्था में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन निहित हैं, अतः नौसिखिया साधक, जब तक कि उसने इस विषय को भली-भाँति समझ और साध न लिया हो और वह अपनी विधि में अत्यन्त सावधान न हो, किसी योग्य गुरु से विधिवत् शिक्षा प्राप्त किये बिना योग-अभ्यास करके अपनी बड़ी हानि कर बैठने की सम्भावना रखता है। किसी प्रतीयमान रूप से तुच्छ विवरण में हुई थोड़ी-सी भूल, आसन की स्वाभाविक सहजता की तनिक-सी भ्रान्त समझ, और किसी विशेष अभ्यास का थोड़ा-सा भी अतिरेक — इन सबका परिणाम प्रायः अत्यन्त विपत्तिजनक देखा गया है। अपने योग-अभ्यास में उचित मार्गदर्शन के अभाव में अनेक व्यक्ति उन्मत्त हो चुके हैं। इसी कारण गुरु का मार्गदर्शन, जो उन व्यावहारिक कठिनाइयों को जानता है जिनसे नवसाधक का प्रायः सामना होता है और जो अपने

स्वयं के साधना-काल में सीखे गये व्यावहारिक सुझावों के द्वारा उसे उन कठिनाइयों से पार लगा सकता है, अनिवार्य माना और विहित किया गया है। विरल परिस्थितियों को छोड़कर कोई भी व्यक्ति उन प्राचीन ऋषियों के इस परामर्श की उपेक्षा करने का सामर्थ्य नहीं रखता, जिन्होंने इस विज्ञान की नींव रखी थी। किन्तु कहा जाता है कि यह कठिनाई ज्ञानयोग के अनुयायियों के मार्ग में अधिक बाधक नहीं होती, जो सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति का लक्ष्य रखते हैं और शेष सारे विवरणों को स्वयं ही व्यवस्थित हो जाने के लिये छोड़ देते हैं। स्वामी राम तीर्थ कहते हैं —

> **"वेदान्तिक योग का साक्षात्कार करने के लिये आपको वनों में जाकर असामान्य साधनाएँ करने की कोई आवश्यकता नहीं। जब आप क्रिया में लीन अथवा कर्म में तल्लीन होते हैं, तब आप ही योग के पिता, स्वयं शिव हैं।"**

जब अतीत में आत्मा के ईश्वरीय स्वभाव का अज्ञान ही समस्त संकट का कारण रहा है, तब अब सम्यक् दिशा में धारणा का परिवर्तन आत्मा के साथ एकत्व की अवस्था अवश्य ही उत्पन्न करेगा। अतएव ज्ञानी को जितना भी योग करना अपेक्षित है, वह इतना ही है कि आत्मा के परमात्मा अर्थात् ईश्वर होने के सत्य में उसकी अटल प्रतीति हो जाये। इसका अनुभव कीजिये, और आप मुक्त हैं।

किन्तु व्यवहार में यह देखा जायेगा कि श्रद्धा को दृढ़ करना उससे कहीं कठिन कार्य है जितना अनेक लोग समझते हैं। भारत में सहस्रों ऐसे मनुष्य हैं जो अपनी आत्माओं को ईश्वर जानते और सैद्धान्तिक रूप से मानते हैं, तथापि वे भ्रम में निराशाजनक रूप से फँसे हुए हैं और उसके प्रलोभनों तथा जालों के सम्मुख नितान्त असहाय हैं। इन मनुष्यों को इसका कोई बोध नहीं कि ईश्वर-चेतना का वास्तविक भोग अथवा साक्षात्कार क्या होता है। ईश्वर-चेतना की प्राप्ति सत्य की उस कोटि की अटल, अपरिवर्तनीय प्रतीति पर निर्भर करती है कि मनुष्य उसके निमित्त अपना सर्वस्व दाँव पर लगाने को, अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण तक जोखिम में डालने को, उद्यत हो। ऐसी प्रतीति के लिये आवश्यक है कि मन अपने ही ईश्वरत्व की तथा इन्द्रिय-विषयों की अनिष्टकारिता की धारणा से पूर्णतः आप्लावित हो जाये। श्रद्धा का यही वह मानदण्ड है जिस तक उन सबको पहुँचना है जो मुक्त होने की आकांक्षा रखते हैं। यह देखा जायेगा कि प्रत्येक विवेकसम्मत धर्म में साधक की श्रद्धा को नाना उपायों से दृढ़ करने का आरम्भिक प्रयत्न किया जाता है। पुराणों जैसे ग्रन्थों का निरन्तर पाठ, जो सरल और सुगम भाषा में दिव्य दर्शन के महान् सत्यों की शिक्षा देते और उन्हें दृष्टान्तों से स्पष्ट करते हैं; कथाओं (सन्तों तथा पूजित पुरुषों के चरितों) का श्रवण-कीर्तन; शास्त्रों के अर्थ और दर्शन पर निरन्तर मनन; ॐ जैसे स्तोत्रों और पवित्र मन्त्रों का दैनिक जप; तथा कतिपय स्नायविक केन्द्रों पर मन का स्थिरीकरण — जो मानसिक शक्तियाँ अर्जित

करने के उद्देश्य से नहीं, अपितु देह और माया के बन्धन से मुक्ति की उस महती और आनन्दमयी अवस्था के साक्षात्कार के एकमात्र लक्ष्य से किया जाता है — ये धर्म द्वारा सुझाये गये अनेक साधनों में से कुछ हैं। दुष्ट भावनाओं और अपवित्र वासनाओं का निग्रह, विद्वान् और सुपात्र जनों को यथोचित दान, तथा दैनिक भक्ति और ध्यान — ये सब भी, जो देह से उत्पन्न व्यक्तिगत आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओं का विनाश करने की ओर प्रवृत्त हैं, ऐसे कर्म हैं जो मन को पदार्थ के आधिपत्य और इन्द्रियों की दासता को उलट देने की ओर ले जाने के लिये सुविचारित हैं। यूखरिस्त (Eucharist) का सिद्धान्त भी इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिये अभिप्रेत था, यद्यपि अनेक लोगों ने ईसा के दिनों में भी उसे एक 'कठोर' वचन माना।

वस्तुतः यूखरिस्त के दर्शन की उसी 'कठोरता' में उसका सार निहित है। सामान्यतः एक रूखी और खटकने वाली उक्ति मन में किसी साधारण दार्शनिक सूक्ति अथवा प्रशंसात्मक वचन की अपेक्षा अधिक देर तक टिकती है और अधिक गहरी छाप छोड़ती है; और इसी कारण वह ध्यान के कार्य को सिद्ध करना सुगम बना देती है। यदि ईसा ने यह कहा होता कि 'जो रोटी तुम खाते हो और जो मदिरा तुम पीते हो, वह ईश्वर की दी हुई है,' तो किसी को भी वह कथन पचाने में कठिन न लगता, और वह विषय कोई विवाद-भावना उत्तेजित न करता। मानव-स्वभाव को भली-भाँति जानते हुए उन्होंने उन्हें एक 'कठोर' वचन के रूप में दर्शन की एक समस्या दी, और उन्हें ऐसी रोटी और मदिरा प्रस्तुत की जिसका गुण इतना अरुचिकर था कि वे सहज ही निगली न जा सकीं। उनका उद्देश्य यह था कि प्रयुक्त शब्दों का शाब्दिक अर्थ इतना विकर्षक और रहस्यमय बना दिया जाये कि उनके मन उससे मुड़कर उस सिद्धान्त की गुप्त व्याख्या खोजने में लग जायें, और इस प्रकार जब-जब रोटी तोड़ी जाये अथवा मदिरा चखी जाये, तब-तब वह छाप और गहरी होती जाये।

यह सब सम्यक् ध्यान के लिये परोक्ष रूप से एक प्रबल प्रेरणा का कार्य करता, किन्तु दुर्भाग्यवश उनके अशिक्षित श्रोताओं में से किसी ने भी उन्हें इस दृष्टि से नहीं समझा। उनके कुछ शिष्यों ने तो इस पर कुड़कुड़ाया भी, यद्यपि उनकी अद्भुत शक्तियों के प्रति उनकी महती श्रद्धा ने उन्हें उनका अनुगमन छोड़ने से रोक दिया।

यदि उस मसीही उक्ति का यथार्थ अभिप्राय मनुष्यों ने समझ लिया होता, तो प्रभु-भोज को व्यर्थ रहस्यवाद और निष्फल कर्मकाण्डीय संस्कार के क्षेत्र में ढकेल देने के स्थान पर पवित्र ध्यान के अभ्यास तथा श्रद्धा को दृढ़ करने के सर्वाधिक प्रबल साधनों में से एक स्वीकार किया गया होता। वह मनुष्यों को, जब-जब वे अपनी रोटी तोड़ते, वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप का स्मरण कराता, और इस प्रकार उनकी श्रद्धा को पुष्ट करता तथा उन्हें ईश्वर के राज्य के साक्षात्कार के निकट लाता।

रोटी के प्रभु का मांस और मदिरा के उनका रुधिर होने का सत्य समझने के लिये हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सम्पूर्ण विश्व लोगोस (Logos) के शरीर के रूप में विद्यमान माना जाता है, जिसे उसके ब्रह्माण्डीय रूप में उस विश्वरूप में चिन्तित करना चाहिये जो कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अर्जुन को दिखाया गया कहा जाता है।* इस सन्दर्भ में हमारे अपने समय के एक अग्रगण्य अंग्रेज़ वैज्ञानिक के निम्नलिखित विचार लाभपूर्वक पढ़े जा सकते हैं —

* देखिये भगवद्गीता, अध्याय ११।

> **"यह अनुमान किया गया है... कि जिस प्रकार पदार्थ के अणु और परमाणु अपनी जटिल गतियों और सम्बन्धों में मिलकर किसी मनुष्य की मस्तिष्क-कोशिका का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार सम्भवतः ब्रह्माण्डीय पिण्ड, ग्रह और सूर्य तथा ईथर के अन्य समूह मिलकर कुछ ऐसा बना सकते हैं जो किसी लोकोत्तर मन की, मानो, मस्तिष्क-कोशिका के अनुरूप हो। यह विचार न्यूटन (Newton) में भी मिलता है। यह बात मात्र अटकल है, यह असम्भव नहीं है, और वैज्ञानिक तथ्य पर आधारित किसी नकारात्मक कथन के द्वारा इसे किसी दार्शनिक प्रणाली से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता।"**
> **—'लाइफ़ एण्ड मैटर' (Life and Matter), पृ. ११२।**

किन्तु विश्वव्यापी मन की कल्पना दर्शन में सर्वथा असमर्थनीय है, क्योंकि वह जीवन का शुद्ध मानवीकरण मात्र है; तथापि इस आधार पर उस कथन का रत्ती भर भी मूल्य कम नहीं होता, क्योंकि ईसा का लक्ष्य अपने श्रोताओं में ध्यान की आदत विकसित करना था।

इस मानवीकरण का मूल आधार इस संसार और स्वप्न के बीच वह सादृश्य है जिसे दुहराते हुए वेदान्त कभी नहीं थकता। विश्व को लोगोस का शरीर उसी प्रकार माना जाता है जिस प्रकार स्वप्न को किसी विचार का मूर्त उन्मीलन कहा जा सकता है। तदनन्तर इस सादृश्य को उस विचार की अन्तर्वस्तु तक बढ़ाया जाता है, जो लोगोस के शरीर का प्रतिनिधित्व करती है। अतएव जिस रोटी और मदिरा को हम कभी-कभी स्वप्न में खाते-पीते हैं, वह स्वप्न देखने वाले के मन के भीतर ही स्थित मानी जाती है, और इसी कारण उसका मांस और रुधिर कही जाती है। अब मान लीजिये कि स्वप्न देखने वाला स्वप्न देखते-देखते ही अपने स्वप्न के स्वरूप के विषय में प्रबुद्ध हो जाये, और वेदान्त के सिद्धान्तों के अनुसार अपने को उस स्वप्न की 'परमात्मा' के साथ अभिन्न पहचान ले। क्या तब वह उस स्वप्न की काल्पनिक रोटी और मदिरा को अपना मांस और रुधिर कहने में न्यायसंगत न होगा? ठीक यही स्थिति उन लोगों की है जो इस संसार की वस्तुओं का वर्णन एक कठोर, अनम्य भाववाद के दृष्टिकोण से करते हैं। जो मुनि अपनी चेतना को 'सर्व' की चेतना के साथ अभिन्न कर लेता है, और परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्व को अपना

शरीर मानता है, वह प्रायः इसी विशेष दृष्टिकोण से जगत्-रहस्य का प्रतिपादन करता है। तब वह समस्त भौतिक वस्तुओं को अपना मांस और रुधिर मानने के लिये विवश हो जाता है; क्योंकि जब वह सम्पूर्ण विश्व को अपना शरीर देखता है, तब वह रोटी और मदिरा को भी अपने शरीर के अंग, और इस नाते अपना मांस और रुधिर, माने बिना नहीं रह सकता। इसी अर्थ में ईसा ने रोटी और मदिरा को अपना मांस और रुधिर बताया था, इस अभिप्राय से कि इस विचार की विकर्षकता उनके श्रोताओं की विचार-शक्ति को उद्दीप्त करे और उन्हें उस उक्ति के यथार्थ दर्शन पर मनन करने की ओर ले जाये। यदि मनुष्य-जाति रोटी तोड़ते और मदिरा चखते समय इस पर विचार भर करे, तो वह पाये कि इस सिद्धान्त के सत्य को समझने का प्रयत्न ही इन्द्रिय-विषयों के मायिक स्वरूप को उनके मनों पर गहराई से अंकित करके उन्हें ईश्वर के राज्य के निकट लाने की ओर प्रवृत्त होगा। वह उन्हें ईश्वर की एक यथार्थ धारणा देगा, जो मुक्ति का एकमात्र साधन है; क्योंकि स्वीडनबोर्ग (Swedenborg) के शब्दों में —

> **"ईश्वर के ज्ञान और अंगीकार पर ही प्रत्येक जन की मुक्ति निर्भर है; क्योंकि समस्त स्वर्ग, और पृथ्वी पर की समस्त चर्च, और सामान्यतः समस्त धर्म, ईश्वर की एक यथार्थ धारणा पर ही आधारित हैं; क्योंकि इसी से संयोग होता है, और संयोग से प्रकाश, प्रज्ञा और सनातन सुख।"***

* 'द एपोकैलिप्स रिवील्ड' (The Apocalypse Revealed), सं. ४६९ (बैरट (Barret) कृत 'न्यू डिस्पेन्सेशन' (New Dispensation), पृ. ११८ में उद्धृत)।

यह विकर्षण तभी अनुभव होता है जब देह को ही मनुष्य माना जाये, आत्मा को नहीं। ईसा के श्रोताओं ने यह समझा कि बोलने वाला उस भौतिक मनुष्य के अतिरिक्त और कोई नहीं जो हाड़-मांस सहित उनके सम्मुख खड़ा था, और इसी कारण वे भ्रम में पड़ गये। किन्तु यथार्थ वक्ता तो वह सूक्ष्म, अदृश्य शक्ति अथवा द्रव्य है जिसे नाना नामों से — जीवन, आत्मा, आत्मन् इत्यादि — पुकारा जाता है।

वही थे जिन्होंने कहा था, "यह मेरी देह है, जो तुम्हारे लिये दी जाती है: मेरे स्मरण के लिये यही किया करो।" (लूका २२:१९)। जिस मुख का प्रयोग इस विचार को वाणी देने के लिये हुआ, वह निःसन्देह ईसा का ही था, किन्तु वक्ता वे नहीं थे, अपितु ब्रह्माण्डीय आत्मा अथवा परमात्मा के रूप में मूर्त जीवन था।

श्रद्धा को दृढ़ करने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण साधन पवित्र मन्त्रों, अर्थात् धार्मिक सूत्रों अथवा पाठों, का जप है, जिनमें एकाक्षर ॐ अथवा ओम् सर्वाधिक प्रबल है, क्योंकि वह आध्यात्मिक रूप से विकसित प्राणियों के पाँच वर्गों — अरिहंत (पूर्ण पुरुष), अशरीरी अर्थात् सिद्ध (मुक्त आत्माएँ), आचार्य (आध्यात्मिक मार्गदर्शक), उपाध्याय (धार्मिक अध्यापक) और मुनि (साधुजन) — का द्योतक है।*

हिन्दू धर्म के अनुसार ॐ ही देवता का सर्वाधिक उपयुक्त नाम है। वे ॐ कहलाते हैं, क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं, क्योंकि वे सबकी रक्षा करते हैं, और क्योंकि अ, उ और म् — ये तीन अक्षर जिनसे यह शब्द बना है — परम उत्कृष्ट, परम उच्च और परम प्रज्ञ के द्योतक हैं; क्योंकि 'अ' आनन्द का सूचक है, 'औ' ओज अर्थात् शक्ति का द्योतक है, और 'म' का अर्थ धारक अथवा रक्षक है। इस प्रकार ॐ का त्रिविध अभिप्राय है और वह ब्रह्म के त्रिविध गुणों को सूचित करता है। प्रथमतः वे सर्वव्यापी, सर्वरक्षक और सर्वज्ञ हैं; द्वितीयतः वे परम उत्कृष्ट रूप से उच्च और प्रज्ञ हैं; और तृतीयतः वे आनन्दमय, सर्वशक्तिमान् और सर्वाधार हैं।† अपनी पूर्ण उपयुक्तता तथा निश्चित और व्यापक स्वरूप के कारण 'ॐ' शब्द परमात्मा का सर्वाधिक प्रतीकात्मक नाम कहा जाता है।

---

* देखिये वी. आर. गान्धी (V. R. Gandhi) कृत 'जैन फ़िलॉसफ़ी' (Jaina Philosophy), पृ. ८५-८६। † देखिये 'द सेक्रेड बुक्स ऑफ़ द हिन्दूज़' (The Sacred Books of the Hindus), खण्ड ३, भाग १।

अब, चूँकि जप स्वयं में साध्य नहीं अपितु साधन मात्र है, और उसका आश्रय केवल इस उद्देश्य से लिया जाता है कि जपे जाने वाले शब्द द्वारा सूचित ईश्वर के सद्गुण और मंगलमयता के पवित्र भावों के बल पर मानव-मन दिव्य, ईश्वरीय कम्पनों में प्रतिष्ठित हो जाये, अतः यह निष्पन्न होता है कि जिस पद में दिव्य शक्तियों और गुणों की सर्वाधिक विस्तृत गणना समाहित हो, वही आत्मा के उत्थान का सर्वोत्तम साधन बनेगा। इसी कारण देवता का कोई अन्य नाम नहीं जो ॐ पर वरीयता का दावा कर सके। इस पद की अद्भुत सामर्थ्य के विषय में स्वामी राम तीर्थ लिखते हैं —

> **"इस विचार [आत्मा की दिव्यता] का साक्षात्कार करने और यथार्थ आत्मा में जागने के लिये आरम्भ करने वाले साधक को ॐ अक्षर से महती सहायता मिलती है। ॐ अक्षर का जप करते समय वेदान्ती के लिये उसका भाव, उसका अर्थ यह होता है: 'मैं ज्योतियों की ज्योति हूँ; मैं सूर्य हूँ, मैं यथार्थ सूर्य हूँ, यह प्रत्यक्ष सूर्य तो मेरा प्रतीक मात्र है। मैं वह सूर्य हूँ जिसके सम्मुख ग्रह और समस्त पिण्ड परिक्रमा करते हैं। मेरे ही निमित्त समस्त स्वर्गीय तथा मानवीय पिण्ड अपनी गतियाँ करते हैं, सब कुछ करते हैं। मैं अचल हूँ, शाश्वत हूँ, कल जो था वही आज हूँ और सदा रहूँगा। मेरे सम्मुख यह सम्पूर्ण भूगोल, यह सम्पूर्ण विश्व अपने को उन्मीलित करता है। वह घूम-घूमकर मेरे सम्मुख अपने सब अंग प्रकट करता है — अपना सब कुछ मुझे दिखाने के लिये। पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है कि मेरे सम्मुख अपने सब पार्श्व खोल दे; विश्व मेरे लिये सब प्रकार के कार्य करता है; सूर्य मेरे निमित्त आभा बिखेरता है; चन्द्रमा मेरे निमित्त, मेरे सम्मुख, चमकता है।'"**

इस प्रकार आत्मा की महिमा का गान आत्मा की नकारात्मक लय को सकारात्मक में बदलने का सर्वाधिक प्रबल साधन है। क्योंकि इच्छा सर्वशक्तिमती है, किन्तु तर्कहीन है, और इसी कारण सुझाव के अधीन है। जब तक वह असामर्थ्य और निर्बलता के भाव से भरी रहती है, तब तक वह अपनी दिव्य शक्तियाँ प्रकट नहीं कर सकती। अतएव उसकी महिमा का गान ही वह सर्वाधिक प्रबल साधन है जिससे व्यक्ति-चेतना अपनी कल्पित दुर्बलता के अनिष्टकारी भाव से शुद्ध होती है और निराशा तथा नकार के दलदल से बाहर उठायी जाती है। वह तत्काल उस गान का उत्तर देती है, और 'ॐ' जैसे एकाक्षर पवित्र मन्त्रों से उत्पन्न होने वाले शक्ति के आनन्दमय कम्पन हमारे कथन का सबल व्यावहारिक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। किन्तु यह स्पष्ट रूप से समझ लिया जाये कि केवल माला के मनके गिनना समय का सर्वथा अपव्यय है। हित केवल ईश्वरत्व के गुणों और विशेषताओं पर ध्यान करने में है, न कि शब्दों में, न माला में, न मनकों में, और न उस डोरे में जिसमें वे पिरोये गये हैं। इस अभ्यास से लाभ केवल वही उठा सकता है जो अपनी आत्मा को ईश्वर जानता है और वैसा ही ध्यान करता है।

अब हम भक्तियोग की ओर अपना ध्यान मोड़ सकते हैं, जो आत्म-साक्षात्कार का सबसे सरल और इसी कारण सर्वाधिक लोकप्रिय मार्ग समझा जाता है। किन्तु दुर्भाग्यवश भक्ति अथवा प्रेम और मुक्ति के बीच कोई प्रत्यक्ष कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है, अतएव यदि भक्ति को कभी निर्वाण तक पहुँचाना है तो उसे किसी अन्य पद्धति के लिये स्थान देना ही होगा। तथापि कहा जाता है कि भक्ति ईश्वर-दर्शन तक ले जाती है, जिसे भक्तिपरक रहस्यवाद का सम्प्रदाय विकास का चरम लक्ष्य मानता है। ईश्वर-दर्शन की इस धारणा का अभिप्राय क्या है, यह श्री रामकृष्ण परमहंस (Sri Ram Krishna Paramahamsa) नामक एक हिन्दू सन्त के, जो अभी हाल में ही हुए हैं, एक लघु उपदेश से जाना जा सकता है। एक शिष्य द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या ईश्वर को देखना सम्भव है, उन्होंने उत्तर दिया — "निश्चय ही। ईश्वर को देखने के कुछ साधन ये हैं: (१) समय-समय पर एकान्त में जाना, (२) उनके नामों और गुणों का कीर्तन, (३) विवेक, और (४) प्रभु के लिये तड़प के साथ की गयी सच्ची प्रार्थना। यदि तुम्हारा उनके प्रति प्रेम उन तीनों आसक्तियों को मिलाकर जितना हो उतना प्रबल हो, तो तुम ईश्वर को देख सकते हो, अर्थात् संसारी मनुष्य की संसार की वस्तुओं के प्रति आसक्ति, माता की अपने शिशु के प्रति आसक्ति, और पतिव्रता तथा अनुरक्त पत्नी की अपने पति के प्रति आसक्ति। बात यह है कि ईश्वर को देखने के लिये मनुष्य को हृदय और आत्मा से उन्हें प्रेम करना चाहिये।"

यहाँ भी ईश्वर के दर्शन और व्यक्ति की मुक्ति के बीच कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने का तनिक भी प्रयत्न नहीं किया गया, और न ही इसका कोई स्पष्टीकरण दिया गया कि किसी अन्य के दर्शन से आत्मा को यथार्थ और चिरस्थायी आनन्द किस प्रकार प्राप्त होगा। तथ्य यह है कि रहस्यवाद तर्क से ऊपर

उड़ने की आकांक्षा रखता है, और परिणामतः उन आधारों के विषय में अधिक सतर्क नहीं रहता जिन पर वह अपने निष्कर्षों को टिकाता है। अतएव किसी उपदेश में रहस्य का भाव जितना गहरा और तर्क की निन्दा जितनी प्रबल होगी, भक्त उसकी उतनी ही अधिक प्रशंसा करेगा। बुद्धि की वाणी के विरुद्ध मृदुतर प्रकार के विरोध का एक नमूना यह है —

> **"केवल परमेश्वर के प्रति प्रेम ही सच्ची भक्ति है। सच्चे भक्त के लिये समस्त दार्शनिक भेद व्यर्थ की बातें मात्र हैं। वह तर्क की तनिक भी परवाह नहीं करता, वह विचार नहीं करता, वह अनुभव करता है, वह प्रत्यक्ष करता है।"**

वह ईश्वर के शुद्ध प्रेम में अपने आपको खो देना चाहता है, और ऐसे भक्त हुए हैं जो यह मानते हैं कि यह मुक्ति से भी अधिक वाञ्छनीय है; जो कहते हैं, 'मैं शर्करा होना नहीं चाहता, मैं शर्करा का स्वाद लेना चाहता हूँ।' मैं प्रियतम से प्रेम करना और उसका आस्वाद लेना चाहता हूँ।"

यह उन्हीं अंशों में से एक है जो सहस्र तर्कों की अपेक्षा रहस्यवाद (Mysticism) का प्रयोजन कहीं अधिक सिद्ध करते हैं, और बुद्धि की वाणी को त्याग देने के लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। ऐसा कोई सच्चा भक्त नहीं जो वाद-विवाद में परास्त होने पर बुद्धि पर व्यंग्य-बाण न चलाता हो।

जब बुद्धि की वाणी को सदा के लिए मौन कर दिया गया, तब हमें रहस्यवादी सन्तों के कथनों अथवा कर्मों पर आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं, जिनमें से कुछ तो यहाँ तक उपदेश देते हैं कि ईश्वर की उपासना अपने ही सन्तान के रूप में की जाए, जिससे भय अथवा श्रद्धा का कोई भाव शेष न रह जाए जो प्रेम की पूर्णता में बाधक हो। किन्तु यह अत्यन्त चरम दृष्टिकोण है, क्योंकि भक्ति का भाव भय के तत्त्व पर आधारित नहीं है, और न वह किसी ऐसे देव या देवी के अस्तित्व को स्वीकार करता है जिसे प्रसन्न या शान्त करना हो।

प्रेम में भय हो ही नहीं सकता, और न तब तक भक्ति का आरम्भ ही कहा जा सकता है जब तक मनुष्य अपने आराध्य के निकट जाने से डरता है। किन्तु भय की औषधि इसमें नहीं कि ईश्वर को अपनी सन्तान माना जाए, अपितु इसमें कि अपना ध्यान अस्वाभाविक आराध्य से हटाकर स्वाभाविक आराध्य पर लगाया जाए; क्योंकि जहाँ कोई भी मनुष्य किसी शत्रु अथवा दण्ड देने वाले अधिकारी के प्रति चिरकाल तक प्रेम का भाव नहीं रख सकता, चाहे वह उसकी शक्ति के कारण उसका कितना ही 'आदर' क्यों न करे, वहाँ हृदय उस सच्चे प्रेम-पात्र की ओर तत्काल और अटूट रूप से खिंच जाता है, जिस क्षण वह आराधना के योग्य सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार भक्ति में प्रियतम से याचना अथवा सौदेबाजी के लिए कोई स्थान नहीं। वरदान माँगने का विचार भक्त के लिए एक प्रकार का धर्म-द्रोह है। वह सहायता, स्वास्थ्य, धन, अथवा स्वर्ग जाने तक के लिए प्रार्थना नहीं करेगा। जो प्रेम के पथ पर आरूढ़ होना चाहता है, उसे ऐसी समस्त कामनाएँ त्यागनी होंगी और अपने मन को पवित्र विचारों से भरना होगा। जो प्रियतम की सन्निधि में आना चाहता है, उसे समस्त दुकानदारी-धर्म की गठरी बाँधकर अपने से दूर फेंक देनी होगी, तभी वह उस पावन देवालय के भीतर पाँव रखने दिया जाएगा।

बात यह नहीं कि आप जिसके लिए प्रार्थना करते हैं वह आपको मिलता ही नहीं, क्योंकि यह तो प्रकृति के कतिपय नियमों के व्यापार पर निर्भर है; किन्तु यह नीच और ओछा है,—भिखारी का धर्म है। सचमुच मूर्ख है वह, जो गंगा के तट पर रहते हुए जल के लिए एक छोटा-सा कुआँ खोदता है। सचमुच मूर्ख है वह, जो हीरे की खान में आकर काँच के मनके ढूँढ़ने लगता है। सहायता, स्वास्थ्य, धन और भौतिक समृद्धि के लिए की गई ये प्रार्थनाएँ भक्ति नहीं हैं; वे कर्म का निकृष्टतम रूप हैं; और वे आत्मा के महान् आदर्श की सिद्धि के मार्ग में बाधक होती हैं।

प्रेम एक भावावेग है, वस्तुओं का विनिमय अथवा सम्पत्ति का लेन-देन नहीं; उसका सौदेबाजी की वृत्ति से कुछ भी साम्य नहीं। सच्चा भक्त अपने प्रेम-पात्र के लिए सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक न्योछावर कर देता है, और अपने प्रियतम के देदीप्यमान, गौरवमय मुख की एक क्षणिक झलक पाने के लिए घर, परिवार, धन और वह सब कुछ जो उसका अपना हो, स्वेच्छा से त्याग देगा। उसके कानों और नेत्रों के लिए केवल उसका प्रेम-पात्र ही रह जाता है, और वह मनुष्यों के कार्य-व्यापारों में कोई रुचि नहीं लेता। वह उनकी संगति से बचता है जो संसार के कामों में डूबे हुए हैं, और अपने प्रियतम की खोज में पृथ्वी पर परिव्राजक बन जाता है, शरीर की आवश्यकताओं और ऋतुओं की प्रचण्डता से निरपेक्ष। वह मनुष्यों के उपहास और अपनी ही अधम प्रकृति की मनुहारों—दोनों की उपेक्षा करता है। एक शब्द में, वह प्रेम में उन्मत्त हो जाता है।

जब उसका प्रेम संसार की विस्मृति की इस परम अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जब उसका मन इन्द्रिय-भोग की समस्त कामनाओं से निर्मल हो जाता है, और जब उसके अपने व्यक्तित्व की चेतना अपने सच्चे स्वरूप के प्रति शुद्ध प्रेम के भाव में विलीन हो जाती है, तब 'प्रियतम' के मनोहर मुख से आवरण उठ जाता है, और उसे प्रेम तथा आनन्द के उसी स्रोत पर तृप्त होकर पान करने दिया जाता है। तब वह उस महान् वचन का पूर्ण मर्म समझता है, "यदि मनुष्य सांसारिक सम्पदा की समस्त प्रचुरता प्राप्त कर ले, परन्तु अपनी आत्मा को खो दे, तो उसे क्या लाभ?" उसकी आँखों से जब पर्त गिर जाती है, तब उसकी दृष्टि

निर्मल हो जाती है; वह प्रेम की मधुर, संगीतमय वाणी को अपने कान में दिव्य प्रज्ञा का वह मधुर और प्राणदायी सूत्र—तत् त्वम् असि—धीरे से फुसफुसाते हुए सुनता है; वह इन शब्दों का आनन्दमय अभिप्राय जान लेता है, 'हे मनोहर प्राणी, जिसे तू सुन्दर देख रहा है वह तेरा ही स्वरूप है'; उसका हृदय हर्ष से उछल पड़ता है; और अतिचेतना की परमानन्द-अवस्था की मानो एक ही छलाँग में वह अपने ही स्वरूप के आनन्द-सागर में कूद पड़ता है!

यदि हम चाहें तो भक्त के इस प्रगाढ़ प्रेम को उन्माद कह सकते हैं,—वह निस्सन्देह उसकी उपेक्षा करता है जिसे 'आत्माहीन' मानवता सुदृढ़ बुद्धिवाद समझती है—किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि वह हमें अश्रु, शोक और समाधि के अन्धकार की ओर नहीं ले जाता, जैसा कि सांसारिक चातुर्य निस्सन्देह ले जाता है, अपितु आनन्द, प्रेम और अमरत्व के लोक की ओर ले जाता है। क्या धन-लोलुपता का प्रेम हमें तुर्की कालीनों, मोटरगाड़ियों, निवास के लिए प्रासादों आदि से एक इंच भी आगे ले जा सकता है, जो सब मृत्यु के आगमन को शीघ्र ही करते हैं, किन्तु किसी भी दशा में अमरत्व नहीं दे सकते? धन्य है वह उन्माद जिसका अन्त आनन्द में होता है; उस 'स्वस्थ बुद्धि' की चिन्ता कौन करे जो समाधि तक पहुँचाती है?

जो लोग रहस्यवाद की दृष्टि से प्रेम के स्वरूप का अध्ययन करना चाहते हैं, वे उसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन नारद-सूत्र में पाएँगे। हम यहाँ श्रीमान् ई० टी० स्टर्डी (E. T. Sturdy) के उसके एक उत्कृष्ट अनुवाद से कुछ अंश उद्धृत करते हैं।

> "प्रेम तीन प्रकार का है, अर्थात् (१) जहाँ एकमात्र हेतु सुख की खोज हो, सब कुछ लेना और कुछ भी न देना, (२) जहाँ विनिमय हो, और प्रेम करना प्रेम पाए जाने पर निर्भर हो—'मैं तुझसे प्रेम करता हूँ, क्योंकि तू मुझसे प्रेम करता है', और (३) जहाँ निरुपाधि भक्ति हो, सब कुछ देना और कुछ भी न चाहना,—न कोई मान्यता, न कोई प्रतिदान। पहला विषयी का प्रेम है, दूसरा साधारण सांसारिक नर अथवा नारी का, किन्तु तीसरा सच्चे भक्त का है। व्यास ने प्रेम की परिभाषा पूजा के प्रति निष्ठा के रूप में की है, गर्ग ने आत्मा के विषय में श्रवण की निष्ठा के रूप में; शाण्डिल्य उसे अपने ही स्वरूप में विश्व-आत्मा के अखण्ड भाव के रूप में मानते हैं, और नारद उसे समस्त कर्मों का ईश्वर को समर्पण तथा उसकी विस्मृति में परम दुःख का अनुभव करना कहते हैं। नारद आगे यह भी घोषित करते हैं कि वह कर्म, ज्ञान अथवा योग से महत्तर है, क्योंकि वह स्वयं ही अपना फल अथवा साध्य है,—केवल किसी साध्य का साधन-मात्र नहीं, जैसा कि उनके मत में ज्ञान के विषय में है। प्रेम हृदय को मलिनता से मुक्त करता है। उसका अपना कोई अधिकार अथवा सम्पत्ति नहीं; न वह स्वत्वाधिकार की वृत्ति को सहन करता है। धन, बल, सामर्थ्य—सब कुछ संसार के लिए धरोहर के रूप में, जीवन की प्रत्येक संघर्षशील अभिव्यक्ति की सेवा में रखा जाना चाहिए। प्रेम का फल वही भोगता है जो दुष्ट-संगति से

> बचता है, जो महामनाओं का संग करता है, जो स्वामित्व का समस्त भाव त्याग देता है, जो एकान्त स्थानों का सेवन करता है, जो कर्मों के बन्धन को उखाड़ फेंकता है, जो जीविका की समस्त चिन्ता का परित्याग करता है, जो कर्मफल का त्याग करता है, जो वेदों तक को छोड़ देता है, और समस्त प्राणियों को समभाव से देखता है। सच्चा 'एकान्त स्थान' हृदय की गहराइयों में है, जहाँ इन्द्रियों के द्वारा आने वाले विक्षेप के समस्त द्वारों को बन्द करके भक्त अखण्ड एकान्त में अपने शुद्ध स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता, 'एकमेवाद्वितीयम्'। ये द्वार, जिनसे विक्षेप प्रवेश करते हैं, किस प्रकार बन्द किए जाएँ? भक्त के लिए प्रेम, प्रेम और फिर प्रेम के द्वारा; अपने विचारों से सहानुभूति, करुणा तथा उन भावनाओं और भावावेगों के अतिरिक्त, जो पूर्णतः आवेगमय प्रेम की ओर ले जाते हैं, सब कुछ हटा देने के द्वारा—वह प्रेम भले ही अव्यावहारिक हो,—उच्छृंखल हो, अपने उन्माद में हमें उपहासास्पद लगे, किन्तु अजेय और अनवरत हो। उसे पूर्ण अवसर देते हुए, कभी उसे न रोकते हुए, संसार के दुःखों और जीवन तथा प्रेम के एक ही सागर से वियोग के भाव के लिए रोते हुए, दिन-रात, जन-समूह में अथवा एकान्त में, किसी की चिन्ता न करते हुए, केवल उस 'तत्' की सिद्धि की कामना करते हुए; प्रेम में हुई प्रत्येक न्यूनता के लिए पश्चात्ताप और आत्म-भर्त्सना से अपने को ताड़ना देते हुए, वह अन्ततः एक महान् शान्ति, एक महान् प्रशान्ति को प्राप्त होता है; वह 'उस पार' खड़ा होता है। वह जानता है, वह अनुभव करता है; उसके कन्धों पर वे ही आघात-चिह्न पड़ सकते हैं जो औरों के कन्धों पर पड़ते हैं, किन्तु वह अब कष्ट नहीं पाता; वह सदा सुखी और सन्तुष्ट रहता है। उस अवस्था को कोई शब्द नहीं समझा सकते, और चूँकि वह निषेधों के अतिरिक्त और किसी प्रकार व्यक्त नहीं की जा सकती, वह एक रहस्य है—'वह शान्ति जो समस्त समझ से परे है।'"

जब यह सर्वशक्तिमान्, सर्वविजयी भक्ति, जो मित्र और शत्रु दोनों के प्रति समान रूप से प्रेम उत्पन्न करती है, हृदय में उदित होती है, तब वह शुद्ध हो जाता है, और तब ईश्वर-दर्शन के लिए प्रस्तुत होता है। आत्मा की उपासना में उत्कट अनुराग, उसके महिमामय स्वरूप का निरन्तर चिन्तन, समस्त कर्मों का उसे समर्पण, तथा स्मृति से उसके लुप्त हो जाने पर परम दुःख का अनुभव—ये सच्ची भक्ति के कुछ लक्षण हैं। वह प्रथमतः ज्ञान से उत्पन्न होती है, और स्वयं प्रज्ञा की पूर्णता तक ले जाती है।

जहाँ तक भक्ति के कारण और प्रयोजन का प्रश्न है, कहा जाता है कि प्रेम विकास की एक क्रमिक प्रक्रिया की पराकाष्ठा के रूप में उदित होता है। श्रीरूप गोस्वामी के अनुसार:

> "सर्वप्रथम श्रद्धा उत्पन्न होती है; फिर आकर्षण होता है, और उसके पश्चात् आराधना। आराधना सांसारिक कामनाओं के शमन तक ले जाती है; और उसका फल एकाग्रता और सन्तोष है। तत्पश्चात् आसक्ति बढ़ती है, जिसका परिणाम भाव का उद्रेक होता है। इसके पश्चात् प्रेम का प्राकट्य होता है।"

उपर्युक्त विवेचन धर्म के भक्ति-सम्प्रदायों के मतों का सारतत्त्व और सामान्य सारांश है। अब हम योग की इस विशेष शाखा के मूल में निहित प्रधान सिद्धान्तों के स्वरूप का अन्वेषण करने की ओर अग्रसर होंगे। सर्वप्रथम, भक्ति, प्रेम-भावावेग का ही एक रूप होने के कारण, हृदय में तब तक उदित नहीं हो सकती जब तक वह आराध्य के अपनी उपासना पर विशेष अधिकार के विषय में आश्वस्त न हो जाए। निश्चय ही कोई भी अपने हृदय के विरुद्ध किसी से प्रेम करने के लिए स्वयं को विवश नहीं कर सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ यथार्थ भक्ति सम्भव नहीं जहाँ बुद्धि को, हृदय के पावन मन्दिर में प्रतिष्ठित की जाने वाली प्रतिमा पर अपना आशीर्वाद उच्चारित करने से पूर्व ही, तिलाञ्जलि दे दी जाए। धर्मान्धता निस्सन्देह बुद्धि के प्रकाश के अभाव में भी फल-फूल सकती है, किन्तु धर्मान्धता का सत्य पर कोई आधार नहीं होता, और असत्य का अनुसरण वाञ्छनीय नहीं। बात यह नहीं कि कोई मिथ्या आराध्य के प्रति भक्त हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो व्यक्तिगत विश्वास की बात है, अपितु यह कि मिथ्या देव अथवा आदर्श की उपासना दृढ़ नींव के बिना खड़े भवन के समान है, और निश्चय ही देर-सबेर संकट में डालती है। इस प्रकार भक्ति के पथ पर पहली अनिवार्यता सच्चे आराध्य का निश्चय है।

यह जानना भी महत्त्वपूर्ण है कि आध्यात्मिक प्रेम अथवा भक्ति का, विषयी की प्रचण्ड, विवेकहीन उत्तेजना से बहुत कम, अथवा कुछ भी, साम्य नहीं है, और जो लोग किसी प्राच्य प्रेम-कथा के उमड़ते हुए आदर्श प्रेमी का अनुकरण करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें ईश्वर-भक्ति में अभिप्रेत प्रेम के स्वरूप का लेशमात्र भी बोध नहीं। प्रेम का अर्थ निश्चय ही अविवेक नहीं है, और अविवेकपूर्ण उन्माद उन्मत्तों और पिशाचों का लक्षण भले हो, ईश्वर के उपासकों का नहीं। सत्य यह है कि भक्ति के स्वरूप को साधारण जनों ने सर्वथा भ्रान्त रूप में समझा है, जो भक्ति में अभिप्रेत प्रेम की तर्कसंगत धारणा बनाने में असमर्थ होकर उसे विषय-वासना के उन्मत्त वेग के साथ गड्डमड्ड करने लगे हैं। कुछ ने तो उसे दीपक के प्रति पतंगे के प्राणघातक आकर्षण की उपमा तक दी है, और प्राच्य काव्य उस 'पीड़ामय आह्लाद' की अनुभूति के चित्रण में रमा रहता है, जिसे वह नन्हा कीट-प्रेमी प्रेम की जलती वेदी पर अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में अनुभव करता माना जाता है। अनेक व्यक्ति कल्पना की इन मनोहर उड़ानों से भ्रमित हो जाते हैं, और अपनी ही उलझी हुई अनुभूतियों तथा मानसिक भावों की, और उन मानसिक परिघटनाओं की, जिनसे उनका सामना हो जाए, नाना प्रकार की कल्पित व्याख्याएँ करने लगते हैं, और सदा प्रत्येक घटना में अपने ही मत की पुष्टि ढूँढ़ने पर तुले रहते हैं।

यह भक्ति नहीं, अपितु उन्माद का ही एक रूप है, यह प्रेम के उसी स्वरूप से स्पष्ट है जो भक्ति का अनिवार्य अंग है। जैसा कि पिछले अध्याय में बताया गया है, प्रेम तीन प्रकार का होता है, यथा वह (१) श्रेष्ठ के प्रति हो, (२) समान के प्रति, अथवा (३) निम्न के प्रति। इनमें से पहला विद्या और वय के प्रति

आदर, माता-पिता के प्रति आदरयुक्त स्नेह, गुरु के प्रति श्रद्धा, राजा के प्रति निष्ठा, और तीर्थंकर (ईश्वर) के प्रति भक्ति अथवा उपासना का रूप धारण करता है। दूसरा स्थिति की समता का द्योतक है, और मैत्री, सौहार्द, अनुराग आदि के रूप में प्रकट होता है; और तीसरा दया, संरक्षण तथा अन्य ऐसे ही भावों का रूप ले लेता है। कामजन्य प्रेम दूसरे प्रकार का ही एक रूप है, यद्यपि उसकी सबसे जटिल अवस्थाओं में से एक, क्योंकि उसमें मैत्री और सद्भाव के मूल पर काम-सम्बन्ध के भाव का आरोपण निहित है। पहले प्रकार का प्रेम आदर पर आधारित है, दूसरा पारस्परिक मैत्री पर, और तीसरा संरक्षण अथवा सावधान रखवाली पर।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भक्ति प्रथम प्रकार के प्रेम-भावों की श्रेणी में आती है, जो आदर के तत्त्व के कारण उसके शेष प्रकारों से पृथक् पहचाने जा सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि न तो वह दया का भाव, जो निम्न के प्रति प्रेम का लक्षण है, और न किसी प्रेम-कथा के नायक की उमड़ती हुई प्रचण्ड उत्तेजना ही, उस सच्चे ईश्वर के प्रति प्रेम का उपयुक्त रूप हो सकती है, जिससे बढ़कर हमारे आदर का अधिकारी और कोई नहीं। और न भक्ति में उस प्रकार के आवेग के लिए स्थान है जो खोखली घोषणाओं और शपथों में ही चुक जाता है; धर्म में केवल वही रूप ग्राह्य है जो बौद्धिक है, जो गुरु के पदचिह्नों पर बुद्धिपूर्वक चलकर और उनके वचन को समझकर ईश्वर के प्रति अपने असीम प्रेम और आदर को प्रमाणित करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय में रहस्यवाद के अनुयायियों में जो विचार-भ्रान्ति उत्पन्न हुई है, वह ऊपर गिनाए गए प्रेम के भिन्न-भिन्न प्रकारों में विवेक करने में असफलता के कारण, तथा इस अस्पष्ट धारणा के कारण है कि पतंगे वाला अनुराग ही सर्वाधिक पूर्ण है। किन्तु यह स्पष्ट है कि कोई भी अपने माता-पिता, गुरु अथवा राजा से पतंगे की भाँति प्रेम करने की कल्पना तक नहीं करता; और यह भी प्रकट है कि ईश्वर की उपमा किसी मूढ़, थोथी नखरैली नायिका से नहीं दी जा सकती, जो अपने भिन्न-भिन्न प्रणयियों का गुण इस बात से आँकती है कि उन्होंने अपने प्रेम-निवेदनों में कितनी प्रचण्डता भर दी है। वस्तुतः प्रेम विश्वास पर आधारित एक प्रेरक शक्ति है, और कर्म में परिणत होकर अपने को व्यक्त करता है, तथा उसकी क्रियाशीलता की अभिव्यक्तियाँ भिन्न-भिन्न किन्तु उपयुक्त, विशिष्ट रूप धारण करती हैं, उस सम्बन्ध के स्वरूप के अनुसार जिसमें प्रेम-पात्र प्रेम करने वाले के साथ स्थित है। इस प्रकार हम तीर्थंकर (ईश्वर) को भक्ति और उपासना अर्पित करते हैं, गुरु को श्रद्धा, राजा को निष्ठा, अपने समकक्षों को मैत्री, और उन्हें संरक्षण तथा आश्रय जो हमसे निम्न हैं। किन्तु हम राजा को भक्ति, गुरु को संरक्षण, अथवा शिशु को उपासना अर्पित नहीं करते। इनमें से प्रत्येक का प्रेम का अपना विशिष्ट रूप है, और उसे उसी रूप में प्रेम किया जाना चाहिए। यही प्रेम का नियम है, जिसका उल्लंघन दुष्परिणामों से भरा हुए बिना नहीं रह सकता। किसी माता-पिता, गुरु अथवा राजा के पास रोमियो की

स्वच्छन्द भावनाओं के साथ जाने के परिणामों की कल्पना मात्र कर लेने से उस स्थिति की असंगति और इस नियम की अवहेलना से उत्पन्न अनर्थ की मात्रा का बोध हो जाता है। ईश्वर का प्रसंग भी इससे भिन्न नहीं; उसका प्रेम का अपना उपयुक्त रूप है, और उसे उसी रूप में प्रेम किया जाना चाहिए। सर्वज्ञ, नित्यानन्दमय ईश्वरत्व को कथा-कहानियों की प्रत्येक प्रेम-विह्वल जूलियट के समकक्ष रख देने का विचार नितान्त घृणास्पद है; और यदि हम सम्बन्ध की भूमिकाएँ उलट भी दें तो बात तनिक भी नहीं सुधरती। क्योंकि एक ओर, मानव-आत्मा पर उन्मत्त प्रेम करने वाले रोमियो-रूपी ईश्वर की कल्पना को न ज्ञान में, न आनन्द में, न शक्ति में ही दिव्य पूर्णता का चित्र प्रस्तुत करने वाली माना जा सकता, और दूसरी ओर, वर्ग की विषमता तथा प्रकार की असंगति भी दूर नहीं होती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर के सन्दर्भ में प्रेम के सच्चे अभिप्राय का दोनों लिंगों के बीच के अनुराग के भाव से कुछ भी साम्य नहीं, और न ईश्वर को अपनी सन्तान के रूप में ही प्रेम किया जा सकता है। ईश्वर के प्रति भक्ति का वास्तविक अर्थ है दिव्यता के उन गुणों के प्रति भक्ति, जिन्हें भक्त अपनी ही आत्मा में विकसित करना चाहता है, और वह उनके प्रति प्रेम और आदर की पूर्णतम मात्रा के मेल में निहित है जिन्होंने उन्हीं गुणों को पूर्णता में प्रकट कर लिया है। इस प्रकार भक्ति का सच्चा अर्थ है एक आदर्श के प्रति निष्ठा, और प्रसंगवश उनकी उपासना जो उसकी सिद्धि को पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। आत्मा के आदर्श तथा उनकी उपासना के बीच, जिन्होंने उसे पहले ही सिद्ध कर लिया है, कार्य-कारण-सम्बन्ध इस तथ्य में निहित है कि किसी आदर्श की सिद्धि मनुष्य के सम्पूर्ण, अनन्य ध्यान की अपेक्षा करती है, और वह केवल उन्हीं के पदचिह्नों पर चलकर सम्भव है जो वस्तुतः लक्ष्य तक पहुँच चुके हैं।

भक्ति के स्वरूप के इस विश्लेषण से हम यह कहने के अधिकारी हो जाते हैं कि जो हमारे हृदयों में पूर्णतम मात्रा में प्रेम और आदर के भाव नहीं जगाता, वह हमारी भक्ति का अधिकारी नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि हृदय अपनी भक्ति उसी सत्ता को अर्पित करता है जो उसका सबसे बड़ा हितैषी और शुभचिन्तक हो। अब, चूँकि ये योग्यताएँ केवल तीर्थंकर में ही पाई जाती हैं, जो उस धर्म (मार्ग) का उपदेश देते हैं जो ईश्वरों की पूर्णता और आनन्द तक ले जाता है, अर्थात् जो आत्मा को ईश्वरत्व की उदात्त अवस्था प्राप्त करने में समर्थ बनाते हैं, इसलिए उनके अतिरिक्त और कोई हृदय की पूर्ण आराधना का अधिकारी नहीं, न उसे प्राप्त कर सकता है।

किन्तु आधुनिक धर्मशास्त्रियों के अनुसार भक्ति का अर्थ है किसी परम सत्ता के प्रति निष्ठा, इस आधार पर कि वह संसार का स्रष्टा तथा आत्माओं और उनके शरीरों का निर्माता है। किन्तु यह सर्वथा असमर्थनीय है; प्रथमतः इसलिए कि संसार के स्रष्टा तथा आत्माओं और उनके भौतिक शरीरों के निर्माता की धारणा अतर्कसंगत सिद्ध हो चुकी है, और द्वितीयतः इसलिए कि अतीत में स्वेच्छा से किया गया इस प्रकार का

कोई कार्य प्रेम का भाव उत्पन्न करने में असमर्थ है, भक्तिमय प्रेम तो दूर की बात है, यद्यपि वह सम्भवतः उनमें कृतज्ञता का भाव उत्पन्न कर सकता है जो मुँह में चाँदी का चम्मच लेकर जन्मे हैं। किन्तु यह कृतज्ञता का भाव भी उन अभागों के प्रसंग में सर्वथा अनुपस्थित रहेगा, और उसके स्थान पर घृणा का प्रबल भाव तक हो सकता है, जो अपने किसी दोष के बिना ही अपने आपको अनुपयुक्त और पीड़ादायक परिस्थितियों में पड़ा हुआ पाते हैं, तथा उनके प्रसंग में जो 'नरक को भरने के लिए रचे गए हैं', जैसा कि पवित्र कुरआन कहता है।

उनकी स्थिति और भी बुरी है जो स्रष्टा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं, किन्तु उसकी सृजन-क्रिया को कर्म के सिद्धान्त के अधीन कर देते हैं; क्योंकि उनकी कल्पना पर स्रष्टा केवल कर्म का शिल्पी मात्र रह जाता है, जिसका अपना कोई स्वर नहीं, जिससे न कभी उसे प्रशंसा मिल सकती है, न निन्दा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे स्रष्टा के प्रति उसकी सृजन-क्रिया के लिए कोई कभी कृतज्ञ अनुभव नहीं कर सकता।

अब हम रहस्यवाद के उस उपदेश की ओर ध्यान दे सकते हैं जो कहता है कि ईश्वर की उपासना उसका दर्शन पाने अथवा उसमें लीन हो जाने के लिए की जानी चाहिए। यह मत भी असमर्थनीय है, क्योंकि किसी अन्य का दर्शन अथवा संस्पर्श एक क्षणिक अनुभूति से अधिक कुछ नहीं दे सकता, जो सच्चे सुख से उतनी ही भिन्न है जितना पत्थर का टुकड़ा रोटी से। वस्तुतः सच्चा आनन्द आत्मा का स्वाभाविक गुण है, और उसी क्षण अनुभव की वास्तविकता बन जाता है जब मनुष्य उसे अपने स्वरूप से बाहर की वस्तुओं से निचोड़ने का विचार त्याग देता है। अतः जब तक मनुष्य अपनी आत्मा से बाहर की वस्तुओं में आनन्द पाने की आशा रखता है, तब तक सच्चा आनन्द प्रकट नहीं हो सकता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि न किसी अन्य का दर्शन, न उसका संस्पर्श ही, कभी उस सच्चे सुख का स्थान ले सकता है जिसके लिए आत्मा प्यासी है।

ईश्वर में लीन हो जाने की धारणा में भी सामान्य बुद्धि को प्रसन्न करने योग्य कुछ नहीं है; क्योंकि दो सरल और अविनाशी द्रव्य अथवा यथार्थ किसी भी प्रकार कभी एक में घुल-मिलकर नहीं हो सकते; और चूँकि आत्माएँ तथा ईश्वर दोनों स्वभाव से अविनाशी हैं, अतः दोनों में से किसी का दूसरे में विलीन हो जाना स्पष्टतः असम्भव है। सागर में बूँद के विलीन हो जाने की जो उपमा रहस्यवाद अपने पक्ष के समर्थन में देता है, वह असंगत है, क्योंकि उपमा कोई तर्क नहीं होती। वह तो, वस्तुतः, उसी का खण्डन कर देती है जिसे वह सिद्ध करने के लिए दी जाती है, क्योंकि सागर कोई एक इकाई नहीं, अपितु बूँदों का ही संग्रह है, इसलिए अतिरिक्त बूँद केवल पहले से विद्यमान बूँदों की संख्या ही बढ़ाती है।

इसके अतिरिक्त यह पूछना भी उचित है: इस विलयन की रासायनिक क्रिया का परिणाम क्या होगा? क्या आत्मा उस घटना के पश्चात् भी बनी रहेगी, अथवा उस प्रक्रिया में मिट जाएगी? किसी भी रहस्यवादी को अब तक इन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देने में सफलता नहीं मिली, किन्तु हम स्वयं देख सकते हैं कि पहली दशा में विलयन की धारणा वास्तविक से अधिक काल्पनिक ठहरती है, और दूसरी में उच्छेद की निराशाजनक सम्भावना ही उस क्रिया के आकर्षण का अन्तिम अवशेष तक छीन लेने के लिए पर्याप्त है।

जिन्होंने इस विषय में अपने रहस्यवादी मत की दुर्बलता को पहचान लिया है, उन्होंने यह तर्क देकर इस कठिनाई से बच निकलने का प्रयत्न किया है कि प्रेम स्वयं ही अपना फल अथवा साध्य है। किन्तु इससे भी उनका पक्ष तनिक आगे नहीं बढ़ता, और यह स्पष्टतः बुद्धि की आँखों में धूल झोंकने का प्रयास है, क्योंकि साध्य प्रेम नहीं, अपितु सुख है। अब, चूँकि ऐसा है कि सुख और प्रेम पर्यायवाची शब्द नहीं हैं, अतः एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग दर्शन अथवा विवेकपूर्ण साहित्य में अनुज्ञेय नहीं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, हमारी भक्ति की पूर्णतम मात्रा का अधिकारी एकमात्र वही गुरु है जो उस 'पथ' का उपदेश देता है जो ईश्वरों की पूर्णता और आनन्द तक ले जाता है। उसकी उपासना इसलिए नहीं की जाती कि उपासना अथवा भक्ति स्वयं ही साध्य है, अपितु इसलिए कि वही लक्ष्य तक पहुँचाने वाला एकमात्र सच्चा मार्गदर्शक है; अतः भक्ति मुख्यतः आत्मा के आदर्श के ही चारों ओर केन्द्रित है। यहाँ भी हम देखते हैं कि निर्वाण का मार्ग मूर्तिपूजा नहीं, अपितु आदर्श-पूजा है। इस प्रकार अपने मुख्य अर्थ में भक्ति का वास्तविक अभिप्राय है आत्मा के आदर्श के प्रति निष्ठा, और गौण अर्थ में उन महापुरुषों की उपासना जो उसकी सिद्धि को पहले ही प्राप्त कर चुके हैं, और जो इसलिए दूसरों को शिक्षा और मार्गदर्शन देने के लिए सर्वाधिक योग्य हैं।

यही आत्मा का महान् आदर्श है जो हमारे सम्पूर्ण, अविभक्त ध्यान और पूर्ण भक्ति की माँग करता है। यही वह है जिसे पुराण-कथाओं की रहस्य-भाषा में क्राइस्टॉस अथवा कृष्ण के रूप में मूर्त किया गया है, और यही वह है जो रहस्यवादी मतों में विवेकहीनता के तत्त्व की व्याख्या करता है। क्योंकि प्रेम में जो बात किसी परम सत्ता के सन्दर्भ में बालसुलभ और विवेकहीन प्रतीत होती है, वही देवता के रूप में मूर्त जीवन के आदर्श के सन्दर्भ में पूर्णतः उपयुक्त है।

अब भक्ति के मूल तत्त्व का तार्किक सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया जा सकता है। सर्वप्रथम विवेक अथवा अन्तर्दृष्टि उत्पन्न होती है, जिसे श्रद्धा कहते हैं; यह जीवन के दृष्टिकोण को बदल देती है, धर्म के विषय की शिथिल कल्पनाओं और बिखरी हुई धारणाओं को सम्यक् ज्ञान में रूपान्तरित कर देती है, और उसके

पश्चात् आदर्श की सिद्‌धि के लिए तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होती है। यही भक्ति अथवा प्रेम है, और यह तीर्थंकर की उपासना तक ले जाती है। अन्ततः, जब ज्ञान और प्रेम के संयुक्त प्रभाव से आचरण शुद्‌ध होकर पूर्ण हो जाता है, तब कर्मों की बन्धक शक्ति नष्ट हो जाती है और आत्मा अपने स्वाभाविक सर्वज्ञत्व और आनन्द का उपभोग करने के लिए मुक्त हो जाती है।

जहाँ तक इस कथन का प्रश्न है कि हृदय की शुद्‌धि मनुष्य को ईश्वर-दर्शन में समर्थ बनाती है, सत्य यह है कि आदर्श की सिद्‌धि के लिए तीव्र उत्कण्ठा का प्रभाव यह होता है कि वह मन की चंचलता और संसार के इन्द्रिय-विषयों के पीछे भटकने की प्रवृत्ति को रोककर उसे एकाग्र कर देती है। इससे चेतना की शुद्‌धि होती है, जो तब अपनी ही स्वाभाविक दीप्ति—ईश्वर की महिमा—को प्रतिबिम्बित करती है। जिस प्रकार आँधी में तालाब के तल पर पड़ी वस्तुएँ उसके जल के क्षुब्ध और गँदले हो जाने के कारण दिखाई नहीं देतीं, उसी प्रकार अन्तर्निहित दिव्यता का दर्शन तब तक सम्भव नहीं जब तक व्यक्तिगत चेतना कामना-ग्रस्त इच्छा के अनियन्त्रित, तूफानी प्रकोप और उन्मत्त वेग से गँदली और क्षुब्ध बनी रहती है। और जिस प्रकार आँधी के थम जाने पर तालाब के तल की वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई देने लगती हैं, उसी प्रकार मानव-चेतना के सरोवर की सतह के, कामना करने वाले मनस् (अधम मन) की क्रियाशीलता के शान्त हो जाने से, शान्त और निस्तरंग हो जाने पर आत्मा का दर्शन सहज ही सुलभ हो जाता है। जब हृदय संसार की वस्तुओं के प्रति आसक्ति के मल से मुक्त हो जाता है, तब वह आत्मा की स्वाभाविक दीप्ति को प्रतिबिम्बित करता है और उसे अपने आपको देखने में समर्थ बनाता है। इसीलिए यह कथन है कि जिनके हृदय शुद्‌ध हैं, वे ईश्वर को देखेंगे।

इसके साथ भक्ति-मार्ग का हमारा सर्वेक्षण समाप्त होता है।

जहाँ तक योग के शेष विभागों का प्रश्न है, ज्ञान और भक्ति की पद्‌धतियों का विश्लेषण व्यावहारिक रूप से उनका भी निपटारा कर देता है; क्योंकि उनका लक्ष्य भी एकाग्रता ही है, यद्यपि राजयोगी उसे मन के ही नियन्त्रण द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, और हठयोग का अनुयायी भौतिक शरीर तथा इन्द्रियों के मार्गों के संयम द्वारा। किन्तु न राजयोग, न हठयोग ही, यदि अकेले लिया जाए, कोई महान् परिणाम प्राप्त कर सकता है, क्योंकि वैज्ञानिक पद्‌धति न तो विशुद्‌ध रूप से मन के नियन्त्रण में निहित है, न विशेष रूप से शरीर के दमन में, अपितु उचित समय पर उचित कार्य करने में, जैसा कि किसी आगामी अध्याय में देखा जाएगा।

किन्तु जहाँ तक मन की एकाग्रता का प्रश्न है, योग के वे सब विभाग जिनका यहाँ परीक्षण किया गया है, उस पर बल देने में एकमत हैं। इसका कारण स्पष्ट है। यदि हम उस शक्ति के स्वरूप पर विचार करें जो एकाग्रता के समस्त प्रसंगों में, बिना एक भी अपवाद के, प्रयुक्त होती है, तो हम यह जानने में चूकेंगे नहीं कि वह हमारी इच्छा ही है। अतः हम कह सकते हैं कि योग वह विज्ञान है जो साक्षात् इच्छा-शक्ति का विकास करता है। अब, चूँकि पाप के बन्धन से इच्छा की मुक्ति तथा अधिक पूर्ण और प्रचुर जीवन का लाभ ही आत्मा के लक्ष्य हैं, अतः स्पष्ट है कि जिसका प्रत्येक पग व्यक्ति की इच्छा-शक्ति को बढ़ाने के लिए ही परिकल्पित है, वही मुक्ति का एकमात्र मार्ग है। इस अर्थ में योग निश्चय ही सर्वोत्कृष्ट रूप से मुक्ति का विज्ञान है।

योग के पथ पर सबसे बड़ी बाधा, जिसे नवसाधकों को पार करना होता है, अभ्यास के उस यन्त्र में निहित है जिससे चिपके रहना सुविधाभोगी इच्छा को प्रिय है। यह नहीं समझना चाहिए कि योग का वास्तविक, व्यावहारिक विज्ञान भी उसी सुगमता से युक्त है जिससे हम यहाँ उसकी चर्चा करते आए हैं। हम व्यावहारिक अनुभव से जानते हैं कि किसी गहरी जड़ जमाए हुए अभ्यास को तोड़ना कितना कठिन है। उदाहरणार्थ, मदिरापान का त्याग कितना कठिन है, जब एक बार मदिरा की लालसा इच्छा का अभ्यास बन चुकी हो! योग को ऐसे एक-दो अभ्यासों पर ही नहीं, अपितु उन समस्त प्रवृत्तियों, रुझानों और झुकावों पर विजय पानी होती है जो ग़लत दिशा में ले जाते हैं; और उनकी संख्या असंख्य है। सचमुच थोड़े ही हैं जो अभ्यास के सुगम, यद्यपि विनाशकारी, यन्त्र से ऊपर उठने की आकांक्षा करते हैं, और वे ही योग से लाभान्वित होते हैं। शेष के लिए, जिनके मन संसार की भौतिकता में डूबे हुए हैं, न योग कुछ कर सकता है, न कोई अन्य पद्धति। अतः योग प्रथमतः उन्हीं शिष्यों को स्वीकार करता है जिनमें उत्साह और तत्परता विवेक, वैराग्य, त्याग और श्रद्धा के द्वारा अभ्यास की जड़ता के बन्धन से मुक्त हो चुकी है। यदि हम इन अन्तिम-नामित योग्यताओं पर विचार करें, तो हम पाएँगे कि उनकी सहायता के बिना मोक्ष के दुर्गम पथ पर पग रखना सम्भव नहीं। स्पष्ट है कि जब तक मन में निर्वाण की अवस्था की यथार्थता तथा संसार के क्षणभंगुर, छायावत् स्वरूप के बीच विवेक की तीव्र अनुभूति उपस्थित न हो, तब तक मुक्ति की अभिलाषा हो ही नहीं सकती। अतः पहली अनिवार्यता है 'सत् और असत् के बीच विवेक'। इसके पश्चात् यह देखना भी सरल है कि जब तक मुक्ति की अभिलाषा इतनी तीव्र न हो कि उन समस्त अन्य कामनाओं पर विजय पा ले जो बन्धन को दीर्घ करती हैं, तब तक वह उन्हीं से अभिभूत हो जाएगी। अतः जब तक योगी की इच्छा वैराग्य, त्याग और श्रद्धा जैसे प्रबल गुणों से सुदृढ़ न हो, तब तक उसके देह की दुर्बलताओं पर विजय पाने अथवा कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त करने की सम्भावना नहीं। इसलिए वह कोई भी, जो पथ पर पग रखकर उस संसार की ओर पीछे मुड़कर देखता है जिससे उसने मुँह मोड़ लिया है,

योग के योग्य नहीं। इसी कारण ईसा ने उस शिष्य को फटकारा था जो मृतक को गाड़ने की अनुमति चाहता था। ये सिद्धान्त तभी तक मूर्खतापूर्ण और निस्सार प्रतीत होते हैं जब तक हम सफलता के कारण में गहरे उतरकर नहीं देखते। सिद्ध करने योग्य आदर्श चाहे जो हो, यह कल्पनातीत है कि अध्यवसाय और मन की एकाग्रता के बिना सफलता कैसे मिल सकती है; और यह भी उतना ही अकल्पनीय है कि उन आकर्षणों और व्यापारों को त्यागे बिना, जो ध्यान को लक्ष्य से विचलित करते हैं, एकाग्रता और अध्यवसाय को सेवा में कैसे नियोजित किया जा सकता है। अतः योग उपर्युक्त गुणों के धारण पर उचित ही आग्रह करता है।

शिष्य के रूप में स्वीकृत होने से लेकर आत्मा की पूर्ण सिद्धि, अर्थात् आनन्द की प्राप्ति तक, इस विज्ञान के पूज्य संकलनकर्ता पतञ्जलि ने आठ सोपान बताए हैं; और वे हैं—१ यम, २ नियम, ३ आसन, ४ प्राणायाम, ५ प्रत्याहार, ६ धारणा, ७ ध्यान और ८ समाधि। इनमें से यम का अर्थ है सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; नियम का अर्थ है शौच, सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान; और प्राणायाम प्राण-शक्ति के नियन्त्रण का भाव व्यक्त करता है। पहले दो का अर्थ है आत्मा का नैतिक प्रशिक्षण, किन्तु तीसरा, अर्थात् प्राणायाम, एक सर्वथा भिन्न वस्तु है।

हम सर्वप्रथम नैतिकता के प्रश्न को लेंगे। नैतिकता योग की आधारशिला है, और स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि उसके बिना कोई निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता। संसार के समस्त धर्मों में ऐसा एक भी नहीं जिसमें झूठी गवाही, चोरी, हत्या, व्यभिचार तथा अन्य सब अपराधों की कठोर शब्दों में निन्दा न की गई हो। किन्तु वे मात्रा में भिन्न हैं। कुछ में, उदाहरणार्थ, अहिंसा का विधान केवल मनुष्य-जाति के विषय में है; जबकि दूसरों में, जैसे जैनधर्म में, कहा गया है कि 'दया केवल मनुष्य के लिए न हो, अपितु उससे आगे बढ़कर समस्त संसार को अपने में समेट ले।' स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि यद्यपि वे समस्त विवेकसम्मत धर्म, जिन्होंने अतीत में संसार के करोड़ों मनुष्यों के भाग्य का संचालन किया है और आज भी कर रहे हैं, करने योग्य कार्यों और त्यागने योग्य कर्मों के विषय में एकमत हैं, तथापि ऐसा क्यों है कि उनके आदेश पैरों तले रौंदे जाते और उनकी अवज्ञा की जाती है? ऐसा क्यों है कि हिन्दू अब पशु-जीवन के प्रति वही आदर नहीं रखते जो वे अतीत में रखते थे? ऐसा क्यों है कि ईसाई अब वह जीवन नहीं जीते जिसका चित्रण पर्वत-प्रवचन में है, अथवा मुसलमान ईश्वर की इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण के सिद्धान्त का पालन नहीं करते? नैतिकता से योगी का अभिप्राय संसार की उस आधुनिक कोरी वाणी-नैतिकता से नहीं, जो मसीही आदेश—"जो कोई तेरे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी ओर दूसरा भी फेर दे"—को केवल मंच के ऊँचे-ऊँचे प्रवचन-शैली के लिए ही अभिप्रेत, और व्यावहारिक जीवन के कार्य-व्यापारों

के लिए सर्वथा अनुपयुक्त मानती है, अपितु आचार की उस वास्तविक, जीवन्त संहिता से है जो अपने न्यूनतम आदेश का भी उल्लंघन सहन नहीं करती, और जिसका फलतः आदर और पालन अवश्य किया जाना चाहिए।

अन्तर इस बात में निहित है कि योगी जहाँ अपनी ही आत्मा में विद्यमान शिव, सत्य और सुन्दर को प्रकट करके स्वयं को पूर्ण बनाने का लक्ष्य रखता है, वहाँ सांसारिक मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा संसार पर आधिपत्य तथा सोने-चाँदी की थैलियों से ऊपर नहीं उठ पाती। उत्तरवर्ती, जिस वस्तु को पूर्ववर्ती निरर्थक सामग्री मानता है उसके उपयोगों से अनभिज्ञ, और यह न जानता हुआ कि कहाँ और कब रुकना है, धन की खोज तथा संचय में तब तक लगा रहता है जब तक कि उसी की खोज में वह अपने प्राण नहीं गँवा देता। पूर्ववर्ती, धन का वास्तविक मूल्य जानता हुआ, उसके सम्पर्क में आकर अपने सुख को मलिन करना नहीं चाहता, और इस प्रकार उस धनोपार्जक की समस्त चिन्ताओं, आकुलताओं, सन्देहों और निराशाओं से बच जाता है, जिसे शिष्टाचारवश 'नगर-श्रेष्ठी' का उपनाम दे दिया गया है।

अब इन दोनों प्रवृत्तियों के भिन्न-भिन्न परिणामों पर दृष्टि डालिए। नगर-श्रेष्ठी के पास उसकी तिजोरी में स्वर्ण के ढेर हो सकते हैं; एक अथवा अनेक बैंकों में उसके नाम बड़ी जमा-राशि हो सकती है; वह विलास की उन समस्त सामग्रियों को, जो सांसारिक वृत्ति वालों के आनन्द का आधार हैं, क्रय कर सकता है अथवा अन्य किसी प्रकार जुटा सकता है; किन्तु इस सबका गर्व वह स्वास्थ्य, सौन्दर्य और यौवन की बलि देकर ही कर पाता है — सच्चे सुख की तो बात ही क्या, जो, प्रतीत होता है, उसकी समझ से परे है।

जब वह धन-संचय में व्यस्त रहा है, तब अजीर्ण, गठिया और वात-रोग उसका पीछा करने में व्यस्त रहे हैं; और जिस समय वह धन पर अपनी पकड़ जमाता है, उसी समय वे उस पर अपनी पकड़ जमा लेते हैं। यही दशा कुरूपता की है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह नगर-श्रेष्ठी हो या न हो, बिना दण्ड भोगे घंटों मानसिक यातना में नहीं बिता सकता, अथवा रात-रात भर बिस्तर पर करवटें बदलते हुए अधिक स्वर्ण संचित करने के नये उपाय सोचने में, या पहले हुई हानियों की पूर्ति के उपाय ढूँढ़ने में, अपना मस्तिष्क नहीं खपा सकता। मानसिक सन्ताप को अपने दृश्य, कुरूप चिह्न पीछे छोड़ने ही पड़ते हैं — झुर्रीदार ललाट, विकृत मुखाकृति और दयनीय रूप के रूप में। तनिक विचार तो कीजिए, क्या मनुष्य इसीलिए उत्पन्न हुआ था कि वह एक दयनीय, अभागा प्राणी बने, व्यक्तिगत सौन्दर्य पर एक जीवित, जलती हुई कलंक-कथा बने और सब प्रकार के भयावह तथा असाध्य रोगों का शिकार बने, अथवा वह स्वयं को ऐसा बना लेता है? लक्षाधिपति अपनी सम्पत्ति का ढेर लगा लेता है, यह सत्य है; किन्तु उसे भोगना उसके वश में नहीं। वह धन, जो सम्भवतः किसी निर्धन, अभावग्रस्त कृषक के लिए कहीं अधिक उपयोगी होता, अब

उसकी लोहे की तिजोरी में दरिद्रता के संसर्ग से मुक्त पड़ा है; किन्तु वह अपने साथ अपना अभिशाप भी लिये है — जिसने उसे कमाया, वही उसे भोगने को नहीं! यह सत्य है कि धनवान् अपनी हवेली में सोता है, और उसकी शय्या वह सर्वाधिक विलासपूर्ण, कोमल-स्प्रिंगयुक्त बिछौना है जिसकी कल्पना मानव-कौशल कर सकता है, जबकि योगी धरती माता की गोद में लेटता है; किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि प्रातःकाल उठकर उत्तरवर्ती कहता है, 'जिस सिर पर मुकुट है, वह चैन से नहीं रहता,' और पूर्ववर्ती उसे भोगता है।

जब मनुष्य यह समझ लेगा कि धर्म द्वारा निर्धारित कठोर नीति-संहिता से किया गया प्रत्येक छोटा-सा विचलन मुखाकृति पर कुरूपता और दुःख की छाप अंकित करता है, शरीर-तंत्र को रोगवाहक कीटाणुओं के संक्रमण तथा आक्रमण के प्रति संवेदनशील बना देता है और आयु को भी घटाता है — आत्मा की भावी गति पर पड़ने वाले उसके दुष्प्रभाव की तो बात ही क्या — तब वह ईसा द्वारा शास्त्रियों और फरीसियों की कठोर भर्त्सना का यथार्थ मूल्य आँक सकेगा। योगी को आपके धन कमाने पर आपत्ति नहीं, बशर्ते आप वास्तविक लक्ष्य को दृष्टि से ओझल न होने दें। सच्चा सिद्धान्त यह है कि जो कार्य अपनी जीवन-स्थिति के अनुरूप अथवा अनुकूल हो, उसे किया जाए, किन्तु निर्लिप्त भाव से किया जाए, यह सदा स्मरण रखते हुए कि धन ही अस्तित्व का सर्वस्व नहीं है। इस निर्लिप्त रीति से कार्य करते हुए दरिद्रता अथवा भुखमरी का कोई भय पालने की आवश्यकता नहीं। भय तभी तक रहता है जब तक सत्य समझ में नहीं आता। जिस क्षण आप सिद्धान्त-चर्चा छोड़कर इस कथन को व्यवहार की कसौटी पर कसेंगे, आप प्रभु के इन शब्दों को — "तुम पहले परमेश्वर के राज्य और उसकी धार्मिकता की खोज करो, तो ये सब वस्तुएँ भी तुम्हें मिल जाएँगी" (मत्ती ६:३३) — अक्षरशः सत्य पाएँगे। यही नीति का मूलभूत आधार है। कोई ऐसा परम सत्ता नहीं है जो हमारे अपराधों पर हम से रुष्ट हो; किन्तु वे अपना दण्ड अपने साथ लिये चलते हैं; और जब-जब हम छोटे-से-छोटी आज्ञा का भी उल्लंघन करते हैं, तब-तब हमें कुरूपता और रोग का दण्ड मिलता है, और सन्तों तथा मनीषियों की वह सर्वाधिक स्पृहणीय सम्पदा, जिसे योगी चित्त की शान्ति कहते हैं, हमसे छिन जाती है — थोड़े या अधिक समय के लिए, पाप के स्वरूप के अनुसार तथा उस प्रायश्चित्त के अनुसार जो हमने बाद में जाने या अनजाने किया हो। जब 'रोग' का संचित निक्षेप ऐसा विराट रूप धारण कर लेता है कि उस विशेष जन्म में उद्धार की सम्भावना ही शेष नहीं रहती, तब मृत्यु शरीर का नाश कर देती है और इस प्रकार उस जीर्ण-शीर्ण, रुग्ण और खण्डहर बने जीव-यन्त्र की शारीरिक पीड़ा तथा यातनाओं का कृपापूर्वक अन्त कर देती है, जिसका स्वामी अनन्त जीवन के अपने अवसर का उपयोग करने में सर्वथा असफल रहा। धर्म में नीति का अर्थ है समस्त प्राणियों के प्रति पवित्रता और प्रेम का ईश्वर-सदृश भाव। उसका लक्ष्य मनुष्यों को देवता बनाना है, और उसमें

संसार की उस खोखली भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं जो भलाई और सद्गुण की शाब्दिक घोषणाओं में ही चुक जाती है। वह भेड़ की खाल में छिपे उन भेड़ियों की प्रशंसक नहीं, जो अपने मूर्ख और निष्कपटता-रहित पड़ोसियों की सद्भावना पाने के लिए घुटनों के बल बैठकर सार्वजनिक रूप से लम्बी और विस्तृत प्रार्थनाएँ करते हैं, जो अपनी सम्पत्ति का एक तुच्छ अंश समाचारपत्रों में नाम छपवाने के लिए यथासम्भव शोर और आडम्बर के साथ दान करते हैं, जो उपाधि प्राप्त करने के लिए राजसत्ता के चरणों में बड़ी-बड़ी धनराशियाँ अर्पित कर देते हैं, अथवा जो अपने जाति-बन्धुओं का सम्मान पाने के लिए घड़ियाली आँसू बहाते हैं। धर्म ने संसार के इस पाखण्ड की भर्त्सना दो सहस्र वर्ष पूर्व ईसा के द्वारा भेज दी थी। धर्म में नीति का अर्थ है अन्तःप्रकृति तथा बाह्य प्रकृति — दोनों की शुद्धि। ऐसा कोई विचार, जो पवित्र और ईश्वर-सदृश न हो, कभी हृदय में प्रवेश न करे; मन उसी पर टिके जो शिव, सत्य और सुन्दर है। हृदय को शुद्ध कीजिए; ईश्वर के अतिरिक्त किसी की चर्चा न कीजिए; ईश्वर के अतिरिक्त किसी का चिन्तन न कीजिए; पवित्रता आपको भीतर और बाहर से घेरे रहे। वेदान्ती इसे यों कहता है:

> **"जब तेरी चेतना शुद्ध प्रकाश और शुद्ध प्रेम में निवास करती हुई अपने प्रियतम, अपने वास्तविक स्वरूप के अतिरिक्त किसी अन्य विचार को प्रवेश नहीं देती, तब भला भले या बुरे का, इस द्वैत-समूह का चिन्तन कैसे सम्भव है? तब तू अपने अतिरिक्त और कुछ नहीं गाता। तब तू ईश्वर के संगीत के अतिरिक्त और कुछ नहीं बोलता। तब तू ईश्वर के सौन्दर्य के अतिरिक्त और किसी का गान नहीं करता। तब तू समस्त हाथों में ईश्वर का हाथ, समस्त नेत्रों में ईश्वर का नेत्र, समस्त मनों में ईश्वर का मन, समस्त प्रेमों में ईश्वर का प्रेम, समस्त सद्गुणों में ईश्वर के सद्गुण, और प्रत्येक वस्तु में ईश्वर की उपस्थिति के अतिरिक्त और कुछ अनुभव नहीं करता।" — राम तीर्थ (Rama Tirtha)।**

इसके पश्चात् का सोपान है आसन, अर्थात् चिन्तन के लिए बैठने की मुद्रा। शरीर को निश्चल रखने के लिए स्थिर आसन आवश्यक है, अन्यथा उसकी अनियन्त्रित चंचलता मन को विचलित कर देगी और इच्छा-शक्ति की ऊर्जा को बिखेर देगी। योगियों द्वारा सामान्यतः जो आसन अपनाया जाता है, वह पालथी मारकर बैठने की मुद्रा है, जैसा कि जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में देखा जाता है। जब आसन दृढ़ हो जाता है और मन के लिए विक्षेप का कारण नहीं रहता, तब प्राणायाम सरलता से किया जा सकता है।

प्राणायाम शब्द का वास्तविक अर्थ है ऊर्जा का नियन्त्रण, यद्यपि सामान्यतः इसे श्वास का नियमन माना जाता है। योगियों के अनुसार इसका अर्थ है ब्रह्माण्डीय ऊर्जा का नियन्त्रण। स्वामी विवेकानन्द (Swami Vivekananda) कहते हैं:—

> **"जिस प्रकार आकाश इस विश्व की अनन्त, सर्वव्यापी उपादान-सामग्री है, उसी प्रकार यह प्राण इस विश्व की अनन्त, सर्वव्यापी अभिव्यंजक शक्ति है। इस प्राण का ज्ञान और नियन्त्रण ही वस्तुतः प्राणायाम का अभिप्राय है। यही हमारे लिए प्रायः असीम शक्ति का द्वार खोलता है।"**

योग के अनुसार प्राणायाम का प्रमुख उद्देश्य शरीर की असंख्य क्रियाओं पर नियन्त्रण पाना है, जिससे ऊर्जा का चारों ओर अनियन्त्रित अपव्यय रोका जा सके और इच्छानुसार उसे किसी विशेष मार्ग में प्रवाहित करने की शक्ति प्राप्त हो सके। श्वास-प्रश्वास ही वायुमण्डल से प्राणिक ऊर्जा ग्रहण करने का मुख्य साधन है, और वह भौतिक शरीर के लिए वही है जो यन्त्र के लिए गति-चक्र (फ्लाई-व्हील)। जैसे गति-चक्र की गति शेष यन्त्र को चलायमान करती है, वैसे ही फेफड़ों की गति शेष शरीर-तंत्र को ऊर्जा प्रदान करती है। प्रत्येक श्वास के साथ हम वायुमण्डलीय वायु से एक निश्चित मात्रा में प्राण (विद्युत् अथवा जीवन-शक्ति) भीतर लेते हैं। यह विद्युत् रक्त द्वारा अवशोषित होकर स्नायु-तंत्र में संचित हो जाती है। योगी अपने श्वास का नियमन करके इस जीवन-शक्ति पर नियन्त्रण करना चाहता है। साधारणतः श्वसन एक अनैच्छिक क्रिया है, यद्यपि उसे आंशिक रूप से इच्छा के अधीन लाया जा सकता है, जैसा कि बोलने, गाने आदि में होता है। उसकी गतियाँ मस्तिष्क-मेरु-अक्ष के उस भाग के विशेष नियन्त्रण में रहती हैं जिसे मेडुला ऑब्लांगेटा (medulla oblongata) कहते हैं। श्वसन-क्रिया पर नियन्त्रण करके योगी अपने शरीर की जीवन-शक्तियों पर अधिकार स्थापित कर लेता है। वह आरम्भ सामान्य श्वास को सुधारने से करता है। योग के अनुसार श्वास लेने की उचित विधि न तो केवल जत्रुक (क्लैविक्युलर) है, न वक्षीय, न ही केवल मध्यपटलीय, अपितु इन सबका समुच्चय है। उद्देश्य यह है कि शरीर-तंत्र से निष्क्रियता की दशा दूर हो जाए, और यह दो प्रकार से सम्भव है — (१) वायुमण्डल से प्राण-वायु की बड़ी मात्रा भीतर लेकर, और (२) उसका उपयोग मेरुदण्ड तथा मस्तिष्क के उन स्नायु-केन्द्रों को ऊर्जावान् करने में करके जो सम्पूर्ण शरीर-तंत्र का संचालन करते हैं। अभ्यास से फेफड़ों की क्षमता बढ़ती है, किन्तु उसके लिए कुछ अन्य सहायक साधन भी अपेक्षित हैं। भोजन शुद्ध, पथ्य और अनुत्तेजक होना चाहिए, जिससे शरीर में पवित्रता तथा लचीलापन आए। धूम्रपान और मद्यपान का, माँस-आहार सहित, त्याग करना चाहिए, क्योंकि वे ठीक उन्हीं दशाओं को उत्पन्न करते हैं जिन्हें दूर करना योग का लक्ष्य है। आहार-नियमन के साथ-साथ श्वास सम्बन्धी कुछ शोधक क्रियाओं का अभ्यास भी करना पड़ता है, जिससे स्नायु कोमल और हल्के हो जाएँ। इसमें प्रायः कुछ मास लगते हैं, जिनके अन्त में इतना नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है कि प्राण को शरीर के किसी भी विशेष अंग की ओर संकल्प द्वारा भेजा जा सके। इससे योगी अपने शरीर से अनेक प्रकार के रोगों को दूर करने में समर्थ हो जाता है।

लयबद्ध श्वसन भी शरीर की जीवन-शक्तियों पर अधिकार पाने में एक प्रबल सहायक है। योगी घोषित करता है कि लय समस्त विश्व में व्याप्त है। समस्त कम्पनों में एक निश्चित लय विद्यमान है, इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डीय गतियाँ और बल की अभिव्यक्तियाँ लयबद्ध हैं। हमारे शरीर भी लय के नियम के उतने ही अधीन हैं जितने संगीत के स्वर अथवा किसी काव्य के छन्द-चरण। 'द हठ योग' (The Hatha Yoga) के लेखक कहते हैं:—

> **"आपने सुना होगा कि वायलिन का एक स्वर यदि बारम्बार और लयपूर्वक बजाया जाए, तो वह ऐसे कम्पन उत्पन्न कर देता है जो समय पाकर किसी पुल को ध्वस्त कर सकते हैं। यही परिणाम तब भी होता है जब सैनिकों की एक टुकड़ी किसी पुल को पार करती है; ऐसे अवसर पर सदा 'कदम तोड़ने' का आदेश दिया जाता है, कहीं ऐसा न हो कि कम्पन पुल तथा टुकड़ी दोनों को गिरा दें। लयबद्ध गति के प्रभाव की ये अभिव्यक्तियाँ आपको लयबद्ध श्वसन के प्रभाव का अनुमान करा देंगी। सम्पूर्ण शरीर-तंत्र इन कम्पनों को ग्रहण कर लेता है और उस इच्छा-शक्ति के साथ सामंजस्य में आ जाता है जो फेफड़ों की लयबद्ध गति का कारण है; और ऐसे पूर्ण सामंजस्य में रहते हुए वह इच्छा-शक्ति के आदेशों पर सहज ही प्रतिक्रिया करता है। शरीर के इस प्रकार सुर में बँध जाने पर योगी को संकल्प के एक आदेश से शरीर के किसी भी भाग में रक्त-संचार बढ़ाने में कोई कठिनाई नहीं होती, और इसी प्रकार वह स्नायु-शक्ति की बढ़ी हुई धारा को किसी भी अंग की ओर प्रवाहित कर सकता है, जिससे वह अंग सबल और उद्दीप्त होता है।"**

इस प्रकार योगी मानो उस झूले की गति को साध लेता है, और अपने चतुर्दिक् परिवेश से प्राण की बड़ी मात्रा को अवशोषित तथा नियन्त्रित करने में समर्थ हो जाता है। लयबद्ध श्वसन का रहस्य यह है कि वह शरीर के प्रत्येक तन्तु को प्राण-शक्ति से स्पन्दित कर देता है, जिससे जब शरीर की समस्त गतियाँ लयबद्ध हो जाती हैं, तब शरीर स्वयं मानो इच्छा-शक्ति की एक विशाल विद्युत्-बैटरी बन जाता है।

लयबद्ध श्वसन में मुख्य बात लय के भाव को हृदयंगम करना है। पुनः 'द हठ योग' से उद्धृत करते हैं:—

> **"योगी अपने लय-काल का आधार उस इकाई को बनाता है जो उसके हृदय की धड़कन के अनुरूप हो। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में हृदय की धड़कन भिन्न होती है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की हृदय-धड़कन की इकाई ही उस विशेष व्यक्ति के लयबद्ध श्वसन के लिए उपयुक्त मानक है। अपनी नाड़ी पर अँगुलियाँ रखकर अपनी सामान्य हृदय-गति का निश्चय कीजिए, और फिर गिनिए: १, २, ३, ४, ५, ६; १, २, ३, ४,**

> ५, ६, इत्यादि, जब तक कि वह लय आपके मन में भलीभाँति स्थिर न हो जाए। ... लयबद्ध श्वसन का योगोक्त नियम यह है कि पूरक और रेचक की इकाइयाँ समान हों, जबकि कुम्भक की तथा दो श्वासों के मध्य की इकाइयाँ पूरक और रेचक की इकाइयों से आधी हों।"

जब साधक इन अभ्यासों में निपुण हो जाता है, तब वह शरीर में स्थित जीवनदायी प्राण को संकल्प द्वारा उसके किसी भी अंग में भेज सकेगा और अपने शरीर-तंत्र से विषमता के कारणों को दूर तथा नष्ट कर सकेगा। प्राणायाम द्वारा इच्छा-शक्ति का प्रशिक्षण मन को एक प्रेरणा देता है, जिससे वह यथासमय उच्चतर कम्पनों के प्रति प्रतिक्रिया करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है और वह बन जाता है जिसे अतिचेतन कहा जा सकता है। योग-विज्ञान में प्राणायाम का यही प्रयोजन है। विवेकानन्द के शब्दों में, राजयोग का सम्पूर्ण क्षेत्र वस्तुतः विभिन्न स्तरों पर प्राण के नियन्त्रण और संचालन की शिक्षा देना ही है। 'योगवासिष्ठ' में कहा गया है कि —

> "यदि प्राण की गति, और इस प्रकार मन की गति, भीतर और बाहर दोनों ओर से अवरुद्ध कर दी जाए, तो मृत्यु और जरा दूर भाग जाएँगी। तब शरीर में ऐसे धातु (आध्यात्मिक द्रव्य) निवास करेंगे जो कभी बहिष्कृत नहीं होंगे। केवल वे ही यथार्थ को सचमुच जान पाये कहे जा सकते हैं जो आत्म-ज्ञान के मार्ग पर चलते हुए अपनी वासनाओं का उन्मूलन करते हैं, इस प्रकार अपनी बुद्धि को निर्मल बनाते हैं और मन के समस्त बन्धनों को छिन्न कर देते हैं। जैसे-जैसे चंचल मन विषयों के क्रमिक संसर्ग से उत्पन्न होता है, वैसे-वैसे जन्म और मरण भी उत्पन्न होते हैं। जब मन विषयों के प्रति किसी आकर्षण या विकर्षण के बिना सबका परित्याग कर देता है, तभी उसका अस्तित्व मिटता है। यदि वासनाओं के क्षय से विचार नष्ट हो जाएँ, तो शान्ति फलित होगी और मन का विनाश हो जाएगा। यदि किसी सांसारिक विषय अथवा किसी स्थान का विचार ही न रहे, तो आकाश के शून्य में मन पृथक् रूप से कैसे रह सकता है? ... मनीषी कहते हैं कि मन क्रियाओं में संलग्न रहते हुए भी अपने रूप का परित्याग कर देता है, यदि वह समस्त वस्तुओं को अपने में विलीन करके अमृत के समान शीतल हो जाए।"

प्राण के नियन्त्रण के प्रभाव के विषय में हमें आगे यह भी बताया गया है:—

> "प्राण का नियन्त्रण बाह्य वासनाओं के परित्याग के तुल्य है (अथवा उसकी ओर ले जाता है)। वासनाओं के त्याग के साथ मन का अस्तित्व नहीं रहता; वही परिणाम प्राण के नियन्त्रण से भी सिद्ध होता है। प्राण-नियन्त्रण के दीर्घ अभ्यास से तथा गुरु द्वारा दी गई दीक्षा, आसन, आहार और ध्यान के द्वारा प्राण वश में होता है। किन्तु वासनाएँ आसक्ति (अथवा कामना) रहित कर्मों के आचरण से, संसार के अचिन्तन (अथवा इस लौकिक जीवन के प्रति प्रेम के अभाव) से, और समस्त रूपवान्

> **वस्तुओं को अरूप देखने से नष्ट होंगी। यदि हमारे प्रतिपक्षी वासनाओं का जीवन समाप्त हो जाए, तो मन भी उत्पन्न नहीं होगा। यदि वायु बहना बन्द कर दे, तो क्या वायुमण्डल में धूलिकण उड़ते दिखाई देंगे? प्राण की चंचलता ही दुःखमय मन की चंचलता है; अतएव प्राण का नियन्त्रण समस्त आध्यात्मिक वृत्ति वाले विवेकी जनों का स्वाभाविक और अचूक कर्तव्य होना चाहिए।"**

इसे उन शब्दों में कहें जो आधुनिक मस्तिष्क के लिए सहज बोधगम्य हों, तो योग का उद्देश्य पाप की उन अशुद्धियों को दूर करना है जो आत्मा की संरचना में प्रविष्ट हो गई हैं और जिन्होंने उसे निष्क्रियता की दशा में डाल दिया है। योग की साधना आत्मा को अपनी इच्छा-शक्ति विकसित करने में समर्थ बनाती है, जो शीघ्र ही पाप के संचित निक्षेपों को भस्म कर नष्ट कर देती है। जब यह हो जाता है, तब आत्मा अपने बन्धनों से मुक्त गुब्बारे के समान ऊपर उठ जाती है और निर्वाण में प्रवेश करती है। प्राणायाम आत्मा को अपनी इच्छा-शक्ति विकसित करने में समर्थ बनाता है, और इसी कारण वह योग का आवश्यक अंग है। किन्तु वह एक निश्चित अवस्था तक ही उपयोगी है, अन्यथा वह स्वयं ही आत्मा पर चित्त की एकाग्रता में विक्षेप का कारण बन जाएगा। इसके अतिरिक्त, इच्छा-शक्ति प्राणायाम के बिना भी अन्य साधनों से विकसित होती है, जैसे ज्ञान के द्वारा; अतएव जो लोग अन्य साधनों से अपनी इच्छा-शक्ति विकसित कर सकते हैं, उन्हें श्वास के नियमन की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं।

प्राणायाम के अनन्तर प्रत्याहार आता है, जिसका अर्थ है 'भीतर की ओर समेटना,' अर्थात् मन की बहिर्मुखी ऊर्जा को रोकना और उसे इन्द्रियों की दासता से मुक्त करना। तदनन्तर धारणा आती है, अर्थात् मन को अन्य समस्त विषयों को छोड़कर किसी एक बिन्दु पर टिकाना, जैसे हृदय पर ध्यान को स्थिर करना। ध्यान योग का अगला सोपान है और उसका अर्थ है आत्मा का चिन्तन, जिससे मन जब इन्द्रियों की दासता से मुक्त होकर बाहर की ओर नहीं भटकता, तब उसे सरलता से आत्मा के चिन्तन में लगाया जा सकता है। यह स्वभावतः समाधि तक ले जाएगा, वह अवस्था जिसमें आत्मा अपने ही अन्तर्निहित, स्वाभाविक आनन्द का उपभोग करती है। समाधि आत्मा के आदर्श की सिद्धि क्यों है, इसका कारण यह है कि उस अवस्था में बाह्य जगत् के प्रति आसक्ति का समस्त मल, अपने सहचरों सुख और दुःख सहित, अतिक्रान्त हो जाता है, बुद्धि पीछे छूट जाती है, और आत्मा अपनी ही महिमा और आनन्द का अनुभव करने के लिए मुक्त हो जाती है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब आत्मा फिर तर्क-वितर्क और विवाद नहीं करती; वह बस जानती है। तब वह पूर्णता के आनन्द और धन्यता का उपभोग करती है। इस अवस्था का अर्थ शब्दों में नहीं बाँधा जा सकता; क्योंकि वह अनुभूति की अवस्था है, और न भाषा, न

बुद्धि, अनुभूतियों का यथार्थ चित्रण अथवा वर्णन करने में समर्थ है। तथापि, थियॉसॉफिकल सोसाइटी (Theosophical Society) की वर्तमान अध्यक्षा की लेखनी से निकला निम्नलिखित वर्णन उस उदात्त परमानन्द की अवस्था का पर्याप्त अच्छा आभास देने के लिए यथेष्ट स्पष्ट प्रतीत होगा:—

> **"कुछ क्षण होते हैं, परम और विरल क्षण, जो पवित्र तथा आध्यात्मिक जनों के जीवन में आते हैं, जब प्रत्येक कोश स्थिर और सामंजस्यपूर्ण होता है, जब इन्द्रियाँ प्रशान्त, शान्त और निःस्पन्द होती हैं, जब मन निर्मल, स्थिर और अपरिवर्तनशील होता है; जब ध्यान में स्थित सम्पूर्ण सत्ता अविचल होती है और बाहर की कोई वस्तु उसे विचलित नहीं कर सकती; जब प्रेम प्रत्येक तन्तु में व्याप्त हो चुका होता है, जब भक्ति ने ऐसा आलोकित कर दिया होता है कि समग्र सत्ता पारदर्शी हो जाती है; तब एक नीरवता होती है, और उस नीरवता में एक आकस्मिक परिवर्तन होता है; कोई शब्द उसे कह नहीं सकते, कोई अक्षर उसे उच्चारित नहीं कर सकते, किन्तु वह परिवर्तन वहाँ है। समस्त सीमाएँ गिर चुकी होती हैं। प्रत्येक प्रकार की प्रत्येक मर्यादा लुप्त हो जाती है: जैसे असीम आकाश में दिखाई देते तारे, वैसे ही आत्मा असीम जीवन में स्थित है, और किसी सीमा को नहीं जानती, किसी बन्धन का अनुभव नहीं करती: ज्ञान में प्रकाश, उस पूर्ण प्रकाश की चेतना जो किसी छाया को नहीं जानता, और इसीलिए स्वयं को प्रकाश के रूप में भी नहीं जानता; जब चिन्तक ज्ञाता बन चुका होता है; जब समस्त तर्क विलीन हो चुका होता है और उसका स्थान प्रज्ञा ने ले लिया होता है; कौन कह सकता है कि वह क्या है, सिवाय इसके कि वह आनन्द है? कौन उसे कहने का प्रयास करे जो नश्वर वाणी में अकथनीय है, किन्तु वह सत्य है और वह विद्यमान है।"***

* 'द सेल्फ एण्ड इट्स शीथ्स' (The Self and its Sheaths), पृ. ७१।

ऐसे परमानन्द के अनेक उदाहरण रहस्यवादी सन्तों के जीवन में मिलते हैं, और प्रो. जेम्स (Prof. James) ने अपनी 'वेराइटीज़ ऑफ रिलिजस एक्सपीरियंस' (Varieties of Religious Experience) में उनमें से कुछ का उल्लेख किया है। वाणी की पहुँच से परे होने के कारण उसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता; वह चेतना के भावात्मक पक्ष की अवस्था है, और उसकी अनुभूति ही उसका साक्षात्कार है।

यह कहना शेष है कि अनादि काल से ज्ञान और भक्ति — आत्म-साक्षात्कार की इन दोनों पद्धतियों — के व्यावहारिक गुण और मूल्य के विषय में एक रोचक विवाद चलता आ रहा है। इस विषय की चर्चा पं. जी. के. शास्त्री (Pt. G. K. Sastri) की 'फोर्थ बुक ऑफ प्रैक्टिकल वेदान्त' (Fourth Book of Practical Vedanta) नामक उस छोटी-सी शिक्षाप्रद पुस्तिका में की गई है। किन्तु वह पुस्तक

सम्भवतः बहुत से व्यक्तियों की रुचि नहीं जगाएगी, क्योंकि उसमें विषय का दार्शनिक विवेचन नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि पवित्र भूमि में भी व्यावहारिक धर्म के अनेक सम्प्रदायों और मतों के बीच ऐसा ही एक बौद्धिक विवाद प्रचलित था। "क्या नासरत से कोई अच्छी वस्तु निकल सकती है?" — यही वह सामान्य उपहास और तिरस्कार की उक्ति थी जिसके साथ ज्ञान-मार्ग के अनुयायी भक्ति (प्रेम) के उपासकों को हेय दृष्टि से देखा करते थे। इसका अर्थ यह नहीं था कि यहूदी सचमुच इतने मूर्ख थे कि नासरत के छोटे-से ग्राम को किसी विश्व-गुरु का जन्मस्थान होने के लिए अत्यन्त तुच्छ समझते। यह तो निरा पूर्वाग्रह है जिसने हममें से कुछ को सेमेटिक जाति पर ऐसे घोर अज्ञान का आरोप लगाने को प्रेरित किया है। वस्तुतः कब्बाला (Kabbala) की विद्या के संरक्षक बुद्धिमान् पुरुष थे और उनके विषय में यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि वे महत्ता को भौगोलिक सीमाओं अथवा नगरों और ग्रामों के आकार पर निर्भर मानते होंगे।

> **"'नाज़िर' नाम का," डॉ. पॉल कैरस (Dr. Paul Carus) कहते हैं, "नासरत ग्राम से कोई सम्बन्ध नहीं है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस शब्द का अर्थ है भक्त। नासरत अवश्य ही एक अत्यन्त नगण्य स्थान रहा होगा, क्योंकि हिब्रू साहित्य में उसका उल्लेख तक नहीं है, और हमें उस शब्द की हिब्रू वर्तनी तक ज्ञात नहीं। इसी से कुछ अति-आलोचक मस्तिष्कों में यह धारणा उत्पन्न हुई कि ईसा के समय में इस नाम का कोई ग्राम था ही नहीं। पूर्ण सम्भावना है कि वह वही स्थान है जिसे अब एन-नासिरा कहते हैं, जो गलील में एक छोटा-सा ग्राम है। *** कि ईसा नासरी (अथवा हिब्रू शब्द के अनुसार नाज़िर) थे, इसके लिए हमारे पास प्रामाणिक साक्ष्य है। नाज़िरिम *** के विषय में 'प्रेरितों के काम' के एक कथन से ज्ञात होता है कि वे एक साम्यवादी सम्प्रदाय थे जो सब वस्तुएँ सर्वसाधारण की मानकर रखते थे। *** वे मूसा की व्यवस्था का पालन करते थे और ईसा को मसीह मानते थे।" ('द एज ऑफ क्राइस्ट' — The Age of Christ)।**

पौलुस, यद्यपि स्वयं नाज़िर नहीं थे, तथापि उनका उनसे संसर्ग था (प्रेरितों के काम, २४:५)। आरम्भिक ईसाई नासरी कहलाते थे, और उनके वंशज आज भी पूर्व में नसारा अथवा नसारी नाम से जाने जाते हैं। डॉ. विलियम बेंजामिन स्मिथ (Dr. William Benjamin Smith) लिखते हैं:—

> **"'नाज़रीअस' विशेषण नासरत नामक किसी नगर से व्युत्पन्न नहीं है; वस्तुतः हमारे युग के आरम्भ में ऐसा कोई नगर था ही नहीं। यह विशेषण मूलतः किसी देवता का अभिधान है; इसका निर्माण उन हिब्रू व्यक्तिवाचक नामों की सादृश्यता पर हुआ है जिनका अन्त 'इयाह' में होता है, जैसे ज़करिआह, जहाँ 'इयाह' यहोवा का द्योतक है; और यह उस सुपरिचित प्राचीन सेमेटिक धातु 'नज़र' से निकला है जिसका अर्थ है रखना, रक्षा करना, संरक्षण करना — इस प्रकार सिरिएक 'नाज़रया' का अर्थ लगभग**

> **'संरक्षक-याह' है। 'जीसस' और 'नाज़रीअस' नामों में लगभग वही अन्तर है जो 'साल्वेटर' और 'सर्वेटर' में। नासरी (अथवा नसारी) पूरी सम्भावना है कि नाज़रया के उपासक थे, और एपीफेनियस के अनुसार वे ईसा से पूर्व विद्यमान थे और ईसा को जानते तक न थे।"**

जिस सम्प्रदाय की यहाँ चर्चा है, उसका उद्भव ईसा से नहीं हुआ, और न ही यह उक्ति — "क्या नासरत से कोई अच्छी वस्तु निकल सकती है?" (यूहन्ना १:४६) — पहली बार उनके जीवन-काल में प्रचलित हुई। शमूएल और शिमशोन, जो ईसा से कम-से-कम कुछ शताब्दियों पूर्व हुए, दोनों ही इस सम्प्रदाय के अनुयायी थे। 'गिनती' की पुस्तक (अध्याय ६:२) में नाज़ीर की मन्नत का उल्लेख है, और नाज़िर के लिए उचित आचरण के नियम भी बाइबिल में दिये गये हैं।

---

* 'द लॉस्ट लैंग्वेज ऑफ सिम्बॉलिज्म' (The Lost Language of Symbolism), लेखक हैरल्ड बेली (Harold Bayley), खण्ड २, पृ. २८६, पाद-टिप्पणी।

इसमें सन्देह का प्रायः कोई अवकाश नहीं कि उस तिरस्कारपूर्ण उक्ति — "क्या नासरत से कोई अच्छी वस्तु निकल सकती है?" — में 'नासरत' शब्द भक्ति की ओर संकेत करता था, न कि उस नाम के किसी वास्तविक ग्राम की ओर, जो पवित्र भूमि में रहा हो या न रहा हो; और वह उस उपहास का द्योतक है जिससे ज्ञान-योग के अनुयायी भक्ति-मार्ग वालों को देखते थे। इस विवाद की आत्मा में पूर्णतः प्रवेश करने के लिए आवश्यक है कि हम मोक्ष अथवा उद्धार के यथार्थ स्वरूप की ओर लौटें, जिसके विषय में प्राचीन काल में मनीषियों के बीच अधिक मतभेद प्रतीत नहीं होता। सर्वसम्मति से उसे सुख के आदर्श की प्राप्ति माना गया — भले ही उस आदर्श के ठीक-ठीक स्वरूप के विषय में विभिन्न मतों के विचार भिन्न रहे हों। अतएव मतभेद उन विविध साधनों के गुण-दोष तक ही सीमित रहा जो उस परम अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि के लिए अपनाये जाते हैं। अब, चूँकि भक्ति वहाँ सम्भव ही नहीं जहाँ उसका विषय ज्ञान द्वारा निश्चित न हुआ हो, अतः यह स्पष्ट है कि मोक्ष का दाता प्रथमतः ज्ञान ही है, अर्थात् सम्यक् ज्ञान के बिना निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसके विपरीत किये गये समस्त प्रयत्नों के होते हुए भी। ऐसी स्थिति में राजयोग, भक्ति और अन्य पद्धतियाँ (यदि कोई हों) स्पष्टतः इस प्रयोजन के लिए अपर्याप्त हैं, यद्यपि यदि उनका सम्यक् अभ्यास किया जाए तो ध्यान निश्चय ही ज्ञान तक ले जाता है, और उसके अनुयायियों के लिए दर्शन पढ़ने हेतु पाठशाला जाना आवश्यक नहीं रह जाता। ज्ञान चेतना में अन्तर्निहित है, और चूँकि चेतना आत्म-द्रव्य का कार्य है, अतः वह (ज्ञान) भी अनिवार्यतः प्रत्येक आत्मा में स्वाभाविक रूप से विद्यमान हो जाता है। अतएव ज्ञान भीतर से ही उदित होता है, और शिक्षा एक 'बाहर खींचना' है — 'ए' अर्थात् बाहर, और 'डूको' अर्थात् ले जाना, इनसे बना शब्द। भूतकाल के अनेक ऋषि और पैगम्बर पढ़ने-लिखने की कला से सर्वथा अनभिज्ञ थे, फिर भी हममें से कुछ आज भी उनके ज्ञान और अन्तर्दृष्टि

पर विस्मित होते हैं। यह सब यही सिद्ध करता है कि ज्ञान को 'सतह' पर आने के लिए केवल ध्यान और एकाग्रता की आवश्यकता है। इस प्रकार जहाँ कहीं विचार की एकाग्रता है, वहाँ प्रज्ञा शीघ्र या विलम्ब से अवश्य प्रकट होगी। इसीलिए भक्तजन मानते हैं कि ब्रह्मा (प्रज्ञा) स्वयं उन्हें सत्य का उपदेश देने आते हैं, जो उनके निर्वाण में प्रवेश की पूर्व-भूमिका है। योग का सबसे कम प्रशंसनीय रूप, अर्थात् शारीरिक तप का मार्ग — जैसे दीर्घ काल तक एक पैर पर खड़े रहना — वह भी एकाग्रता के सहायक साधन के रूप में ही अभिप्रेत था।

निष्कर्ष यह है कि यहाँ विवेचित समस्त साक्षात्कार-पद्धतियाँ ज्ञान तक ले जाने में समर्थ हैं, यदि पर्याप्त एकाग्रता और ध्यान हो।

जिस प्रश्न से यह विवेचन उत्पन्न हुआ है, उसके सम्बन्ध में वास्तविक कठिनाई तब आती है जब हम ज्ञान और विश्वास के अन्तर पर दृष्टि डालते हैं। समस्त शास्त्र एक स्वर से घोषित करते हैं, 'विश्वास करो और बपतिस्मा लो,' किन्तु कोई भी यह नहीं कहता कि 'जानो और उद्धार पाओ।' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सतही ज्ञान और विश्वास में महान् अन्तर है, क्योंकि क्रियात्मक परिणाम उत्तरवर्ती के पीछे आते हैं, पूर्ववर्ती के पीछे नहीं। अतएव यह अपने ईश्वरत्व में विश्वास है, न कि उस विचार से मात्र सतही परिचय, जो निर्वाण की ओर ले जाता है।

जब ध्यान आत्मा और परमात्मा की एकता के ज्ञान तक पहुँचा देता है, तब आत्मा का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उस ज्ञान को विश्वास की कोटि तक उठाए। सम्यक् विश्वास प्राप्त हो जाने पर ज्ञान-मार्ग को सम्यक् आचरण के मार्ग के साथ जोड़कर शीघ्र साक्षात्कार सम्भव है। जैन धर्म के अनुसार 'जिनों' (गुरुओं) का मार्ग त्रिविध है और सम्यक् दर्शन अथवा श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र में निहित है।

जहाँ तक श्रद्धा अथवा दर्शन और ज्ञान का प्रश्न है, हमें उनके स्वरूप पर और अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं; किन्तु यह स्पष्ट है कि सम्यक् कर्म, और इस प्रकार आचरण, अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति की समस्त विवेकसम्मत पद्धतियों का मूल सार है, क्योंकि ऐसी कोई प्रक्रिया, जो निष्क्रियताओं की शृंखला अथवा उलटे-सीधे ढंग से किये गये कार्यों में निहित हो, हमें किसी अपेक्षित परिणाम तक ले जाने के लिए कदापि विश्वसनीय नहीं हो सकती। इस प्रकार सम्यक् कर्म सफलता का सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व है, और जो पद्धतियाँ उसके महत्त्व की उपेक्षा करती हैं अथवा उसे न्यून करके आँकती हैं, उन्हें विवेकसम्मत माने जाने का कोई अधिकार नहीं। यदि हम इस विषय पर गम्भीरता से विचार करें, तो हमें शीघ्र ही ज्ञात होगा कि साक्षात्कार की पद्धति को नियन्त्रित करने वाले सिद्धान्तों की दृष्टि से

आध्यात्मिक और किसी अन्य प्रकार के आदर्श में कोई अन्तर नहीं है। विश्लेषण से प्रकट होगा कि किसी अभीष्ट वस्तु की सफल प्राप्ति (१) उसकी प्राप्ति की सम्भावना में विश्वास पर, (२) उसकी प्राप्ति के साधनों के ज्ञान पर, और (३) उचित क्षण पर उचित कार्य करने पर निर्भर करती है।

सफलता के ये तीन आवश्यक तत्त्व समस्त वैज्ञानिक पद्धतियों का हेतु और आधार बताते हैं, और वह मानदण्ड प्रस्तुत करते हैं जिससे हम ज्ञान-योग आदि विविध मार्गों में से प्रत्येक के यथार्थ स्वरूप और गुण-मूल्य को परख और निर्धारित कर सकते हैं।

इस प्रकार न तो ज्ञान, न भक्ति, न मानसिक संयम, न ही शारीरिक तप — इनमें से कोई भी अकेले आदर्श को अनुभव की वास्तविकता में परिणत करने के लिए पर्याप्त नहीं है। ये सब परस्पर मिलकर मूल्यवान् सहायक हैं, किन्तु पृथक्-पृथक् लिये जाने पर इन सबमें वैज्ञानिक चिन्तन की उस कारण-सम्बन्धी प्रामाणिकता का अभाव है जो व्यावहारिकता की कसौटी है। यह देखा जा सकेगा कि ज्ञान और मुक्ति वस्तुतः पर्यायवाची शब्द नहीं हैं, जबकि भक्ति वहाँ सम्भव ही नहीं जहाँ उसका विषय अज्ञात हो। अतएव कहा जा सकता है कि भक्ति का सच्चा आरम्भ तब होता है जब ज्ञान श्रद्धा में निहित निश्चयात्मकता की कोटि तक पहुँच जाता है, और किसी आदर्श के प्रति भक्ति प्रगति के प्रथम सोपान को चिह्नित करती है, जब ज्ञान कर्म में परिणत होता है।

सारांश यह कि मनुष्य के लिए वास्तविक योग यही है कि वह अपने दिव्य स्वरूप को जाने और उसका साक्षात्कार करे, तथा उस क्षुद्र, आत्म-विभ्रान्त, देह-रूप 'मैं' को वश में करके और मारकर स्वयं को धन्यता और आनन्द की परमानन्दमयी अवस्था में प्रतिष्ठित करे। साक्षात्कार की प्रक्रिया त्रिविध है और उसमें सम्यक् दर्शन अथवा श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र सम्मिलित हैं — अर्थात् प्रज्ञा की अग्नि से पाप, अर्थात् अज्ञान, के पंख झुलसा देने में, आत्मा के ईश्वरत्व में श्रद्धा द्वारा द्वैत के भ्रम का नाश करने में, और विश्व के समस्त प्राणियों की ओर शान्ति, सद्भावना और आनन्द का विकिरण करने में; संक्षेप में, यहीं और इसी क्षण अपने सच्चे आत्म-स्वरूप के उपभोग में स्थित हो जाने में। संसार इसे आलस्य कहे तो कहता रहे; आत्मा को उससे क्या? न महावीर ने, न ईसा ने, न जाति के किसी अन्य उद्धारक ने दुकान चलाई या माल बेचा। फिर भी किसने कभी उन्हें आलसी समझने का साहस किया? उस पुरुष के लिए सांसारिक मनुष्यों के मत का क्या मूल्य, जो अपने सुख के लिए दूसरों के मत पर निर्भर नहीं, अपितु जो आत्मा को ही आनन्द का उद्गम-स्रोत जानता और अनुभव करता है?

> “मैं तुम्हें बताता हूँ कि मनुष्य का परम आह्वान क्या है। मुझसे पूर्व कोई जगत् न था, यह मेरी ही सृष्टि है; मैंने ही सूर्य को समुद्र से ऊपर उठाया, चन्द्रमा ने अपनी परिवर्तनशील गति मुझी से आरम्भ की।”
> — गोएटे (Goethe)।